भारतीय वास्तु-शास्त्र—ग्रन्थ चतुर्थ

प्रतिमा-विज्ञान

एवं

[प्र० वि० की पृष्ठ-भूमि पूजा-परम्परा]

INDIAN ICONOGRAPHY

BRĀHMAṆA, BAUDHA AND JAIN

[WITH ITS BACKGROUND—THE INSTITUTION OF WORSHIP]

लेखक—

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, एम० ए०, पी एच० डी०

साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न, काव्य-तीर्थ

संस्कृत-विभाग

लखनऊ-विश्वविद्यालय, लखनऊ

श्रावणी, सं० २०१३]   अगस्त १९५६

प्रकाशक
वास्तु-वाङ्मय-प्रकाशन-शाला
शुक्ल-कुटी, फैजाबाद रोड
लखनऊ

प्रथम बार
एकादश शतियाँ
मूल्य
पन्द्रह रुपिये

मुद्रक
पं० बिहारीलाल शुक्ल
शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस
लखनऊ

॥ इष्टदेव्यै मात्रे दुर्गायै नमः ॥

समर्पण

महाशक्ति

त्रिपुरसुन्दरी

ललिता

के

महा पीठों पर

—भगवती दुर्गा के उदय के पंचम एवं परम सोपान—शक्ति-भावना और उसमें शाम्भव-दर्शन के अनुसार आनन्दभैरव या महा-भैरव (शिव) तथा महाईशानी या त्रिपुरसुन्दरी ललिता की संयुक्त-सत्ता—परमसत्ता के अनुरूप व्याख्यात

(दे० इस ग्रन्थ का अ० ७, पृ० १२१-२२)

महामाहेश्वर महाकवि कालिदास

की निम्न स्तुति के साथ—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

—रघु० १·१ (मङ्गलाचरण)

शक्ति-पीठ

टि० १६१ पृष्ठ पर सूचित ४७ अन्विष्ट शक्ति-पीठों का मान-चित्र परिशिष्ट में न देकर यहीं पर अकारादिक्रम से उनकी तालिका दी जाती है। अन्य ५२ शक्ति-पीठ एवं १०८ शक्ति-पीठ पृ० १६१—१६४ पर द्रष्टव्य हैं—

स्थान	देवी
१. अल्मोड़ा	कौशिकी
२. आबू	अर्बुदा
३. उज्जैन	हरसिद्धि
४. ओंकारेश्वर	सप्तमातृका
५. कलकत्ता	काली
६. काठमाण्डू	गुह्येश्वरी
७. कालका	कालिका
८. काशी	के शक्ति-त्रिकोण पर क्रमशः दुर्गा (महाकाली) महालक्ष्मी तथा वागीश्वरी (महासरस्वती) के कुण्ड भी हैं—दुर्गाकुण्ड और लक्ष्मीकुण्ड तो अब भी हैं परन्तु वागीश्वरी का कुण्ड पट गया।
९. कांगड़ा	विद्येश्वरी
१०. कोल्हापुर	महालक्ष्मी
११. गन्धर्वल	क्षीरभवानी योगमाया
१२. गिरनार	अम्बादेवी
१३. गौहाटी	कामाख्या
१४. चटगांव	भवानी
१५. चित्तौड़	कालिका या श्मशानकाली
१६. चिन्तपूर्णी	शक्ति-त्रिकोण — चिन्तपूर्णी ज्वालामुखी तथा विद्येश्वरी
१७. चुनार	दुर्गा
१८. जनकपुर	सीता
१९. जबलपुर	चौंसठ योगिनियां
२०. ज्वालामुखी	ज्वालामुखी
२१. जालन्धर	,,
२२ तिरूपती	काली (दक्षिण का महाक्षेत्र)
२३. द्वारका	रुक्मिणी-सत्यभामा
२४. देवीपाटन	पटेश्वरी
२५. देहली	महामाया (कुतुब मीनार के पास)
२६. नागपुर	सहस्रचण्डी
२७. नैनीताल	नयनादेवी
२८. पठानकोट	देवी
२९. पण्ढरपुर	वैष्णवी देवियाँ
३०. प्रयाग (कड़ा)	चण्डिका
३१. पूना	पार्वती
३२. पूर्णगिरि	कालिका
३३. फरुर्खाबाद (तिरवा)	महात्रिपुरसुन्दरी
३४; बाँदा	महेश्वरीदेवी
३५. भुवनेश्वर	१०८ योगिनियाँ
३६. मथुरा	महाविद्या
३७. मदुरा	मीनाक्षी
३८. मद्रास	कुडिकामाता
३९. महोबा	देवियां
४०. बम्बई	कालबादेवी महालक्ष्मी मुम्बादेवी
४१. मैसूर	चामुण्डा
४२. मैहर	शारदा
४३. विन्ध्याचल	विन्ध्यवासिनी
४४ शिमला	कोटीकी देवी
४५. श्रीशैल	भ्रमरांबा
४६. सांभर	माताजी
४७. हरिद्वार	चण्डी

टि० उन्नाव जिला में बीघापुर के निकट बक्सर में भागीरथी-कूल पर चण्डिका के नाम से एक बड़ा ही प्रशस्त पीठ है जो दुर्गासप्तशती (दे० १३ वां अ०) का 'नदीपुलिन-संस्थित' चण्डिका-अम्बिका का 'महापीठ' समझना चाहिये।

सहायक-ग्रन्थ

अ अध्ययन-ग्रन्थ

१. समराङ्गण-सूत्रधार
२. अपराजित-पृच्छा

ब अन्य सहायक ग्रन्थ

(पूर्व-पीठिका)

अ (i) वैदिक वाङ्मय—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं सूत्रग्रन्थ ।

(ii) स्मृतियों, पुराणों, आगमों एवं तन्त्रों के साथ-साथ महाभारत, कौटिल्य—अर्थ-शास्त्र, शुक्र—नीतिसार के अतिरिक्त वाराही बृहत्संहिता, पाणिनि—अष्टाध्यायी, पतञ्जलि—महाभाष्य एवं योग-सूत्र आदि के साथ-साथ कालिदास, भवभूति, कृष्णमिश्र आदि के काव्य एवं नाटक-ग्रन्थ

(iii) मार्शल, मॅके, चान्दा, के० एन० शास्त्री, कुमारस्वामी आदि प्रख्यात पुरातत्वान्वेषकों की कृतियों के साथ-साथ डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय की Bhaskari vol. II (An Outline of Saiva Philosophy), आचार्य बलदेव उपाध्याय के आर्य-संस्कृति के मूलाधार (वज्रयान-तन्त्र) के अतिरिक्त निम्न ग्रन्थ विशेषोल्लेख्य हैं:—

1. Dr. Kane—History of Dharma-Sastra vol. II pt. 2.

ब 2. Bhandarker—Vaisnavism, Saivism and minor Religious systems—विशेष उल्लेख्य है ।

(उत्तर-पीठिका)

(i) शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में समराङ्गण एवं अपराजित-पृच्छा के अतिरिक्त मानसार, मयमत, अगस्त्यसकलाधिकार, काश्यप-अंशुमद्भेद, विश्वकर्म-प्रकाश, रूपमण्डन, शिल्परत्न आदि ग्रन्थों के साथ ठक्कुरफेरू का वास्तुसार (अनुवाद-ग्रन्थ)

(ii) प्रतिष्ठाग्रन्थ—हरिभक्ति-विलास (मानसोल्लास), हेमाद्रि-चतुर्वर्ग-चिंतामणि आदि के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रंथ विशेष संकीर्त्य हैं :—

१.* T. A. Gopinath Rao—Elements of Hindu Iconography I and II Pts. (4 Volumes).

२.* B. C. Bhattacharya—Indian Images.

३.* J. N. Bannerjee—Development of Hindu Iconography (First Edition).

४.* Benoytosh Bhattacharya—Indian Buddhist Iconography.

५.* B. C. Bhattacharya—Jain Iconography.

६. Stella Kramrisch—Visnudharmottara.

७. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुरनिवेश

प्राक्कथन

गतवर्ष (महालक्ष्मी सं० २०१२, नवम्बर १९५५) उत्तर-प्रदेश राज्य की सहायता से प्रकाशित एवं इसी राज्य की हिन्दी-पुरस्कार-समिति के द्वारा पुरस्कृत **भारतीय वास्तु-शास्त्र** (ग्रन्थ प्रथम) में हम अपने पञ्च ग्रन्थी वास्तु-शास्त्रीय अध्ययन एवं अनुसन्धान पर संकेत कर चुके हैं। तदनुरूप भगवती की कृपा एवं इस राज्य के विद्वान मुख्य-मंत्री माननीय बाबू सम्पूर्णानन्द जी तथा माननीय श्री शिक्षा-मंत्री डा० हरगोविन्दसिंह जी के विशेष प्रोत्साहन एवं पुनरनुदान-साहाय्य (एक हजार रुपिये की दूसरी सहायता) से मेरे अनुसन्धान-क्रम का चतुर्थ तथा प्रकाशन में द्वितीय यह ग्रन्थ भी आज प्रकाशित हो रहा है। अतः सर्वप्रथम हम उत्तर-प्रदेश राज्य को धन्यवाद देते हैं जिसने समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र (जिसके विशेष अध्ययन पर मेरा यह अनुसन्धान आधारित है) के कर्ता धाराधिप महाराज भोज की लोक-विश्रुत वदान्यता की परम्परा (विद्वानों की कृतियों का राज्याश्रय) को आज भी कायम रख रही है। आशा है यह सरकार इस अनुसन्धान के अवशेष भागों को शीघ्र ही प्रकाशित करने के लिये पूर्ण प्रोत्साहन एवं साहाय्य प्रदान करेगी।

इस सम्बन्ध में यह संकेत अनुचित न होगा कि प्राचीन भारतीय **वास्तु-शास्त्र** का अध्ययन एवं अनुसन्धान अत्यन्त कठिन है। बड़े अध्यवसाय, अपरिमित लगन तथा सतत अध्ययन के बिना भारतीय-विज्ञान (Indology) की इस शाखा पर सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकल सकता। विगत कई वर्षों के सतत चिन्तन एवं अनुसन्धान का ही परिणाम है कि बिना किसी पथ-प्रदर्शन एवं इस विषय की नाना कठिनाइयों के सुलझाव के भी एवं आवश्यक प्रज्ञापोत के भी इस अप्रज्ञेय, दुरालोक, गूढार्थ, बहुविस्तर वास्तु-सागर के सन्तरण की 'उडुपेनेव सागरम्' मैंने चेष्टा की है।

अस्तु, प्रकाशन एवं अध्ययन की ओर इस संकेत के उपरान्त अब 'प्रकृतमनुसरामः' प्रकृत—भारतीय प्रतिमा-शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवं उसके अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक क्षेत्र की ओर इस विषय के विद्वानों एवं जिज्ञासु छात्रों का ध्यान आकर्षित करना।

प्रतिमा-शास्त्र की समीक्षात्मक व्याख्या का हिन्दी में यह प्रथम प्रयत्न है। अंग्रेजी में इस विषय के कतिपय प्रसिद्ध एवं प्रमाणिक ग्रन्थ हैं जिनमें गोपीनाथ राव के चार बृहदाकार ग्रन्थ (Elements of Hindu Iconography) श्री वृन्दावन भट्टाचार्य का Indian Images, डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी का Development of Hindu Iconography विशेष उल्लेख्य हैं। इन ग्रन्थों के विषय-प्रतिपादन एवं विषय-समाहार की दृष्टि से 'उत्तर-पीठिका' के विषय-प्रवेश में हमने कुछ संकेत किया है। तदनुरूप मुझे यह कहने में अशालीनता एवं अविनीतता नहीं अनुभव हो रही है कि भारतीय प्रतिमा-विज्ञान (Indian Iconography) पर आवश्यक एक व्यापक एवं आधार-भौतिक

दृष्टिकोण से यह प्रथम प्रयत्न है जिसमें न केवल प्रतिमा-शास्त्र पर ही साङ्गोपाङ्ग संक्षिप्त विवेचन है वरन् प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि पूजा-परम्परा पर ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक सभी दृष्टिकोणों से एक दशाध्यायी पूर्व-पीठिका की अवतारणा की गयी है जो वास्तव में प्रतिमा-विज्ञान का मूलाधार है और जिस पर पहले के सूरियों के द्वारा 'पूर्व-सूरिभिः कृतवाग्द्वार'-रूपी पर्याप्त पथ-प्रदर्शन नहीं हुआ है। अतएव इस मौलिक आधार के मर्म को समझ कर ही प्रयोज्य प्रतिमा-विज्ञान के प्रयोजन पूजा-परम्परा पर हमने इस प्रबन्ध में इतना विस्तार किया जो एक प्रकार से अति संक्षिप्त है। दोनों पीठिकाओं '**पूर्वपीठिका**' एवं '**उत्तर-पीठिका**' के विषय-प्रवेशों में इसी मर्म का उद्घाटन है। इस दशाध्यायी पूर्व-पीठिका में कतिपय ऐसे विषय हैं—जैसे प्रतिमा-पूजा का स्थापत्य पर प्रभाव—तीर्थ-स्थानों एवं देवालयों—देवपीठों का आविर्भाव एवं निर्माण, सांस्कृतिक दृष्टिकोण से प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता आदि की मीमांसा—जिन पर सर्वप्रथम इस ग्रंथ में कतिपय मौलिक उद्भावनायें मिलेंगी।

अथच यतः यह ग्रन्थ मेरे वास्तु-शास्त्रीय अनुसन्धान की पञ्चपुष्पिका माला * का ही एक पुष्प है अतः प्रतिमा-शास्त्र पर समराङ्गण में अप्राप्य सामग्री का अन्य ग्रन्थों से तो संकलन किया ही गया है इस विषय के एक अनधीत ग्रंथ—अपराजित-पृच्छा (जो समराङ्गण के समान ही वास्तु शास्त्र का एक प्रौढ़ ग्रंथ है)—के प्रतिमा-विज्ञान-सम्बन्धी कतिपय अंशों के अध्ययन से विद्वानों के सम्मुख एक नयी सामग्री का दिग्दर्शन है। परम्परागत इस शास्त्र के नाना विषयों के समुद्घाटन में यत्र तत्र सर्वत्र कतिपय नवीन उन्मेषों का दर्शन करने को मिलेगा—उदाहरणार्थ मुद्रा का व्यापक अर्थ, प्रतिमा का वर्गीकरण, सिंहवाहिनी लक्ष्मी की प्रकल्पना एवं स्थापत्य में समन्वय, प्रतिमा-निर्माण कला की दो परम्परायें—शास्त्रीय एवं स्थापत्य, अर्चागृह, प्रासाद एवं प्रतिमा, प्रतिमा में रसोन्मेष आदि-आदि के साथ-साथ प्रतिमा के रूप-संयोग को 'मुद्रा' के व्यापक अर्थ में गतार्थ करना एवं षट्त्रिंशद् आयुधों तथा षोडश आभूषणों का लक्षण (दे० परिशिष्ट) आदि प्रतिमा-विज्ञान के ग्रंथों में प्रथम प्रयत्न हैं जिनको यदि विद्वानों ने पसन्द किया तो लेखक अपनी इन गवेषणाओं के लिये अपने को कृतकृत्य समझेगा। पूर्व-पीठिका की अवतारणा में तो हिन्दू-संस्कृति के प्राण देववाद—देवार्चा, देवार्चा-पद्धति, देवार्चा-गृह, अर्च्य देववृन्द के साथ शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, बौद्ध एवं जैन धार्मिक सम्प्रदायों की जो नाना भूमिकायें निर्मित की गयी हैं उन्हीं के क्रमिक आरोहण से जगत के विधाता 'देव' की प्रतिमा के वास्तविक दर्शन हो सकेंगे।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन—तीनों प्रतिमा-लक्षण—एक ही ग्रन्थ में सर्वप्रथम समावेश है। ब्राह्मण-प्रतिमा लक्षण की दोनों परम्पराओं—उत्तरी तथा दक्षिणी (अर्थात् पौराणिक एवं आगमिक या तान्त्रिक) के अनुरूप सभी देवों के रूप, रूपाख्यान, रूपोद्भावना, रूप-लक्षण, रूप-व्याख्या एवं उनके स्थापत्य निदर्शन आदि के अत्यन्त संक्षिप्त समाहार एवं उपसंहार से यह ग्रन्थ भारतीय प्रतिमा-विज्ञान (Indian Iconography) के छात्रों के लिये बड़ा ही उपादेय एवं सहायक सिद्ध होगा—ऐसी आशा है। सर्वत्र ही मौलिक उद्भावनाओं से यह ग्रन्थ एतद्विषयक अनुसन्धान की परिपाटी को भी आगे बढ़ावेगा—इसकी समीक्षा तो इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् ही कर सकेंगे।

इस ग्रन्थ में इस विषय के आठ प्रामाणिक ग्रन्थों (दे० सहायक ग्रन्थों की सूची में पुष्पाङ्कित ग्रन्थ) का सार मिलेगा। इस दृष्टि से अनुसन्धान के नाना प्रकारों में दो प्रकारों की इसमें अवश्य पूर्ति मिलेगी—नवीन अध्ययन, अनुसन्धान एवं गवेषण (समराङ्गण एवं अपराजितपृच्छा का प्रतिमा शास्त्र) तथा अनुसन्धत्त-कार्य का एकत्रीकरण, चयन एवं विश्लेषण।

अस्तु। अन्त में इस विषय के प्रख्यात ग्रन्थकारों—राव, बैनर्जी, भट्टाचार्यद्वय (वृन्दावन एवं विनयतोष) के अतिरिक्त पूर्व-पीठिका में सर्वाधिक सहायक सर भाण्डारकर एवं डा० काणे आदि प्रमुख पूर्वसूरियों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए यह सूचित करना है कि भारतीय वास्तु-शास्त्र के इन दोनों ग्रंथों में शब्द-सूची-संकलना के अभाव को एताद्विषयक एक विशेष उपादेय प्रयत्न की ओर संकेत समझना चाहिये जो इस अनुसंधान के पंचम ग्रंथ में द्रष्टव्य होगा।

द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल

❀ वास्तु-शास्त्रीय अनुसन्धान

(पञ्चपुष्पिका-माला)

१. भारतीय वास्तु-शास्त्र ग्रन्थ प्रथम—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश
२. ,, ,, ,, द्वितीय - भवन-वास्तु
House Architecture & Palace Architecture
३. ,, ,, ,, तृतीय—प्रासाद-वास्तु
Temple—Architecture
४. ,, ,, ,, चतुर्थ—प्रतिमा-विज्ञान
५. ,, ,, ,, पञ्चम अ. चित्रकला
ब. यंत्र-कला
स. वास्तु कोष (glossary)

टि०—इनमें प्रथम तथा चतुर्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अब द्वितीय और पंचम प्रकाश्य हैं तदन्तर तृतीय। अंग्रेजी में "Hindu Science of Architecture" के नाम से ग्रन्थ तैयार है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

विषय-तालिका

प्रारम्भिक

(१ से १६ पृष्ठ तक)

पूर्व-पीठिका

प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि

पूजा-परम्परा

(१७ से १६६ पृष्ठ तक)

अध्याय

उत्तर-पीठिका
प्रतिमा - विज्ञान

पञ्च-ध्यानी-बुद्ध-लक्षण

ध्यानी-बुद्ध	वर्ण	मुद्रा	शिरोभूषण	वाहन	स्कन्ध	प्रतिष्ठा	बीजमंत्र	ऋतु	रस	वर्ग
१ वैरोचन	श्वेत	धर्मचक्र	चक्र	नाग	रूप	मध्य	ओं	हेमन्त	मधुर	क
२ रत्नसंभव	पीत	वरद	रत्न	सिंह	वेदना	दक्षिण	त्रां	वसन्त	लवण	त
३ अमिताभ	रक्त	समाधि	पद्म	शिखि	संज्ञा	पश्चिम	ह्रीं	ग्रीष्म	अम्ल	ट
४ अमोघसिद्धि	हरित	अभय	विश्ववज्र	गरुड	संस्कार	उत्तर	खं	वर्षा	तिक्त	प
५ अक्षोभ्य	नील	भूस्पर्श	वज्र	गज	विज्ञान	पूर्व	हुँ	शिशिर	कटु	च

टि०— यह तालिका पृ० २६७ पर दातव्य थी— दे० पञ्च-ध्यानी-बुद्ध पृ० २६६

— विनयतोष —

पूर्व-पीठिका

पूजा-परम्परा

[प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि]

१

विषय-प्रवेश

'प्राक्-कथन' में प्रतिमा-विज्ञान के अध्ययन के दृष्टिकोण पर कुछ संकेत किया जा चुका है। वास्तव में भारतीय प्रतिमा-विज्ञान को पूर्णरूप से समझने के लिये इस देश की धार्मिक भावना एवं तदनुरूप धार्मिक संस्थाओं, सम्प्रदायों, परम्पराओं एवं अन्यान्य विभिन्न उपचेतनाओं को समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। प्रतिमा-विज्ञान की मीमांसा में एकमात्र कलात्मक अथवा स्थापत्य दृष्टिकोण अपूर्ण दृष्टिकोण है। अतः प्रतिमा-विज्ञान के प्रतिपादन में हम दो प्रधान दृष्टिकोणों का अवलम्बन करेंगे—एक धार्मिक दृष्टिकोण (प्रतिमा-पूजा की परम्परा) तथा दूसरा स्थापत्य-दृष्टिकोण (प्रतिमा-निर्माण-कला)।

भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की आधार-शिला का निर्माण भारतीय पूजा-परम्परा अथवा ध्यान-परम्परा करती है। अतएव प्रतिमा-विज्ञान के शास्त्रीय विवेचन के पूर्व प्रतिमा विज्ञान की पृष्ठ-भूमि पूजा-परम्परा पर प्रविवेचन आवश्यक है। प्रतिमा-विज्ञान एवं प्रतिमा-पूजा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भले ही ग्रीस आदि पाश्चात्य देशों में इस सम्बन्ध का अपवाद पाया जाता हो जहाँ के कुशल मूर्ति-निर्माताओं ने सौन्दर्य की भावना से बड़ी बड़ी सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया, परन्तु भारत के लिये तो यह नितान्त सत्य रहा है। भारतीय स्थापत्य के विकास के उद्गम का महास्रोत धर्म रहा है। अतः यहाँ के स्थपतियों ने 'सुन्दरम्' में ही अपनी आत्मा नहीं खो दी है। 'सुन्दरम्' के साथ-साथ 'सत्यम्' एवं 'शिवम्' की दो महाभावनाओं से अनुप्राणित इस देश के स्थापत्य में धर्माश्रयता ही प्रधान रही है।

भारतीय वास्तु-कला एवं प्रस्तर-कला या मूर्ति निर्माण-कला के जो प्राचीन स्मारक-निदर्शन हमें प्राप्त होते हैं उनमें धर्माश्रयता प्रमुख ही नहीं वह सर्वोत्कर्षेण विराजमाना दृष्टिगोचर हो रही है। प्राचीन किसी भी वास्तु-स्मारक को हम देखें वह हिन्दू है अथवा बौद्ध या जैन—सभी में धर्माश्रयता ही बलवती है। भारतीय वास्तुकला के नव स्वर्णिम प्रभात में अशोक-कालीन वास्तु-कृतियाँ परिगणित की जाती हैं—उन सभी का एकमात्र उद्देश्य महात्मा बुद्ध के पावन धर्म के प्रचार के लिये ही तो था। आगे की अगणित कृतियों एवं भव्याकृतियों में भी वही प्रेरणा, वही साधना, वही तन्मयता एवं वही उपचेतना, जिसने भूतल पर स्वर्ग का निर्माण किया है; निराकार विश्वमूर्ति को साकार प्रतिकृति प्रदान की है; तथा त्याग, तपस्या एवं तपोवन की त्रिवेणी पर अगणित प्रयागों का निर्माण किया है। दक्षिण के उत्तुङ्ग विमानाकृति विमान-प्रासादों एवं उत्तर के अभ्रंलिह शिवालयों की पावन गाथा में एतद्देशीय तथा विदेशीय कितने विद्वानों ने कितने ग्रंथ लिखे हैं ? अतः भारतीय वास्तु-कला (Architecture) की इस आधारभूत विशेषता से वास्तु-कला की सहचरी अथवा उसका प्रसाधन-अलंकरण प्रस्तर-कला (Sculpture) अनुषङ्गतः अनुप्राणित हो तो

स्वाभाविक ही है। सत्य तो यह है वास्तु-कला एवं प्रस्तर-कला का विकास अन्योन्यापेक्ष (Synchronous) है। प्रासाद (temple) और प्रतिमा एक दूसरे के पूरक हैं। हिन्दू-प्रासाद के मर्म का उद्‌घाटन हम अपने **"भारतीय-स्थापत्य"**—'प्रासाद-वास्तु' (Temple Architecture) में कर चुके हैं। आगे इसी पूर्वपीठिका में प्रासाद एवं प्रतिमा के इसी घनिष्ठ सम्बन्ध के मर्मोद्‌घाटन के लिये एक स्वाधीन अवतरणा की जावेगी।

अस्तु प्रस्तरकला एवं उसकी देदीप्यमान ज्योति—प्रतिमा-निर्माण-कला की इस धार्मिक भावना से यहाँ तात्पर्य उपासना से है। उपासना एवं उपासना-पद्धति के गर्भ से देवपूजा एवं देव-प्रतिभा-निर्माण का जन्म हुआ। आगे हम देखेंगे कि इस देश में उपासना के कौन कौन स्वरूप विकसित हुए? उपासना के कौन कौन से प्रकार प्रस्फुटित हुए? उपासना के इतिहास पर विहंगम दृष्टि से इसके कई एक सोपानों के हम दर्शन करेंगे। अतः यह प्रकट है कि भारतीय प्रतिमा-विज्ञान को पूर्णरूप से समझने के लिये भारतीय पूजा-परम्परा के रहस्य को हम ठीक तरह से समझ लें।

भारतीय पूजा-परम्परा या उपासना-पद्धति के विभिन्न सोपानों पर जब हम दृष्टिपात करेंगे तो अनायास भारतीय धर्म—हिन्दू, जैन एवं बौद्ध—के व्यापक रूप के साथ-साथ हिन्दू-धर्म के भीतर वैदिक, स्मार्त एवं पौराणिक प्रतिरूपों के अतिरिक्त शैव, वैष्णव एवं शाक्त आदि अवान्तर रूपों—सम्प्रदायों, मतों तथा मतान्तरों की भी किसी न किसी प्रकार चर्चा प्रासङ्गिक बन जाती है।

प्रतिमा-पूजा में प्रतिमा शब्द का धात्वर्थ तो देव-विशेष, व्यक्ति-विशेष, अथवा पदार्थ-विशेष की प्रतिकृति, बिम्ब, मूर्ति अथवा आकृति—सभी का बोधक है, परन्तु यहाँ पर प्रतिमा से तात्पर्य भक्ति-भावना से भावित देवविशेष की मूर्ति अथवा देवभावना से अनुप्राणित पदार्थ-विशेष की प्रतिकृति से ही है। प्रतिमा पूजा में प्रतिमा एक प्रकार की कलात्मक-प्रियता की मानवीय भावना का वह प्रकट मूर्त स्वरूप है जिसके द्वारा इस देश के मानव ने अदृष्ट शक्ति की कल्पना एवं उसकी उपासना की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से चेष्टा की है। विभिन्न युगों में यह चेष्टा एक सी नहीं रही है। पुरातन से पुरातन संस्कृतियों एवं जातियों में किसी न किसी प्रकार से इस चेष्टा के दर्शन होते हैं।

जहाँ तक इस देश का सम्बन्ध है यहाँ की पूजा प्रणाली के विभिन्न रूप थे। कोई प्रकृति के पदार्थों—सूर्य, चन्द्र, आकाश, नक्षत्र आदि की पूजा करते थे। कोई पार्थिव जड़-जगत् (वृक्ष आदि) की पूजा करते थे। पशु-पूजा, वृक्ष-पूजा, यक्ष-पूजा, पक्षि-पूजा, नदी-पूजा, पर्वत (पाषाणपट्टिकायें एवं शिलायें आदि)-पूजा आदि—ये सभी पूजायें सनातन से इस देश में अब भी प्रचलित हैं। इन रूपों में आर्य एवं अनार्य—दोनों प्रकार के घटकों की झाँकी देखने को मिलेगी। यहाँ पर इस अवसर पर बौद्धों की ध्यान-परम्परा भी स्मरणीय है जिसने बौद्ध प्रतिमा-विकास में बड़ा योग दिया। इस पीठिका के आगे के चार अध्याय—**"प्रतिमा-पूजा की परम्परा"** जन्म एवं विकास—एक ऐतिहासिक विहंगम दृष्टि, **"अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक"**—विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की उपासना-परम्परायें; एवं **"अर्चा-विधि"** तथा **"ध्यान-परम्परा"**—इसी परम्परा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे।

यद्यपि विभिन्न प्राचीन उल्लेखों (दे० अ० २) से प्रतिमा-पूजा का प्राचीनतम सम्बन्ध ब्रह्मवादी वेद-विद् ज्ञानी ब्राह्मणों से न हो कर उन अज्ञों से बताया गया है जो ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान के सूक्ष्म-चिन्तन के लिये असमर्थ थे अथवा हैं तथापि एक ऐसा समय आया जब प्रतिमा-पूजा के इस संकीर्ण एवं एकाङ्गी स्वरूप अथवा दृष्टिकोण के स्थान पर व्यापक एवं सार्वजनिक सिद्धांत स्थिर हुआ जिसके अनुसार ज्ञानी-अज्ञानी, पण्डित-मूर्ख, योगी-भोगी, राजा-रंक तथा गृहस्थ एवं मुमुक्षु - भारत के विशाल समाज के प्रत्येक वर्ग के लिये उपासना एक अनिवार्य अंग बन गया। शंकराचार्य से बढ़कर कौन ब्रह्मज्ञानी हुआ ? शंकर की भगवद्भक्ति के उपासना-उद्गार भक्तों के आज भी कण्ठहार हैं। अतः निर्विवाद है देव-भावना--देवोपासना एवं पूजा-परम्परा का अन्योन्याश्रय संबन्ध तो है ही काव्य एवं संगीत की भाँति स्थापत्य पर भी इनका कम प्रभाव नहीं पड़ा। भक्ति के उल्लास में संगीताचार्यों ने जहाँ स्वरलहरी की साधना में तल्लीनता दिखाई कविपुङ्गवों ने जहाँ कविता की पुष्पाञ्जलि चढ़ाई वहाँ स्थपतियों ने वह तन्मयता दिखाई जिसके जीते जागते चित्र प्राचीन भारतीय स्थापत्य के बहुमुखी निदर्शनों में हम देख सकते हैं।

अतः प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि की आधारशिला-- पूजा-परम्परा के उपोद्घात में जो सूक्ष्म संकेत ऊपर किया गया है उस सम्बन्ध में यह नितान्त सत्य ही है कि इस देश में उपासना-पद्धति का जो विपुल विकास बढ़ता गया उसका आनुषङ्गिक प्रभाव स्थापत्य पर भी पड़ता गया।

प्राचीन वैदिक कर्म-काण्ड— यज्ञवेदी, यजमान, पुरोहित, बलि, हव्य, हवन एवं देवता आदि के बृहत् विजृम्भण से हम परिचित ही हैं। उसी प्रकार देव-पूजा में अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक के नाना संभार, प्रकार एवं कोटियाँ पल्लवित हुई। अर्चा के सामान्य षोडशोपचार एवं विशिष्ट चतुष्षष्टि उपचार, अर्च्य-देवों के विभिन्न वर्ग—शिव, विष्णु, देवी, गणेश सूर्य, नवग्रह आदि तथा अर्चकों की विभिन्न श्रेणियाँ—इन सभी की समीक्षा से हम प्रतिमा-विज्ञान की इस पृष्ठ-भूमिका की गहराई का मापन कर सकेंगे। साथ ही साथ पूजा-परम्परा के इस सर्वतोमुखी विकास का स्थापत्य पर जो प्रभाव पड़ा उसकी मीमांसा में हम आगे एक स्वाधीन अध्याय में इस विषय की कुछ विशेष चर्चा करेंगे।

हम जानते ही हैं कि मानव ने अपने आराध्य देव में अपनी ही झाँकी देखी। मानव का देव मानवीय विभिन्न परिमाणों एवं रूपों, वस्त्रों एवं आभूषणों में अंकित हुआ। अतः भारतीय स्थापत्य जहाँ विभिन्न जानपदीय संस्कार, उपचेतनाओं, रीति-रिवाजों के साथ-साथ भौगोलिक एवं राजनैतिक प्रभावों से अनुप्राणित रहा वहाँ वह धार्मिक भावना की महाज्योति से प्रद्योतित उपासना-परम्परा के बहुमुखी विजृम्भण से भी कम प्रभावित नहीं हुआ। विभिन्न प्राप्त एवं अर्धप्राप्त प्रतिमा-स्मारक-निदर्शन इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

भारतीय प्रतिमा विज्ञान को ठीक तरह से समझने के लिये न केवल भारतीय धर्म का ही सिंहावलोकन आवश्यक है वरन् भारतीय पुराण-शास्त्र (Mythology) का भी सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। आगे हम देखेंगे विभिन्न देवों के नाना रूपों की

उद्भावना पुराणों ने ही प्रदान की है। पुराणों के अवतारवाद एवं बहुदेव-वाद का स्थापत्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। देव-विशेष के पौराणिक नाना रूप स्थापत्य के नाना मूर्तियों के जन्म देने में सहायक हुए।

सत्य तो यह है कि प्रतिमा-विज्ञान स्वयं एक प्रयोजन न होकर प्रयोज्य-मात्र है। प्रयोजन तो प्रतिमा-पूजा है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रगति में प्रतिमा-पूजा का एक महत्व पूर्ण स्थान है। प्रतिमा-पूजा ने ही निगु'ण एवं निराकार ब्रह्म के चिन्तक अद्वैतवादियों एवं सगुण तथा साकार ब्रह्म के उद्भावक भक्तों दोनों के दृष्टिकोण में समन्वयात्मक सामंजस्य प्रदान किया है।

इस प्रकार प्रतिमा-विज्ञान की पूर्व-पीठिका 'पूजा-परम्परा' के सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुरूप प्रायः सभी विवेच्य विषयों के इस उपोद्घात के अनन्तर पूजा-परम्परा के शास्त्रीय दृष्टि-कोण के सम्बन्ध में यहाँ पर थोड़ा सा निर्देश करना आवश्यक है। भारत की सभी धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का जन्म वैदिक वाङ्मय से हुआ यह हम जानते ही हैं। देव-पूजा देव-यज्ञ से प्रस्फुटित हुई। देव-यज्ञ की परम्परा बहुत प्राचीन है। देव-यज्ञ का शास्त्रीय विवेचन ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं सूत्र-ग्रन्थों ('कल्प' वेदाङ्ग-षट्क का प्रमुख अङ्ग) में बड़ा विस्तार है। देव-पूजा का प्राचीनतम विवेचन स्मृतियों में प्राप्त होता है। स्मृति-साहित्य एवं स्मार्त परम्परायें वैदिक एवं पौराणिक परम्पराओं के बीच की लड़ियों के रूप में परिकल्पित करना चाहिये। 'श्रुति' के अनन्तर स्मृति' का नम्बर आता है बाद में 'पुराण' का पुनः आगम तदनन्तर इतिहास। अतः निर्विवाद है कि देव-पूजा देव-यज्ञ की परम्परा से ही पल्लवित हुई है। मूल वही शाखाओं में भेद है।

देव-पूजा के स्मार्त, पौराणिक एवं आगमिक शास्त्रीय सन्दर्भों को प्राचीन-कालीन माना जाना चाहिये। मध्य-काल में तो 'देव पूजा' पर स्वतन्त्र रूप से विशिष्ट ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें 'स्मृति-चिन्तामणि' 'स्मृति-मुक्ताफल' एवं 'पूजा-प्रकाश' विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्त में यह सूचित करना भी इस स्थल पर उपयुक्त ही होगा कि इस विषय-प्रवेश में प्रतिमा-विज्ञान के शास्त्रीय-विवेचन के उपोद्घात का किञ्चिन्मात्र भी संकेत न देखकर पाठक को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। यह विषय उत्तर-पीठिका का है जिसके विषय-प्रवेश में प्रतिमा-विज्ञान से सम्बन्धित सभी विषयों की अवतारणा का प्रयत्न किया जावेगा।

२

पूजा-परम्परा

[सांस्कृतिक दृष्टिकोण के आधार पर]

भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की आधार-शिला पूजा-परम्परा तथा उसके आधार स्तम्भ ध्यान-परम्परा मानने चाहिये। इस अध्याय में पूजा-परम्परा की प्राचीनता पर सांस्कृतिक दृष्टि से एक विहंगम दृष्टि डालनी है। आगे हम इस परम्परा पर दो पृथक् अध्यायों का सूत्रपात करेंगे जिनमें ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना होगी।

चिरन्तन से मानव ने अदृष्ट शक्ति के प्रति भीति-भावना अथवा भक्ति-भावना किंवा आत्मसमर्पण की भावना से किसी न किसी प्रकार से किसी न किसी पदार्थ को उस अदृष्ट शक्ति की प्रतिकृति अथवा उसका प्रतिनिधि मानकर अपने प्रभु के प्रति भाव-पुष्प चढ़ाये हैं। इसी भावना को हम पूजा के नाम से पुकार सकते हैं। पूजा शब्द का यह अत्यन्त स्थूल ऐतिहासिक एवं व्यापक अर्थ है। अन्यथा शास्त्रीय दृष्टि से पूजा शब्द का अर्थ इस अर्थ से विलक्षण ही नहीं विशिष्ट भी है।

जिस प्रकार से देवयज्ञ अथवा याग की सम्पन्नता द्रव्य, देवता एवं त्याग की त्रिविधा प्रक्रिया पर आश्रित है। एक द्रव्य विशेष—दधि, दुग्ध, आज्य, धान्य आदि को मन्त्रोच्चारण सहित जब किसी देव-विशेष के प्रति त्याग—उत्सर्ग (आहुति) करते हैं उसी प्रकार पूजा भी एक प्रकार से याग ही है जिसमें भी एक देवविशेष के प्रति किसी द्रव्य विशेष—पुष्प, फल, चन्दन, अक्षत, वस्त्र आदि का समर्पण अभिप्रेत हैं। 'पूजा प्रकाश' के प्रथम पृष्ठ में ही पूजा के इसी अभिधेयार्थ पर प्रकाश डाला गया है:—

"तत्र पूजा नाम देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकत्वाद्याग एव"

पूजा शब्द का यह अर्थ पूजा-परम्परा के अति विकसित स्वरूप का परिचायक है। परन्तु अभी हमें पूजा-परम्परा के अन्धकारावृत गिरिगह्वरों, भयावह प्रकाण्ड पादपों, उत्तुङ्ग शैल-शिखरों, उद्दामप्रवाहिणी सरिताओं एवं भीषण कान्तारों के साथ साथ क्षीरस्राविणी कामधेनुओं, गगनविहारी खगेशों (गरुड आदि) आदि के मौलिक स्रोतों को देखना है जिनके द्वारा उपासना-गंगा की विशाल पावन धारा में हम अवगाहन कर सकें।

पूजा-परम्परा की ऐतिहासिक समीक्षा में सर्वप्रथम अनायास हम वैदिक-युग तथा सिन्धु-घाटी सभ्यता के उस सुदूर भूत में अपनी दृष्टि डालते हैं—प्रायः इस विषय की मीमांसा में विद्वानों ने यही प्रणाली बरती है। इस पद्धति से न तो दृढ़ निष्कर्ष निकल पाये हैं और न समीक्षा में पूर्ण सन्तोष ही प्राप्त हो सका है। अतः हमें मानवीय संस्कृति के व्यापक आधारभूत सिद्धान्तों को अपनाना है जिनसे इस विषय की समीक्षा में कुछ विशेष सन्तोष प्राप्त हो सके।

सृष्टि की विविधता एवं विभिन्नता ही ने उसकी एकता का निर्माण किया है। किसी भी युग में समानश्रेणीक मनुष्यों की कल्पना सृष्टि के नियमों की अज्ञता ही होगी। पुनश्च आधुनिक काल-विभाजन की जो शैली इतिहासकारों ने अपनायी है—असभ्य युग, अर्धसभ्य युग, सभ्य युग—पाषाण-काल, लौह-काल ताम्र-काल आदि—वह भी क्या सर्वथा निर्दोष है ? विकासवादी योरोपीय विद्वान् भले ही इस ऐतिहासिक परम्परा पर प्रश्रय रक्खें परन्तु ह्रासवादी भारतीय विचारकों को इसमें सन्तोष नहीं मिल सकता ? प्राचीन हिन्दुओं की सत्य युग, त्रेता, द्वापर एवं कलि-युग—इस चतुर्मयी काल-विभाजन प्रणाली में ह्रासवाद का ही प्रचण्ड रूप प्राप्त होता है। अतः भारतीय विज्ञान की विभिन्न जीवन-धाराओं के उद्गम में विकासवाद अथवा ह्रासवाद के मापदण्ड से समीक्षा कितनी दुरुह है वह सभी के समझ में आ सकती है। अतः सुविधा की दृष्टि से इस चक्कर में न पड़कर एक मध्यम मार्ग की खोज ही विशेष उपादेय है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण पर विशेष आस्था न रखकर यदि हम सांस्कृतिक दृष्टिकोण को अपनायें तो इसकी मीमांसा में हमें थोड़ी सी मदद मिल सकती है।

यह प्रथम ही संकेत किया जा चुका है कि भारतीय समाज अथवा किसी समाज में सभी लोग एक ही विचार-धारा, एक ही बुद्धि-स्तर अथवा एक ही मर्यादा के नहीं। विभिन्न-श्रेणीक मनुष्यों से ही समाज सम्पन्न होता है। अतः जहां वैदिक युग में उच्चस्तर के विद्वान् मेधावी कवि (उन्हें ऋषि कहिये अथवा ब्राह्मण कहिये) लोगों ने अपनी उपासना की तृप्ति में काल्पनिक देवों की अवतारणा करके उनके प्रति भक्ति के उद्गार निकाले; उनको सन्तुष्ट करने के लिये यज्ञ का विधान बनाया; वहाँ जो निम्नश्रेणी के पुरुष थे, भले ही वे अनार्य हों अथवा द्राविड हों, गांगेय-घाटी से सम्बन्धित हों अथवा सिन्धु-घाटी से, हिमाद्रि की उपत्यकाओं से आच्छन्न उत्तरापथ के निवासी हों अथवा विन्ध्याद्रि से आच्छन्न दक्षिणापथ के, उनकी भी अपनी कोई न कोई पूजा-प्रणाली—उपासना-पद्धति अवश्य होगी। वास्तव में वैदिक काल में जो उपासना पद्धति वैदिक यागों के रूप में उल्लिखित मिलती है उसमें जनता-जनार्दन की परम्परा का सर्वथा अभाव था।

चिरन्तन से मानव अदृष्ट शक्ति का सहारा लिये बिना अपने किसी भी मानवीय व्यापार में अग्रसर नहीं हुआ। प्रकृति के भयावह एवं विमुग्धकारी दृश्यों ने जगन्नियन्ता तथा प्रकृति के इन पदार्थों के प्रति सहज कौतूहल ही नहीं उत्पन्न किया भक्ति के भाव, विनम्रता के उद्गार एवं आत्मसमर्पण की अभिलाषा किंवा तल्लीनता एवं तन्मयता की अजस्र धारा मानव के हृदय में स्वतः सम्भूता हुई अन्यथा मानव पशुता से न उठता। मानव का परम एवं पुनीत परमोत्कर्ष तथा परम पुरुषार्थ तो देवत्व की प्राप्ति ही है। युग-धर्म, देश-विशेष की जलवायु एवं विशेषताओं के वश, मानव ने इस दिशा में विभिन्न रूप से कदम बढ़ाये। कालान्तर में सभी संस्कृतियों ने देवभावना एवं देवोपासना को जन्म दिया। मानव-सभ्यता का वह स्वर्ण युग था। सम्यक् संकल्प के बाद ही सम्यक् प्रयत्न का अवसर आता है। शुभ संकल्प ही मानव को उन्नतपथ की ओर ले जाते हैं। देव-भावना से देवोपासना का युग इस दृष्टि से अधिक सभ्य तथा समृद्ध मानना चाहिये।

भारतीय संस्कृति में तथा उसकी सभ्यता की कहानी में मानव ने अनादिकाल से देवभावना या देवोपासना की तो बात ही क्या 'देवभूवत्ता' का भी अनुभव किया। यही कारण है कि इस देश को सभ्यता एवं संस्कृति के इन उदात्त एवं अत्यन्त प्रशस्त सिद्धान्तों को प्रथम जन्म देने का गौरव मिला। देवों की क्रीड़ा-भूमि भी इसी देश को होने की गरिमा मिली और महिमा मिली पुराणपुरुष के पुनीत चरणों से पावित होने को बार बार। इस उपोद्घात से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस देश के सुदूर अतीत—वैदिक युग अथवा वैदिकपूर्व-युग—सिन्धु-सभ्यता-युग में जो पूजा-परम्परा अथवा उपासना-पद्धति प्रचलित थी और जिसके थोड़े से साहित्यिक एवं कलात्मक प्रमाण प्राप्त होते हैं उनसे हम उस पद्धति के सार्वजनीन स्वरूप को स्थिर नहीं कर सकते हैं। आगे इस विषय की विशद समीक्षा में देखेंगे कि वैदिक साहित्य में प्राप्त नाना निर्देशों से भी हम इसी निर्णय को सिद्धान्त पक्ष के रूप में ले सकते हैं कि उस समय की देवोपासना की याग-पद्धति सार्वजनीन पद्धति नहीं थी।

मानव सभ्यता की कहानी मानव के रहन-सहन, भोजन-भजन, आच्छादन एवं चिन्तन की कहानी है। मनुष्य विचारवान् प्राणी है अतः सनातन से वह अपने सृष्टा के सम्बन्ध में, अपने संरक्षकों एवं उपकारकों के सम्बन्ध में सोचत आया है। 'समराङ्गण-सूत्रधार' के सहदेवाधिकार नामक एक अध्याय का यही मर्म है कि मानव यदि वह मानव (पशु नहीं) है तो कभी नहीं भूल सका कि एक समय था जब वह देवों का सहचर था।

देवों से मानवों के उस अतीत पार्थक्य ने मानवों को पुनः देवमिलन के लिये महती उत्कण्ठा प्रदान की है। चिरंतन से इसी उत्कण्ठा से मानव ने अपने प्रत्येक व्यापार में देव-मिलन की चेष्टा की विभिन्न साधनाओं एवं साधनों के द्वारा यह प्रयत्न किया कि वह कैसे देवों का सामीप्य प्राप्त कर सके। इस देश के जो विभिन्न दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धांत एवं विश्वास प्रकल्पित हुए उनमें सभी में मानव की इसी चेष्टा के दर्शन होते हैं। वैदिक कर्म-काण्ड, उपनिषदों के 'आत्मज्ञान' 'ब्रह्मज्ञान' 'तत् त्वमसि' 'अहमस्मि' आदि अनेक धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त, इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं। अतः निर्विवाद है कि मनुष्य अपनी आत्मा (जो परमात्मा का ही लघु स्वरूप है) में अपने सहचर देव से पार्थिव पार्थक्य के होते हुए भी मानस-पार्थक्य को कभी सहन नहीं कर सका। देवों से मानवों के मानस-मिलन की इसी कहानी का नाम देव-यज्ञ एवं देव-पूजा है। यह सर्वदा विद्यमान रही। अतः देव-पूजा की परम्परा को मानव-सभ्यता एवं संस्कृति में एक सार्वकालिक एवं सार्वजनीन संस्था के रूप में हम परिकल्पित कर सकते हैं।

मनुष्य अपनी विभिन्न धार्मिक उपचेतनाओं तथा कर्म-काण्ड के द्वारा देवों के क्रोध को शान्त करने में लगा है। सनातन से मनुष्य वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों रूपों में इस प्रयत्न में सचेष्ट है। अतएव मनुष्य ने अपना परम पुरुषार्थ मोक्ष अथवा अमरत्व अथवा देवभूवत्व बना रक्खा है। संसार के सभी धर्मों ने और बड़े बड़े धर्माचार्यों ने सदैव यही सिखाया कि हम अपने जीवन-दर्शन में देव-दर्शन की ज्योति को सदैव जगमगाते रहें।

यह प्रथम ही संकेत किया जा चुका है कि सभी मनुष्यों का बुद्धि-स्तर एवं हृदय की सम्वेदना एक समान नहीं हो सकती। मानव समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने की प्राचीन परम्परा का यही मर्म था। अतः जहां विद्वान् मेधावी ब्राह्मणों के लिये आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के सिद्धान्त सुकर हो सकते थे वहाँ अज्ञ एवं निम्न श्रेणी के मनुष्यों के लिये न तो ऐसे दुरूह एवं जटिल सिद्धांत बोधगम्य ही थे और न उपकारक। अतः उनकी उपासना के लिये, उनकी आत्मतृप्ति के लिये, उनकी देव-भावना की प्रेरणा के शमन के लिये कोई न कोई आचार, कोई न कोई पद्धति होनी ही चाहिये। अतएव मनीषी समाज-शास्त्रियों एवं धर्म-गुरुओं ने समाज के इस प्रबल अंग के लिये देवोपासना को प्रतीकोपासना के रूप में स्थिर किया। प्रतिमा पूज एक प्रकार से प्रतीकोपासना ही तो है।

भारतीय ईश्वरोपासना अथवा देवोपासना-पद्धति में प्रतिमा-पूजा का एक प्रकार से गर्हित स्थान है। भारतीय धर्म ("यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"—अतः धर्म का परम लक्ष्य निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष है) के दृष्टिकोण से मानव का परम पुरुषार्थ मोक्षाधिगम है। यह मोक्षाधिगम अथवा मुक्ति-प्राप्ति प्रतिमा-पूजा से प्राप्त नहीं होती:—

"पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद्यतिस्स्वहृदयार्चनमेव कुर्यात् बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय॥

अर्थात् मुमुक्षु या मोक्ष के अभिलाषी यति के लिये पाषाण, लौह, मणि, मृत्तिका आदि द्रव्यों से विनिर्मित प्रतिमाओं की पूजा वर्जित है। वह पुनर्जन्मकारक है। अतः यति को देवार्चन अपने हृदय में ही करना चाहिये। बाह्यार्चन उसके लिये वर्ज्य है। उससे पुनर्भव-दोष आपतित होता है।

परन्तु सभी तो यती हैं नहीं, सभी मुमुक्ष कहां से हो सकते? अज्ञों के लिये—निम्न बुद्धि स्तर वालों के लिये कोई परम्परा आवश्यक है। अतएव

"शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः। अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः॥"

अर्थात् योगी लोग तो शिव को अपनी आत्मा में ही साक्षात्कार करते हैं न कि प्रतिमाओं में। अतः अज्ञों के लिये देवभावना के सम्पादनार्थ प्रतिमाओं का परिकल्पन किया गया है।

भारतीय आर्य-विचारकों के ये उद्गार एवं धर्म-प्रवचन यद्यपि अपेक्षाकृत मध्य-कालीन ही हैं परन्तु इनमें प्रतिमा-पूजा अथवा प्रतीकोपासना की अति पुरातन परम्परा पर अवश्य समन्वयात्मक दृष्टिकोण का पूर्ण आभास प्राप्त होता है।

अतः निष्कर्ष-रूप में यह कहना सर्वथा संगत ही होगा कि प्रतीकोपासना (जिसके गर्भ से प्रतिमा-पूजा का जन्म हुआ) उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव-सभ्यता। यह मानवता की सदैव सहचरी रही है। बिना इसके मानवता एक क्षण के लिये भी उच्छ्वास न ले सकी। अतः विद्वानों के तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना एवं गवेषणात्मक ऐतिहासिक अनुसन्धान भले ही शास्त्रीय-दृष्टि (Academic Point of View) से ठीक हों परन्तु व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि-कोण (जो इस ग्रन्थ का मंत्र-बीज है) से यह मानना अनुचित न होगा कि उपासना की यह परम्परा वैदिक युग अथवा

वैदिक युग से भी प्राचीनतर युग (उसे सिंधु-सभ्यता कहिये अथवा नाग-सभ्यता कहिये अथवा पाषाण-कालीन या उत्तर-पाषाण कालीन अथवा ताम्र युगीन सभ्यता कहिये) में विद्यमान थी। आगे प्रतिमा-पूजा की ऐतिहासिक समीक्षा में इस प्रवचन के प्रमाण पर भी संकेत किया जावेगा।

पूजा के प्रतीकों (Objects) पर कुछ संकेत किया जा चुका है (दे० वि० प्र०)। अनेकानेक देवी एवं देवों के अतिरिक्त पूजा-प्रतीकों की एक दीर्घ-सूची है जो सनातन से इस देश के उपासकों की अभिन्न अंग हैं।

वृक्ष-पूजा—पूजा-परम्परा में वृक्ष पूजा बहुत प्राचीन है। **न्यग्रोध, अश्वत्थ, आम्र, बिल्व, कदली, निम्ब** एवं **आमलक** विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दू पंचाङ्ग (Calender) में इन विभिन्न वृक्षों की पूजा का वर्ष के विभिन्न दिवसों एवं पर्वों पर विधान है। ज्येष्ठ की अमावास्या में वट-सावित्री-पूजा, कार्तिक की अक्षय-नवमी में आमलक पूजा तथा सोमवती अमावास्या में अश्वत्थ-पूजा से हम परिचित ही हैं—इसी प्रकार अन्य वृक्षों की गाथा है। तुलसी वृक्ष तुलसीकृत रामायण के समान प्रत्येक हिन्दू घर का अभिन्न अंग बन गया है। दक्षिण भारत के शिव-मन्दिरों में वृक्षों का विशेष महत्व है। मन्दिर के ये पूज्य वृक्ष **स्थल-वृक्ष** के नाम से पुकारे जाते हैं। मदुरा के मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर का कदम्ब-वृक्ष तथा त्रिचनापल्ली के निकट जम्बुकेश्वर का जम्बू-वृक्ष इसी कोटि के उदाहरण हैं। भारतीय स्थापत्य एवं भारतीय-पूजा-परम्परा के मुकुट-मणि—हिन्दू-प्रासाद के कलात्मक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विकास में वृक्षों ने बड़ा योग दिया है। आगे इसी पीठिका के एक अध्याय 'अर्चागृह' में हम इस विषय की विशेष समीक्षा करेंगे।

नदी-पूजा

वृक्षों से भी बढ़कर इस देश में अवसर-विशेष पर (जैसे पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि) नदी-पूजा का माहात्म्य है। गंगा-पूजा हिन्दू-परिवार के लिये एक अनिवार्य धार्मिक कृत्य है। गंगा, गंगाजल और गंगा-स्नान से बढ़कर हमारे लिये और क्या पावन है? भारतवर्ष के सांस्कृतिक जीवन में जननी एवं जन्मभूमि के समान ही गंगा गरीयसी है। स्वर्ग-मुक्ति-प्रदायिनी गंगा का गान भक्तों की कण्ठ-लहरी का सनातन से विषय रहा है। शतशः गंगा-स्तोत्रों का आज भी साहित्य हमारे बीच में है। गंगा ने भारतीय धर्म की रक्षा की है। सत्य तो यह है कि भारतीय धर्म का विकास ही गंगा के सैकत कूल पर हुआ। गांगेय घाटी पर पल्लवित प्राचीन आर्य-सभ्यता (वैदिक, उत्तर-वैदिक, स्मार्त, महाकाव्य-कालीन एवं पौराणिक – सभी शाखायें) के अक्षुण्ण रक्षण के लिये सहस्रशः तीर्थ-स्थानों, मन्दिरों एवं स्नान-घट्टों का निर्माण इस तथ्य के जीते जागते निदर्शन हैं। काशी, प्रयाग, हरिद्वार आदि शतशः तीर्थ-स्थान गंगा के किनारे ही हैं। हिन्दू जीवन में गंगा का साहचर्य सनातन से है। आज भी हम अपने दैनिक स्नान में गंगा स्नान के अभाव में भारत की परम पुनीत सात सरिताओं का आवाहन करते हैं :

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

विशाल भारत की एवं विशाल भारतीय संस्कृति एवं स्वदेश प्रेम की यह सुन्दर कल्पना अद्वितीय है। अस्तु। गंगा के समान ही उपर्युक्त इन पुण्यतोया सरिताओं की पूजा भी देश-भेद एवं स्थान-भेद से सर्वत्र प्रचलित है। दक्षिण में कावेरी गंगा के समान ही पूज्य एवं पवित्र है। कावेरी के तट पर विभिन्न दाक्षिणात्य धार्मिक पीठों का निर्माण हुआ है। श्रीरंगम् वैष्णव-तीर्थ कावेरी-तट का विशेष पावन मन्दिर है। इसी प्रकार यमुना, सिन्धु, नर्मदा आदि पावन नदियों की कहानी है।

पर्वत-पूजा

प्रकृति के सुन्दर एवं लोकोपकारी पदार्थों की पृष्ठ-भूमि पर ही इस देश की सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण हुआ है। मानव-जाति के इतिहास-वेत्ताओं ने मानव का प्रथम धर्म प्रकृति-वाद (Naturalism) माना है। प्रकृति के पार्थिव पदार्थों में वृक्षों, पर्वतों एवं नदियों का प्रथम परिगणन होता है। अतएव प्रकाण्ड पादपों, उद्दाम-प्रवाहिणी कल-स्विनी सरिताओं एवं भयावह एवं विमुग्धकारी पर्वतों के दृश्यों ने मनुष्य के हृदय में भय एवं विस्मय के भावों को जन्म दिया। इन्हीं भावों ने उपासना का उपजाऊ मैदान तैयार किया।

पर्वत की पाषाण-शिलायें प्रस्तर-प्रतिमाओं की पूर्वज हैं। पत्थर के शालग्राम, बाणलिंग आदि स्वयम्भू प्रतिमाओं में पर्वतों की अति प्राचीन देन छिपी है। शालग्रामों एवं बाणलिंगों की विशेष चर्चा आगे द्रष्टव्य है। वैसे भी पर्वत हिन्दू-धर्म में पवित्र एवं पूज्य माने जाते हैं। महाकवि कालिदास ने नगाधिराज हिमालय को 'देवतात्मा' कहा है जो प्राचीन पौराणिक परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। घर घर में गोवर्धन-पूजा (गोमय-निर्मित) पर्वत-पूजा को आज भी जीवित रक्खे है। पर्वतों ने ही हिन्दू-प्रासाद को कलेवर प्रदान किया है। प्रासादों की विभिन्न संज्ञाओं एवं आकृतियों में भारत के प्रसिद्ध सभी पर्वत—मेरु, मन्दर, कैलाश, सर्वोत्कर्ष से विराजमान हैं।

धेनु-पूजा (पशु-पूजा)

भारतवर्ष में गौ को गोमाता के नाम से सम्बोधित करते हैं। गोपालकृष्ण के साथ गौओं के पुरातन पावन साहचर्य के कारण गौओं का इस देश में और भी अधिक मान है। स्वर्गीय कामधेनु की सन्तति होने के कारण और महाप्रतापी सूर्यवंशी महाराज दिलीप की आराध्या होने के कारण गौ प्रत्येक हिन्दू के लिये परम पूज्या बन गयी है। वर्ष में गोपाष्टमी का पर्व धेनु-पूजा का विशेष अवसर होता ही है। प्रति सप्ताह शुक्रवार का दिन धेनु-पूजा के लिये एक सनातन परम्परा है। गोवत्स की पूजा भी हिन्दू-परिवारों में प्रचलित है। इसी प्रकार गज-पूजा (इन्द्रवाहन) सिंह-पूजा (देवी-वाहन) आदि अनेक पशु-पूजा निदर्शन हैं। नाग-पूजा की परम्परा से हम परिचित ही हैं।

II

गरुड़-पूजा के माहात्म्य से हम परिचित ही हैं। यात्रा के अवसर पर गगनोड्डीयमान गरुड़ का दर्शन बड़ा ही शुभ माना जाता है। विजया-दशमी (दशहरा) पर हम सभी लीला-गणेश पक्षी के दर्शन के लिये विशेष उत्सुक एवं सचेष्ट देखे जाते हैं।

यंत्र-पूजा

यंत्र शब्द से यहाँ पर आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक यंत्रों से है। यंत्र तो मशीन को कहते हैं। मशीनों के आविष्कार से आधुनिक जगत में जिस द्रुतगति से व्यावसायिक, राजनीतिक एवं आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्तियाँ सुकर हो सकी है उससे यंत्रों की महिमा का हम अनुमान लगा सकते हैं। जब पार्थिव यंत्रों की यह महिमा है तो रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक मंत्रों से पावित एवं अनुप्राणित धार्मिक यंत्रों की गरिमा की गाथा में कितने ही ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

पूजोपकरण यंत्रों का निर्माण किसी एक धातु-विशेष (ताम्र, स्वर्ण, रजत अथवा लौह आदि) पर होता है। ताम्र-पत्र पर एक गुह्य रेखा-चित्र बनाया जाता है जिस पर मंत्राक्षरों को अनुषङ्गतः खोदा जाता है, पुनः उसे शोधकर पूजक को सदीक्षा पूजा-शिक्षा प्रदान की जाती है। 'परिशिष्ट' के रेखा-चित्रों से यंत्रों का मर्म विशेष बोधगम्य हो सकता है।

यंत्रों की शक्ति की बड़ी महिमा है। यंत्र-पूजा से बड़े बड़े अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं। यंत्रों को मुक्ति-प्रदायक भी कहा गया है—भुक्ति की तो बात ही क्या ? यंत्रों को साधकगण कभी-कभी तावीज़ के रूप में धारण करते हैं। रजत अथवा सोने के आवरण (Case) में यंत्र को रखकर साधक अपने अंग (गल, ग्रीवा, बाहु अथवा वक्ष) पर धारण करते हैं।

यंत्रों की इस साधारण परम्परा के अतिरिक्त एक विशिष्ट परम्परा भी है। तांत्रिकों का श्रीचक्र एक विशिष्ट यंत्र है। इसके सम्बन्ध में शाक्त-धर्म की समीक्षा के अवसर पर विशेष चर्चा की जावेगी।

प्रतिमा-पूजा के प्रधान प्रतीकों में देवों एवं देवियों के अतिरिक्त जिन विभिन्न प्रतीकों का संकीर्तन ऊपर किया गया है उससे हम पूजा-परम्परा के बहुमुखी विजृम्भण का कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं। प्रकृति के उन उपकारक पदार्थों (Objects) के प्रति विनम्रता के भावों ने ही उनकी उपासना का सूत्रपात किया— यह एक व्यावहारिक तथ्य है जो सदैव से वर्तमान रहा। अतएव पूजा-परम्परा के साथ इन प्रतीकों के साहचर्य के मर्म का मूल्याङ्कन हम तभी कर सकते हैं जब इस आधारभूत सिद्धान्त को समझ लें कि मनुष्य ने सनातन से उन सभी पदार्थों (objects)—वे स्थावर हैं अथवा जंगम—के प्रति कृतज्ञता किंवा विनम्रता अथवा भक्ति प्रकट की है जो उसकी जीवन-यात्रा में किसी न किसी प्रकार से उपकारक हुए हैं।

प्रकृति मनुष्य की धात्री है। वृक्षों की छाया, उनकी शाखाओं के अनेकानेक उपयोग (शालभवन—छप्पर, धन्नी, किवाड़े आदि) पल्लवों के प्रचुर प्रयोग; नदीजल का जलपान, उसकी धारा में अवगाहन, मज्जन, तैरण; पर्वतों की उपत्यकाओं के उपजाऊ मैदान, गुफाओं के गम्भीर सुरक्षित गुह्य दुर्ग, हिम एवं आतप के वारण के प्रबल प्राचीन साधन; सूर्य का प्रकाश; चन्द्र की आह्लादकारिणी ज्योत्स्ना; नक्षत्रों का मुक्त मनोहर मण्डल; गगन का विमुग्धकारी विस्तार; पशुओं के द्वारा कृषि-कर्म, धेनु से दुग्धपान; पक्षियों के भी

बहुमुखी प्रयोग, इन सभी में मानव की रक्षा तथा उसके जीवनोपयोगी साधनों के जुटाव में उपकारक-उपकार्य सम्बन्ध ने कृतज्ञता प्रकाशन में पूजा-परम्परा का पल्लवन प्रारम्भ किया।

एक शब्द में मानव जाति का प्रथम धर्म प्रकृतिवाद (Naturalism) था। अतएव मानव की प्रथम पूजा प्रकृति-पूजा स्वाभाविक थी। ऋग्वेद की ऋचाओं में प्रकृति की उपासना का विश्व के इतिहास में प्रथम प्रमाण प्राप्त होता है।

अस्तु। सांस्कृतिक दृष्टि से पूजा-परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी मानवसभ्यता इस मत को स्थिर रूप में मानने पर भी मनुष्य की जिज्ञासा अभी शान्त नहीं हुई है। अब भी हमारे पूजा-परम्परा की प्राचीनता के आकूत उद्भूत होते हैं। प्रश्न यह है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास में देव-पूजा का कब प्रारम्भ हुआ? इस प्रश्न की ऐतिहासिक छानबीन हम आगे के अध्याय में करेंगे। परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस विषय की थोड़ी सी और मीमांसा अपेक्षित है।

मानव-जीवन का प्रकृति के साथ अभिन्न एवं घनिष्ठ साहचर्य सर्व-विदित है। यह सम्बन्ध सर्वव्यापी है। भारतवर्ष में भी प्रकृतिवाद का प्रथम धर्म पल्लवित हुआ। अतएव पूर्व-वैदिक-कालीन आर्यों के धार्मिक जीवन का केन्द्र विन्दु प्रकृति के प्रमुख पदार्थों (objects) को देवों और देवियों के प्रतीक रूप में प्रकल्पित कर स्तुति-गायन के द्वारा उनमें देव-भावना का संचार किया गया। ऋग्वेद की ऋचायें—प्रार्थना-मंत्र इस दृष्टि से उपासना अथवा पूजा-परम्परा की प्रथम पद्धति निर्माण करते हैं। कालान्तर पाकर इस प्रार्थना-उपासना में अग्निहोत्र (यज्ञ) की दूसरी पद्धति स्फुटित हुई। पूजा-परम्परा का यह द्वितीय सोपान माना जा सकता है।

प्रार्थना में प्रकृति के प्रतीक—देवों और देवियों—इन्द्र, वरुण, सूर्य (सविता) पर्जन्य, ऊषा, पृथ्वी—आदि के स्तवन में उनके गुणगान के साथ साथ उनके रूप, उनकी वेष-भूषा आदि की कल्पना भी नितान्त स्वभाविक थी। अतएव वैदिक ऋषियों की देव-स्तुतियों में देवरूप-वर्णन को प्रतिमा-विज्ञान का पूर्वज समझना चाहिये। एक शब्द में प्रतिमा-विज्ञान (Iconography) और प्रतिमारूपोद्भावना (Iconology) का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित होता है। देवों एवं देवियों को पुरुष एवं स्त्री रूप में उद्भावित कर, उनके वाहन (रथ आदि) आभूषण, वस्त्र एवं आयुध आदि की कल्पना ही कालान्तर में प्रतिमा निर्माण की परम्परा को पल्लवित करने में उपकारक हुई। ऋषियों की ये प्रार्थनायें आगे चलकर देवों के पौराणिक, आगमिक एवं शिल्पशास्त्रीय वर्णनों (जो प्रतिमा-निर्माण के आधार हैं) के जनक माने जावें तो अत्युक्ति न होगी।

वैदिक विचारधारा को ही पुराणों और आगमों का स्रोत समझना चाहिये। विभिन्नता एवं विकास देश एवं काल की मर्यादा से प्रतिफलित होते हैं। अतएव वैदिक देवों का ह्रास अथवा विकास पौराणिक-देवों के उदय की पृष्ठभूमि प्रकल्पित करते हैं। इस विषय की विशेष समीक्षा शैव एवं वैष्णव प्रतिमा-लक्षणों में विशेष रूप से की जावेगी।

यहाँ पर केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि वेदों एवं वेदाङ्गों के काल में उपासना-पद्धति का स्वरूप विशेषकर वैयक्तिक (Individualistic) था। आर्यों की अग्निपूजा अति पुरातन संस्था है। आर्यों के भाई पारसी आज भी उसे पूर्णरूप से जीवित रक्खे हैं। उसी अग्नि-पूजा-परंपरा के अनुरूप अग्नि में देवता-विशेष के लिये आहुति देकर यज्ञीय कर्म ही देव-पूजा का तत्कालीन स्वरूप था। उस पूजा के भी प्रमुख अंग देव ही थे जिनको लक्ष्य में रखकर आहुति दी जाती थी तथा उनसे वरदान मांगे जाते थे। इस प्रकार वैदिक आर्यों की उपासना के दोनों स्वरूपों - प्रार्थना एवं अग्निहोत्र - दोनों में ही देवदर्शन प्रत्यक्ष है। ऋग्वेद की उपासना-परम्परा, यजुर्वेद अथवा अथर्ववेद एवं वेदाङ्गों के समय में अर्थात् उत्तर-वैदिक काल में जाकर एक अत्यन्त विकसित याग-परम्परा के रूप में स्थिर हुई। इस यागोपासना के प्रति आरण्यकों एवं उपनिषदों के समय क्रान्तिकारी परिवर्तन परिलक्षित हुए—बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद—ब्रह्मवाद ने आर्यों के हृदयों एवं मस्तिष्कों पर आकर डेरा डाला।

इस प्रकार प्रार्थना-मंत्रों एवं अग्निहोत्रों के द्वारा देव-पूजा अर्थात् देव-यज्ञ उस सुदूर अतीत की आर्य परम्परा है जो वैदिक युग में विकसित हुई। परन्तु तत्कालीन भारतीय समाज के दो प्रमुख अंग थे—आर्य एवं आर्येतर एतद्देशीय मूल-निवासी (जिन्हें अनार्य कहिये, द्राविड़ कहिये या और कोई नाम दे दीजिये)। जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध है उनकी पूजा-पद्धति का क्या स्वरूप था—इस पर संकेत किया जा चुका है। आर्येतर एक विशाल समाज अथवा वर्ग की भी तो कोई उपासना-परम्परा अथवा पूजा-पद्धति अवश्य होगी? इस विशाल भारतीय समाज की उपासना का केन्द्र-विन्दु—वृक्ष, वनदेवता, सरिता, पर्वत, पर्वत-पट्टिका का, पक्षि अथवा पशु होगा—यह हम आकूत कर सकते हैं। परन्तु एक महान् जाति के सम्पर्क में आकर उनकी सभ्यता एवं संस्कृति में अवश्य परिष्कार एवं परिवर्तन हुए होंगे। जेता एवं विजित की कटुता एवं विद्वेष जब समाप्त हुआ, पारस्परिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ, सांस्कृतिक मिश्रण के स्वर्णिम प्रभात का जब उदय हुआ, उस समय दोनों के संमिश्रण-जन्य आदान-प्रदान से दोनों की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, पारिवारिक—संस्कृति एवं सभ्यता के पूरक घटकों में परिवर्तन, संस्करण, अनुकरण एवं समन्वय तथा सामन्जस्य अवश्य प्रस्फुटित हुआ होगा। जातियों के संमिश्रण-इतिहास का यह सर्वमान्य एवं सार्वभौम सिद्धान्त है। सत्य तो यह है कि संसार की सभी संस्कृतियाँ एवं सभ्यतायें न तो सर्वथा ऐकान्तिक (Isolated) हैं और न सर्वथा विशुद्ध, सभी अनैकान्तिक (Composite) तथा मिश्रित हैं।

अतः हमारी दृष्टि में वैदिक काल में भी प्रतिमा-पूजा (अर्थात् देवों की प्रतिमा में पूजा) का प्रचार था। यद्यपि यह मत दूसरे लेखकों का अनुगामी नहीं तथापि यह सभी मानेंगे कि उसी युग में (या उससे भी पूर्व—सिन्धु नदी-सभ्यता) अनार्यों की भी तो कोई जीवन-धारा थी। अतः कालान्तर पाकर जब पारस्परिक संसर्ग से आर्यों एवं अनार्यों का अनेकानेक रूप में सहयोग सम्पन्न हुआ तो तत्कालीन भारतीय धार्मिक जीवन दो प्रमुख एवं दृढ़ धाराओं में बहने लगा—उच्चवर्णीय आर्यों की याग-परम्परा एवं निम्नवर्णीय

अनार्यों की प्रतिमा-पूजा-परम्परा। दोनों को क्रमशः विशिष्ट-धर्म एवं लोक-धर्म के नाम से पुकारा जा सकता है। वास्तव में भारत में सनातन से लोक-धर्म का स्वरूप ही प्रतिमा-पूजा था—Image worship formed the very pivot of the popular religion in India.

यदि हम इस समन्वयात्मक सांस्कृतिक सत्य (Synthetic Cultural Truth) को स्वीकार कर लें तो देव-पूजा की प्राचीनता के ऊपर अर्वाचीन विद्वानों के वाद-विवाद, तर्क-वितर्क तथा गवेषण-अनुसन्धान भले ही शास्त्रीय दृष्टि से मनोरञ्जक हो सकते हैं—ज्ञानवर्धक भी हो सकते हैं परन्तु उनके पचड़े में हमें नहीं पड़ना चाहिये। सांस्कृतिक सत्य ऐतिहासिक तथ्य से बहुत बड़ा है।

सृष्टि के आदि से मानवता के विकास की कहानी में द्वन्द्व की कथा ही संसार की कथा है। वैदिक एवं पौराणिक सुर-असुर-उपाख्यान; ऐतिहासिक एवं राजनैतिक आर्य-अनार्य-इतिवृत्त; दार्शनिक सगुण-निगु ण-निरूपण इसी प्रकार राजसत्ता एवं प्रजातन्त्र आदि से निस्सन्दिग्ध है कि कभी भी किसी काल में एकात्मक परम्परा रह न सकी। समीकृता अनेकात्मकता ही संसार की सभ्यता का प्राण है।

इसी उदार, व्यापक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से प्रतिमा-पूजा की समीक्षा में यह कहना अत्युक्ति की कोटि में न आयेगा कि प्रतिमा-पूजा अन्य पूजा-संस्थाओं (जैसे ऋग्वेद की स्तुति-प्रधान प्रार्थना-मंत्रों से देवोपासना एवं यजुर्वेदीय एवं ब्राह्मण-ग्रन्थीय यज्ञ-प्रधान उपासना-पद्धति) के समानान्तर उस सुदूर वैदिक-काल अथवा वैदिक-काल से भी पूर्व सिन्धु-घाटी अथवा नाग्र-सभ्यताओं में सञ्चरण कर रही थी। मोहन्जदाड़ो और हरप्पा की खुदाई से प्राप्त एतद्विषयक प्रामाण्य से यह निष्कर्ष दृढ़ होता है। इस ऐतिहासिक सामग्री का मूल्याङ्कन आगे के अध्याय (४) में विशेष रूप से किया गया है।

इसके अतिरिक्त हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि बहुसंभारापेक्ष्य वैदिक-याग (जिसका विपुल विस्तार ब्राह्मणग्रन्थों एवं सूत्रग्रन्थों में पाया जाता है) तथा औपनिषदिक ब्रह्मोपासना एवं आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार—वैदिक-काल की अल्पसंख्यक भारतीयों (उच्चवर्णीय आर्यों) की ये दोनों उपासना-परम्परायें इतनी सीमित कही जा सकती हैं कि उनका अनुगमन एवं सामान्य पालन सामान्यजनों की शक्ति एवं विद्या-बुद्धि के बाहर की बात थी। इन्हीं सामान्यजनों को 'अज्ञों' के नाम से आगे के शास्त्रकारों ने पुकारा है जिनके लिये प्रतिमा-पूजा अथवा प्रतीकोपासना पर आधारित देवोपासना ही एकमात्र अवलम्ब था। अतः प्रतिमा-पूजा की परम्परा के द्वारा इस देश में एक महान् धार्मिक एवं दार्शनिक समन्वय प्रत्युपस्थापित किया गया जो व्यावहारिक दृष्टि से एवं प्रचार एवं अनुगमन की सुविधा की दृष्टि से भी नितान्त स्वभाविक ही नहीं अनिवार्य था। उपनिषदों के ब्रह्मदर्शन (एकेश्वरवाद) एवं तदनुकूल धर्माचरण के साथ साथ प्रतिमा-पूजा एवं बहुदेववाद की स्थापना—इन दोनों का समन्वयात्मक सामञ्जस्य ही भारतवर्ष का सनातन धर्म है।

३

प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता

जन्म एवं विकास

[प्राचीन साहित्य का एक विहंगावलोकन]

विगत अध्याय में प्रतीकोपासना एवं देव-पूजा अर्थात् प्रतिमा-पूजा की सांस्कृतिक दृष्टिकोण से एक सरल समीक्षा की जा चुकी है। इस अध्याय में उसकी ऐतिहासिक छान-बीन का प्रयोजन जिज्ञासु पाठकों की बौद्धिक तृप्ति तो है ही साथ ही साथ इससे इस विषय की मीमांसा और भी आगे बढ़ेगी—यह भी कम उपादेय नहीं।

इस विषय के उपोद्घात में एक विशेष संकेत यह है कि यह ऐतिहासिक मीमांसा पूर्व अध्याय की सांस्कृतिक मीमांसा का पूरक अंग होना चाहिये न कि विरोधी अंग। अतः इस प्रस्तावना से यह स्वयं सिद्ध हुआ कि जो विद्वान् प्रतिमा-पूजा को अपेक्षाकृत वैदिक काल के बाद की परम्परा मानते हैं उनसे मेरा वैमत्य स्वतः उद्भूत हो गया। विगत अध्याय के उपसंहार में जो संकेत किया गया है उसके अनुसार मोहेन्जोदाड़ो (सिन्धु-सभ्यता) के भग्नावशेषों में प्राप्त शिवलिंगों, शिव-प्रतिमाओं (पशुपति शिव) एवं देवी-प्रतिमाओं (माता पार्वती) की प्राप्ति से एवं उस सभ्यता को वैदिक सभ्यता से भी प्राचीनतर मानने से प्रतिमा-पूजा को अपेक्षाकृत अर्वाचीन मानना कहाँ तक संगत है ?

प्रश्न यह है कि प्रतिमा-पूजा को इतना प्राचीन मानने के प्रबल प्रमाणों के अभाव में यह धारणा कैसे मान्य हो सकती है ? ऐतिहासिक प्रामाण्य के जो वैज्ञानिक साधन—साहित्य, पुरातत्व, वास्तु-स्मारक, अभिलेख, धातुपत्र, ताम्रपत्र आदि तथा सिक्के (Coins) एवं मुद्रायें (Seals) आदि—जब तक प्रचुर प्रमाण में एतद्विषयक प्रामाण्य उपस्थित नहीं करते तब तक यह ऐतिहासिक समीक्षा पूर्वपक्ष में ही प्रत्यवसित समझी जावेगी। अतः इस पक्ष को सिद्धान्त पक्ष में स्थिरीकरण के लिये इन सब ऐतिहासिक साधनों के द्वारा साध्य प्रतिमा-पूजा की परम्परा की प्राचीनता का सूत्रपात करना है। इस अध्याय में हम प्राचीन साहित्य के प्रामाण्य की समीक्षा करेंगे।

साहित्यिक प्रामाण्य

उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतर साहित्य वेदों को माना जाता है। उनमें भी ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋग्वेद की बहुसंख्यक ऋचाओं को आधार मान कर भारतीय पुराविदों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इनमें मैक्समूलर, मैकडानल, कीथ, विलसन, वोलेंसिन, हापकिन्स

आदि योरोपीय विद्वान् तथा वेंकटेश्वर, दास, भट्टाचार्य आदि भारतीय विद्वान् विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी (See Development of Hindu Iconography chapt. II) ने अपने ग्रंथ में इन सभी के मतों की समीक्षा की है। वह सविस्तर वहां अवलोकनीय है। यहाँ पर इतना ही दिग्दर्शन अभिप्रेत है कि इन विद्वानों में मैक्समूलर (Maxmuller) मैकडानल (Macdonell) तथा विलसन (H. H. Wilson) वैदिककाल में प्रतिमा पूजा की परम्परा को नहीं मानते; अतएव ऋग्वेद की ऋचाओं में प्राप्त एतद्विषयक सामग्री की व्याख्या भी तदनुरूप ही करते हैं। इसके विपरीत बोलेन्सेन (Bollensen) हापकिंस (Hopkins) एस० वी० वेंकटेश्वर, ए० सी० दास तथा वृन्दावन भट्टाचार्य प्रतिमा-पूजा की परम्परा को वैदिककाल की समकालीन मानते हैं तथा अपने अपने मतों के दृढ़ीकरण में ऋग्वेद की ऋचाओं की व्याख्या भी अपने मत के पोषण में प्रस्तुत करते हैं।

अस्तु ! जैसा पूर्व ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि भले ही उच्चवर्णीय आर्यों की उपासना का केन्द्रबिन्दु देव-प्रतिमा न भी थी तो भी निम्नवर्णीय अनार्यों—यहां के मूल निवासियों की पूजा प्रतीकोपासना ही थी और उन प्रतीकों में रुद्र आदि देव, लिंग आदि प्रतीक असन्दिग्ध रूप से विद्यमान थे। अतः वैदिककाल में भी प्रतिमा-पूजा अवश्य प्रचलित थी—यह सिद्धांत अपनाने में कोई आपत्ति नहीं आपतित होती।

प्राचीन साहित्य प्रधान रूप से या सर्वांश रूप में आर्यसाहित्य है। अतएव स्वाभाविक ही है कि उस साहित्य में आर्य-परम्पराओं का ही प्रतिपादन है। अनार्यों का साहित्य जेता आर्यों के द्वारा कैसे सुरक्षित किया जा सकता था ? अतएव उस साहित्य के अभाव में भी आर्य साहित्य में जो इतस्ततः बहुल संकेत बिखरे पड़े हैं उनके आधार पर इस परम्परा की पोषक सामग्री एकत्रित की जा सकती है।

पूर्व वैदिक काल

ऋग्वेद की निम्न ऋचाओं का अवलोकन कीजियेः—

(i) तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते। ऋ० वे० ८, १७, ८।

(ii) हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत। ऋ० वे० १०, ९६, ८।

(iii) वज्रं यश्चक्रे सुहनाय दस्यवे हिरीमशो हिरीमान्। अरुतहनुरद्भुतं रजः। ऋ० १०, १०५, ७।

(iv) 'दिवो नरः', 'नृपेशः'। ऋ० वे० ३, ४, ५।

(v) स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः। ऋ० वे० २, ३३, ९।

(vi) बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। परिस्पशो निषेदिरे। ऋ० वे० १, २५, १३।

(vii) नु मन्वानः एषां देवान् अच्छा। ऋ० वे० ५, ५२, १५।

(viii) इन्द्राग्नी शुम्भता नरः। ऋ० वे० १, २१, ३।

(ix) सूरमर्थं सुषिरामिव । ऋ० वे० ८, ६६, १२ ।

(x) चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्यपादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य । ऋ० वे० ४, ५८, ३ ।

(xi) क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः । यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत् ॥ ऋ० वे० ४, २४, १० ।

(xii) महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् । न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥ ऋ० वे० ८, १, ५ ।

(xiii) अश्रीरं चित् कृणुत सुप्रतीकम् । ऋ० वे० ६, २८, ६ ।

(xiv) इन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत् । ऋ० वे० ४, १७, ४ ।

(xv) विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ऋ० वे० १०, १८४, १ ।

(xvi) त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष । ऋ० वे० १, ३२, २ ।

(xvii) सहस्रियं दम्यं भागमेतं गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम् । ऋ०, वे० ७, ५६, १४ ।

(xviii) .... ऋ० वे० ७, ५६, १० ।

(xix) .... ऋ० वे० १, १०, १; ३, ५३, ५-६ ।

(xx) "प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे" । ऋ० वे० २, ३३, ४ ।

(xxi) "उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान् ।" ,, २, ३३, ६ ।

(xxii) मा शिश्नदेवा अपि गुॠतं नः । ,, ७, २१, ५ ।

(xxiii) घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभिवर्पसा भूत् ॥ ,, १०, ९९, ३ ।

(xxiv) "आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व । क्रव्यादो वृक्त्यपि धत्स्वासन् ॥ ऋ० वे० १०, ८७, २ ।

(xxv) परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि । परासुतृपो अभि शोशुचानः ॥ ऋ० वे० १०, ८७, १४ ।

(xxvi) "वि ग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते । ऋ० वे० ७, १०४, २४ । दृशन्तसूर्यमुच्चरन्तम् ॥

(xxvii) .... ,, ,, २, ३३ ।

इसी प्रकार अनेकानेक सन्दर्भ संगृहीत किये जा सकते हैं जिनमें देवों की पुरुष-प्रतिमायें परिकल्पित की जा सकती हैं । वैसे तो वैदिक परम्परा के अनुसार ऋग्वेद तथा अन्य वेदों के अवलोकन से अग्नि, सूर्य, वरुण आदि देवों की पूजा प्रतिपादित है । परन्तु उस पूजा की क्या प्रक्रिया थी ? इसमें सभी का एक मत है कि उन देवों की निराकार रूप में अथवा एक ही देव के विभिन्न रूपों में अथवा प्राकृतिक जगत् की नाना शक्तियों अथवा विश्व की विविध विभूतियों के रूप में उनकी परिकल्पना करके उनकी पूजा की जाती थी । परन्तु उपर्युक्त कतिपय ऋचाओं के अवलोकन से देवों के रूपों की उनमें अवतारणा देखकर यह सहज ही सन्देह होने लगाता है क्या उस अतीत में जहाँ क्रान्तदर्शी मनीषी कवि—ऋषि अपनी कल्पना की उड़ान में देवों का सान्निध्य प्राप्त कर

रहे थे तो उन्हीं ऋषिवृन्द अथवा देववृन्द में विपुल सन्दर्भों से निर्दिष्ट देव-कलाकार (Divine Artist) त्वष्टा जी यों ही थोड़े ही बैठे रहे होंगे। अपनी छेनी अथवा तूलिका से ऋषि-परिकल्पित अथवा उद्भावित नाना देवों के मानस रूपों को पार्थिव रूप में प्रत्यावर्तित करने में उन्हें क्या देरी लगी होगी ?

अस्तु ! इन उपर्युक्त ऋचाओं की सामग्री की समीक्षा आवश्यक है।

(i) ऋचा में इन्द्र को 'तुविग्रीवो' अर्थात् मोटी गर्दनवाला, 'वपोदरः' अर्थात् लम्बोदर तथा 'सुबाहु' सुन्दर भुजाओंवाला कहा गया है। इसी प्रकार (ii) तथा (iii) में इन्द्र के अन्य अवयवों का वर्णन है—"हरिकेश" आदि। इन विशेषणों में इन्द्र की शरीराकृति सहज बोधगम्य है। अथच (iv) में देवों के दिव्य नर अथवा केवल नर अथवा 'नृपेश' नृरूप आदि विशेषणों से भी उनकी पुरुष-प्रतिमा प्रत्यक्ष है। ऋग्वेद में बहुवार इन्द्र को 'सुशिप्र' सुन्दर-कपोल, रुद्र को 'कपर्दिन्' जटाधारी, वायु को 'दर्शत' सुन्दर आदि विशेषणों से आवाहन किया गया है।

(v) में रुद्र का वर्णन है। यहाँ पर रुद्रीय चित्र-प्रतिमा प्रत्युपस्थापित है। स्वर्णिम रागों से रञ्जित रुद्र पुष्टांग, बहुरूप (पुरुरूप) उग्र एवं बभ्रु वर्ण हैं। (vi) में वरुण को हिरण्यद्रापि (स्वर्णिम कवच) धारण किये हुए बताया गया है। (vii) में मरुद्देवों की उनकी प्रतिमाओं से पृथक् रूप में उद्भावना है। (viii) के इन्द्र-वर्णन में इन्द्र की प्रतिमा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है—लोग (नरः) इन्द्र और अग्नि को अलंकृत करते हैं—(शुम्भता)। (ix) में तो वैलन्टाइन महाशय को भी इन्द्र की आयसी प्रतिमा प्रत्यक्ष है —'अश्ममयम्' (लौहमयम्) और वह भी 'सुषिराभिव' अर्थात् खोखली (Perforated)।

अपिच (x) में अग्नि की प्रतिमा का वर्णन प्रतीत होता है—चार सींग, तीन पैर, दो शिर और सात हाथ। चिदम्बरम् (दक्षिण भारत का प्रसिद्ध शिवपीठ) के पूर्वीय द्वार पर अग्नि-मूर्ति इसी उद्भावना के अनुरूप निर्मित की गयी है। यद्यपि यह प्रतिमा मध्यकालीन है परन्तु वैदिक-कालीन अग्नि-प्रतिमा की ही तो यह अनुगामिनी है। श्रीकृष्ण शास्त्री ने भी (cf. South Indian gods and goddesses) इसे अग्नि-प्रतिमा माना है। परन्तु श्री गोपीनाथ राव महाशय (cf. Elements of Hindu Iconography vol. I pt. I pp. 248-50) इसे यज्ञपुरुष-प्रतिमा मानते हैं।

(xi) में तो ऋषि साफ तौर से इन्द्र-प्रतिमा का उद्घोष करता है—कौन मेरे इस इन्द्र को दस धेनुओं से खरीदेगा ? वेंकटेश्वर को इस प्रवचन में इन्द्रोत्सव (स० सू० "शक्र-ध्वजोत्थान") का पूर्ण आभास प्राप्त होता है जिसमें इन्द्र की चिरस्थायी प्रतिमाओं का निर्माण संकेत है।

(xii) में ऋषि का आग्रह है - हे इन्द्र, मैं तुझे बड़े मूल्य में भी नहीं दूँगा (बेचूँगा) कोई सौ दे, हजार दे या दस हजार ही क्यों न दे। यहाँ पर इन्द्र का सम्बोधन इन्द्र-प्रतिमा से प्रतीत होता है।

(xiii) में सुन्दर प्रतिमा के निर्माण का आग्रह है—जो 'अश्रीर' असुन्दर है उसे 'सुप्रतीक' सुन्दर बनाओ। इसी प्रकार (xiv) में ऐन्द्री-प्रतिमा-निर्माता-कलाकार की

प्रशंसा है—(त्वष्टा) के निर्माण-कौशल का संकेत (xv) तथा (xvi) में भी निभालनीय है।

(xvii) में वेंकटेश्वर महाशय वैदिक-काल में भी मन्दिरों की स्थिति पर आभास पाते हैं—ए मरुतो ! तुम्हारे मन्दिर (गृहमेधीयम्) पर प्रदत्त इस अपने भाग को स्वीकार करो। यही संकेत (xviii) में भी प्रतीत होता है। वेंकटेश्वर महाशय वेबीलोन में प्राप्त मरुद्-देवों की प्रतिमाओं से इस सन्दर्भ की सुसंगति स्थिर करते हैं।

(xix) में तो प्रतिमाओं के जुलूस (procession) का संकेत प्राप्त होता है।

वेदों में जिस प्रकार अग्नि को वृषभ रूप में अवतरित किया गया है उसी प्रकार रुद्र को तो वृषभ के नाम से ही पुकारा गया है। (xx) वीं ऋचा तथा (xix) वीं ऋचा में रुद्र को वृषभ कहा गया है। रुद्र-शिव की वृषभ-मूर्ति (पशुपति) का समर्थन पुरातत्वीय विभिन्न मुद्राओं से होता है। इसी कल्पना में रुद्र-शिव का वृषभ-वाहन भी प्रत्यवसित होता है।

अस्तु, इन विभिन्न संकेतों की जो समीक्षा की गयी है उसमें वैदिक-काल में प्रतिमा-पूजा के अभाववादी मत का निराकरण समझ में आ सकता है। वैसे तो सभी को मत-स्वातन्त्र्य है परन्तु मतान्धता समीचीन नहीं।

वैदिक-काल में प्रतिमा-पूजा की परम्परा पर ऋग्वेद की ऋचाओं से जो प्रकाश डाला गया उन्हीं में लिंग-पूजा की पोषक सामग्री भी प्राप्त होती है। ऋग्वेद में (देखो xxii) वशिष्ठ इन्द्र से प्रार्थना करते हैं "शिश्न-देव हमारे ऋत (धार्मिक कृत्य—यज्ञ आदि) पर आक्रमण न कर पावें"। इसी प्रकार (xxiii) में ऋषि शिश्न-देवों के संहारार्थ इन्द्र से प्रार्थना करता है।

प्रश्न यह है ये शिश्न-देव कौन थे ? 'शिश्न-देव' शब्द-निर्वचन पर विद्वानों में बड़ा मत-मतान्तर है। वैदिक-इन्डेक्स के विद्वान् लेखक 'शिश्न-देव' से लिंगोपासकों का संकेत मानते हैं। सायणाचार्य ने जो व्याख्या की है वह इसके विपरीत है। सायण के मत में शिश्न-देवों (शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्ति) से तात्पर्य अब्रह्मचारियों—राक्षसों से है जो सम्भवतः अनार्य थे। परन्तु इसमें विशेष वैमत्य नहीं कि शिश्न-देवों से तात्पर्य एक जाति विशेष अथवा वर्ग-विशेष से था जो यहाँ के मूलनिवासी थे। बहुत सम्भव है ये शिश्न-देव लिंगोपासक ही थे। सिन्धु-सभ्यता में प्राप्त लिंग-प्रतीकों से लिंगोपासकों की अति प्राचीन परम्परा पर दो रायें नहीं हो सकतीं।

ऋग्वेद की ऋचाओं से प्रतिमा-पूजा की पोषक सामग्री में xxiv, xxv तथा xxvi वीं ऋचाओं में निर्दिष्ट 'मूरदेव' शब्द की व्याख्या से भी एक दृढ़ प्रामाण्य प्राप्त होता है। यद्यपि सायणाचार्य ने मूरदेवों को मारकव्यापारी राक्षसों के अर्थ में लिया है, परन्तु यदि तत्कालीन समाज की रूप-रेखा पर थोड़ा सा गहराई से हम दृष्टिपात करें तो 'मूर' शब्द का अर्थ मूढ (निरुक्त ६. ८) न मान कर 'मुरीय' ('मृ' धातु से) 'नाशवान्' ग्रहण किया जावे तो 'मूरदेव' से तात्पर्य उन नीच-वर्णीय अनार्यों अथवा एतद्देशवासी मूलनिवासियों से होगा जो नाशवान् पदार्थों (objects)—मृण्मयी प्रतिमा आदि

की पूजा करते थे न कि सनातन दिव्य स्वर्गीय देव--इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि। ए० सी० दास महाशय (cf. Rigvedic culture p. 145 का ऐसा ही निष्कर्ष है। विल्सन ने 'मूर देव' का अनुवाद 'those who believe in vain gods' है। इसी की समीक्षा में दास महाशय की निम्न समीक्षा विशेष संगत प्रतीत करते होती है: --

'It seems to me that the word 'vain' is not the correct rendering of mura, which may mean 'senseless' like stocks and stones. The word therefore may refer to persons who believed in and worshipped 'images' which were lifeless and senseless objects' "that there were images of gods in Rigvedic times, though their worship was condemned by some of the advanced Aryan Tribes".

भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में दुर्भाग्यवश तत्वान्वेषण में किसी भी तथ्य की दृढ़ता-सम्पादन के लिये अनिवार्य प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। विभिन्न विद्वानों के अन्वेषण एवं गवेषण एक प्रकार से विभिन्न मत ही कहे जा सकते हैं। सिद्धान्त रूप में इन मतों का दृढ़ीकरण अकाट्य प्रमाणों के अभाव में कैसे हो सकता है? अतः लेखक की प्रतिमा-पूजा की यह मीमांसा एक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अन्य अनेकानेक पूर्व-सूरियों ने भी इसी प्रकार के जो निष्कर्ष निकाले हैं उन्हीं का यह एक समर्थन-उपोद्घात है। इस मत के प्रतिकूल भी विद्वानों ने उद्भावनायें एवं समीक्षायें की हैं। डा० जितेन्द्रनाथ बेनर्जी (cf. D. H. I.) इन अभाववादियों के अनुगामी हैं और उन्होंने इस दृष्टिकोण से एक सुन्दर उपसंहार किया है जो वहीं पर पठनीय है।

उत्तर वैदिककाल (ऋग्वेदेतर वैदिक साहित्य)

यजुर्वेद, सामवेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की देवोपासना के क्षेत्र में प्रमुख आर्य्य-परम्परा यागोपासना है। अथर्ववेद में इसके विपरीत ऐसे अनेकानेक संकेत मिलते हैं जिनसे अनार्यों की विभिन्न सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक संस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है। उन सब की स्थानाभाव से यहाँ पर विशेष समीक्षा न करके केवल कतिपय उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास अभीष्ट है जिससे उत्तर वैदिक काल में प्रतिमा-पूजा की परम्परा की पोषक सामग्री हस्तगत हो सके।

यजुर्वेद

शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेय-संहिता में प्रतिमासम्बन्धी प्रचुर संकेत हैं। सूर्य को 'हिरण्य-पाणि' कहा गया है:—"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः........" १ अ० १५ क. १६ इसी प्रकार अग्नि के लौह-विनिर्मित शरीर पर संकेत है:—'या ते अग्नेरजः शया तनूर्वर्षिष्ठा'....। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तरीय-संहिता में यज्ञों में प्रतिमा-प्रयोग पर निर्देश है। (See Keith's

Veda of the Black Yajur-Veda school vol. II p.411)। इसी प्रकार देवमन्दिरों का संकेत भी इसी संहिता में वृन्दावन भट्टाचार्य ने पाया है—I. I. P. xxxiii. कठक-संहिता में 'देवल'—प्रतिमाजीवी—शब्द एक ऋषि-संज्ञा में व्यवहृत है (Cf. vedic Index)।

अथर्ववेद संहिता एवं सामवेद संहिता में भी श्री वृन्दावन भट्टाचार्य ने (Cf. I. I. xxxiii) प्रतिमा संकेत निर्दिष्ट किये हैं।

ब्राह्मण

तैत्तरीय ब्राह्मण—(२.६.१७) का निम्न अवतरण देखिये:—**होता यक्षत्पेशस्वती: । तिस्रो देवी: हिरण्ययी: । भारती: महती: मही:**—इसमें स्वर्णमयी सुन्दर तीन देवियों—भारती, ईडा तथा सरस्वती की पूजा के लिये होतृ पुरोहित के लिये प्रवचन है।

वैदिक-खिलों (Supplements) में भी प्रतिमा-पूजा की परम्परा पर सुदृढ़ सामग्री प्राप्त होती है।

षडविंश ब्राह्मण—के निम्न उल्लेख—"देवतायतनानि कम्पन्ते देवप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, खिद्यन्ति, उन्मीलन्ति"—५-१०—से तत्कालीन देव प्रतिमा परम्परा पर अकाट्य प्रमाण प्राप्त होता है। इसी प्रकार **पञ्चविंश ब्राह्मण** (२३, १८, १) में 'देवमलीमुच' (अर्थात् देवप्रतिमाओं के चुराने वाले) शब्द के प्रयोग से वही निष्कर्ष निकलता है। **ताण्ड्य ब्राह्मण** (१४, ४) भी ऐसा ही पोषक है। **एतरेय ब्राह्मण** तथा **शतपथ ब्राह्मण** में भी सोने की प्रतिमा पर संकेत है। शतपथ में तो इष्टका पर रात्रि-प्रतिमा तथा काल-प्रतिमा की रचना का संकेत है। ऋग्वेद के **शांखायन** ब्राह्मण में ऐसे ही विपुल संकेत हैं। कृष्णयजुर्वेद के **तैत्तरीय** ब्राह्मण में ऐसे संकेत भरे पड़े हैं। इस ब्राह्मण में मूर्ति-निर्माता त्वष्टा का भी पूर्ण निर्देश है।

आरण्यक

ब्राह्मणों की यज्ञ-वेदी पर देव-प्रतिमा के दर्शन के उपरान्त आरण्यकों के अरण्यों में भटकना नहीं पड़ेगा। निम्न सन्दर्भों से प्रद्योति-प्रतिमा-पुञ्ज पर पूर्ण प्रकाश देखिये:—

(i) इन्द्रात् परि तन्वं ममे। तै० आ० आनन्दाश्रम पृ० १४२, ४३।

(ii) साराव स्त्रैर्जरदक्षः „ राजेन्द्रलालमित्र पृ० २०।

(iii) „ „ „ पृ० २२।

(iv) यत्ते शिल्पं कश्यप रोनावत। यस्मिन् सूर्याः अर्पिता सप्तकसाम्॥ तै० आ० राजेन्द्रलाल मित्र पृ० ८०।

(v) विश्वकर्मा व आदित्यैरुत्तरत उपदधत्ताम्। त्वष्टा वो रूपैरुपरिष्टादुपधत्ताम्॥ तै० आ० राजेन्द्रलाल मित्र पृ० १२६।

(vi) „ „ पृ० ३०८।

(vii) प्रतिमा असि „ „ „ ४२५।

प्रथम में इन्द्रदेव की प्रतिमा बनाने वाले का उद्घोष है। द्वितीय में देव-प्रतिमाओं को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करने की सनातन प्रथा का निर्देश है। सायणाचार्य भी तो यही लिखते हैं:—देवतानां वस्त्राणि हरिद्रादिद्रव्यरञ्जितानि भवन्ति। तीसरे में रुद्रीय प्रतिमा के शुभ्रवस्त्रों का संकेत है। चौथे में 'काश्यप' कलाकार की कृति में सातों सूर्यों की कला पर प्रवचन है। पांचवें में ऋषि की प्रार्थना है—विश्वकर्मा (देव-स्थपति एवं आदि आर्य-कलाकार) तेरे लिये सूर्य-प्रतिमा प्रत्युपस्थापित करें। इसी में वही अभ्यर्थना त्वष्टा के लिये भी है। छठे में त्वष्टा को प्रतिमा-निर्माता प्रकल्पित किया गया है। सातवें में 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग—'तू प्रतिमा है'।

इन सन्दर्भों में न केवल प्रतिमाओं का ही पूर्ण संकेत है वरन् प्रतिमाशास्त्र (स्थापत्य-शास्त्र) के पुरातन कतिपय प्रमुख आचार्यों काश्यप, विश्वकर्मा, त्वष्टा आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार आरण्यकों के समय प्रतिमा-पूजा-परम्परा एवं प्रतिमा-निर्माण-परम्परा दोनों ही विद्यमान थीं ऐसा निर्धारण अनुचित नहीं।

उपनिषद्

उपनिषदों की दार्शनिक ज्योति एवं ब्रह्म-विद्या तथा आत्म-विद्या से हम परिचित हैं। परन्तु उपनिषदों को ही श्रेय है जिनके महास्रोत से 'भक्ति' धारा का उद्गम हुआ। प्रतिमा-पूजा तथा 'भक्ति'—इन दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बंध है। सुदूर अतीत में पूजा-परम्परा का क्या स्वरूप था—इस पर जो सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विवेचन किया गया है उसमें देव-पूजा-पद्धति पर विशेष निर्देश नहीं मिलते। अनार्यों की प्रतीकोपासना तथा आर्यों की यागोपासना में देव-भक्ति अपने शुद्धरूप में नहीं मिलती। उपनिषदों ने जहाँ 'ब्रह्मज्ञान' आत्मज्ञान की धारा बहायी वहां भक्ति-गंगा को आगे उद्दाम गति से वह निकलने के लिये गंगोत्तरी का महास्रोत प्रदान किया।

उपनिषदों की इस भक्ति-परम्परा पर हम आगे के अध्याय—अर्च्चा, अर्च्य एवं अर्चक—में विशेष रूप से विवेचन करेंगे। उपनिषदों में ही सर्व-प्रथम भक्ति शब्द का संकीर्तन प्राप्त होता है तथा वैदिक देववाद से भिन्न उस देव-वाद की भी झलक मिलती है जिसकी पृष्ठभूमि पर आगे आगमिक एवं पौराणिक परम्परा का देव-वृन्द अपनी महामहिमा एवं लोकोत्तर गरिमा से प्रतिष्ठापित हुआ।

वेदाङ्ग सूत्र-साहित्य

आरण्यकों की प्रतिष्ठित देव-प्रतिमा-पूजा-परम्परा के उपोद्घात के अनंतर आरण्यकों के उत्तरवर्ती वेदाङ्ग (कल्प) साहित्य में प्रतिमा-पूजा की सुदृढ़ भित्ति पर शंका नहीं की जा सकती। निम्न अवतरणों में इसका पुष्ट प्रामाण्य प्राप्त होता है:—

(i) यद्यर्चा दह्येद्वा प्रपतेद्वा नश्येद्वा प्रभजेद्वा प्रहसेद्वा प्रचलेद्वा""""एताभिर्जुहुयात् """इति दशाहुतयः। मानव गृ० सू० २, १५, ६।

(ii) .... आ० गृ० सू० २०, १–३।

(iii) अथोपनिष्क्रम्य बाह्यानि चित्रियाण्यभ्यर्च्य·······स्वान् गृहानानयति। बौद्धा० गृ० सूत्र २, २, १३ (चित्रियाणि देव-प्रतिमाः)।

(iv) तस्याः उत्सर्गः संस्थावरोदके शुचौ वा देवतायतने। लौगा० गृ० सू० १८. ३

(v) गौ० गृ० सू० ६. १३-१४. तथा ६. ६६.

(vi) शा० गृ० सू० ४. १२. १५

(vii) „ „ „ २. ६. ६

(viii) अप्राप्य देवताः प्रत्यवरोहेत्संप्रति। पारस्कर गृ० सू० ३. १४. ८
ब्राह्मणान् मध्ये गा अभिक्रम्य पितृन् ॥

(ix) विष्णु ध० सू० (२३. ३४,६३.२७)

(x) अ अथातो विष्णु-प्रतिष्ठाकल्पं व्याख्यास्यामः·····················
सुवर्णोपधानं प्रतिकृतिम् (पृ० २३८);

ब अथातो महापुरुषस्याहरहः परिचर्याविधिं व्याख्यास्यामः·······देवस्य प्रतिकृतिं कृत्वा (२४३); अथातो रुद्र-प्रतिष्ठाकल्पं व्याख्यास्यामः (२४७); अथातो दुर्गा-कल्पं व्याख्यास्यामः (२६१); अथात. श्रीकल्पं व्याख्यास्यामः (२७१ ; अथातो रविकल्पं व्याख्यास्यामः (२७६); अथातो विनायक कल्पं व्याख्यास्यामः (२७८); अथातो यमकल्पं व्याख्यास्यामः (२८५)—बौद्धा० गृ० सू० गवर्नमेंट ओ० सीरीज़, मैसूर

(xi) एताभ्यश्चैव देवताभ्योऽद्भ्य ओषधिवनस्पतिभ्यो
गृहाय गृहदेवताभ्यो वास्तुदेवताभ्यः—आश्व० गृ० सू०
(वि० इन्डि० पृ० २६१)

प्रथम में सूत्रकार का आदेश है कि यदि अर्चा अर्थात् देव-प्रतिमा (दारुमयी, प्रस्तर-मयी अथवा धातुमयी) जलजावे, फूटजावे, गिर पड़े, चूर चूर हो जावे, अथवा हंसने लगे, चलायमान हो चले तो गृह-पति (जिसके गृह में प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं) समन्त्रोच्चारण अग्नि में दश आहुति देकर प्रायश्चित्त करे। द्वितीय में ईशान, इन्द्राणी, जयन्त आदि देवों की प्रतिमायें निर्दिष्ट हैं। तृतीय में शिशु के घर-बाहर निष्क्रमण-उत्सव के सम्बन्ध में निर्देश है कि पिता बाहर की देव-प्रतिमाओं की पूजा करके तथा अन्यान्य एतत्सम्बन्धी कर्म-काण्ड (ब्राह्मण-भोजन आदि) कराके ही शिशु को वापस लावे। चतुर्थ में 'देवतायन' मन्दिर की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। पञ्चम में गौतम का आदेश है देवतायन-प्रतिमाओं के सम्मुख शौचादि करना वर्ज्य है अथच उनके सम्मुख पैर फैलाना भी वर्ज्य है। गौतम का यह भी आदेश है मार्ग में 'देवतायन' मिलने पर उसकी प्रदक्षिणा अवश्य करना चाहिये। षष्ठ में भी ये ही आदेश हैं। सप्तम में 'देव-कुल' शब्द से मन्दिर अभिप्रेत है। अष्टम में सूत्रकार का मार्ग-गामी रथारूढ़ स्नातक के लिये आदेश है कि जब वह मार्गस्थ देव-प्रतिमाओं (दैवतानि) की ओर जा रहा हो तो बिना उन तक पहुँचे ही उतर पड़े, ब्राह्मण मिले तो उन तक पहुँचकर ही उतरे, गौवें मिलें तो उनके बीच में जाकर उतरे तथा पितृ-गण के दर्शन हों तो जब उन तक पहुँच जावे। नवम में देवतार्चा—देव-प्रतिमाओं के

साधारण संकेत के साथ-साथ भगवत्-वासुदेव की प्रतिमा पर संकेत है। दशम एवं एकादश में विभिन्न देवों एवं देवियों की प्रतिमाओं का निर्देश है जिससे तत्कालीन देव-समूह पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस अन्तिम निर्देश से यह भी सूचित होता है उस काल में विष्णु, रुद्र (शिव), दुर्गा, लक्ष्मी, सूर्य, गणेश तथा यम की पूजा पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी और साथ ही साथ प्रतिमा-निकेतन — देवालयों की भी तत्कालीन प्रतिष्ठा प्रमाणित होती है। 'देवगृह' 'देवायतन' 'देवकुल' शब्दों से इन देवालयों का तत्कालीन संकीर्तन होता था। आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र का द्वितीय अ० (२०) प्रतिमा-पूजा पर पूर्णरूप से प्रविवेचन करता है।

सूत्रकारों के इन निर्देशों से एक विशेष ज्ञातव्य की ओर निर्देश यहां आवश्यक है। सूत्रकारों की जो देव-नामावली हमें इन निर्देशों में प्राप्त होती है उनमें बहुसंख्यक अनार्य हैं। इनमें बहुत से ऐसे देव भी हैं जो राक्षसों एवं पिशाचों के नाम से संकीर्तित हैं—षण्ड, मर्क, उपवीर, सौण्डिकेय, उलूखल, मलीमुच अनिमिष, हन्तृमुख, सर्षपूर्ण, कुमार आदि जिनकी शान्ति-बलि भी पारस्कर-गह्य-सूत्र (१. १६. २३) में विहित है। इससे लेखक का वह निष्कर्ष (दे० पूर्व अ०) कि वैदिक-युग में ही (उत्तर-कालिक) आर्यों एवं अनार्यों के पारस्परिक संसर्ग, आदान-प्रदान एवं विभिन्न सांस्कृतिक मिश्रणों से जिस मिश्रित परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ उसके दर्शन हम यहाँ कर सकते हैं। उपनिषदों को भी तो बड़े बड़े विद्वान् (जिनमें कीथ मुख्य हैं) आर्य-द्राविड-मिश्रित-ज्ञान-धारा ही मानते हैं।

स्मार्त साहित्य

वेदाङ्ग-कल्प में जिन जिन सूत्र-ग्रंथों का परिगणन किया जाता है उसमें धर्म-सूत्रों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म-सूत्रों की परम्परा में ही धर्मशास्त्र— स्मृतियों की परम्परा पल्लवित हुई। अतः भले ही कतिपय स्मृतियों का काल-विभाजन पाणिनि, पतञ्जलि, कौटिल्य आदि प्राचीन आचार्यों के अनन्तर ही आता हो तथापि स्मार्त-साहित्य की परम्परा (जिसको साहित्यिक रूप में सुसम्बन्धित होने में काफी समय लग सकता है) सूत्र-साहित्य के उपरांत ही विशेष संगत है।

स्मृतियों में मनुस्मृति सर्व-प्राचीन है। मनु के नाम से मानव-धर्म सूत्रों की उपलब्धि से इस कथन का प्रामाण्य समझ में आ ही सकता है। मनुस्मृति में देव-प्रतिमा-पूजा पर पूर्ण प्रामाण्य प्राप्त होता है। मनुस्मृति के निम्न-प्रवचन प्रतिमा-पूजा की तत्कालीन विकसित परम्परा पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं:—

(i) "देवताभ्यर्चनञ्चैव समिधादानमेव च" अ० २ श्लोक १७६

(ii) ३, ११७।

(iii) देवतानां गुरोराज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा नाक्रमेत कामतश्छायां बभ्रुणोर्दीक्षितस्य च ॥ ४, १३०।

(iv) मृदङ्गं दैवतं विप्रं.....। प्रदक्षिणानि प्रकुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ४, ३९।

(v) ४, १५३।

(vi) जित्वा सम्पूजयेद्देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्। ७, २, १८, २४८।

(vii) देव ब्राह्मण सान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।
उदङ्मुखान् प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन ॥ ८, ८७ ।

(viii) तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च । सीमसन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ ८, २४८ ।

(ix) संक्रम ध्वजयष्टीनां प्रतिमानाञ्च मोदकः । ९, २८५

(x) चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा
विपणेन च जीवन्ति वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ ३, १५२

प्रथम में ब्रह्मचारी के लिये देव-पूजा एक अनिवार्य कर्म के रूप में उपदिष्ट है। द्वितीय में प्रसिद्ध प्रसिद्ध पूज्य सभी गृह-देवताओं का संकीर्तन है। तृतीय में प्रतिमा का छायोल्लंघन का वर्जन बताया गया है। चतुर्थ में मार्गस्थ देवतायतन की प्रदक्षिणा का आदेश है। पंचम में पर्व में देवतायतनों में जाकर अपनी रक्षा-अभ्यर्थना पर संकेत है। षष्ठ में मुकदमा में भूमि-विजय पर देवतार्चन अनिवार्य है। सप्तम में मुकदमें में देव-प्रतिमा के साक्ष्य में कसम खाने की प्रथा पर निर्देश है। अष्टम में दो भूमि-प्रदेशों की सीमा-विभाजन में 'देवतायतन' की प्रयोग परम्परा पर संकेत है। नवम में प्रतिमा-भेदक कानूनी अपराधी (Criminal—penal offender) माना गया है। दशम का मानवीय निर्वचन कुछ कम समझ में नहीं आता है। जहाँ देव-पूजा का इतना महत्वपूर्ण स्थान था वहाँ देव-प्रतिमा-पुजारियों का हीन-स्थान उन अधम ब्राह्मणों के साथ निर्दिष्ट किया गया है जो मांस-विक्रयी, पण्यजीवी अथवा चिकित्सोपजीवी थे।

अन्य स्मृतियों की छानबीन स्थानाभाव से अनावश्यक समझ केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि सभी स्मृतियों में देव-पूजा एक प्रतिष्ठित संस्था मानी गई है। मनु के बाद याज्ञवल्क्य स्मृति की महत्ता है। याज्ञवल्क्य में भी इस प्रकार के प्रवचन प्रचुर-प्रमाण में इतस्ततः सर्वत्र भरे पड़े हैं। अतः पिष्टपेषण अनावश्वक है।

प्राचीन व्याकरण-साहित्य

प्राचीन व्याकरणचार्यों में दो नाम विशेष प्राचीन हैं एवं उल्लेख्य हैं भगवान् सूत्रकार पाणिनि तथा भगवान् भाष्यकार पतंजलि। पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रतिमा एवं प्रतिम-पूजा के बहुल संकेत हैं। पाणिनि का समय ईसवीय-पूर्व पञ्चमशतक से भी प्राचीन (लगभग ८०० ई० पू०) माना गया है। अतः पाणिनि की यह सामग्री ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण (a landmark) है।

पाणिनि—

अष्टाध्यायी के निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं:—

(i) जीविकार्थे चापण्ये पंचम ३, ९९ ।
(ii) येषां भक्तिर्यप चतु० ३, ९५ ।
(iii) वासुदेवार्जुनाभ्यां ऊञ चतु० ३, ९८ ।

(iv) महाराजात्तथा चतु० ६६ ।
(v) इवे प्रतिकृतौ पंचम ६, ६६ ।

पतञ्जलि—

उपर्युक्त पाणिनि-सूत्रों की महाभाष्य की निम्न-व्याख्या भी निभालनीय है:—

(i) **अपण्य इत्युच्यते । तत्रेदं न सिध्यति शिवः स्कन्दः विशाखः इति ।**
किं कारणम् । मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः । भवेत्तासु न स्यात् ।
यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति ॥ महा० २, ४२६ ।

(ii) **दीर्घनासिक्यर्चा तुङ्गनासिक्यर्चा ,, २, २२२ ।**

(iii) **अथवा नैषा क्षत्रियाख्या । संज्ञैषा तत्रभवतः ,, २, ३१४ ।**

इन सूत्रों में तत्कालीन प्रतिमा-पूजा की कैसी स्थिति थी—इसका मूल्याङ्कन हम कर सकते हैं। प्रथम सूत्र में पूज्य देव-प्रतिमाओं एवं पूजक मनुष्यों के पारस्परिक सम्बंध पर निर्देश है कि उस प्रतिमा अर्थात् प्रतिकृति का (जिसकी पूजा करके पूजक अपना जीविका निर्वाह करता है - जीविकार्थे, तथा जो बेचने के लिये नहीं है—'अपण्ये') वही नाम होगा जो देव का (जिसकी वह प्रतिमा है)। परन्तु इस सूत्र से यह पता नहीं कि सूत्रकार का किन देवों से अभिप्राय है ? सम्भवतः यक्षों एवं नागों से अभिप्राय है। भाष्यकार के भाष्य से शिव, स्कन्द, विशाख इन देवों का बोध होता है। आगे तीसरे सूत्र से पाणिनि की शिक्षा है—वासुदेव अर्जुन आदि देवों के उपासकों में वुञ् प्रत्यय से अकादेश से वासुदेवक, अर्जुनक निष्पन्न होगा। चौथे सूत्र में महाराज (कुबेर, धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष आदि दिग्पाल) शब्द की भी वही निष्पन्नता अभिप्रेत है। पांचवें से प्रतिकृति में कन् प्रत्यय लगता है—अश्व इवायमश्वः प्रतिकृतिः अश्वकः।

पाणिनि-सूत्रों के उपोद्घात के अनन्तर महाभाष्य के ऊपर के अवतरणों पर यदि गहराई से दृष्टि डालें तो तत्कालीन समाज एवं उसमें प्रतिमा-पूजा के महत्व पर बड़ा भारी आलोक मिलता है। प्रथम तो जिन देवों का भगवान् भाष्यकार ने पाणिनिसूत्र को स्पष्ट करने के लिये संकीर्तन किया हैं वे वैदिक देव नहीं हैं। अतः लेखक ने औपनिषदिक समीक्षा में जिस आकूत पर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था वह यहाँ पर भी सर्वथा उपादेय है। दूसरे मौर्यों के प्रतिमा-व्यवसाय पर जो निर्देश है उससे दो तथ्यों की ओर संकेत मिलता है। प्रथम उस समय में प्रतिमाओं की बड़ी मांग थी अन्यथा राजखजाने की वृद्धि के उपाय में यही व्यवसाय थोड़े ही शेष रह गया था ? दूसरे 'मौर्य' और 'मूर-देव' क्या दोनों एक ही तो नहीं है ? ऐसा ही आकूत पीछे भी किया जा चुका है !

'पाणिनि' का पतञ्जलि के उस सुदूर समय में भी बड़ा ही पावन एवं पूज्य स्थान था। भाष्यकारने पाणिनि को 'भगवान्' कहकर सम्बोन्धित किया है। अतः लेखक ने पाणिनि के व्याकरण को वेदाङ्ग-षट्क (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष) के समान ही प्राचीन मानकर श्रुति एवं स्मृति के उपरान्त इतिहास एवं पुराण के पूर्व ही सूत्र-साहित्य की परम्परा में ही इसकी भी समीक्षा की है। इस अवसर पर एक

संकेत यहाँ आवश्यक है—यद्यपि श्रुति एवं स्मृति के उपरान्त इतिहास (रामायण एवं महाभारत) तथा पुराण की समीक्षा समीचीन थी परन्तु कौटिल्य का अर्थशास्त्र रह जाता। अतः पहले उसकी सामग्री का अवलोकन कर लिया जावे।

अर्थशास्त्र

कौटिल्य का अर्थशास्त्र ईशवीय पूर्व कृति (३०० ई० पूर्व) है। उसमें देव-प्रतिमा-पूजा एवं देवतास्थानों के बहुत संकेत बिखरे पड़े है। अथच कौटिल्य के सन्दर्भों से ऐसा सूचित होता हैं—देव प्रतिमा-प्रतिष्ठा का वह एक अति सुप्रतिष्ठित एवं सुविकसित समय था। लेखक ने अपने 'भारतीय वास्तु-शास्त्र' में 'पुर निवेश' की प्राचीन परम्परा में कौटिल्य की देन की विवेचना की है। अतः उससे स्पष्ट है वास्तु-शास्त्रों की अतिविकसित मन्दिर-प्रतिष्ठा-परम्परा के समान ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भी वही परम्परा है, जब नागरिकजीवन में देवदर्शन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण धार्मिक साहचर्य था। 'दुर्गनिवेश' के अध्याय में कौटिल्य इसी विकसित परम्परा का दृढ़ निदर्शन प्रस्तुत करते हैं:—

(i) **अपराजिताप्रतिहतजयन्तवैजयन्तकोष्ठकान् शिववैश्रवणाश्विश्रीमदिरागृहञ्च पुरमध्ये कारयेत। कोष्ठकालयेषु यथोद्देशं वास्तुदेवताः स्थापयेत्। ब्राह्मैन्द्रयाम्य सैनापत्यानि द्वाराणि वहिः परिमाया धनुश्शतावकृष्टाश्चैत्यसेतुबन्धाः कार्याः। यथादिशं च दिग्देवताः।—अर्थ० (शा० शा०)**

(ii) **वासगृहं भूमिगृहं वसक्काष्ठचैत्यदेवताविधानम्**

(iii) **"देवध्वजप्रतिमाभिरेव" (दे० निशान्तप्रणिधिः)**

"दैवतप्रेतकार्योत्सवसमाजेषु" (दे० अपसर्पप्रणिधिः)

कौटिल्य के प्रथम प्रवचन में जिन देव-प्रतिमाओं की पुरमध्य-प्रकल्पना अभिप्रेत हैं उनमें अपराजित, अप्रतिहत जयन्त, वैजन्त, शिव, वैश्रवण, अश्वि देवों तथा श्री और मदिरा इन दो देवियों का उल्लेख है। इस देव-परम्परा में वेदिक परम्परा प्रधान है। परन्तु आगे के अवतरण (वास्तुदेवताः तथा ब्राह्मैन्द्र आदि) में जिन देवों का संकीर्तन है उसमें पौराणिक परम्परा का भी पूर्ण आभास प्राप्त होता है। अतः देव-परम्परा की इस मिश्रण परम्परा से ही आगे की अतिविकसित देव-परम्परा प्रतिष्ठित हुई। आपस्तम्ब गृ० सू० की देवनामावली में ईशान, मिढुसी तथा जयन्त का संकेत है। अतः डा० वैनर्जी (cf. D. H. I. p. 96) का एतद्विषयक आकूत बड़ा ही मार्मिक है। उन्होंने ईशान से शिव, मिढुसी से मदिरा तथा जयन्त से जयन्त का बोध माना है। हिरण्याक्षि गृ० सू० (२-३-८) में उल्लिखित 'शूलगवयाग' में मिढुसी के रुद्रीय सम्बन्ध से मिढुसी रुद्र-पत्नी मानना ठीक ही (क्योंकि शिव के विभिन्न नामों में मिढुस भी एक नाम है)। मदिरा से तात्पर्य भगवती दुर्गा से है (दुर्गा-अम्बिका के अनेक नामों में मदिरा भी एक है।

कौटिल्य के द्वितीय निर्वाचन से उस वास्तुशास्त्रीय परम्परा का परिचय मिलता है जिसमें द्वारों की शाखाओं (Door-Frames) पर प्रतिमाओं का चित्रण विहित है। यहाँ पर राजहर्म्य के द्वारों पर देवी-प्रतिमाओं एवं वेदिकाओ की चित्रों के सम्बन्ध में उल्लेख है। तृतीय में देव प्रतिमाओं के साथ-साथ देव-ध्वजों का भी निर्देश है।

रामायण एवं महाभारत

कौटिल्यकान्तार की अर्थशास्त्रीय इस अन्वीक्षा से जब हम आगे बढ़ते हैं तो अनायास रामायण एवं महाभारत के महाकाव्य-काननों के सुरम्य दर्शन में यत्र तत्र सर्वत्र देवदर्शन भी पूर्ण रूप से होने लगता है।

महाभारत—

महाभारत में पूज्य देवों, उनकी प्रसिद्ध प्रतिमाओं तथा उनके प्रसिद्ध पीठों (तीर्थ-स्थानों) के ऐसे नाना निर्देश भरे पड़े हैं जिनसे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारती प्रतिमा-पूजा-परम्परा पुराणों के समान ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। महाभारत के कतिपय पूरे के पूरे अध्याय तीर्थ-वर्णन एवं देवदर्शन पर हैं।

यहाँ पर एक विशेष तथ्य उल्लेखनीय है कि महाभारत के देवदर्शन एवं तीर्थभ्रमण सम्बन्धी प्रवचनों के पारायण से ऐसा विदित होता है कि ये प्रवचन वैदिक एवं पौराणिक परम्परा के संक्रमणकालीन (transitional) हैं। देव प्रतिमा-दर्शन-जन्य-पुण्य के फल का वैदिक-यागों के फल के समकक्ष मूल्याङ्कन किया गया है:—

उदाहरणार्थ—

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत्।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै॥
महाकालं ततो गच्छेत् नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत्॥ वन पर्व ८२. ४८-४९
धर्मं तत्राभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात्। ८४-१०२

वन-पर्व के ८२, ८४ अध्यायों में जिन देव-प्रतिमाओं तथा देवी-प्रतिमाओं का उल्लेख है उनमें महाकाल, शंखकर्णेश्वर, भीमा, त्रिशूलपाणि, कामाख्या, वामन, आदित्य, सरस्वती, धूमावती, भद्रकर्णेश्वर, कालिका, चन्द्र आदि विशेष उल्लेख्य हैं। श्रीयुत् वृन्दावन भट्टाचार्य (cf. 9. 9. p, x x vii) का कथन ठीक ही है कि इन देव-प्रतिमाओं के पीठ-स्थानों की इतनी अधिक प्राचीनता प्रतीत होती है कि उनका अन्वेषण एवं उनका आधुनिक स्थानों से तादात्म्य-निर्धारण बड़ा कठिन है।

महाभारत के प्रतिमा-विषयक अन्य निर्देशों में भीम की आयसी प्रतिमा (स्त्री पर्व अ० १२. १४-१६) तथा एकलव्य के द्वारा आचार्य द्रोण की प्रतिमा-निर्मिति आदि अनेक उपाख्यान एवं प्रसंग सभी जानते ही हैं। महाभारत की इस विषय की सामग्री में आदि (७०, ४६); अनुशासन (१०. २०-२१) आश्वमेधिक (७०-१६) विशेष सहायक हैं जहाँ पर देवतायतनों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त महाभारत में शिवलिंग, शालग्राम एवं ब्राह्मप्रतिमा-पूजा के निर्देश से त्रिदेवोपासना की पौराणिक परम्परा पर भी पूर्ण संकेत प्राप्त होता है। पुण्डरीकतीर्थ में वैष्णवी मूर्ति शालग्राम के माहात्म्य में महाभारती निम्नलिखित भारती निभालनीय है:—

"शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः" ८४-१२४

इसी प्रकार ज्येष्ठिल तीर्थ में शैवी मूर्ति के वर्णन में

"तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम्।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ॥" ८४-१३४

अपिच

नन्दीश्वरस्य मूर्तिं तु दृष्ट्वा मुच्येत किल्विषैः २५. २१

ब्राह्मी मूर्ति पर भी इस निम्न अवतरण से प्रकाश पड़ता है:—

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम्
तत्राभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुषर्षभ
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः।

अस्तु। इसी प्रकार रामायण में भी देव-प्रतिमा एवं देव-गृह, देव-कुल आदि विभिन्न अर्चक एवं अर्च्य की परम्परा पर प्रोज्ज्वल प्रकाश पड़ता है।

प्रतिमा-विज्ञान की शास्त्रीय-परम्परा एवं स्थापत्य-परम्परा दोनों पर ही बौद्ध धर्म एवं जैनधर्म ने बड़ा प्रभाव डाला है। सत्य तो यह है कि प्रतिमा-निर्माण के स्थापत्य कौशल में बौद्ध-प्रतिमा-निर्माताओं ने सुन्दर कौशल दिखाया है। अतः यद्यपि इस ग्रंथ का प्रकृत विषय हिन्दू-प्रतिमा-निर्माण-विज्ञान एवं उसकी आधारभूमि प्रतिमा-पूजा-परम्परा ही विशेष विवेच्य है तथापि भारतीय प्रतिमा-विज्ञान या हिन्दू-प्रतिमा शास्त्र के समीक्षण में बौद्धों एवं जैनों की देन को भुलाया नहीं जा सकता। बौद्धों एवं जैनों के प्राचीन साहित्य को अवलोकन से प्रतिमा-पूजा की परम्परा पर पृथुल सामाग्री हस्तगत होती है। डा० वैनर्जी (See D. H. I. p. 98) का भी यही कथन है। बौद्ध एवं जैन साहित्य से प्रतिमोपासना एवं प्रतीकोपासना—दोनों की ही परम्पराओं पर पूर्ण आभास मिलेगा।

अस्तु-विस्तारभय से इन सन्दर्भों का विवरण न देकर यहाँ पर इतना ही संकेत अभीष्ट है कि प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता के प्रामाण्य पर हमने पुराणों का पूर्व-वर्ती साहित्य ही समुपस्थापित किया है। पुराण तो प्रतिमा-पूजा के धर्म-ग्रंथ हैं ही एवं पुराणों से प्रभावित पुराणेतर विपुल साहित्य जैसे काव्य, नाटक तथा आख्यायिका आदि प्राचीन लौकिक साहित्य को भी इस स्तम्भ में परिगणित नहीं किया गया है—क्योंकि ईशवीय शतक के प्रारम्भ से ही इस परम्परा की पूर्ण प्रतिष्ठा पर पूर्ण ऐतिहासिक प्रामाण्य प्राप्त होता है।

४

प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता

विकास एवं प्रसार

[पुरातत्व—स्थापत्य-कला, अभिलेख, सिक्कों एवं मुद्राओं के आधार पर]

प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता की समीक्षा में साहित्य, पुरातत्व आदि जिन साधनों के द्वारा इस पुरातन संस्था के प्रचार-प्रामाण्य पर प्रकाश डालने की प्रतिज्ञा की गई थी उनमें भारत के पृथुल प्राचीन साहित्य पर विगत अध्याय में एक सरसरी दृष्टि डाली जा चुकी है। अब क्रम-प्राप्त इस अध्याय में पुरातत्वान्वेषण से प्राप्त सामग्री की मीमांसा से इस स्तम्भ को अग्रसर करना है।

स्थापत्य एवं कला

स्थापत्य एवं कला की प्रतिमा-सूचक सामग्री को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—वैदिक-काल-पूर्व एवं वैदिक-कालोत्तर। वैदिक-पूर्व से हमारा तात्पर्य सिन्धु-घाटी की सभ्यता में प्राप्त कलात्मक कृतियों से है तथा वैदिकोत्तर से उन अपेक्षाकृत अर्वाचीन कृतियों से अभिप्राय है जिनका श्रीगणेश सम्भवतः काष्ट एवं मृत्तिका आदि अचिरस्थायी द्रव्यों से हुआ था। परन्तु कालान्तर में असुरों, नागों एवं द्राविड़ों आदि तक्षकों के पाषाण के प्रथम प्रयोग का अनुकरण आर्य-तक्षकों ने भी किया होगा। प्राचीन भवन-वास्तु (शाल-भवन) की समीक्षा में लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जनावास (Secular Residential, buildings) में पाषाण का प्रयोग अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। प्राचीन वास्तु-शास्त्रीय-परम्परा में शिलास्तम्भ, शिलाकुड्य (दे० कामिकागम) नरावास में वर्जित था। शिला (पाषाण) का प्रयोग सर्वप्रथम देव-वास्तु के निर्माण एवं देव-प्रतिमाओं की विरचना में प्रारम्भ हुआ था। पुनः शनैः शनैः इस सिद्धान्त में जब शिथिलता आई और राजप्रसादों में भी पाषाण का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो फिर 'जनावास' भी पाषाण से दूर न रह सके। अस्तु।

पूर्वैतिहासिक – वैदिक-काल-पूर्व प्रतिमायें

सिन्धु-घाटी की अति पुरातन सभ्यता को विद्वानों ने पूर्वैतिहासिक संज्ञा प्रदान की है। मोहन्जोदड़ो और हड़प्पा के प्राचीन सांस्कृतिक भग्नावशेषों की खुदाई में जिन विभिन्न पुरातत्वान्वेषण-प्रेरक पदार्थों (Objects) की प्राप्ति हुई हैं उनमें सचित्र मुद्रायें (मनुष्य एवं पशु-प्रतिमायें जिन पर चित्रित हैं) विविध खिलौने (जो तत्कालीन मृत्तिका

कला-वैभव के परिचायक हैं) वर्तन, भाण्ड आदि नाना चित्रों मे चित्रित एवं रागरंजित कलाकृतियों के साथ साथ पाषाण-प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय हैं। सर जान मार्शल महोदय की इस विषय की अन्वेषण-समीक्षा विशेष महत्वपूर्ण है। लिङ्गाकृति-प्रतीक पदार्थों के बहुल निदर्शनों से एवं वैदिक-वाङ्मय में सूचित शिश्नदेवों—लिङ्ग-प्रतिमा-पूजक – इस देश के मूल निवासियों के प्रति संकेत से, विद्वानों का (मार्शल, चान्दा आदि) यह आकूत नितान्त समीचीन एवं संगत ही है कि ये प्रतीक तत्कालीन पूजा-परम्परा (लिंगोपासना) के परिचायक हैं।

आगे उत्तर-पीठिका में प्रतिमा-विज्ञान के शास्त्रीय-सिद्धांतों की समीक्षा के अवसर पर प्रतिमा-मुद्राओं पर प्रविवेचन के लिये एक अध्याय की अवतारणा की जावेगी। हिन्दू, बौद्ध, जैन—सभी प्रतिमाओं में मुद्राओं का योग प्रतिमा-विज्ञान का एक अनिवार्य अंग है। प्रतिमा-मुद्राओं में योग-मुद्रा, वरद, व्याख्यान एवं ज्ञान-मुद्राओं के समान ही एक महत्वपूर्ण मुद्रा है। इस योग-मुद्रा में आसीन योगी-प्रतिमायें विशेष निदर्शनीय हैं। त्रि-शीर्ष सश्रृंग एवं नानापशुसमाकीर्ण तथा योगासन (कूर्मासन) पर आसीन योगी-प्रतिमा की प्राप्ति से विद्वानों ने उसे शिव—पशु-पति को पूर्वज (Prototype) माना है। इसी प्रकार की अन्य बहुत सी प्रतिमायें (माता पार्वती) एवं मुद्रायें उपलब्ध हुई हैं। इन चित्रों में प्राय: सभी मुद्राओं के अविकल दर्शन होते हैं। अतएव आर० पी० चाँदा का निम्न निष्कर्ष लेखक की दृष्टि में तथ्योद्घाटक है:—

"The excavations at Harappa and Mohenjadaro have brought to light ample evidence to show that the worship of images of human and superhuman beings in Yoga postures, both seated and standing, prevailed in the Indus Valley in the Chalcolethic period".—M. I. Scul. in the British Museum p. 9 – अर्थात् हरप्पा और मोहेन्जदाड़ो की खुदाई ने यह पूर्ण प्रामाण्य प्रदान किया है कि योग-मुद्राओं में मानव एवं देव-प्रतिमाओं की (आसन एवं स्थानक दोनों रूपों में) उस सुदूर अतीत युग में पूजा विद्यमान थी। मार्शल एवं मैके ने इस पूर्वैतिहासिककाल की सभ्यता में प्रतीकोपासना (जिसमें लिंग-पूजा, पशुपति शिव-पूजा, योगी-पूजा आदि पूजा-परम्पराओं के पूर्ण आभास प्राप्त होते हैं) पर प्रगल्भ एवं पाण्डित्य-पूर्ण प्रविवेचन किया है। उनकी गवेषणाओं का सारांश यही है कि उस अतीत में भी यह परम्परा अपने बहुमुखी विकास में विद्यमान थी। विशेष ज्ञातव्य के लिये पाठकों को मार्शल की 'मोहेन्जदाड़ो ऐण्ड इन्डस वेली सिविलेज़ेशन' (ग्रंथ प्रथम—पृ० ५६ में पाषाणलिंगों की विशेष समीक्षा द्रष्टव्य है) नामक प्रसिद्ध पुस्तक एवं मैके की 'फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहेन्जदाड़ो' नामक (ग्रंथ प्रथम—पृ० २५८-५६ पर मृन्मय भांडों पर चित्रित प्रतिमाओं की व्याख्या विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं) पुस्तक पठनीय हैं। कुछ विद्वानों ने (दे० K. N. Sastri's The Supreme Deity of Indus Valley) ने इन प्रतिमाओं को वृक्ष-देवता-पूजा (Tree God) से सम्बन्धित किया है जिससे लेखक की धारणा पर कोई आघात नहीं पहुँचता। अस्तु, सिन्धु-सभ्यता की जो रूपरेखा इस विषय की समीक्षा में विद्वानों ने

खोज निकाली है वैसी ही रूपरेखा अन्य नाद्य-सभ्यताओं (जैसे टिगरस की यूफरैट-घाटी की सभ्यता) में भी प्राप्त होती है। अतः प्रतीकोपासना एवं प्रतिमा-पूजा सम्पूर्ण मानव-जाति की एक प्रकार से अति पुरातन संस्था कही जा सकती है।

सिन्धु-सभ्यता के उस प्राचीन युग के अनन्तर प्रतिमा-पूजा अथवा प्रतीकोपासना के स्थापत्य-निदर्शनों एवं कलाकृतियों की परम्परा विच्छिन्न नहीं मानी जा सकती है। परन्तु इशवीय पूर्व पाँच हजार वर्ष प्राचीन इस सभ्यता के ऐसे निदर्शनों की अविच्छिन्न परम्परा के प्रकाशक निदर्शन भूमि के अन्धकारावर्तों में ही छिपे हैं उनकी प्राप्ति के लिए न तो विशेष प्रयत्न ही किये गये हैं और जो किये गये भी हैं वे सफल नहीं हुए हैं। अतः लगभग चार हजार वर्ष का यह अन्धकार-युग प्रतिमा-पूजा एवं प्रतीकोपासना की इस जन-धर्म परम्परा को तिमिरावृत किये हुए है। जिन प्रकाश-किरणों ने इस परम्परा को जीवित बनाये रक्खा है उनका इस सुदीर्घकालीन आर्य-साहित्य के सन्दर्भों से अनुमान लगाया ही जा चुका है। अस्तु, पूर्वैतिहासिक काल के स्थापत्य-निदर्शन एवं कला-कृतियों के इस अति संक्षिप्त निर्देश के उपरान्त अब ऐतिहासिक काल की एतद्विषयक सामग्री का प्रतिमा-पूजा-विषयक प्रामाण्य प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रामाण्य को विस्तार-भय से हम सूची-रूप में ही प्रस्तुत करेंगे।

ऐतिहासिक काल के प्राचीन निदर्शन

(i) लौरियानन्दन गढ़ में स्थित वैदिक-श्मशान-सूचक टीले की जो खुदाई टी ब्लाक (T. Bloch) महाशय ने की है उसमें स्वर्ण-पत्र पर एक स्त्री-प्रतिमा अंकित है। इसे ब्लाक महाशय पृथ्वी देवी की प्रतिमा मानते हैं कुमार स्वामी का मत इसके विपरीत है, वे इसे सम्प्रदाय-विशेष का प्रतीक (Cult object) मानते हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो प्रतीकोपासना एवं प्रतिमा-उपासना में विशेष भेद नहीं। प्रतिमा-पूजा-परम्परा को अपेक्षाकृत अर्वाचीन मानने वाले ही इस भेद को बढ़ावा दे बैठे हैं। अस्तु, ब्लाक महाशय इस प्रतिमा को वैदिक-युगीन मानते हैं।

(ii) के० पी० जालान (पटना) महाशय के कला-चयन में एक स्वर्ण-पत्र पर जिन दो स्थानक चित्रों की रचना है उनको के० पी० जायसवाल ने हर एवं पार्वती माना है तथा इस कृति का काल मौर्यकाल निर्धारित किया है।

(iii) अशोक-स्तम्भ के चित्रों एवं अशोक के शिला-लेखों से भी तत्कालीन प्रतिमा-पूजा अथवा प्रतीकोपासना का अनुमान लगाया जाता है। अशोक-स्तम्भों के शिला-लेखों से प्रतिमा-पूजा एवं प्रतीकोपासना का संकेत प्राप्त होता है।

(iv) डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी महोदय ने अपने ग्रंथ में (See D. H I. p. 106) मौर्य-कालीन अथवा शुंग-कालीन जिन दो स्वच्छन्द मूर्तियों का निदर्शन प्रस्तुत किया है उससे तो तत्कालीन देव-पूजा-प्रतिमा के प्रामाण्य पर विचिकित्सा नहीं की जा सकती है।

(v) कतिपय जिन यक्ष-यक्षिणी महाप्रतिमाओं की, वेसनगर दीदरगंज तथा पर्दं पावय के प्राचीन स्थानों में प्राप्ति हुई है उनको पुरातत्वविदों ने ही ईशवीय पूर्व

कृतियाँ माना है। उन पर जो शिला-लेख खुदे हैं उनमें मणिभद्र नामक यक्ष के उल्लेख से एवं मणिभद्र-यक्ष की पूजा गाथा का संकीर्तन बौद्ध (संयुक्त-निकाय १-१०-४) एवं जैन (सूर्यप्रज्ञप्ति) धर्म-ग्रन्थों में होने के कारण तत्कालीन प्रतिमा-पूजा-परम्परा पर इन स्थापत्य निदर्शनों से दो रायें नहीं हो सकतीं।

(vi) पारखम-स्थापत्य (Parkham sculpture) को ऐतिहासिकों ने यक्षि-प्रतिमा (यक्षि लायावा) माना है और इसको मौर्यकालीन कृति ठहराया है। इसकी वेदी पर कलाकार कुणीक के नामोल्लेख से तत्कालीन यक्ष-पूजा प्रचलित थी इसमें किसको सन्देह हो सकता है ?

कुमार स्वामी ने इसी काल की एक और यक्ष-मूर्ति का निर्देश किया है जो देवरिया में प्राप्त हुई है।

(vii) बरहुत की कला-कृतियों में यक्ष-प्रतिमा के प्राचुर्य को देखकर भी उपर्युक्त निष्कर्ष दृढ़ होता है।

टि० १—यक्षों की पूजा-परम्परा नाग-पूजा परम्परा के समान सम्भवतः अनार्य-संस्था ही मानी जा सकती है। अनार्य नाग-पूजा के नाना घटकों का उत्तरवर्ती आर्य-पूजा-परम्परा की वैष्णव शाखा में, जो सम्मिश्रण देख पड़ता है, उससे यह आकूत समझ में आ सकता है। कृष्ण-लीला-मूर्तियों में कालिदहन, धेनुक-दमन, अरिष्ट-संहार, केशिन-विनाश, आदि चित्रण अनार्य-देवता-परम्परा के ही प्रतीक हैं। अथच कृष्ण के भाई बलराम की शेषावतार-कल्पना तथा उनका स्थापत्य में अर्ध-नाग-अर्ध-मानुष रूप में चित्रण भी इस तथ्य का निदर्शक है। 'प्रतिमा-पूजा का स्थापत्य पर प्रभाव' शीर्षक अगले अध्याय में इस विषय की विशेष मीमांसा की जायेगी।

टि० २—इन प्राचीन स्मारकों के सम्बन्ध में एक विशेष तथ्य यह निदर्शनीय है कि ईशवीय-पूर्व कला-कृतियों में जिन व्यन्तर-देवों (यक्षों, नागों, सिद्धों, किन्नरों) के प्रतिमा-चित्रण प्राप्त होते हैं उनमें आर्यों के प्रसिद्ध वैदिक अथवा पौराणिक देवों का न तो विशेष प्राधान्य दृष्टिगोचर होगा और न पारम्पर्यरूपोद्भावना। जहाँ तक बौद्ध-स्थापत्य-निदर्शनों की गाथा है उनमें यद्यपि यत्र-तत्र शक्र और ब्रह्मा सहायक-देवों के रूप में परिकल्पित एवं चित्रित हैं तथापि प्राधान्य अनार्य देवों का है जिन्हें प्राचीन जैन लेखक व्यन्तर-देवों (मध्यस्थ देवों) के नाम से पुकारते हैं। अतः यह निष्कर्ष असंगत न होगा कि यद्यपि वैदिक आर्य-देवों से पौराणिक देवों का साक्षात् उदय हो रहा था वहाँ अनार्य देवों की परम्परा का भी उत्तर वैदिककाल में कम प्राबल्य नहीं था।

(viii) प्राचीन स्मारकों में कतिपय देव-ध्वज-स्तम्भों की प्राप्ति हुई है। देव-ध्वज-स्तम्भों की निर्माण-परम्परा वैदिक यज्ञ के यूपस्तम्भों से सम्भवतः उदय हुई है। प्रत्येक प्रमुख यज्ञ में यूपस्तम्भ का निर्माण उस यज्ञ का स्मारक मात्र ही न था, वरन् यजमान की कीर्ति का वह चिह्न भी था। अतः कालान्तर पाकर जब देवतायतन-निर्माण एवं देव-पूजा परम्परा पनपी तो देवतायतन विशेष में उस देव-विशेष की ध्वज-स्तम्भ-स्थापना भी प्रचलित हो चली। समराङ्गण-सूत्रधार में 'इन्द्रध्वज-निरूपण' पर एक बहुत बड़ा अध्याय

है। वाराहमिहिर की बृहत्-संहिता में भी 'इन्द्रध्वज-लक्षण' नामक अध्याय है। अतः प्राचीन स्थापत्य में देवस्तम्भ-निर्माण एक शास्त्रीय परम्परा है जो अति प्राचीन है। भारतीय स्मारकों में वेसनगर का गरुड़-स्तम्भ अति प्राचीन है। वहीं पर वासुदेव-प्रतिमाओं में संकर्षण एवं प्रद्युम्न के ताल-ध्वज एवं मकर-ध्वज भी इसी कोटि में आते हैं। वेसनगर में अनिरुद्ध की भी एक मढ़िया प्राप्त हुई है जिसकी 'ऋष्यध्वजा' की भी यही परम्परा है। ग्वालियर स्टेट के पयावा नामक स्थान पर ईशवीय-पूर्व प्रथम शतक का पाषाण-स्तम्भ इस तथ्य का समर्थन करता है कि संकर्षण वासुदेव की ध्वजा ताल-ध्वजा थी। वेसनगर की ईशवीय पूर्व तृतीय शतक के वट-स्तम्भ पर प्राप्त निधि मुद्राओं से उसकी कुबेर-वैश्रवण-ध्वज की कल्पना ठीक ही है। इसी प्रकार कानपुर जिला में डेरापुर तहसील में स्थित लालभगत नामक स्थान में जो प्राचीन रक्त प्रस्तर-खण्ड प्राप्त हुए हैं उनमें 'वर्हि-केतु' खुदा हुआ है। वर्हि (मयूर) की ध्वजा स्कन्द कार्तिकेय के लिये शास्त्रों ने प्रतिपादित की है। अतः ईशवीय पूर्व द्वितीय शतक के बहुत पूर्व ही कार्तिकेय-पूजा-परम्परा पूर्णरूप से प्रचलित थी।

राव (गोपीनाथजी) महाशय ने (cf. Hindu Iconography p. 6-7) लिंग-पूजा का स्मारक-निबन्धन गुडीमल्लम में प्राप्त लिंग-प्रतिमा (जिसे उन्होंने वरहुत-स्थापत्य ईशवीय-पूर्व द्वितीय शतक का ही समकालीन माना है) से यही सुदृढ़ निष्कर्ष निकाला है कि ईशवीय पूर्व कई शताब्दियों पूर्व इस देश में प्रतिमा-पूजा पूर्ण-रूप से प्रचलित थी। वेसनगरीय गरुड़-स्तम्भ के वासुदेव-प्रतिमा-पूजा के प्रमाण पर संकेत किया ही जा चुका है। अतः ईशा से कई शताब्दियों पूर्व शिव-पूजा एवं विष्णु-पूजा (पौराणिक धर्म की शैव एवं वैष्णव परम्पाराओं) की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

शिला लेख

स्थापत्य एवं कलाकृतियों के इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब प्राचीन शिला-लेखों से भी प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता का प्रामाण्य प्रस्तुत किया जाता है।

ईशवीय शतक के प्रारम्भिक एवं उत्तरकालीन नाना प्रमाणों से तत्कालीन प्रतिमा-पूजा की पूर्ण प्रतिष्ठा पर अब किसी को भी सन्देह नहीं है। ईशवीय-पूर्व प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता में जिन स्थापत्य एवं कलाकृतियों के साक्ष्य का संकेत ऊपर किया गया है उनका बहुसंख्यक ईशवीय-पूर्व-कालीन शिल लेखों से भी पूर्ण पोषण होता है।

शिला-लेखों में विश्वविश्रुत अशोक के शिला-लेखों को कौन नहीं जानता है? उन शिला-लेखों के मर्मज्ञ विद्वानों से छिपा नहीं है कि उस सुदूर अतीत में अशोक के ये शिला-लेख तत्कालीन जन-धर्म-विश्वास का आभास भी देते हैं (यद्यपि उनका प्रमुख उद्देश्य बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं का प्रचार था)। अशोक के चतुर्थ-प्रस्तर-शिलालेख (Fourth Rock Edict) के प्रथम भाग में 'दिव्यानि रूपानि' शब्द आया है। इसका सरलार्थ तो देव-प्रतिमा ही हो सकता है। रूप, वेर, तनु, विग्रह, बिम्ब, प्रतिमा, मूर्ति आदि शब्द पर्यायवाची हैं। डा० जितेन्द्र नाथ बैनर्जी आदि पुराविद् (See D. H. I. p 100) इस सन्दर्भ (अर्थात् दिव्यानि रूपानि) का एक-मात्र शिक्षात्मक महत्व बताते हैं। देवतायतन में प्रतिमा-पूजा का उनमें आभास नहीं, तथापि उनके इस निष्कर्ष

को सिद्धान्त-पक्ष नहीं माना जा सकता। साहित्यिक प्रामाण्य की पूर्व-प्रस्तावना में प्रतिमा-पूजा की अति प्राचीनता पर प्रकाश डाला जा चुका है। अतः ईशवीय पूर्व तृतीय शतक (अशोक काल में) जन-धर्म की यह सुदृढ़ संस्था थी—इसमें विचिकित्सा समीचीन नहीं।

प्रतिमा-पूजा के ईशवीय-पूर्व शिलालेखीय प्रामाण्य में हाथीवाडा, नागरी, वेसनगर, मोरावेल, कुशान, मथुरा (ब्राह्मी)--शिलालेख विशेष उल्लेखनीय है।

घोषाण्डी

(हाथीवाड़ा) उदयपुर (राजस्थान) के घोषाण्डी नामक ग्राम में स्थित एक पक्की वापी (बावली) की भित्ति पर निम्नाङ्कित लेख अङ्कित हैः—

(i) **कारितोयं राज्ञा भागवतेन गाजायनेन पाराशरीपुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेध-याजिना भगवद्भ्याम् संकर्षणवासुदेवाभ्याम् अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजा शिलाप्राकारो नारायणवाटिका।**

अर्थात् नारायण वाटिका में स्थित सर्वेश्वर, अप्रतिहत संकर्षण और वासुदेव की देवतायतन-पुष्करिणी की यह भित्ति, परम भागवत (वैष्णव) अश्वमेधयाजी, पराशर-गोत्रोत्पन्ना माता का पुत्र गाजायन सर्वतात नामक राजा ने बनवाई।

इस शिलालेख की तिथि डा० भण्डारकर ने ईशवीय पूर्व प्रथम शतक माना है (संभवतः इससे भी प्राचीनतर)। अतः निर्विवाद है कि उस समय भागवत धर्म प्रतिष्ठित था।

वापी, कूप तडाग, देवतायतन निर्माण की पौराणिक अपूर्त-परम्परा पूर्ण-रूप से प्रतिष्ठित थी। पूज्य देवों में वासुदेव-प्रतिमायें प्रबल रूप से प्रचलित थीं।

'पूजा-शिला-प्राकार' की व्याख्या में विद्वानों में मतभेद है। शिलार्चा का उलटा पूजा-शिला है। शिलार्चा प्राचीन वास्तुशास्त्रीय परम्परा में प्रतिमा का बोधक है। प्राकार को घेरा (enclosure) कह सकते हैं। वैसे तो प्राकार का वास्तुशास्त्रीय (मानसार) अर्थ राज-प्रासाद का एक आँगन (Court) है तथापि यहाँ पर मेरे मत में मण्डप से है भले ही वह मण्डप 'गूढ' या 'अगूढ' (दे० लेखक का 'प्रसाद - वास्तु') न होकर आकाश-मण्डप ही हो जहाँ पर इन दोनों देवों की प्रतिमायें प्रतिष्ठित की गयीं थीं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि उस प्राकार के देवतायतन की छत का निर्माण पाषाण-पट्टिकाओं से न होकर अचिरात् नाशोन्मुख काष्ठ-पट्टिकाओं से सम्पन्न हुआ हो अथवा पक्की ईंटों की भी छत इस दीर्घकालीन मर्यादा का उल्लंघन न कर सकी हो।

वेसनगर

वेसनगर का खम्भा पिलर-इन्स्क्रिप्शन की तो तिथि ऐतिहासिकों ने ईशवीय पूर्व द्वितीय शतक की मानी है। इस शिला-लेख में देवदेव वासुदेव की भक्ति में दिय-सूनु तक्षशिला के निवासी हेलिडोरा नामक भागवत (विष्णु भक्त) ने 'गरुड़ध्वज' का निर्माण कराया। यह हेलिडोरा विदिशा के राजा भागभद्र के राजदरबार में प्रेषित यवन (Greek) राजदूत था जिसने हिन्दू-धर्म स्वीकार किया था और वासुदेव को अपना इष्टदेव समझता था। यह गरुड़-ध्वज वासुदेव-मन्दिर के सम्मुख ही निर्मित किया गया था।

देवतायतन के स्थिति-प्रमाण में अब प्राप्त अन्य शिला-लेख उल्लेखनीय हैं जिनका संकेत ऊपर स्थापत्य एवं कलाकृतियों के स्तम्भ में किया जा चुका है।

मोरावेल इन्स्क्रप्शन

यह तो और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस शिला-लेख में 'प्रतिमा' (·······भगवतां वृष्णीनां पञ्चवीराणां प्रतिमा·······) तथा 'अर्चा' (····अर्चादेषां इत्यादि) इन दो शब्दों का पञ्च वृष्णि-महावीरों की देव-प्रतिमाओं के अर्थ में प्रयोग हुआ है। ये पाँच वृष्णि (यादव) महावीर कौन थे? बलदेव, अक्रूर, अनाधृष्ट, सारण तथा विदुरथ—इन पाँच वृष्णि-वीरों का संकेत लूडर महाशय के मत में संगत होता है। चान्दा महाशय इस शिला-लेख में वृष्णि के स्थान वृष्णेः पढ़कर इन पाँच महावीरों के साथ-साथ यादव-चन्द्र भगवान् कृष्णचन्द्र (कृष्ण-वासुदेव) की प्रतिमा का भी संकेत बताते हैं। इसकी तिथि लूडर आदि पुराविदों के मत में कुशान-काल से भी प्राचीनतर मानी जाती है। यह शिला-लेख पाषाणनिर्मित देवतायतन के भग्नावशेष में प्राप्त हुआ है अतः निर्विवाद है—उस काल में प्रतिमा-पूजा का मुकुट-मणि भागवत-धर्म अपने भाग्य के उत्तुंग शिखर पर आसीन था।

ऐसे ही और भी अनेक शिला-लेख हैं परन्तु उन सबका निर्देश अनावश्यक है। ईशवीयोत्तर गुप्त-कालीन अनेक शिला-लेख हैं जिनसे प्रतिमा पूजा की परम्परा पर प्रमाण प्राप्त होता है। राव महाशय ने (cf. H. I. p. 7-8) ऐसे शिला-लेखों में उदयगिरि-गुहा-शिला लेख (जिसमें विष्णु के लयन-प्रासाद—Rock-cut Shrine के संकेत के साथ-साथ शम्भु-शिवालय का भी संकेत है); भिटारी पाषाण-स्तम्भ-शिलालेख (जिस में स्कन्दगुप्त-कालीन शार्ङ्गिन-देव के देवालय की निर्मिति की सूचना है); विश्वकर्मा का गजधर-शिला-लेख (जिसमें विष्णु-प्रासाद एवं सप्तमातृका-गृह आदि की रचना का उल्लेख है); ईरान-पाषाण-शिलालेख (जिसमें महाराज मातृविष्णु के द्वारा जनार्दन के देवालय की विरचना पर विज्ञप्ति है); विलसद-शिला-लेख (जिसमें स्वामी महासेन—शैव प्रतिमा के देवकुल की गाथी लिखी है)—इनका विशेषरूप से उल्लेख किया है। परन्तु ये सभी शिला-लेख ईशवीयोत्तर कालीन होने से इनकी समीक्षा का यहाँ पर अवसर ही नहीं जब कि यह पूर्ण रूप से प्रदर्शित किया जा चुका है कि इस देश में ईसा से बहुत पहिले प्रतिमा-पूजा में वैष्णव-धर्म तथा शैव-धर्म—इन दो पौराणिक महाधर्मों की प्रबल धारायें बह चुकी थीं।

सिक्के

भारतीय एवं विदेशीय पुरातत्व-अन्वेषकों (Archaelogists) के द्वारा अन्विष्ट विभिन्न-कालीन सिक्के देश एवं विदेश के विभिन्न स्मारक-गृहों (Musuems) में एकत्रित हैं जो भारतीय-विज्ञान (Indology) की अनुपम निधि हैं।

इन सिक्कों में बहुत से ऐसे पुरातन सिक्के हैं जिनसे प्राचीन भारतीयों की उपासना की प्रतीक-परम्परा (aniconic tradition) तथा प्रतिमा-परम्परा (iconic tradition)—दोनों पर ही सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इन सिक्कों पर जो प्रतीक अथवा

प्रतिमा-चित्र मुद्रित हैं उनमें प्राय: सभी देवों एवं देवियों के दर्शन होते है। शिव एवं वासुदेव—विष्णु की तो प्रधानता है ही, लक्ष्मी, सूर्य, सुब्रह्मण्य, स्कन्द, कुमार, विशाख, महासेन, इन्द्र, अग्नि आदि पूज्य देवों की भी प्रतिमायें अङ्कित हैं जिनसे पौराणिक बहुदेववाद की परम्परा का पूर्ण आभास तो प्राप्त ही होता है साथ ही साथ प्रतिमा-पूजा का एक ऐतिहासिक प्रामाण्य भी हस्तगत होता है।

सिक्कों की इस विपुल-सामग्री का यहाँ पर एक दिग्दर्शन ही अभीष्ट है। मत मतान्तर, तर्क-वितर्क के वितण्डावाद में पड़ना तो एक मुद्रा-विशारद (Numismatist) का ही विषय बन सकता है। एक तथ्य की ओर यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि सिक्कों के प्रतीकों अथवा प्रतिमाओं से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस समय के सिक्के मिलते हैं उस समय प्रतिमा-विज्ञान अथवा प्रतिमा-निर्माण-कला अवश्य विकसित थी अन्यथा चित्रों की यह सजीवता नितान्त असम्भव थी। इस कथन की सत्यता का मूल्याङ्कन तो इसी से हो जाता है कि कुशान मुद्राकारों ने महाराज कनिष्क की मुद्राओं पर जिस बौद्ध प्रतिमा का चित्रण किया है वह गान्धार-स्थापत्य में शाक्यमुनि (बुद्ध) की प्रतिमा से बिलकुल मिलती जुलती है। प्रसिद्ध पुरातत्व-वित् कुमारस्वामी का यह कथन कितना संगत एवं सत्य है?—"...... they (*ie* coins—writer) represent a definite early Indian Style, amounting to an explicit Iconography" अर्थात् इन मुद्राओं में प्राचीन प्रतिमा-विज्ञान की रूप रेखा निहित है।

इसके अतिरिक्त यह भी निरकर्ष संगत ही है कि प्रतिमा-मुद्राओं के अतिरिक्त प्रतीक-मुद्राओं पर अङ्कित अथवा चित्रित पर्वत, पशु, पक्षि, वृक्ष, कमल, चक्र, दण्ड, घट आदि प्रतीकों की गाथा भी देवगाथा ही है। आगे प्रतिमा-लक्षण के प्रसङ्ग पर विभिन्न देवों एवं देवियों के प्रतिमा-लक्षणों में विभिन्न प्रकार की मुद्रायें—वाहन, आसन, आयुध, वस्त्र, आभूषण, आदि पर जो सविस्तार चर्चा होगी उन सबका यही मर्म है—देव-विशेष के मुद्रा-विशेष उस देव की पूरी कहानी कहते हैं।

अस्तु, सिक्कों के इस औपाद्धातिक प्रवचन के उपरान्त अब संक्षेप में कतिपय सिक्कों का संकीर्तन आवश्यक है। इन सिक्कों की समीक्षा में जिन-जिन प्रधान देवों अथवा देवियों की प्रतिमा से तत्कालीन प्रतिमा-पूजा-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है उन्हीं की प्रधानता देकर हम इस विषय की मीमांसा करेंगे। विस्तार-भय से तालिका-रूप में यह दिग्दर्शन अधिक रोचक हो सकता है।

लक्ष्मी

प्रतिमा	स्थान	राजवंश	समय
गजलक्ष्मी	कौशाम्बी	×	ई० पू० तृ० श०
"	×	विशाखदेव	"
"	×	शिवदत्त	"
"	अयोध्या	वायुदेव	"
"	उज्जयिनी	"	"

टि०—गज-लक्ष्मी की मुद्रा इतनी जन-प्रिय एवं प्रसिद्ध थी कि बहुत से विदेशी शाशकों ने भी इसको अपनाया था। इनमें Azilises, Rajuvula तथा Sodasa विशेष उल्लेख्य है। कुमारस्वामी के मत में इन विदेशियों की मुद्राओं पर पद्मवासिनी कमलालया लक्ष्मी अङ्कित हैं जो लक्ष्मी की तीन प्रसिद्ध प्रमुख प्रभेदों (types) में तृतीय प्रभेद है।

लक्ष्मी	उज्जायिनी	×	ई० पू० द्वि० श०
"	मथुरा के हिन्दू	ब्रह्ममित्र	से ई० प्र० श०
(बिना गज के)	राजा	दृढ़मित्र	"
"	"	सूर्यमित्र	"
"	"	विष्णुमित्र	"
"	"	पुरुषदत्त	"
"	"	उत्तमदत्त	"
"	"	बलभूति	"
"	"	रामदत्त	"
"	"	कामदत्त	"
"	मथुरा के क्षत्रप	शिवदत्त	"
"	"	हगमस	"
"	"	राजबुल	"
"	"	सोडष	"
	पञ्चाल	भद्रघोष	

टि० १—भारतीय-यूनानी-राजा पन्तलेन (Pantaleon) तथा Agathokles के सिक्कों पर चित्रित स्त्री-प्रतिमा को कुमारस्वामी ने 'श्री लक्ष्मी' सिद्ध किया है—जो डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी के मत में सर्वथा संगत है। डा० बैनर्जी साहब के व्यक्तिगत विचार में इस चित्र को 'यक्षिणी अश्वमुखी' माना जा सकता है।

भारतीय-सीथियन राजवंश की एक अनुपम स्वर्ण-मुद्रा मिली है। उस पर चित्रित स्त्री-प्रतिमा को गार्डनर ने नगर-देवता पुष्कलावती माना है; परन्तु वास्तव में वह लक्ष्मी-प्रतिमा ही है।

टि० २—यद्यपि शिव, विष्णु (वासुदेव) इन दो प्रधान देवों की प्रतिमाओं की न्यूनता नहीं; परन्तु लक्ष्मी-प्रतिमा के बाहुल्य से यह अनुमान ठीक ही है कि धन, ऐश्वर्य, राजसत्ता वैभव एवं विपुलता की प्रतीक एवं अधिष्टातृ-देवी 'लक्ष्मी' की पौराणिक परम्परा का उस सुदूर अतीत में न केवल भारतीयों में ही वरन् विदेशियों में भी पूर्ण ज्ञान एवं प्रचार था।

शिव

प्राचीन सिक्कों पर शिव की प्रतीक-मुद्रायें एवं प्रतिमा-मुद्रायें दोनों ही प्राप्त होती हैं। प्रतीक-मुद्राओं में लिंग-प्रतीक को प्राचीनता अधिक है। लिंग-पूजा इस देश की अति प्राचीन पूजा-परम्परा है जो वैदिक-पूर्व (अथवा पूर्वैतिहासिक) तथा वैदिक एवं उत्तर वैदिक सभी कालों में विद्यमान थी। अतः लिंग-प्रतीकों का विशेष संकेत न करके शिव की

प्रतिमा-मुद्राओं पर ही यहाँ विशेष अभिनिवेश है। डा० बैनर्जी ने अपने ग्रन्थ में (see D. H. I. p. 125-30) शिव-पूजा से सम्बन्धित प्रतीक-मुद्राओं की विस्तृत गवेषणा की है जो वहीं द्रष्टव्य है। इन प्रतीकों में शिव की विभिन्न मूर्तियों के उपलाक्षणिक प्रतीकों से शशांकशेखर, रुद्र-शिव आदि अनुमेय हैं।

उज्जैन एवं उज्जैन के निकटवर्ती प्रदेशों में प्राप्त प्राचीन सिक्कों पर शिव-प्रतिमा के प्रथम दर्शन होते हैं। प्रथम वर्ग में शिव का साहचर्य दण्ड से है जो सम्भवतः शिव को एक जटिल ब्रह्मचारी के रूप में परिकल्पित किया गया है (दे० कु० सं० ५वाँ सर्ग)। दूसरे वर्ग के बहुसंख्यक सिक्कों पर जो शिव-चित्र देखने को मिलता है उसमें वृषभ का भी साहचर्य है और वह वृषभ शिव-चित्र की ओर टकटकी लगाये हुए दिखाया गया है। मत्स्यपुराण के शिव-प्रतिमा-प्रवचन में वृषभ की प्रतिमा के लिये 'देववीक्षणतत्परः'—ऐसा आदेश है। अतः इन मुद्राओं में पौराणिक-परम्परा का पूर्ण आभास प्राप्त होता है। तीसरे वर्ग के कतिपय सिक्कों पर शिव के तीन शिर दिखाये गये हैं जो कुशान-मुद्राओं पर प्राप्त शिव-प्रतिमाओं से सानुगत्य रखते हैं।

इसके अतिरिक्त धरघोष नामक औदम्बरी राजा की ईशवीयपूर्व द्वितीय तथा प्रथम शतक की रजत-मुद्राओं पर जो प्रतिमा प्राप्त होती है उसको भी शिव-प्रतिमा ही मानना ठीक है क्योंकि इस प्रतिमा के साथ जो दो मुद्रायें—त्रिशूल-कुठार एवं स्थलवृक्ष—हैं उनसे इसको विश्पमित्र (विश्वामित्र) न मानकर शिव ही मानना ठीक है—ऐसी डा० बैनर्जी की समीक्षा है—(See D. H. I. p. 131).

औदम्बरी राजाओं—शिवदास, रुद्रदास तथा धरघोष—सभी के सिक्कों पर (रजत अथवा ताम्र) मुद्राओं के पृष्ठ पर मण्डपाकृति शिवालय का भी अनिवार्य साहचर्य है जिससे शिव-प्रतिमा-पूजा-परम्परा के साथ-साथ शिवालय-निर्माण की परम्परा पर भी प्रकाश पड़ता है। आगे 'प्रतिमा-विज्ञान एवं प्रासाद-वास्तु' नामक अध्याय में लेखक की इस धारणा का, कि दोनों की परम्परायें समानान्तर हैं—विशेष रूप से समर्थन किया जायगा। जटिल-ब्रह्मचारी (दण्ड के स्थान पर त्रिशूल सहित) शिव-मुद्रा का जो चित्रण ईशवीयोत्तर द्वितीय शतक के ताम्र सिक्कों पर है उससे भी यह 'शिवाकृति' पोषित होती है। 'छत्रेश्वर' शिव-मुद्रा का गुडीमल्लम के शिवलिंग से समर्थन होता है।

अब अन्य प्राचीन सिक्कों पर शिवमुद्राओं का सङ्कीर्तन तालिका रूप में ही विशेष अभीष्ट है :—

सिक्का	प्रतिमा	मुद्रा	राजवंश	तिथि
टीन	शिव	त्रिशूल	विदेशी	कुशानकाल-पूर्व
		तालपत्र	गोंडोफर्स	
		कटिहस्त	Gondophares	
×	,,	,,	वेम कडिफिसीज़	कुशानकाल
			Wema Kadphises	
×	,,	बहुहस्त	कनिष्क	,,
×	शिव	धनुर्धर	हुविष्क	कुशानकाल

ताम्र	रुद्र	महाभुज, गजानन	हुविष्क	कुशानकाल
„	रुद्र, शिव	द्विभुज, चतुर्भुज आदि	वासुदेव	„
	पशुपति, शिव		„	„

वासुदेव (विष्णु)

प्राचीन सिक्कों पर शैव-प्रतिमाओं की अपेक्षा वैष्णव-प्रतिमायें अपेक्षाकृत न्यून हैं। इस सम्बन्ध में डा० बैनर्जी (See D. H. I. p 141) का यह कथन "जहाँ ईशवीयपूर्व भागवत-देवतायतनों की सूचना देनेवाले कतिपय शिला-लेख तो अवश्य मिलते हैं। वहाँ सिक्कों पर तत्कालीन वासुदेव-विष्णु-प्रतिमाओं की प्राप्ति न के बराबर है। इसके विपरीत जहाँ शैव-प्रतिमाओं की सूचक सामग्री में सिक्कों की पर्याप्त प्रचुरता है वहाँ शैव-देवतायतनों की सूचना देनेवाले शिला-लेख अति स्वल्प हैं।"—सर्वथा संगत है।

प्राचीन वैष्णव स्थानों (जहाँ पर विष्णु-मन्दिर प्राप्त हुए हैं) में वेसनगर तथा मथुरा विशेष स्मरणीय हैं। अतः वेसनगर के प्राचीनतम सिक्कों पर वैष्णव-प्रतिमा की अप्राप्ति बड़ी निराशाजनक है। हाँ, मथुरा के हिन्दू राजाओं एवं शक-क्षत्रपों के जो प्राचीनतम (ईशवीयपूर्व प्रथम शताब्दी) सिक्के मिले हैं उनमें एक पर जो मुद्रा है वह भगवती 'श्री लक्ष्मी' प्रमाणित की गयी है। श्रीदेवी को वैष्णव-प्रतिमाओं में ही सम्मिलित किया जावेगा। तथा कथित पाञ्चालमित्र के सिक्कों में एक सिक्के पर जो चित्र खुदा है वह तो साक्षात् वासुदेव-विष्णु का ही है। यह सिक्का विष्णु-मित्र राजा का है। इसकी तिथि विद्वानों ने ईशवीयपूर्व प्रथम शताब्दी निर्धारित की है। इसी प्रकार की एक वैष्णव-प्रतिमा एक कुशान-मुद्रा (जिसको कनिंघम साहब ने हुविष्क की माना है) पर अङ्कित है।

प्रथम ही संकेत किया जा चुका है कि प्राचीन सिक्कों पर वैष्णव-मुद्रायें अति स्वल्प हैं, परन्तु वैष्णव-प्रतीकों से मुद्रित सिक्कों की इतनी न्यूनता नहीं है। इन सिक्कों पर वैष्णव-लांछन—चक्र, गरुड, मीन (मकर) ताल आदि की मुद्राएँ अङ्कित होने से उनको तत्कालीन विष्णु-पूजा की पोषक-सामग्री में प्रामाण्य के रूप में उद्धृत किया ही जा सकता है। ऐसे सिक्कों में वृष्णि राजन्यगण के रजत-सिक्के (दे० सुदर्शनचक्र), कौलूत राजा वीरयशस के सिक्के तथा अच्युत राजा के ताम्र सिक्के विशेष निदर्शनीय हैं।

दुर्गा

भगवती दुर्गा की मूर्ति के स्थापत्य-शास्त्रीय (प्रतिमा विज्ञान) के जिन लक्षणों का वर्णन हम पुराणों, आगमों एवं शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में पाते हैं वे अपेक्षाकृत अर्वाचीन (अर्थात् ईशवीयोत्तरकालीन) हैं। प्राचीन बहुसंख्यक सिक्कों पर कमल सुशोभित दक्षिणहस्ता कटिस्थितवामहस्ता जो स्त्री-प्रतिमायें हैं वे भगवती दुर्गा की प्राचीन मूर्ति मानी जा सकती है अथवा शक्ति के नाना भेदों में दुर्गा के विभिन्न रूप। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये इन मुद्राओं के अपने-अपने सहचर-पशुओं से बड़ी सहायता मिलती है। एजेज़ (Azes) के सिक्के पर जो स्त्री-प्रतिमा है उसका सहचर पशु सिंह है; अतः दुर्गा सिंहवाहिनी की पौराणिक परम्परा का प्रभाव इस मुद्रा में परिलक्षित है।

कुशान राजाओं (विशेषकर हुविष्क) के सिक्कों पर जो प्रतिमाएँ हैं उनमें शिव का साहचर्य नन्दा तथा उमा दोनों से है। नन्दा मेरी समझ में 'नन्दी' का अपभ्रंश तो नहीं। अतः कुशान सिक्कों पर दुर्गा-प्रतिमाओं में सन्देह नहीं रहता।

सूर्य

प्राचीन सिक्कों पर सूर्य-मुद्रायें अधिकता से प्राप्त होती हैं। परन्तु प्राप्त प्राचीनतम सिक्कों पर जो निदर्शन हैं उनमें सूर्य-प्रतोकों का ही विशेष आधिक्य है। इन प्रतीकों (Symbols) में चक्र एवं कमल का प्राधानन्य देखकर सूर्य प्रतिमा के पौराणिक एवं शिल्प-शास्त्रीय प्रवचनों का सानुगत्य पूर्णरूप से विभाव्य है। ऐसी प्रतीक-मुद्राओं में ईशवीय-पूर्व तृतीय शतक के ईरान मुद्रा विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी काल के काड के ताम्र सिक्कों पर तो जो मुद्रा है उसे एल्लन ने 'सूर्य' ही माना है। इसके अतिरिक्त सूर्यमित्र, भानुमित्र ('पाञ्चाल मित्र' वर्ग) माण्डलिक राजाओं के सिक्कों पर भी यह निदशन प्राप्त होता है।

ये सभी सूर्य-मुद्रायें प्रतीक के रूप में ही मानी जा सकती हैं। सूर्य की पुरुष-प्रतिमाओं (anthropomorphic representation) का दर्शन विदेशी शासकों—भारतीय-यूनानी तथा कुशान राजाओं के सिक्कों पर विशेष रूप से होता है।

स्कन्द कार्तिकेय

यद्यपि पञ्चायतन-पूजा-परम्परा में शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य एवं दुर्गा का ही विशेष प्राधान्य प्रतिपादित है तथा परम्परा में प्रचार भी। परन्तु यह निर्विवाद है कि इन्हीं देवों के समान ही स्कन्द कार्तिकेय की पूजा एवं प्रतिष्ठा बहुत प्राचीन है तथा इस देश के बहुसंख्यक वासी स्कन्द कार्तिकेय को अपना इष्टदेव समझते थे।

स्कन्द किन्हीं-किन्हीं प्राचीन राजाओं के भी आराध्य देव रहे हैं जिनमें कुमार-गुप्त प्रथम विशेष उल्लेखनीय है। माण्डलिक राजाओं में यौधेयों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है जो स्कन्दोपासक थे। ईशवीयोत्तर प्रथम शतक-कालीन अयोध्यानरेश देवमित्र के ताम्र-सिक्के पर जो स्तम्भासीन 'मयूर' लाञ्छन है उसे कार्तिकेय का प्रतीक (Symbol) मानना चाहिए। विजयमित्र के कतिपय सिक्कों की भी यही मुद्रा है।

यहाँ पर यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ईशवीयोत्तर द्वितीय शतक के एक यौधेय-सिक्के (रजत) पर जो प्रतिमा चित्रित है वह 'षडानन' है। एल्लन ने बड़ी ही मार्मिकता एवं विद्वत्ता से अध्ययन स्थिर किया है—यौधेयभागवतस्वामिनो ब्रह्मण्यस्य तथा दूसरे एक यौधेय-सिक्के (ताम्र) पर—भागवतस्वामिनो ब्रह्मण्यदेवस्य कुमारस्य—वह इस तथ्य का समर्थक है कि उस काल में स्कन्द कार्तिकेय की पूजा ही पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नहीं थी वरन् इस देश के मूल निवासियों (विशेषकर राजवंश) का वह इष्टदेव भी था जिसके नाम से राजा लोग अपने सिक्के चलाते थे। डा० बैनर्जी की निम्न समीक्षा बड़ी ही संगत है :—

This is very interesting because it possibly shows that the Yaudheyas had dedicated their State to the god

of their choice who was regarded by them not only as their spiritual but also as their temporal ruler.' जान मार्शल भी तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—(दे० भीटा-खुदाई ईशवीय तृतीय अथवा चतुर्थ शतक कालीन प्राप्त एक राजवंशीय मुद्रा (Terracota Seal) जिस पर श्री विन्ध्यवेधमहाराजस्य महेश्वर-महासेनातिसृष्टराज्यस्य वृषध्वजस्य गौतमीपुत्रस्य' खुदा है)

'It seems to indicate that in ancient times there may have existed a pious custom according to which rulers on the occasion of their accession entrusted their kingdom to their istadevata and considered themselves as their mere agents.

रोहितक (आधुनिक रोहतक जहाँ पर साहनी महाशय को बहुसंख्यक यौधेय सिक्के प्राप्त हुए हैं) आयुधजीवी (दे महाभा०*) यौधेयों का देश था वह कार्तिकेय का कृपा-पात्र प्रदेश था और वहाँ पर कार्तिकेय-मन्दिर भी अधिकता से निर्मित हुए थे (स्वामी महासेन का मन्दिर)।

हुविष्क ही एक ऐसा विदेशी शासक था जिसने कार्तिकेय की मुद्राओं को उसके विभिन्न नामों से—स्कन्द कुमार, विशाख तथा महासेन—अपने सिक्कों के उलटी तरफ अंकित कराया था।

प्राचीन सिक्कों पर कार्तिकेय की प्रतिमा के सम्बन्ध में एक रोचक विशेषता यह है कि इस देव की बहुसंख्यक मुद्राओं पर जो इसके बहुविध चित्रण (दे० यौधेयों के सिक्के तथा हुविष्क के सिक्के) हुए हैं उनमें इस देव की चलती फिरती प्रतिमा-घटना (Iconogrophy) दिखायी पड़ती है। डा० बैनर्जी ने (Se D.H I. 158—160) इस तथ्य का बड़ा ही सुन्दर समुद्घाटन किया है। इससे यह पता चलता है कि बृहत्संहिता, पुराण, तथा शिल्प-शास्त्रों में कार्तिकेय - लक्षण के जो लाञ्छन—बर्हिकेतु, शक्तिधर, आदि प्रतिपादित हैं उन सबका स्थापत्य, कला, सिक्के एवं मुद्राओं सभी में समन्वय दिखायी पड़ता है।

इन्द्र तथा अग्नि

पाञ्चाल मुद्रा-वर्ग में इन्द्रमित्र के सिक्कों पर इन्द्र-प्रतिमा अंकित है। इसी वर्ग में जयगुप्त के सिक्कों की उलटी तरफ इन्द्र-चित्र चित्रित है। इन्द्रमित्र की ऐन्द्री मुद्राओं की विशेषता यह है कि उनमें इन्द्र को एक कार्मुकाकृति मण्डप में स्थानक मुद्रा में अंकित किया गया है।

इसी वर्ग के अग्नि-मित्र के सिक्कों पर उलटी तरफ अग्नि-प्रतिमा चित्रित है जिसके

---

*ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत्।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहितकमुपाद्रवत ॥
तत्र युद्धं महच्चासीत् शूरैर्मत्तमयूरकैः। महा० स० ३, ३२. ५१

लक्षणों में दो स्तम्भों पर स्थापित वेदिका पर यह देवता दिखाया गया है, साथ ही साथ पञ्च ज्वालाओं का प्रतीक (Symbol) भी विद्यमान है। देवता की मुद्रा कटिहस्त है। यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि बहुत से विद्वानों के मत में यह प्रतिमा आदिनाग (जो पाञ्चाल जनपद की राजधानी अहिच्छत्र का अधिष्ठातृ-देवता था) की है। विवाद पञ्चमुद्री ज्वालाओं पर है जिसे ज्वालायें न मानकर नाग मानने पर आदिनाग की कल्पना संगत होती है।

भारतीय-यूनानी (Indo-Greek) शासकों के सिक्कों पर ऐन्द्री-प्रतिमा विशेष रूप से पायी जाती है। यूक्रेटीज़ (Eukratides) अन्तलकीकस इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनके सिक्कों पर देवराज इन्द्र यूनानी-देवता ज्यूज (Zeus) के रूप में अंकित किया गया है। यूक्रेटीज़ के कविशिये नगर देवता मुद्राओं पर इन्द्र को वाम पार्श्व में सिंहासनासीन प्रदर्शित किया गया है। दक्षिण पार्श्व पर गज का आगे का भाग अंकित किया गया है। इस मुद्रा में इन्द्र की प्रतीकोपासना एवं प्रतिमापूजा दोनों का आभास मिल सकता है, यदि हम ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तान्त में कपिशा वर्णन-जन्य संकेतों को ध्यान में रक्खें। इन्द्र के पौराणिक कल्पना में उनका देवराजत्व राजत्व-अधिष्ठातृत्व एवं गजवाहनत्व आदि प्रमुख लक्षणों से हम परिचित ही हैं।

यक्ष-यक्षिणी

प्राचीन स्थापत्य एवं कला-कृतियों के निदर्शन में यक्ष-यक्षिणी-प्रतिमाओं की भरमार हम देख ही चुके हैं। परन्तु सिक्कों की वैसी गाथा नहीं। यक्ष-यक्षिणी प्रतिमा-चित्रित सिक्के अपेक्षाकृत बहुत न्यून हैं। उज्जैन-सिक्कों में कतिपय सिक्के इस कमी को पूरा करते हैं। डा० जे०-एन० बैनर्जी का कथन है:—

It is thus highly probable that on this variety of coins hailing from ujjain and dateable as early as the 2nd contury b. c. if not earliar, we find a comparatively early representation of the Yaksa & Yaksini Couple—

अर्थात् ईशवीय पूर्व द्वितीय शतक-कालीन इन उज्जैनी सिक्को पर यक्ष-यक्षिणी-द्वन्द्व (Couple) का प्राचीन रूप प्राप्त होता है।

नाग-नागिनी

कनिंघम के (Coins of Ancent India) में कतिपय ऐसे सिक्कों का भी संग्रह है जिन पर नागों की प्रतिमाएँ चित्रित हैं। २०, २१ संख्या विशेष द्रष्टव्य हैं। आदि नाग की मुद्रा पर पीछे संकेत किया जा चुका है। पाञ्चाल नरेश अग्निमित्र तथा भूमिमित्र के सिक्कों पर नाग-मुद्राओं का स्थापन श्रीमती वेजिन फ्राउचर ने किया है, जो डा० बैनर्जी के मत में निर्भ्रान्त नहीं है।

अस्तु, प्राचीन सिक्कों की इस प्रभूत सामग्री से प्रतिमा-पूजा की परम्परा पर जो

प्रकाश पड़ा, अनेक देवों एवं देवियों के दर्शन हुए उससे कतिपय निष्कर्ष निकलते हैं— तत्कालीन जनधर्म एवं जन-विश्वास, देव-विकास, देवायतन-प्रतिष्ठा, देव-प्रतिमा-निर्माण-कला आदि आदि इन सभी पर एक सिंहावलोकन हम पुनः करेंगे (दे० आगे का अध्याय प्रतिमा-पूजा का स्थापत्य पर प्रभाव)। अब अन्त में मुद्राओं की सामग्री से मुद्रित-वदन आँख मूंद कर देवाराधन करें।

मुद्रायें (Seals)

देव-पूजा एवं प्रतिमा-निर्माण की परम्पराओं की पुरातत्वीय सामग्री में सिक्कों के ही समान (अथवा उससे भी बढ़कर) मुद्राओं (Seals) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन मुद्राओं में न केवल प्राचीन कला का वास्तु-वैभव, स्थापत्य-कौशल एवं चित्र-चित्रण की ही सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है वरन् इनके द्वारा प्राचीन धार्मिक-परम्पराओं, उपासना, उपास्य, उपासक आदि की रूपरेखा का सुन्दर एवं सुदृढ़ आभास भी प्राप्त होता है।

मुद्राओं (Seals) के सम्बन्ध में एक अति महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री यह है कि जिसको हम पूर्वैतिहासिक काल (अथवा वैदिक-काल-पूर्व सिन्धु-सभ्यता अथवा नाग-सभ्यता) कहते हैं उस सुदूर अतीत में इस देश के मूल-निवासियों की कैसी सभ्यता एवं संस्कृति थी एवं कैसे धार्मिक विश्वास तथा उपासना के प्रकार थे, कैसी वेष-भूषा थी और कैसे उनके परिधान, आभूषण-वसन और मनोरञ्जन के साधन थे—इन सभी पर एक अत्यन्त रोचक पुरातत्वीय सामग्री देखने को मिलती है।

इस प्रकार इस स्तम्भ में मुद्राओं की सामग्री को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—पूर्वैतिहासिक एवं ऐतिहासिक। पूर्वैतिहासिक सामग्री में वे मुद्रायें आपतित होती हैं जो मोहेनजदाड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में मिली है। ऐतिहासिक काल की मुद्राओं के प्राप्ति-स्थानों में भीटा, वसरा, राजघाट के प्राचीन स्थान विशेष उल्लेख्य हैं। इन स्थानों से कुशान-कालीन मुद्राओं की प्राप्ति हुई है। गुप्त कालीन बहुसंख्यक मुद्रायें तो संग्रहालयों के भाण्डागार की शोभा बढ़ाते हैं। अस्तु, अब सुविधा की दृष्टि से देव-पुरस्सर-मुद्रा-मूल्याङ्कन के साथ-साथ स्थान-विशेष का संकेत भी विशेष उपादेय होगा।

मोहेन्जदाड़ो तथा हरप्पा

पशु-पति-शिव

मोहेन्जदाड़ो की खुदाई में एक अत्यन्त रोचक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसपर सशृंग त्रिशीर्ष प्रतिमा बनी है। यह प्रतिमा योगासन (कूर्मासन) लगाये बैठी है। वक्षस्थल ग्रैवेयक आभूषण से मण्डित है। अधःप्रदेश नग्न है। शीर्ष पर शृंग-मुकुट है। दक्षिण पार्श्व में गज और शार्दूल बैठे हैं; वाम पार्श्व पर गण्डक और महिष। आसन के नीचे दो मृग (deer) खड़े हैं। पशु-पति-शिव के लिये और क्या चाहिये? यद्यपि यहाँ पर शिव-वाहन वृषभ-नन्दी तथा शिव-आयुध त्रिशूल नहीं हैं तथापि पशु-पति शिव के विभिन्न चित्रणों में महाभारती निम्न चित्रण से पशु-पति शिव का यह मोहेन्जदाड़ीय रूप सर्वथा संगत है:—

स्वर्गादुत्तुंगममलं विषाणं यत्र शूलिनः।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यो शिवपुरं व्रजेत ॥
(महा० वन० पर्व अ० ८८, ५०८)

मोहेन्जदाड़ो में प्राप्त मुद्राओं में ४२० का यह चित्रण है। २२२, २३५ संख्यक मुद्राओं में यह देव अपने अन्य रूपों में भी चित्रित है।

पशुपति शिव की इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त मोहेन्जदाड़ो में कतिपय ऐसी मुद्राएँ भी मिली हैं जिन पर ऐसे चित्रण (Scenes) हैं जो शिव-सम्बन्धी विभिन्न पौराणिक कथाओं की ओर संकेत करते हैं। आगे हम अभी शिव के गणों, नागों, प्रमथों, किन्नरों आदि से चित्रित मुद्राओं का निदर्शन प्रस्तुत करेंगे ही साथ ही साथ जहां शिव के गणों की यह गाथा है वहाँ शिव की कथाओं (जैसे दुन्दुभि दानव का दमन) का भी चित्रण देखकर खुली हुई शिव-पुराण मोहेन्जदाड़ो के प्राचीनतम शिव पीठ पर पढ़ने को मिलती है। अतः सनातन शिव को काल-विशेष अथवा देश-विशेष की संकुचित परिधियों में बाँधने वाले विद्वानों की यहाँ आँखें बिना खुले कैसे रह सकती हैं? पुराण शब्द का मर्म यही है कि पुराण-पुरुष के भी पूर्वज शिव की पुरानी कथा को देश-काल के दायरे में न बाँधा जावे।

वाट्स महाशय एक ऐसी मृण्मयी लम्बाकार प्रतिमा मुद्रा का वर्णन करते हैं जिसके दोनों ओर धूमिल पौराणिक आख्यान चित्रित है। इस आख्यान से भगवती दुर्गा के महिष मर्दन के समान एक आख्यान-चित्रण है — विभेद स्त्री-प्रतिमा के स्थान पर पुरुष-प्रतिमा है।

नाग

मार्शल साहब ने ऐसी दो मुद्राओं का वर्णन किया है जिन पर एक देवता योगासनासीन है और जिसके दोनों ओर अर्धनर-अर्धपशु रूप में एक नाग घुटने टेक प्रार्थना कर रहा है। डा० बैनर्जी की समीक्षा में यह मुद्रा वस्तुतः में एलापत्र नागराज चित्रण की पूर्वजा है।

प्रमथ तथा गण

मुद्रा संख्या ३७८, ३८०, ३८१ पर कुछ ऐसी मिश्रित प्रतिमाए चित्रित हैं जिनमें शिव के प्रमथों एवं गणों का निदर्शन निहित है। नरानन छाग, नरानन मेष, अर्ध-छाग अर्धनर, अर्धमेष-अर्धनर, अर्धवृषभ-अर्धनर अर्धगज-अर्धनर (जिनमें सभी के मुख नराकृति हैं) — ऐसे चित्र चित्रित हैं। मुद्राओं के अतिरिक्त जो ऐसी पाषाण प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं उनसे भी यही आकूत पुष्ट होता है।

गरुड़, गन्धर्व किन्नर, कुम्माण्ड

यहाँ पर इस अवसर पर मृण्मयी मुद्रा (२४०६) का संकेत भी बड़ा रोचक है इस पर जो चित्र हैं वे कटि से ऊपर (नर) तथा कटि से अधस्तात् वृषभ पशु आदि। अतः इनके चित्रण में गरुड़, गन्धर्व, किन्नर कुम्माण्ड का पूर्ण संकेत मिलता है।

गौरी (दुर्गा) माता पार्वती

मार्शल के मत में यद्यपि शक्ति-पूजा का प्रत्यक्ष प्रमाण न भी मिले तथापि इन नाना स्त्री-मुद्राओं से यह निर्विचिकित्स्य है कि उस सुदूर अतीत में शक्ति-पूजा का पूर्ण प्रचार था। इस अपरोक्ष (indirect) प्रामाण्य में मार्शल ने लिंग, एवं योनि की प्रतीक-मुद्राओं के साथ-साथ बहुसंख्य मृण्मयी स्त्री-प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। इनमें बहुसंख्यक प्रतिमायें स्थानक एवं नग्न हैं। कटि पर करधनी अथवा मेखला पहने हैं, शिर सुन्दर शिरोभूषण से अलंकृत है। किन्हीं में वक्ष पर हार भी देखने को मिलता है।

हड़प्पा में प्राप्त इसी प्रकार एक स्त्री-मुद्रा मिली है। इसमें पशुओं—शार्दूल के साहचर्य से अथच पशुपति-रुद्रीय प्रतिमा की हस्त मुद्राओं से मुद्रित यह प्रतिमा तत्कालीन इष्टदेवी (शक्ति, दुर्गा, गौरी भूदेवी) के रूप में अवश्य उपास्य थी।

ऊपर स्त्री-मुद्राओं के साथ-साथ योनि एवं लिंगों का संकेत किया जा चुका है। डा० बैनर्जी ने अपने ग्रन्थ में (See D. H. I. p. 187-89) में इन पाषणीय प्रतीकों से तत्कालीन शक्ति-पूजा तथा लिंग-पूजा की परम्परा के स्थापन का सफल एवं सारगर्भित अनुसंधान किया है। तांत्रिक उपासना के बीज भी यहाँ पर प्रचुर प्रमाण में विद्यमान हैं। अनुसंधान अभी पूर्ण नहीं हुआ है—अन्यथा मोहेंजदाड़ो तथा हड़प्पा की यह सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि आगे की पौराणिक एवं आगमिक तथा तांत्रिक पूजा-प्रणाली की विभिन्न भूमिकाओं की अविच्छिन्न पूर्वज-परम्परा ही मानना पड़ेगा।

वृक्षपूजा तथा वृक्षदेवता पूजा

मोहेन्जदाड़ो तथा हड़प्पा की अनेक ऐसी भी मुद्राएँ प्राप्त हैं जिनसे तत्कालीन जन-आस्था में वृक्ष-पूजा का भी प्रमुख स्थान था। वृक्ष-पूजा के दो प्रमुख प्रकार थे वृक्ष की सक्षात् पूजा तथा वृक्ष की देवता (Spirit) की पूजा। वृक्ष-चैत्यों के चित्रों से एवं स्थल-वृक्षों के चित्रों से यह निष्कर्ष निस्सन्दिग्ध है।

मोहेन्जदाड़ो और हरप्पा की पूजा-परम्परा के सम्बध में मार्शल साहब का निम्न निष्कर्ष पठनीय है: The people of Mohenjodaro had not only reached the stage of anthropomorphising their deities, but were worshipping them in that form as well as in the aniconic;—(इस पर डा० बैनर्जी का भाष्य भी पढ़ने योग्य है)—for the highly conventionalized type of the image of what he justifiably describes as the prototype of Siva-Pasupati, its stylized detailes and the fact that the kindred image portrayed on the faience sealing is being worshipped by the Nagas clearly point to its being 'a copy of a cult idol'. The decoration (cf. the armlets head-dress etc.), the sitting posture, the mode of showing

the hands, the horns on the head etc. appear also on other figures, some of which may depict the different aspects of the same god. The nude goddess, either in association with a tree or not, with some of the above characteristics, is shown as an object of Veneration. Many composite human and animal figures found on the seals and amulets very probably stand for divinities in their theriomorphic or therioanthropomorphic forms, though many others are to be regarded as mere accessories. Most, if not all, of the above types of figures appear to have been based on actual icons of cult gods which were being worshipped by the people in those days".

अस्तु, एक विशेष इंगित यहाँ पर यह अभिप्रेत है कि वैदिक-देवों की अपेक्षा इन देवों एवं देवियों का पौराणिक एवं आगमिक तथा तांत्रिक देवों, देवियों एवं प्रतीकों के साथ विशेष साम्य है—इसका क्या रहस्य है ? लेखक ने पूजा-परम्परा के सांस्कृतिक दृष्टिकोण के समीक्षावसर पर यह बार-बार संकेत किया है कि इस देश में धार्मिक-आस्था की दो समानान्तर धारायें वैदिक युग से बह रही हैं। प्रथम वैदिक धर्म एवं उसकी पृष्ठ-भूमि पर पल्लवित स्मार्त धर्म। दूसरी अवैदिक (जिसे द्राविड़ी कहिए, मौलिक कहिए या देशी कहिए) धार्मिक धारा जिसके तट पर बहुत देर से हम विचरण कर रहे हैं और जिसका उद्गम इसी देश की भूमि पर हुआ है। वैदिक धारा में आर्य-परम्परा का प्राधान्य है। अवैदिक में अनार्य-द्राविड़—इस देश के मूल निवासियों की धार्मिक परम्परा का प्राबल्य है। इन दोनों के दो प्रयाग पुराण एवं आगम बने। त्रिवेणी में तंत्रों की 'सरस्वती' ने भी योग दिया। आर्य-गंगा एवं अनार्ययमुना के इसी संगम पर भारतीय धर्म (जो आर्य एवं अनार्य का सम्मिश्रित स्वरूप है) का महान् अभ्युदय हुआ जो आज भी वैसा ही चला आ रहा है।

मोहेन्जदाड़ो और हड़प्पा के अतिरिक्त अन्य जिन महत्वपूर्ण प्राचीन स्थानों का ऊपर संकेत किया जा चुका है—उन पर प्राप्त मुद्राओं की थोड़ी समीक्षा के उपरान्त इस अध्याय को विस्तारभय से समाप्त करना है।

मौर्य-कालीन एवं शुंग-कालीन मुद्राओं का एक प्रकार से सर्वथा अभाव ही है। परन्तु गुप्तकाल की मुद्राओं की भरमार है। इस काल की मुद्राओं के प्राप्ति-स्थानों में जैसा पूर्व ही संकेत किया जा चुका है बसरा और भीटा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

बसरा (Basarah)

शिव—बसरा के एक ही स्थल पर खुदाई में ७०० से ऊपर मुद्रायें मिली हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्थल मुद्रा-निर्माण-शाला अवश्य रहा होगा। ये मुद्रायें मृत्तिका से निर्मित हैं। इन मुद्राओं पर जो चित्र-चित्रित हैं उनमें किन्हीं पर केवल

उपास्यदेव का नाम (प्रतीक-सहित) ही है जैसे कुबेर का शंख-निधि। शिव की मुद्राओं में वृक्ष-गुल्म में स्थापित शिवलिंग (पादपेश्वर) की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। त्रिशूल-सहित लिंग-प्रतिमा का भी चित्रण पाया गया है जिस पर उलटी तरफ 'आम्रातकेश्वर' लिखा है। आम्रातकेश्वर मत्स्य-पुराण के अनुसार अष्ट गुह्य-लिंगों में से एक है - हरिश्चन्द्र, आम्रातकेश्वर, जलेश्वर, श्रीपर्वत, महालय कृमिचण्डेश्वर केदार तथा महाभैरव। यह आम्रातकेश्वर ब्लाक (Block) के मत में अविमुक्त अर्थात् बनारस में स्थित है। एक दूसरी गोल मुद्रा (३६) में केवल 'नमः पशुपतये' लिखा है। बसरा की एक दूसरी मुद्रा में जो धूमिल चित्र चित्रित है उसको डा० बैनर्जी ने (cf. D. H. I. p. 196-197) 'शशांक-शेखर' शिव-प्रतिमा माना है। इसी प्रकार की रुद्रीय अनेकानेक पौराणिक परम्पराओं का समुद्घाटन प्राप्त होता है। कतिपय मुद्राओं पर नन्दी का चित्र, त्रिशूल का प्रतीक, 'रुद्ररक्षित' 'रुद्रदेवस्य' आदि उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह समीक्षा समर्थित होती है। एक पञ्च-प्रतीक-मुद्रा पर जिन पाँच प्रतीकों—घट, वृक्ष, केन्द्रीय प्रतिमा, त्रिशूल तथा कलश का चित्रण है वह भी शिव-मुद्रा ही है। सील न० ७६४ की मुद्रा को डा० बैनर्जी ने बड़ी ही पुष्टि एवं तर्कना से शिव की 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमा स्थापित की है (cf. D. H. I. p. 198—99) बसरा की प्राप्त मुद्राओं में शिव-पूजा का ही प्राधान्य है। वैष्णव पूजा परम्परा के सम्बन्ध में हम यहाँ पर कुछ समीक्षा करेंगे।

विष्णु

बसरा की एक सील (३१) वैष्णव-उपासना पर भी प्रकाश डालती है। केन्द्र में त्रिशूल के साथ दक्षिण में दण्ड शंख, चक्र, आदि का प्रतीक बना है, उसके वामपार्श्व पर चक्र (सुदर्शन) का प्रतीक है। नीचे दो पङ्क्तियों में 'श्रीविष्णुपादस्वामि नारायण' लिखा है। बसरा के निकट गया-स्थित ईशवीयोत्तर चतुर्थ-शतक-कालीन विष्णु-मन्दिर के कारकों (विष्णुपाद) का निर्देश इससे मिलता है। एक मुद्रा (५४) पर विष्णु के 'वराहावतार' का निर्देश है। एक दूसरी गोल मुद्रा पर नृसिंहावतार का चित्रण है।

बसरा की कतिपय मुद्राओं में 'गज लक्ष्मी' के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। लक्ष्मी मुद्राओं की विशेषता यह है कि इनमें एक पुरुष-प्रतिमा के चित्रण के साथ-साथ निधि-वितरण भी चित्रित है। ब्लाक महाशय इसे कुबेर-प्रतिमा मानते हैं। परन्तु डा० बैनर्जी ने मार्कण्डेय-पुराण के आधार पर इनको लक्ष्मी-मुद्रा ही माना है। अतः जिन अष्ट-निधियों का कौबेरी साहचर्य प्रसिद्ध है उनका पद्मिनीविद्या (लक्ष्मी) का भी साहचर्य संगत होता है।

भीटा

शिव—भीटा की मुद्राओं में विविध देवों की गाथा गायी गयी है। अधिकांश शैव-मुद्रायें हैं जिन पर शिव-प्रतीकों—त्रिशूल, नन्दिपाद, वृषभ के साथ-साथ शिव की पुरुष-प्रतिमाएँ भी चित्रित हैं। प्रसिद्ध पौराणिक शिव-लिंगों में कालेश्वर, कालञ्जर-

भट्टारक, भद्रेश्वर, महेश्वर, नन्दी आदि भी संकेतित हैं। इनकी विस्तृत समीक्षा डा० बैनर्जी की पुस्तक में द्रष्टव्य है।

दुर्गा—कतिपय मुद्राओं पर स्त्री-प्रतिमा अंकित है (सील २३)। डा० बैनर्जी के आकूत में इस मुद्रा को भगवती शिवपत्नी दुर्गा की मूर्ति मानना चाहिये।

विष्णु—भीटा सील नं० ३६ पर चक्र, शंख आदि लांछनों से वैष्णव प्रतीक एवं प्रतिमाएँ निस्सन्दिग्ध हैं। इसी पर एक अनभिहित प्रतीक के भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न आकूत लगाये हैं। मार्शल कौस्तुभ-मणि मानते हैं, कुमारस्वामी श्रीवत्स। ३२, ३४ संख्यक मुद्राओं पर चक्र एवं वेदिका के साथ-साथ नीचे 'जयत्यनन्तो भगवान् स-आम्ब:' यहाँ पर अनन्त (शिव) अम्बा (दुर्गा) का संकेत न मानकर वासुदेव-विष्णु का संकेत ही विशेष समीचीन है। भगवद्गीता (६, १६) में अर्जुन ने भगवान् कृष्णचन्द्र को अनन्त-रूप माना ही है। अम्बा, लक्ष्मी देवी के लिए भी प्राचीन परम्परा में अभिहित है। इसी प्रकार की एक सन्दिग्ध मुद्रा (३७) पर 'जितं भगवतोऽनन्तस्य नन्दे (श्व) रीवरस्वामिन:" यहाँ पर नन्देश्वरी से दुर्गा, अनन्त से शिव का साधारणतया बोध होता है। परन्तु विष्णु पर्यायों में 'नन्द' के उल्लेख से नन्देश्वरी लक्ष्मी का भी बोध माना जा सकता है।

भीटा की बहुसंख्यक मुद्राओं में एक ही ऐसी मुद्रा है जिस पर वासुदेव नाम अंकित है (दे० सील नं० २१) – 'नमो भगवते वासुदेवाय'।

श्री (लक्ष्मी)—बसरा की लक्ष्मी-मुद्राओं के ही समकक्ष श्री (लक्ष्मी) भीटा पर पायी गयी है। ३२ संख्यक मुद्रा पर 'गज-लक्ष्मी' अंकित है। २५वीं मुद्रा पर 'गज-लक्ष्मी' का ही दूसरा रूप है। १८वीं मुद्रा पर सरस्वती का भी संकेत है। शिवमेघ तथा भीमसेन की मुद्राओं पर स्त्री-प्रतिमा का दुर्गा का सान्निध्य वृषभ के साथ है।

सूर्य—भीटा में कतिपय ऐसी भी मुद्रायें मिली हैं जिनसे 'सूर्योपासना' का भी प्रमाण प्राप्त होता है। इस पर 'आदित्यस्य' के समुल्लेख से यह संकेत सार्थक है। (देखिये मार्शल—A. S. I. A. R. 1911-12. p. 58 No. 98)।

स्कन्द—मयूर-लांछिता एक वर्तुल मुद्रा पर 'श्री स्कन्दसुरस्य' के अंकन से स्कन्द की उपासना का प्रमाण भी मिलता है।

बसरा और भीटा के समान ही **राजघाट** पर खुदाई में जो मुद्राएँ मिली हैं उनसे उपर्युक्त तत्कालीन देव-पूजा-प्रामाण्य दृढ़ होता है। राजघाट पर प्राप्त मुद्राओं में वैष्णव-प्रतीक विरल ही हैं। कतिपय स्त्री-प्रतिमा-मुद्राएँ विशेष रोचक हैं। एक पर 'वाराणस्या-धिस्थानाधिकरणस्य'—लिखा है। दूसरी पर दुर्गा और तीसरी पर सरस्वती नामाङ्कन हैं। स्कन्द-कुमार, सूर्य, धनद आदि देवों की भी मुद्राएँ यहाँ पर प्राप्त हुई हैं।

अस्तु ! इन अगणित मुद्राओं की पुरातत्वीय सामग्री भारतीय-विज्ञान—संस्कृति, सभ्यता, उपासना, धर्म एवं विभिन्न धार्मिक, सामाजिक परम्पराओं पर प्रकाश डालनेवाली अक्षय्य निधि है। डा० बैनर्जी ने अपनी समीक्षा में इस सामग्री का बड़ा ही सुन्दर गवेषण किया है जिसमें प्रतिमा-विज्ञान का रोचक इतिहास मिलता है।

५

अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक

(वैष्णव-धर्म)

विगत तीन अध्याय एक प्रकार से देव-पूजा की पूर्व-पीठिका निर्माण करते हैं। आगे के चार अध्यायों में देव-पूजा का भारतीय दृष्टिकोण, देव-पूजा की ही परम्परा से प्रादुर्भूत इस देश के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उपासक-वर्ग, पूज्य देवों की महिमा, गरिमा एवं प्रतिष्ठा के साथ-साथ पूजकों की विभिन्न कोटियों एवं पूजा के विभिन्न संभार एवं उपचार आदि—इन सभी विषयों की अभीष्ट समीक्षा से हिन्दू पूजा-परम्परा का यह प्रविवेचन एक प्रकार से उत्तर-पीठिका निर्माण करता है।

अर्चा, अर्च्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अर्च्य देवों के बिना अर्चा का कोई अर्थ नहीं। यह अर्चा अथवा देव-पूजा अपने विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही। पूजा-परम्परा के प्रधानतया पाँच सोपान देखने को मिलते हैं—स्तुति, आहुति, ध्यान अथवा चिन्तन, योग एवं उपचार। ऋग्वेद के समय पूजा को हम स्तुति-प्रधान ही मानेंगे। यजुर्वेदादि उत्तरवैदिक (ब्राह्मण-ग्रन्थ सूत्र-ग्रन्थ) में पूजा आहुति-प्रधान (यज्ञ अग्नि-होत्र आदि) थी वही आरण्यकों एवं उपनिषदों के समय चिन्तन (ध्यान) प्रधान बन गयी। इसी ध्यान-परम्परा से दूसरा सोपान योग-प्रधान-पूजा पल्लवित हुई जो प्रायः सभी दर्शनों ने मोक्ष-प्राप्ति का सामान्य साधन माना है। कालान्तर पाकर पौराणिक एवं आगमिक परम्पराओं के विकास से पूजा उपचार-प्रधान (उपचार-परक) परिकल्पित हुई। इसमें भी दो रूपों के दर्शन होते हैं—वैयक्तिक एवं सामूहिक। इसी सामूहिक-पूजा के विकास में इस देश में तीर्थ-स्थानों का निर्माण— गंगा-स्नान, कीतन, भजन, तीर्थ-यात्रा, मन्दिर-रचना आदि अपूर्त-व्यवस्था की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई।

यद्यपि उपासना-परम्परा का किसी देव-विशेष अथवा देव-प्रतीक-विशेष के प्रति भक्ति-भाव का आधार-भूत सम्बन्ध सनातन से रहा तथापि आर्य-पूजा-परम्परा के विकास में भक्ति-भावना का उदय उपनिषदों से प्रारम्भ हुआ। उपनिषदों को कीथ आदि प्रसिद्ध विद्वान् एक प्रकार से आर्य-द्राविड़-विचारधारा मानते हैं। ऋग्वेद की दार्शनिक विचार-धारा में कर्म, जन्मान्तरवाद आदि का एक प्रकार से अभाव देखकर कीथ का यह कथन—there can not be any doubt that the genius of the Upanisads is defferent from that of the Rigveda, however, many ties may connect the two periods".

"The Upanisads, as in some degree all earlier thought in India, represent the outcome of the reflections of

people whose blood was mixed. We may, if we desire, call the Upanisads the product of Aryo-Dravidian thought; but if we do so, we must remember that the effect of intermixture must be regarded in the light of chemical fusion, in which both the elements are transformed."

"अर्थात् यद्यपि ऋग्वैदिक एवं औपनिषदिक कालों के पारस्परिक संयोग को जोड़ने-वाली बहुत सी लड़ियाँ हैं तथापि इसमें सन्देह नहीं ऋग्वेद की विचारधारा और उपनिषदों की मौलिक विचारधारा में एक बड़ा अन्तर है।"

"उपनिषद आदि भारतीय प्राचीन दार्शनिक एवं धार्मिक विचार उन विचारकों के चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका रुधिर (एतद्देशीय मूलनिवासी द्राविड़ जाति से संसर्गजन्य) मिश्रित हो गया था। अतः उपनिषदों को आर्यों एवं द्राविड़ों की सम्मिश्रित विचारधारा का सामञ्जस्य माने तो अनुचित न होगा। परन्तु यह सम्मिश्रण उस रासाय-निक क्रिया के सदृश है जिसमें दोनों घटक अपने स्वरूप का विलयन कर एक दूसरा ही स्वरूप धारण करते हैं।"

प्रतिमा-पूजा की मानव की जिस सहज प्रेरणा को हम भक्ति-भावना के नाम से पुकारते हैं उस 'भक्ति' शब्द का प्रथम दर्शन प्राचीन उपनिषदों में प्रमुख-स्थान-प्राप्त श्वेताश्वेतर उपनिषद में प्राप्त होता है:—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥ —श्वे० उ प० २३

आर्य-साहित्य में 'भक्ति' पर यह प्रथम प्रवचन है। भक्ति मानव-सभ्यता-गंगा की विभिन्न पावन तरङ्गों में एक वह उद्दाम लहर है जो मनुष्यों के हृदयों को सनातन से उद्वेलित एवं तरलित करती आयी है। जहाँ तक इसके शास्त्रीय अथवा साहित्यिक संकेतों का सम्बन्ध है उनको तो हम वेदों में भी पाते हैं। ऋषियों ने 'वरुण' की जो कल्पना की है उसमें भक्त और भगवान् की प्रथम किरण देखने को मिलेगी। कीथका यह कथन भ्रान्त नहीं है—"The thought of India started from a religion which had in Varuna a god of decidedly moral in character and the simple worship of that deity with its consciousness of sin and trust in the divine forgiveness is doubtless one of the first roots of Bhakti".

भक्त ने सदैव अपने प्रभु से पाप-मोचन की भिक्षा माँगी है, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा माँगी है और माँगी है जीवन-यात्रा की सफलता। वरुण में उपासक ऋषि की यही भगवद्भक्ति-भावना निहित है। यद्यपि भक्त अनेक हैं परन्तु भगवान् तो एक ही है। ऋग्वेद की निम्न ऋचा का यही भाव है:—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ० म० १६४-४६

ऋग्वेद का यह एकेश्वरवाद उसके अनेकेश्वर-वाद अथवा बहुदेववाद के गर्भ से उत्पन्न हुआ जो आगे चलकर उपनिषदों की अद्वैतवाद (monism) का उद्भावक बना। भले ही यह एकेश्वरवाद अथवा ब्रह्मवाद या अद्वैतवाद ज्ञानियों के गम्य ही सका हो परन्तु साधारण विद्या-बुद्धि वाले सांसारिक मानवों के लिए तो वह अगम्य ही रहा, अनुपास्य, अनर्च्य एवं अनभ्यर्थ्य ही रहा। अतएव इसी महान अभाव की पूर्ति में इसी; महती आवश्यकता के आविष्कार में भगवद्भक्ति का एकमात्र अवलम्ब पाकर जन साधारण की चिरन्तन एवं सनातन तथा सहज तृष्णा का शमन हुआ। भक्ति-भावना के जन्म एवं विकास की यह एक अति सरल एवं सार्वभौमिक समीक्षा है।

यद्यपि यह सत्य है, उपनिषदों में प्रधानता निर्गुणोपासना—ब्रह्मविद्या—आत्मविद्या की ही है तथापि कतिपय उपनिषदों में सगुणोपासना पर पूर्ण प्रवचन है। ईश, ईशान, ईश्वर, परमेश्वर, इन देवबोधक (उससे निर्गुण का संकेत है अथवा सगुण का) पदों के साथ-साथ श्वेताश्वेतर में तो सगुण देवों जैसे रुद्र—एकदेव, महादेव, महेश्वर, मायी और शिव भी—'ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्''—आदि उपास्य देवों का निर्देश है। इस प्रकार एकात्मिक भक्ति की धारा भी उपनिषदों के ज्ञानस्रोत से बह रही है—यह कथन अनुचित न होगा। परन्तु एक विशेष तथ्य यह है कि जिन देवों के प्रति इस एकात्मिक भक्ति के विकास का आभास हम पाते हैं वे वैदिक देव—इन्द्र, प्रजापति, मित्र, वरुण, यम, अग्नि आदि—नहीं है। वैदिक देवों के ह्रास एवं पौराणिक देवों के विकास की रोचक कहानी पर आगे प्रतिमा-लक्षण में विशेष चर्चा होगी। प्रसंगतः यहाँ पर इतना ही संकेत अभिप्रेत है कि भक्ति-गंगा के पावन कूलों पर जिन देव-तीर्थों का निर्माण हुआ उनमें ऐतिहासिक महापुरुषों—वासुदेव-कृष्ण (दे० छा० उपनि० कृष्ण देवकी-पुत्र) आदि वैष्णव-देवों, रुद्र-शिव, आदि तथाकथित अनार्यदेवों एवं यक्षों के साथ-साथ उमा, दुर्गा, पार्वती, विन्ध्यवासिनी आदि देवियों की विशेष प्रमुखता है। डा० भाण्डारकर ने (See Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Sects) प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थ-'निद्देस' के आधार पर जिन अनेकानेक भक्त-वर्गों एवं उपास्य-देवों का निर्देश किया है (जैसे आजीविक, निगन्थ, जटिल, परिभाजक, अवरुद्धक, वासुदेव, बलदेव, पुन्नभद्द, मनिभद्द' अग्गि, नाग, सुपन्नस, यक्ष, असुर, गन्धब्बस, महाराज, चन्द, सूरिय, इन्द, ब्रह्मादेव, दिश आदि) उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है।

अतः इस उपोद्घात से यह निर्देश है कि वैसे तो उपासना मानव-सभ्यता की सनातन से प्राण रही परन्तु इसकी प्रक्रिया एवं प्रकार में देश-काल के भेद से अवश्य भेद रहा। सगुणोपासना के मर्म भक्ति-सिद्धान्त का ऊपर कुछ संकेत किया गया है। उपासना एवं भक्ति कोई दो पृथक् चीजें नहीं है तथापि विद्वानों ने भक्ति-वाद का प्रारम्भ उपनिषत् कालीन मानते हैं। जिस प्रकार वैदिक आर्य अपने उपास्यदेव को प्रसन्न करने के लिए आहुति दान के लिये 'अग्नि' को अनिवार्य माध्यम मानते थे उसी प्रकार सगुणोंपासक भारतीय प्रतिमा को माध्यम मानकर उसी की पूजा अपने उपास्य देव की पूजा समझते थे। उपासना का अर्थ ही है—'सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापारः उपासनम्'। प्रतिमा-कल्पन, प्रतिमा-लक्षण—रूप, परिमाण, वेष, भूषा, आयुध, आसन, वाहन

आदि के—परिकल्पन में भी तो उपासक ने और उपासक के सेवक प्रतिमा-कार (Icno grapher) ने अपना ही माध्यम रक्खा।

सनातन से प्रत्येक संस्था के जीवन में दर्शन ज्योति की प्रकाश-किरणों ने उसे लोक प्रिय बनाने में बड़ा योग दिया। सगुणोपासना जिसे पूजा के नाम से हम पुकारते हैं उसके कतिपय अनिवार्य अंग विकसित हुए जिनमें **अभिगमन, उपादान, नैवेद्य, इज्या, स्वाध्याय** तथा **योग** विशेष उल्लेख्य हैं और जिनकी आगे पूजोपचारों में विस्तृत विवेचना की जावेगी। इस उपासना-पंचांग में अन्तिम अंग योग का साक्षात्सम्बन्ध देव-प्रतिमा से है। शुक्र का निम्न प्रवचन इस दृष्टि से कितना संगत है:—

ध्यानयोगस्य संसिध्यै प्रतिमालक्षणं स्मृतं ।
प्रतिमाकारको मर्त्यो यथा ध्यानरतो भवेत् (शु नी. सा० ४. ४.)

रामतापतनीयोपनिषद् की भी तो यही पुरातन व्यवस्था है:—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

जावालोपनिषद् के प्रतिमा-प्रयोजन **'अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमा : परिकल्पिताः'** पर हम प्रथम ही संकेत कर चुके हैं।

ध्यानयोग के सम्बन्ध में एक महाभारती कथा है:—देवर्षि नारद नर एवं नारायण के दर्शनार्थ एकदा पर्यटन करते हुए बदरिकाश्रम पहुंच गये। नारद देखते क्या हैं कि उपास्य स्वयं उपासक बना बैठा है। नारद ने करबद्ध प्रार्थना की, 'प्रभो! यह कौन सी लीला है आप स्वयं उपास्य हैं, आप किसका ध्यान कर रहे है?' नारद के इस कौतूहल पर भगवान् नारायण ने बताया कि वह अपनी ही मूल प्रकृति (हरि) की उपासना कर रहे हैं। इस सन्दर्भ से ध्यानयोग की चिरन्तन महिमा एवं उसमें प्रतिमा-माध्यम की गरिमा पर सुन्दर प्रकाश पहुंचता है।

ध्यानयोग की इस देश में अति प्राचीन परम्परा है। पतञ्जलि के योग-सूत्र में अष्टांग-योग में 'धारणा' का मर्म विना 'प्रतिमा' अर्थात् उपासना-प्रतीक के समझ में नहीं आ सकता है। सत्य यह है कि योग सूत्र ने स्वयं धारणा की जो परिभाषा लिखी है। उसका भी यही सार है।

योग-परम्परा पतञ्जलि से भी अति प्राचीन है। योग-सूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने हिरण्यगर्भ को योग का संस्थापक बताया है। पतञ्जलि के 'योगानुशासनम्' इस प्रवचन में 'अनुशासनम्' शब्द से भी तो यही निष्कर्ष निकलता है। अनुशासनम् में प्रथम शाशनम —प्रतिष्ठापन छिपा है। अस्तु, इससे योगाभ्यास में प्रतिमाध्यान-परम्परा (दे० धारणा) कितनी पुरातन संस्था है—यह हम समझ सकते हैं।

अर्चा (देव-पूजा) के भारतीय इस दृष्टिकोण की समीक्षा में भागवत एवं पाञ्चरात्र—वैष्णवधर्म-परम्पराओं में प्रतिमा-पूजा के अत्यन्त गूढ़ एवं आध्यात्मिक रहस्यों की भी प्रतिष्ठा का कुछ संकेत आवश्यक है। पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में देवाधिदेव भगवान् वासुदेव के रूप-पञ्चक पर जो प्रवचन है उनमें **परा, व्यूह, विभव, अन्तर्यामिन** तथा **अर्चा** के क्रमिक

विकास का आभास प्राप्त होता है जिसमें अर्च्य, अर्चक एवं अर्चा की पराकाष्ठा के दर्शन होते हैं।

भारतवर्ष में प्रतिमा एवं प्रतीक दोनों ही उपासना के अंग रहे। इस देश के तीन महान् उपासना-वर्ग—शैव, वैष्णव एवं शाक्त—जहाँ अपने अपने उपासना-सम्प्रदाय के अधिपति देव क्रमशः, शिव, विष्णु तथा शक्ति (दुर्गा) की प्रतिमा रूप में उपासना करते चले आये हैं वहाँ इनके प्रतीक, बाणलिंग, शालग्राम एवं यंत्रों को माध्यम बनाकर उपास्य देव अथवा देवी की उनमें उद्भावना की है। इस प्रकार प्रतिमावाद iconism एवं प्रतीकवाद (aniconism) दोनों ही धारायें इस देश में समानान्तर सनातन से बह रही हैं।

देव-पूजा की इस मौलिक मीमांसा के अनन्तर अब देव-पूजकों के जो विभिन्न वर्ग अथवा सम्प्रदाय इस देश में पनपे उनकी भी थोड़ी सी समीक्षा आवश्यक है। वैसे तो इस देश में नाना देवों की पूजा-परम्परा पल्लवित हुई। परन्तु उनमें पांच प्रमुख देवों के नाम पर पाँच वर्ग निम्न रूप से विशेष उल्लेखनीय हैः—

१.	शिव	शैव-सम्प्रदाय
२.	विष्णु	वैष्णव या भागवत् सम्प्रदाय
३.	शक्ति (दुर्गा)	शाक्त-सम्प्रदाय
४.	सूर्य	सौर-सम्प्रदाय
५.	गणेश	गाणपत्य-सम्प्रदाय

इन विशिष्ट देवों की देव-पूजा तथा तत्तत्सम्प्रदाय के इतिहास एवं प्राचीन परम्परा आदि पर विवेचन के प्रथम यह निदेश अत्यावश्यक है कि भारतीय संस्कृति की आधार-भूत विशेषता—अनेकता में एकता (unity in diversity) के अनुरूप इस देश में विशिष्ट वर्ग को छोड़कर अधिक संख्यक गृहस्थों (भारतीय विपुल समाज) की उपासना का केन्द्र-बिन्दु एक विशिष्ट देव न होकर सभी समान श्रद्धास्पद हैं। अपनी-अपनी इष्ट-देवता के अनुरूप वह इन पाँचों को घटा बढ़ा सकता है इसी को पंचायतन-परम्परा के नाम से पुकारा गया है। दूसरे हिन्दू पूजा-परम्परा का जो प्रोल्लास फैला, उससे बौद्ध एवं जैन-धर्म भी अप्रभावित न रह सके। तान्त्रिक-उपासना में इस प्रभाव पर संकेत करते हुए बौद्ध और जैन धर्मों की इस परम्परा पर कुछ प्रकाश डाला जायगा।

पंचायतन-परम्परा

टि० १—अपनी अपनी इष्ट देवता के अनुरूप इस निम्न चित्र में पाँच पंचायतन का संकेत है।

टि० २—यह पंचायन-रेखा-चित्र डा० काणे (See History of Dharma sastra vol. 2 pt. 2) से लिया गया हैः—

पूर्व

	विष्णु पंचायतन	शिव पंचायतन	सूर्य पंचायतन	देवी पंचायतन	गणेश पंचायतन	
उत्तर	शंकर गणेश	विष्णु सूर्य	शंकर गणेश	विष्णु शंकर	विष्णु शंकर	दक्षिण
	विष्णु	शंकर	सूर्य	देवी	गणेश	
	देवी सूर्य	देवी गणेश	देवी विष्णु	सूर्य गणेश	देवी सूर्य	

पश्चिम

वैष्णव-धर्म (विष्णु-पूजा)

हिंदू-धर्म की विभिन्न शाखाओं का केन्द्र-बिन्दु कोई न कोई एक इष्ट-देव है जिसकी प्रधानता एवं विशिष्टता के कारण अर्चकों (उपासकों) ने अपना एक विशिष्ट सम्प्रदाय स्थापित किया। उस सम्प्रदाय की दृढ़ता के हेतु दर्शन-विशेष की भी उद्भावना की, उस के मूलग्रंथों (पुराण mythology) की रचना पूजा-पद्धति (Cult Ritual) की परिकल्पना की और विभिन्न आभ्यन्तरिक एवं वाह्य संगठनों के द्वारा उस सम्प्रदाय को लोकप्रिय एवं विशिष्ट बनाने की सतत चेष्टा की।

वैष्णव-धर्म का विपुल इतिहास लिखने के लिए एक बृहद् ग्रंथ की आवश्यकता है। परन्तु यहाँ पर केवल संक्षेप में ही इस व्यापक वैष्णव-गाथा का गान करना अभीष्ट है। डा० रामकृष्ण भाण्डारकर ने वैष्णव-धर्म के जन्म, विकास एवं प्रतिष्ठा तथा विभिन्न रूपों की सुन्दर समीक्षा की है (See Vaisnavism, Saivism and minor religious systems)। डा० भाण्डारकर का यह ग्रंथ इस विषय का सर्वप्रसिद्ध प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। परन्तु डाक्टर साहब का दृष्टिकोण विशेषकर ऐतिहासिक होने के कारण लेखक के सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सम्भवतः कहीं-कहीं पर अवश्य टकरायेगा। प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य सनातन है परन्तु भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की मीमांसा में आधुनिक विद्वानों की गवेषणायें कभी-कभी प्राचीन आर्य-धर्म के मौलिक महत्त्व को खो बैठती हैं। आधुनिक प्रायः सभी विद्वानों की यह धारणा है कि वेदों में विष्णु, इन्द्र, वरुण, अग्नि के समान प्रधान देवता नहीं हैं। विष्णु को सौर-देव (Solar-deity) माना जाता है। विष्णु को आदित्यों में गणना करने की इस देश की प्राचीन परम्परा है। परन्तु वैदिक ऋचाओं को परिशीलन करनेसे भले ही विष्णु-संबधिनी ऋचाओं की इन्द्रादि देवों की महिमा-गान करनेवाली ऋचाओं की अपेक्षा न्यूनता दिखाई पड़ती हो परंतु उत्तर-वैदिक-कालीन जितनी भी पौराणिक परम्पराएँ हैं प्रायः उन सभी का आभास उनमें मिलेगा।

वैदिक-विष्णु (विष्णु-वासुदेव)

वैदिक-विष्णु की कल्पना ऋषियों ने एक व्यापक देव-विभूति के रूप में की है। विष्णु की जो उद्भावना वेदों में मिलती है उसे हम अधीश्वर-देव-वाद (Pantheism)

के रूप में अंकन कर सकते हैं। वेदों का विष्णु वह पुरातन एवं सर्वव्यापी आधार है जिस पर आगे विभिन्न आधेय-रूप विष्णु-अवतार परिकल्पित किये गये। अतः वैष्णव-धर्म का इतिहास लिखने वाले विद्वानों को वेदों के 'विष्णु' को विस्मृत नहीं कर देना चाहिये अथवा वैष्णव-धर्म की पृष्ठ-भूमि का निर्माण करने वाली आर्ष वैदिक-विष्णु-कल्पना को कम महत्त्व नहीं देना चाहिए। ऋग्वेद की अधोलिखित वैष्णवी ऋचाओं में कालांतर में उदय होने वाले व्यापक वैष्णव-धर्म के कौन से बीज नहीं ?

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभय दुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

प्रतद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २ ॥

प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ॥ ३ ॥

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुतद्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥ ५ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥ ६ ॥

ऋ० वे० १-५४

टि०—इन ऋचाओं में भगवान् विष्णु के पौराणिक नाना अवतारों (त्रिविक्रम, शेष, वराह आदि) तथा परम विष्णु-पद वैकुण्ठ, गोलोक आदि सभी पर पूरे संकेत हैं।

ब्राह्मणों में तो विष्णु के वैभव ने सभी देवों को आक्रान्त कर रक्खा है। एतरेय ब्राह्मण (१-१) में देवों में अग्नि को निकृष्ट और विष्णु को सर्वश्रेष्ठ देव परिकल्पित किया गया है। शतपथ-ब्राह्मण (१६-१-१) में एक कथानक है—एक सत्र-विशेष के अवसर पर सभी देवों ने मिलकर देवों के आधिराज्य-पद की प्रतियोगिता के लिए निर्णय किया जो उनमें सबसे पहले सत्र के उस अन्त पर पहुँच जावे वही उन सब में सर्वश्रेष्ठ कहलावे। विष्णु इस प्रतियोगिता में प्रथम आये और देवाधिदेव कहलाये। इस कथानक में त्रिविक्रमावतार (वामनावतार) का संकेत है जो इसी ब्राह्मण के दूसरे (दे० १-२-५) कथानक से परिपुष्ट होता है। देवों और असुरों में यज्ञ में अपने-अपने स्थानों की प्राप्ति का संघर्ष चल रहा था तो दानवों ने देवों से कहा कि वे उनको उतना ही स्थान दे सकते हैं जितने में एक बौना लेट रहे। विष्णु जी से बढ़कर उनमें कोई बौना न था ! फिर क्या वामन विष्णु ज्यों ही लेटे सारा स्थान उसी वामन का बन गया।

उपनिषदों में उपर्युक्त वैष्णवी ऋचाओं के परम-पद का रहस्य स्पष्ट किया गया है। मै०-उपनिषद (६-१३) तथा कठोपनिषद् (३-६) में विष्णुपद को ब्रह्मपद के रूप में परिकल्पित किया गया है। अतः विष्णु का देवाधिदेवत्व पूर्ण-रूप से प्रतिष्ठित हो चला था।

सूत्र-ग्रंथों (दे० आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन तथा पारस्कर के गृह्य-सूत्र) में तो विष्णु के बिना वर-कन्या का विवाह ही असम्भव था। सप्तपदी में विष्णु का ही एकमात्र आवाहन विहित है।

सूत्र-ग्रंथों के उपरान्त महाकाव्य-काल में (दे० महाभारत भीष्मपर्व ६५-६६ अ०, आश्वमेधिक पर्व ५३-५५ अ०) तो विष्णु के सर्वश्रेष्ठ अधीश्वरत्व में वासुदेव-विष्णु की परिकल्पना परिपोष को प्राप्त हुई।

वैदिक वाङ्मय-निबद्ध आर्य-परम्पराओं का विभिन्न युगों में देश-काल एवं समाज के विभेद से विभिन्न रूप में विकास प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त जब कभी कोई परम्परा अथवा संस्था या आचार-विचार अपनी सीमा का उल्लंघन करने लगते हैं तो प्रतिक्रिया (Reaction) अनिवार्य है। ब्राह्मण याग-संस्था इसी कोटि की परम्परा है जिसके विद्रोह में न केवल बौद्धों एवं जैनियों के अवैदिक नवीन धर्म-चक्र के द्वारा एक बाह्य विद्रोह उठ खड़ा हुआ वरन् उसके बहुत पूर्व एक महान् आभ्यन्तरिक विद्रोह के भी तो दर्शन होते हैं। उपनिषदों का आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान अथवा एकेश्वरवाद या ब्रह्मवाद की विचारधारा इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। बाह्याडम्बरों के द्वारा देव-पूजा के स्थान पर हृदयस्थ जनार्दन—आत्मब्रह्म का चिन्तन उपनिषदों की रहस्यमयी विद्या का सुन्दर निदर्शन है जो एक प्रकार से ब्राह्मण-धर्म की संक्रान्तिकालीन एक प्रबल प्रतिक्रिया है।

वैष्णवधर्म बौद्ध-धर्म एवं जैन-धर्म के समान एक ऐसी ही प्रतिक्रिया है जिसका उदय वृष्णि वंश क्षत्रिय राजकुल में प्रारम्भ हुआ। वैष्णवधर्म का उदय भगवान् वासुदेव के नाम से सम्बन्धित किया जाता है। यह वासुदेव कौन थे? वसुदेव-देवकी-पुत्र कृष्ण या और कोई? वैसे तो पाणिनि एवं पतञ्जलि (दे० पूर्व० अध्याय) के अनुसार वासुदेव देवकी-पुत्र कृष्ण के रूप में असंदिग्ध रूप से नहीं माने जा सकते। परन्तु आगे की ऐतिहासिक परम्पराओं एवं पौराणिक आख्यानों से वासुदेव देवकी-पुत्र कृष्ण ही परिकल्पित हुए। पुरातन शिला-लेखों एवं स्मारकों में वासुदेव का साहचर्य बलदेव, संकर्षण आदि देवों से होने के कारण वासुदेव शब्द की परम्परा एक प्रकार से मिश्रित परम्परा ही मानी जा सकती है। वासव-इन्द्र एवं व्यापक विष्णु इन दोनों वैदिक देवों से 'वासुदेव' की जो पुरातन कल्पना उदित हुई वही कालान्तर पाकर एक महापुरुष (कृष्ण) के साथ सम्बन्धित होकर भागवत-धर्म का सृजन करने में सहायक हुई। वृष्णियों का दूसरा नाम सात्वत भी था। महाभारत के भीष्म-पर्व में उपलब्ध भागवत-धर्म का दूसरा नाम सात्वत-धर्म है। सात्वतों में संकर्षण और अनिरुद्ध भी अगुवा थे एवं वासुदेव उनके एक अधिपति-उपास्य थे।

यहाँ पर यह संकेत आवश्यक है कि वासुदेव-विष्णु के भागवत-धर्म का परम प्रस्थान भगवद्गीता है। भगवद्गीता जहाँ वेदान्त-दर्शन की प्रस्थान-त्रयी में भी आगे के वेदान्ताचार्यों ने परिसख्यात किया वहाँ वैष्णव-धर्म का तो यह मूल मंत्र है। भगवद्गीता में भक्तियोग, कर्मयोग, एवं ज्ञानयोग की त्रिवेणी के पावन प्रयाग पर जिस ऐकान्तिक-धर्म का अभ्युदय हुआ वही आगे चलकर विशाल भारतीय समाज की धर्म-जिज्ञासा एवं उपासना-मार्ग का एकमात्र अवलम्ब स्थिर हुआ।

वैष्णव-धर्म को 'पाञ्चरात्र' के नाम से पुकारा जाता है। जैसा पूर्व ही संकेत किया जा

चुका है कि प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदाय का अपना दर्शन (Philosophy) अवश्य होना चाहिए, पुराण (mythology) और पूजा-पद्धति (Cult-ritual) भी अनिवार्य है। उसी के अनुरूप वैष्णव-धर्म को दर्शन ज्योति से जीवित रखने के लिये वैष्णवागमों की रचना हुई जिनमें 'पाञ्चरात्र' ही प्रतिनिधि है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शा. प. ३३५-३४६) में इस तंत्र के सिद्धांत का प्रथम संकीर्तन है।

'पाञ्चरात्र' सिद्धांत की प्राचीनता में पाञ्चरात्र ग्रंथों का स्पष्ट कथन है कि वह वेद का ही एक अंश है जिसकी प्रचीन संज्ञा 'एकायन' थी जो भगवद्गीता के ऐकान्तिक धर्म से संगत भी होती है। छान्दोग्य उपनिषद (७।१।२) में 'एकायन' विद्या का उल्लेख है। आचार्य बलदेव उपाध्याय (दे० आर्य-संस्कृति के मूलाधार) ने नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रंथकार का निर्देश किया है जिसके अनुसार शुक्ल यजुर्वेदीय काण्वशाखा का दूसरा नाम एकायन शाखा है।

'पाञ्चरात्र' धर्म को 'सात्वत धर्म' के नाम से भी पुकारा जाता है। 'सात्वत्' शब्द का संकेत एतरेय ब्राह्मण (८. ३. १४) में आया है। शतपथ ब्राह्मण (१३. १६. १) में 'पाञ्चरात्र सत्र' का वर्णन है। उसकी विशेषता बड़ी मार्मिक है। उस सत्र में हिंसा वर्जित है। इस प्रकार वैष्णव-धर्म को हम बौद्ध तथा जैन धर्मों के समान एक विशुद्ध अहिंसक-धर्म की परम्परा में ही परिगणित कर सकते हैं। वैष्णवों की सात्विकता तथा अहिंसावादिता एवं शान्ति-प्रियता इसी परम्परा के प्रतीक है।

'पाञ्च रात्र'—इस शब्द की व्याख्या में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। नारद पाञ्चरात्र एवं अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार यह नामकरण विवेच्य विषयों की संख्या के अनुरूप है। रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान है - 'रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतं (ना० पा० १।४४)' पञ्चविध ज्ञान से तात्पर्य परम तत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) से है।

पाञ्चरात्र का विपुल साहित्य है। वह सर्वांश क्या अधिकांश में भी प्राप्त नहीं। इस धर्म के प्राचीन ग्रंथों में निर्दिष्ट सूचना के अनुसार इस धर्म की २१५ संहिताएँ हैं। अभी तक जिन संहिताओं की प्राप्ति एवं प्रकाशन सम्भव हो सका है उनमें अहिर्बुध्न्य-संहिता, ईश्वर-संहिता, बृहत् ब्रह्म-संहिता, विष्णु-संहिता, सात्वत-संहिता आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

पाञ्चरात्र संहिताओं के परमोपजीव्य चार विषय हैं:--

१. 'ज्ञान' ब्रह्म जीव तथा जगत् तत्त्व के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण एवं सृष्टि-तत्त्व-समुद्घाटन।
२. 'योग' यथा नाम मोक्ष-प्राप्ति साधन-भूत योग एवं यौगिक क्रियाओं का वर्णन।
३. 'क्रिया' प्रासाद-रचना (देवालय-निर्माण) मूर्ति-विज्ञान एवं मूर्ति-स्थापन आदि।
४. 'चर्या' पूजा-पद्धति, अर्च्य एवं अर्चा-पद्धति के साथ अर्चक की आह्निक क्रिया आदि।

वैष्णवागमों में पाञ्चरात्रों की इस स्वल्प समीक्षा में 'वैखानसागमों' का भी नाम मात्र संकेत आवश्यक है। वैखानसागम पाञ्चरात्रों से भी प्राचीन है परन्तु उनकी परम्परा अब लुप्तप्राय सी है।

पाञ्चरात्र का दर्शन उसके पुराण से प्रादुर्भूत हुआ। पुराण से हमारा तात्पर्य अंग्रेजी शब्द Mythology मात्र नहीं है। पुराण 'पुराणमाख्यानम्' के अनुरूप पुरावृत्त—इतिहास से है।

वसुदेव-सुत देवकी-पुत्र कृष्ण के बन्धु-बान्धवों, पुत्रों, पौत्रों में, बलराम संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न के पुरावृत्तों से हम परिचित हैं। पाञ्चरात्रों में चतुर्व्यूह का एक आधारभूत सिद्धान्त स्थिर किया गया है। इस 'चतुर्व्यूह' सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है। संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की उत्पत्ति बतायी गयी है। इसी प्रकार प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पति प्रतिपादित की गयी है। इस प्रकार यहाँ वेदान्त एवं सांख्य के दार्शनिक तत्त्वों का सुन्दर समावेश किया गया है।

नारायण-वासुदेव

महाभारती भारती के अनुसार जिसे हम 'नारायण' कहते हैं वह सनातन देवाधिदेव उसी का मानुष अंश (अर्थात् अवतार) प्रतापशाली वासुदेव है।

यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद्वासुदेवः प्रतापवान् ॥

वैष्णव धर्म में भगवान् वासुदेव की जो आस्था है एवं प्रतिष्ठा है वही नारायण की। नारायण भगवान् विष्णु का सनातन एवं मूलभूत रूप है। वही नारायण भगवान् वासुदेव के साथ नारायण-वासुदेव के दिव्य एवं तेजस्वी स्वरूप का उद्भावक बना। आगे प्रतिमा-लक्षण में विष्णु की विभिन्न प्रतिमाओं की समीक्षा में अनन्तशायी नारायण एवं भगवान् वासुदेव की प्रतिमा-परिकल्पना में इसी दिव्य एवं ओजस्वी चित्र के चित्रण पर विशेष प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ पर संक्षेप में इतना ही सूच्य है 'नारायण' शब्द की जो प्राचीन व्युत्पत्ति-परम्परा है उसमें भी एक सनातन दिव्य देव की संगति स्थिर होती है।

'नारायण' शब्द की व्युत्पत्ति पर निम्न प्राचीन आर्ष प्रवचन का प्रामाण्य द्रष्टव्य है:—

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।
तान्येवायनं यस्य तेन नारायणः स्मृतः ॥ महा०
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ मनु० १–१०

इन प्रवचनों से नारायण शब्द का अर्थ (नार+अयन) नारों अथवा नर-समूहों का अयन-घर (Resting place) हुआ। महाभारत के नारायणीयाख्यान (१२. ३४१) में केशव (हरि) अर्जुन से कहते हैं कि वह नरों (नराणाम्) के अयनम् (resting place) कहे जाते हैं। अथच वैदिक वाङ्मय में नृ अथवा नर शब्द का अभिधेयार्थ मानव एवं देव—दोनों ही हैं। अतः नारायण न केवल नरों (मानवों—दे० महा०) के ही अयन हैं वरन् देवों के भी। इसके अतिरिक्त प्राचीन स्मार्त-परम्परा में (दे० मनु० १) नारायण का सृष्टि के आदि-जल अर्थात् जब समस्त पृथ्वी पर जल ही जल था (जलमयी सृष्टिः) "(आपो नाराः इति प्रोक्ताः—मनु०)" से सम्बन्ध सूचित किया गया है। जलों को 'नार'

('नर' के सूनु) कहा गया है और वे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का प्रथम 'अयन' थे अतः इस परम्परा में ब्रह्मा नारायण हुए। महाभारती परम्परा में हरि (विष्णु) को नारायण माना गया है। वायु-पुराण एवं विष्णु-पुराण के नारायण शब्द-प्रवच इन प्रवचनों से संगति रखते हैं। ब्रह्मदेव नारायण या विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न हुए—यह परम्परा भी अति प्राचीन है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि वैष्णव-धर्म का आधार जहाँ वैदिक-विष्णु में प्राप्त होता है वहाँ उत्तर-वैदिक-युग में नारायण जो एक प्रकार से अधीश्वर-ब्रह्म के रूप में परिकल्पित किया गया वह व्यापक विष्णु में मिलकर समस्त देवों एवं मानवों का एक-मात्र आधार माना गया। डा० भाण्डारकर ने शतपथ ब्राह्मण (१२-३-४) का सन्दर्भ देकर (see vaisnavisim etc. p. 31) ने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि नारायण समस्त प्राणिजात, देवों, वेदों आदि सम्पूर्ण विश्व का एक मात्र अधीश्वर हो गया। डा० साहब लिखते हैं—This shadows forth the rising of Narayana to the dignity of the Supreme Soul, who pervades all and in whom all things exist—नारायण का स्वर्ग श्वेतद्वीप है जो विष्णु के वैकुण्ठ, शिव के कैलाश, गोपालकृष्ण के गोलोक के समान ही प्राचीन ग्रंथों में प्रसिद्ध है। इसी श्वेतद्वीप में जाकर देवर्षि नारद ने नारायण से वासुदेव के एकेश्वरवाद-धर्म (Monoth-estic religion) का रहस्य समझा था।

उत्तर-वैदिक-कालिक यह नारायण पौराणिक एवं ऐतिहासिक परम्परा में वासुदेव से सम्बन्धित होकर नारायण-वासुदेव के अधीश्वर महाप्रभु में परिवर्तित हुआ। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (जिसका पहले भी संकेत किया जा चुका है) का सारांश नारायण एवं वासुदेव की तद्रूपता (Identity) है। 'नारायण' में नर-नारायण की भी एक कथा है जो वासुदेव-कृष्ण एवं पार्थ-अर्जुन के पारस्परिक ऐतिहासिक महाभारतीय) साहचर्य पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालती है। नारायणीयोपाख्यान के प्रथम प्रवचनों में यह कहा गया है कि चतुर्बाहु नारायण धर्म के सुत बने। उनकी चारों भुजाओं अथवा पुत्रों से तात्पर्य है—नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण। इनमें से प्रथम दो तपश्चर्यार्थ बदरिकाश्रम पहुँचे जो नर नारायण के नाम से प्रसिद्ध हैं।

यहाँ पर पाठकों का ध्यान एक विशेष तथ्य की ओर आकर्षित करना आवश्यक है। वामन-पुराण (अ० ६) में भी यही आख्यान है। वहाँ पर इन चारों के धर्म-सुत होने के साथ-साथ अहिंसा इनकी जननी बताई गयी है। नारायण का धर्म एवं अहिंसा का यह पितृत्व एवं मातृत्व लेखक की उस पूर्व-संकेतित धारणा का पूर्ण पोषण करता है जिसमें वैष्णव-धर्म को बौद्ध-धर्म एवं जैन-धर्म के समान हिंसा-बहुल कर्मकाण्डमय ब्राह्मण-धर्म के विरोध में एक प्रबल प्रतिक्रिया (reaction) माना गया है। साथ ही साथ इस भावना से वैदिक धर्म के संरक्षक ब्राह्मणों की उस उदार एवं सत्यग्राहिणी प्रवृत्ति की भी सूचना मिलती जब उन्होंने न केवल एक ऐसे धर्म की नींव डाली जो बौद्ध-धर्म के समान ही अहिंसक एवं कर्मकाण्ड-विहीन था वरन् बौद्ध-धर्म के सञ्चालक महात्मा गौतम बुद्ध को भी विष्णु-अवतारों में एक स्थान देकर बौद्ध-धर्म को एक प्रकार से चन्द्रहस्त देकर पुराण-पुरुष की इस पुण्य भूमि से बाहर ही निकाल दिया।

नर-नारायण ऋषि रूप में प्रसिद्ध हैं। यह परम्परा ऋग्वैदिक परम्परा से पनपी है जिसमें पुरुष-सूक्त का निर्माता ऋषि नारायण हैं। महाभारत के वनपर्व में (१२. ४६, ४७) में जनार्दन ने अर्जुन को अपने और अर्जुन को नर-नारायण का अवतार बताया है। उद्योग-पर्व (४६-१६) की भी यही पुष्टि है। सारांशतः नारायण ही वासुदेव हैं वासुदेव ही नारायण और दोनों ही विष्णु की महाविभूति के दो दिव्य रूप।

वासुदेव कृष्ण

विष्णु के नारायण एवं वासुदेव इन दो रूपों के साथ-साथ विष्णु-वासुदेव की वैदिक एवं ऐतिहासिक तथा पौराणिक परम्पराओं पर ऊपर जो संकेत किये गये हैं उनसे वैष्णव-धर्म की निम्नलिखित तीन धाराओं के उदय के दर्शन होते हैं जिनके त्रिवेणी-सङ्गम पर शास्त्रीय अथवा संस्कृत-वैष्णव-धर्म रूपी पावन प्रयाग की स्थापना हुई:—

अ वदिक-वैष्णवी-धारा (गङ्गा) ऋग्वेद में वर्णित विष्णु

ब नारायणीय-धारा (सरस्वती) विराट् अधीश्वर ब्रह्म के रूप में

स वासुदेव-धारा (यमुना) ऐतिहासिक सात्वत-धर्म अथवा भागवत धर्म का इष्टदेव

वैष्णव-धर्म के पावन प्रयाग की कहानी यहीं पर अन्त नहीं होती। एक चौथी धारा भी इस संगम से प्रस्फुटित हुई जिसे हम 'जन-वैष्णव-धारा' (Popular vaisnavism) के नाम से पुकार सकते हैं। इस जन-जनार्दन-धारा के भगीरथ वासुदेव-कृष्ण हुए। वासुदेव-कृष्ण का उदय गोपाल-कृष्ण से हुआ। गोपाल कृष्ण की गोप-लीलाएँ राधाकृष्ण की रहस्यमयी वार्तायें, बालगोपाल के लोकोत्तर चमत्कार, आदि से कौन नहीं परिचित है ? महाभारत युद्ध में पार्थ-सार्थित्व से कृष्ण वासुदेव-विष्णु के रूप में प्रत्यावर्तित होते हैं, जिनका इस भू पर एकमात्र उद्देश्य भागवती वाणी (श्री मद्भगवद्गीता) से स्पष्ट है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अतः वासुदेव कृष्ण की विशेष समीक्षा न कर विष्णु-अवतारों, वैष्णवाचार्यो एवं वैष्णव भक्तों पर थोड़ा सा और निर्देश कर इस स्तम्भ से अग्रसर होना चाहिए। परन्तु यहाँ पर वैष्णव-धर्म की मध्यकालीन एक अनन्य धारा पर बिना संकेत किये वैष्णव धर्म के पूर्ण विकास-इतिहास का इतिवृत्त अधूरा ही रह जाता है। वह धारा भगवान राम के चरित—रामायण से प्राप्त होती है। आगे विष्णु अवतारों में भगवान राम के अवतार का उल्लेख होगा ही। यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि वैष्ण-धर्म की राममभक्ति-शाखा का उदय अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। ईशवीय-पूर्व अथवा ईशवीयोत्तर के ऐतिहासिक स्रोतों—स्थापत्य, कलाकृतियों, अभिलेख, सिक्कों एवं मुद्राओं—में राम के नाम का अभाव देखकर डा० भाण्डारकर का यह आकूत कि राम-भक्ति शाखा का उदय सम्भवतः ११ वीं शताब्दी (ईशवीय) में हुआ, समझ में आ सकता है। इसके विपरीत डा० काणे महाशय तो कृष्ण-

भक्ति-शाखा के समान रामभक्ति-शाखा को भी ईशवीय-पूर्व मानते हैं (H. D. Vol. 2 Pt. 2 p. 724) परन्तु काणे महाशय ने इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं उपस्थित किया।

विष्णु-अवतारः—

विष्णु के अवतारों पर आगे 'प्रतिमा-लक्षण' में प्रतिपादन है। अतः वह वहीं द्रष्टव्य है।

वैष्णवाचार्य

दाक्षिणात्य—दाक्षिणात्य वैष्णवाचार्यों में दो वर्ग हैं—आलवार तथा आचार्य।

आलवारः—वैष्णव-भक्तों में आलवारों की बड़ी महिमा है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि दक्षिण के मन्दिरों में भक्त और भगवान् की समान लोक प्रियता है। आलवारों के चित्र एवं उनकी प्रतिमायें भगवान् की प्रतिमाओं के ही समान स्थानाधिकारिणी हैं एवं पूज्य भी। आलवारों ने भगवद्भक्ति में भजन गाये। ये भजन तामिल भाषा में संग्रहीत हैं जिन्हें वहाँ के लोग वैष्णव-वेद कहते हैं। आलवारों के तीन वर्ग विशेष उल्लेख्य हैं जो निम्नतालिका से निभालनीय हैं :—

वर्ग	तामिल संज्ञा	संस्कृत संज्ञा
१ (प्राचीन)	पोयगई आलवार	सरो योगिन
	भूतत्तार	भूत योगिन
	पेय आलवार	महद्योगिन या भ्रांतयोगिन
	तिरूमल शई आलवार	भक्तिसार
२ (कम प्राचीन)	नम्म आलवार	शठकोप
....	....	मधुर-कवि
....	....	कुल-शेखर
	पेरिय आलवार	विष्णु-चित्र
	अण्डाल	गोदा
उससे भी कम प्राचीन अर्थात् ईशवीय अष्टम शतक	तोण्डर डिप्पोडी	भक्ताङ्घ्रि-रेणु
	तिरुप्पाण आलवार	योगिवाहन
	तिरुमंगयी आलवार	परकाल

दक्षिणी आचार्य

वैष्णवाचार्यों में निम्नलिखित वैष्णव-भक्तों का अमर स्थान है जिनकी कीर्ति-कौमुदी से यह देश आज भी धवल है। वैष्णवाचार्यों की विशेषता यह है कि उन्होंने वैष्णवधर्म की शास्त्रीय एवं दार्शनिक व्याख्या की: —

रामानुज—(जन्म १०१६ या १०१७ ईशवीय)

रामानुज का भारतीय भक्ति-परम्परा, दर्शन एवं धर्म में एक विशिष्ट स्थान है। 'विशिष्टाद्वैत' के स्थापक रामानुज का नाम सभी जानते हैं। साथ ही इन्होंने भक्ति के पावन मार्ग को प्रशस्त किया तथा वैष्णव-धर्म को 'श्री-सम्प्रदाय' के रूप में प्रतिष्ठापित किया। इस 'श्री सम्प्रदाय' का विकास रामानुज के 'वेदान्त-सूत्र' के 'श्री-भाष्य' से प्रादुर्भूत हुआ।

महामहावैष्णव स्वामी रामानुजाचार्य ने वैष्णव-धर्म को उतना ही व्यापक एवं प्रतिष्ठित बना दिया जितना वेदान्त धर्म एवं दर्शन को महामहामाहेश्वर भगवान शंकराचार्य ने। रामानुज की ईश्वर-परिकल्पना में पूर्व-संकेतित परादि-पंचक सिद्धांत प्रमुख हैं। रामानुज का ईश्वर निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों में परिकल्पित होने के कारण उनके दार्शनिक सिद्धांत को विशिष्टाद्वैत नाम दिया गया है। वह निर्विकार, सनातन, सर्व-व्यापी, सच्चिदानन्दस्वरूप, जगत्कर्ता, जगत्पालक और जगत का नाशक तो है ही उसी की अनुकम्पा से मनुष्य को पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति होती है। वह परम सुन्दर है और लक्ष्मी भू और लीला—ये तीनों उसकी सदा सहचरियाँ हैं। रामानुज के इस ईश्वर के पांच रूप हैं—परा, व्यूह, विभव, अन्तर्यामिन और अर्चा।

परा—परब्रह्म—परवासुदेव-नारायण हैं। निवास वैकुंठ, सिंहासन अनन्तशेष, सिंहासन-पाद धर्मादि आठ, साहचर्य श्री, भू और लीला। वह दिव्य-रूप है, शंख, चक्रादि धारण किये हैं और ज्ञान, शक्ति आदि सभी गुणों का वह निधान है। उसके सान्निध्य का लाभ अनन्त गरुण, विष्वक्सेना आदि के साथ-साथ जीवन्मुक्तों को भी प्राप्त है।

व्यूह—परा के ही अन्य रूप-चतुष्टय की संज्ञा व्यूह है। ये चार रूप हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इनका आविर्भाव उपासना, सृष्टि आदि के कारण हुआ है। इनमें वासुदेव षडैश्वर्य के अधिकारी, संकर्षणादि अन्य केवल दो के हैं—सर्वज्ञत्व, सर्वविभुत्व, अनन्तत्व, सृष्टिकर्तृत्वादि।

विभव—से तात्पर्य विष्णु के दशावतारों से है।

अन्तर्यामिन्—इस रूप में वह वासुदेव सब जीवों में निवास करता है। योगी लोग ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

अर्चा—यथानाम गृह, ग्राम, पुर, पत्तन में प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं के रूप में देवाराधन को अर्चा कहते हैं।

रामानुज के धार्मिक सिद्धान्त में भक्ति का योग परम प्रधान है। जीव भगवद्भक्ति से परमपद को प्राप्त करता है। अतः यद्यपि सभी जीवों में अन्तर्यामिन् का निवास है परन्तु जीव जब तक भक्ति-योग का अवलम्बन नहीं करता तब तक वह परमपद का अधिकारी नहीं। अतएव रामानुज के दर्शन में ब्रह्म निर्गुण न होकर सगुण ही है और वह जीव तथा जगत इन दो विशेषणों से विशिष्ट है अतएव रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

भक्ति-योग के पूर्ण परिपाक के लिये कर्मयोग एवं ज्ञानयोग का अवलम्ब अनिवार्य है। बद्ध, मुक्त, नित्य त्रिविधात्मक जीव जब भक्ति का अवलम्बन करते हैं तो भवसागर

पार उतरते हैं। भक्ति-योग की साधना के लिये अष्टाङ्ग-योग का अभ्यास तो वांछित ही है शरीर एवं चित्त की शुद्धि के लिये भी नाना उपाय बताये गये हैं।

रामानुज के वैष्णव-सम्प्रदाय में विष्णु-पूजा के षोडश उपचार हैं—स्मरण, नाम-कीर्तन, प्रणाम, चरणनति, पूजा, आत्मार्पण, प्रशंसा, सेवा, शरीर पर शंखादि वैष्णव-लाञ्छनों की छाप, मस्तक पर विन्दी, मन्त्र-पाठ, चरणामृत-पान, नैवेद्य-भोजन, विष्णु-भक्तों का परोपकार, एकादशी-व्रत तथा तुलसीपत्र-समर्पण।

रामानुज के अनुयायियों का गढ़ दक्षिण भारत है। उत्तर भारत में ये नगण्य हैं। दक्षिण में भी दो वर्ग हैं—वेदकलाई तथा तेनकलाई। इनके पारस्परिक भेद का विशेष वर्णन न कर आगे बढ़ना चाहिये।

माधव—आनन्द-तीर्थ इनका दूसरा नाम है। उदय तेरहवीं शताब्दी में हुआ। वेदान्ताचार्यों में भी इनकी पूर्ण गणना है। इनके वेदान्तभाष्य का नाम 'पूर्णप्रज्ञ भाष्य' है। ये 'द्वैत' मत के प्रतिष्ठापक हैं। आनन्दतीर्थ (माधवाचार्य) के अतिरिक्त इस शाखा के दो नाम और भी उल्लेखनीय हैं जो मध्वसम्प्रदाय के आचार्यों में परिगणित हैं। वे हैं – पद्मनाभ-तीर्थ तथा नरहरि-तीर्थ। आनन्द-तीर्थ के 'वैष्णव-धर्म' को हम 'सामान्य वैष्णव-शाखा' General Vaisnavism के नाम से पुकार सकते हैं जिसमें न तो वासुदेव की प्रधानता है और न पाञ्चरात्रों की और न गोपालकृष्ण की और न राधा की। माधव के अनुयायी वैष्णव अपने मस्तक पर गोपी-चन्दन का टीका लगाते हैं—नासिका के ऊपरी प्रदेश से लगाकर मस्तक पर दो लकीरों से यह बनता है। बीच में काली लकीर का संपुट होता है और मध्य में लाल विन्दी।

उत्तरी आचार्य

निम्बार्क—रामानुज एवं माधव का केन्द्र दक्षिण था। इन दोनों ने अपने-अपने मतों एवं सम्प्रदायों की स्थापना संस्कृत भाषा के माध्यम से सम्पन्न की। निम्बार्क ने भी संस्कृत-माध्यम को अपनाय। परन्तु आगे चलकर वैष्णव-भक्त-आचार्यों – रामानन्द, कबीर, तुलसीदास, तुकाराम, चैतन्य आदि ने जन-भाषा—हिन्दी, मराठी, बंगला के माध्यम से अपने धर्म का प्रचार किया। यद्यपि निम्बार्क दक्षिण के निवासी थे परन्तु उनकी साधना एवं प्रचार का केन्द्र उत्तर वृन्दावन-मथुरा था। अतएव उन्हें उत्तरी आचार्यों में परिगणित किया जाता है।

निम्बार्क का वेदांत-दर्शन 'द्वैताद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने 'वेदांत-पारिजात' के नाम से भाष्य लिखा। निम्बार्क तैलंग ब्राह्मण थे और बेलारी जिला के निम्बा नामक ग्राम के निवासी। रामानुज के 'वष्णव-धर्म' में विष्णु के नारायण स्वरूप की विशेष महिमा के साथ उनकी पत्नियों लक्ष्मी, भू तथा लीला के प्रति विशेष भक्ति-अभिनिवेश है। निम्बार्क ने कृष्ण और राधा को विशिष्ट स्थान दिया। निम्बार्क के अनुयायी वैष्णव विशेषकर मथुरा-वृन्दावन एवं बंगाल में पाये जाते हैं। वे लोग अपने मस्तक पर (सम्प्रदाय-लाञ्छन) गोपी-चन्दन का खड़ा तिलक (जिसके मध्य में काला टीका होता है) लगाते हैं और गले में तुलसी-वृक्ष की गुरियों का माला पहनते हैं।

रामानन्द

स्वामी रामानन्द का वैष्णव-धर्म के प्रचारक आचार्यों में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्य तो यह है रामानन्द से वैष्णव-धर्म जनधर्म बन गया। पहले के आचार्यों का दृष्टिकोण परम्परागत ब्राह्मणधर्म के संरक्षण में ही वैष्णव-धर्म को प्रश्रय प्रदान करना था अतएव ब्राह्मणेतर निम्न जातियां—शूद्र आदि उसका फायदा नहीं उठा सकीं।

रामानन्द को यह प्रथम श्रेय है जब उन्होंने संस्कृत-माध्यम को न अपनाकर जन-भाषा के द्वारा अपनी भक्ति-परम्परा पल्लवित की। उस काल के लिये यह एक युगांतकारी सुधार (Radical reform) था। इस सुधार के तीन विशिष्ट सोपान थे। प्रथम—सभी मनुष्य (वे ब्राह्मण हैं अथवा ब्राह्मणेतर शूद्र) यदि वे विष्णु-भक्त हैं और सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया है, तो न केवल सहोपासक ही बन सकते थे वरन् सहभोजी भी। द्वितीय—जैसा ऊपर संकेत किया गया है, उपदेश-माध्यम जन-भाषा हिंदी अपनाया। तीसरे—राधाकृष्ण की उपासना के स्थान पर मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और महासती सीता की आराधना अपनायी। डा० भाण्डारकर के शब्दों में—Introduction of the purer and more chaste worship of Rama and Sita instead of that of Krishna and Radha—p 66.

रामानन्द का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग था। रामानन्द कान्यकुब्ज ब्राह्मण पुण्यसदन के पुत्र थे। माता का नाम सुशीला था। जन्मस्थान प्रयाग। शिक्षा वाराणसी में। शिक्षोत्तर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुयायी स्वामी राघवानन्द की शिष्यता स्वीकार की। इस प्रकार रामानन्द पर रामानुज का प्रभाव स्वाभाविक ही था।

रामानन्द के शिष्यों में निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध है जिनमें कतिपय ने अपने-अपने स्वयं सम्प्रदाय चलाये। इनके परम शिष्यों में ब्राह्मणेतर लोग भी थे :—

१. अनन्तानन्द		७. कबीर	(जुलाहा-शूद्र)
२. सुरसरानन्द		८. भावानन्द	
३. सुखानन्द		९. सेना	(नाऊ)
४. नरहर्यानन्द		१०. धन्ना	(जाट)
५. योगानन्द		११. गालवानन्द	
६. पीपा	(राजपूत)	१२. राईदास	(चमार)
		१३. पद्मावती	

कबीर

कबीर भगवान् के अनन्य भक्त थे। कबीर को वैष्णव आचार्यों में परिगणन किया जाता है। उनके भगवान् का नाम राम था। परन्तु यद्यपि कबीर राम का नाम जपते थे, तथापि कबीर का राम विष्णु के अवतार राम से भिन्न था। कबीर के राम में निर्गुण ब्रह्म की छाप थी। कबीर अपने राम को प्राणी-मात्र में देखते थे। कबीर के राम की उपासना के लिये वाह्याडम्बरों एवं पूजोपचारों की आवश्यकता नहीं थी। कबीर का हृदय बड़ा विशाल था, उसमें नीच, ऊँच और जाति-पाँति के लिए कोई स्थान न था। कबीर के 'साईं' भक्तों

के भगवान् और योगियों के परम प्रभु थे। कबीर कट्टर सुधारक थे। उनके धार्मिक एवं अध्यात्मिक सिद्धांतों के स्रोत उनकी कवितायें हैं जो 'रमैनी' के संकलन के नाम से विख्यात हैं

अन्य रामानन्दी

कबीर के अतिरिक्त अन्य प्रमुख रामानन्दियों में **मलूकदास** विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने मलूक-पंथ चलाया। कबीर के समान ही मलूक भी मूर्तिपूजक नहीं थे। निर्गुणोपासक वैष्णव सन्तों में कबीर और मलूक दोनों का ही बखान किया जाता है।

दादू

दादू जप के विशेष प्रचारक थे अन्यथा कबीर के ही दर्शन एवं धर्मज्योति से इन्हें भी प्रेरणा मिली। हाँ कबीर के राम और इनके राम में थोड़ा सा भेद अवश्य परिलक्षित होता है। राम नाम जप ही आधार था। मंदिर मठ का आडम्बर इन्हें प्रिय न था। **राईदास** के अनुयायी विशेषकर चमारों में मिलते हैं। राईदास रोहीदास के नाम से महाराष्ट्र में भी प्रसिद्ध हैं। सेना की भी यही कहानी है।

तुलसीदास

वैष्णव भक्तों में तुलसी की सर्व-प्रमुख विशेषता यह रही कि उन्होंने कोई पंथ नहीं चलाया। उसका परिणाम यह हुआ कि आज समस्त उत्तर-भारत एवं भारत के अन्य भागों में भी तुलसी का वैष्णव-धम जनधर्म बन गया है। तुलसी की रामायण जनता की वेद, शास्त्र और गीता है।

तुलसीदास भक्ति-मार्ग के महा उपासक एवं अद्वितीय उपदेशक हुए। तुलसी के वैष्णव-धर्म की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि इसमें सभी देवों एवं देवियों की शाखाओं एवं प्रशाखाओं का सुन्दर समन्वय किया गया है जो विशुद्ध भारतीय धर्म बन गया है। विष्णु के अवतार राम को शिवद्रोही सपने में भी नहीं भाता है। गणेश, गौरी आदि सभी देव इनके बन्द्य हैं।

रामसतसई के अवलोकन से तुलसी-दर्शन पर प्रकाश पड़ता है। इस दर्शन में अद्वैत वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव है। तुलसी के राम दाशरथी राम तो थे ही अधीश्वर-ब्रह्म भी हैं। राम की कृपा से मानव पुण्यशाली एवं भाग्यशाली बनता है। अतः राम-भक्ति ही इस कलियुग की सबसे बड़ी भवसागर-पार तारण-नौका है। राम-भजन संसार-सार है।

बल्लभ

अभी तक वैष्णव धर्म की राम भक्ति-शाखा के प्रमुख आचार्यों—रामानन्द, कबीर और तुलसी आदि आचार्यों पर ऊपर संकेत-मात्र समीक्षण किया गया। अब वैष्णव-धर्म की कृष्ण-भक्ति-शाखा पर थोड़ा सा निर्देश अभीष्ट है। यह ऊपर संकेत किया ही जा चुका है कि वैष्णव-भक्त आचार्यों में रामानुज, माधव एवं निम्बार्क ने संस्कृत-माध्यम अपनाया था। उनकी वैष्णव-धर्म-परम्परा में वासुदेव-विष्णु, नारायण-वासुदेव, विष्णु-

नारायण वासुदेव-कृष्ण आदि सभी की सामान्य विशिष्टता थी। परन्तु बल्लभ ने गोपाल-कृष्ण को अपना आधार बनाया तथा उन्हीं की भक्ति में अपना सम्प्रदाय चलाया।

बल्लभ का जन्म १४७६ ईशवीय में मार्ग में लक्ष्मण भट्ट नामक तैलंग ब्राह्मणके पुत्र रूप में हुआ जब वह बल्लभ की माँ के साथ काशी-तीर्थ की यात्रा कर रहे थे। बल्लभ का बाल्यकाल मथुरा-वृन्दावन में बीता। एक बार भगवान् कृष्ण ने स्वप्न में दर्शन दिया। उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने कृष्ण के 'श्रीनाथ जी'—अंश की उपासना पल्लवित की और उन्हीं के नाम से श्रीनाथ-सम्प्रदाय स्थापित किया। ये पुष्टि-मार्ग के संस्थापक कहलाते हैं। पुष्टि एक प्रकार की भगवत्कृपा (अनुग्रह) है जो कृष्णाराधन से साध्य है।

बल्लभाचार्य का वेदांतदर्शन शुद्धाद्वैत माना जाता है। इनका भाष्य 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। बल्लभ के पुत्र का नाम विट्ठलनाथ था जो इस सम्प्रदाय में गोस्वामी के नाम से प्रसिद्ध है। पिता आचार्य एवं पुत्र गोस्वामी। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने जिस 'अष्टछाप'—आठ भक्तों की स्थापना की थी उसमें हिंदी के प्रसिद्ध कवि सूरदास की भी गणना की जाती है।

वैष्णव-धर्म में बल्लभ-सम्प्रदाय की दो धारायें हैं—एक शास्त्रीय दूसरी क्रियात्मक।

शास्त्रीय धारा—दर्शन पर ऊपर कुछ संकेत हो चुका है। इस सम्प्रदाय की क्रिया-चर्या—अर्चा-पद्धति बड़ी विचित्र एवं मनोरंजक है।

बल्लभ-पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के सात सुत हुए—गिरिधर, गोविंदराम, भास्कर, गोकुलनाथ, रघुनाथ, यदुनाथ तथा घनश्याम जो इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक-गुरू कहलाये और इन सातों के पुत्र-पौत्र भी गुरु कहलाये जिनकी उपाधि महाराज है। प्रत्येक सातो के अपने-अपने मन्दिर हैं। इस सम्प्रदाय में सामूहिक-उपासना (Public worship) का स्थान नहीं। भक्त को अपने गुरु के मंदिर में दिन में आठ बार जाना होता है। उपासना-पद्धति के उपचारों में भक्त के उपचार एवं भगवान् के उपचार—दोनों ही मनोरंजक हैं। भक्त के उपचारों में भगवन्नामोच्चारणपुरस्सरप्रातरुत्थान, मुखप्रक्षालन एवं भगवत्पादप्रक्षालनजलपानानंतर आचार्यनामोच्चारणपुरस्सरदण्डवत्प्रणाम के साथ-साथ विट्ठलेश (गोस्वामी) एवं उनके सातों पुत्रों का नाम-संकीर्तनपुरस्सरनिजगुरुनामोच्चारण भी आवश्यक है। पुनः गोवर्धनआदिनामोच्चारणसहितभगवत्प्रणाम विहित है। यमुनानति, भ्रमरगीतगान, गोपी-भावन भी वांछनीय है। इसी प्रकार आगे के कृत्य हैं जिनमें भक्त के उपचारों के साथ भगवान् के उपचार भी प्रमुख हैं। भगवान् के उपचारों में निम्नलिखित अर्चाक्रम विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१. घण्टावादन	८. गोचारण
२. शंखनाद	९. मध्याह्नकालीन भोज
३. ठाकुर-प्रबोध एवं भगवान् का प्रातराश	१०. आरार्तिक
४. आरार्तिक	११. अनवसर (विराम)—विश्राम
५. स्नान	१२. अवशेष कृत्य
६. वासन—अधिवासन (वस्त्र एवं आभूषण आदि)	१३. रात्रिभोज
७. गोपीबल्लभ-भोजन	१४. शयन

इस सम्प्रदाय का बड़ा गहरा प्रभाव है। इसके अनुयायी विशेषकर वणिक-जन (Trading class) हैं। आचार्य (महाप्रभु वल्लभाचार्य) गोस्वामी जी (वल्लभापुत्र विट्ठलनाथ) तथा उनके पुत्रपौत्रों की इतनी दीर्घ परम्परा पल्लवित हुई कि भगवान् की पूजा बिना गुरु एवं गुरुमंदिर के अन्यत्र नहीं की जा सकती। अतः इस सम्प्रदाय का संगठन एवं विकास दृढ़ एवं विशुद्ध बना रहा। गुजरात, राजपूताना एवं मथुरा में इस सम्प्रदाय के बहुसंख्यक अनुयायी अब भी पाये जाते हैं।

वल्लभाचार्य का वैष्णव-धर्म गोकुल-कृष्ण पर अवलम्बित है जिसको हमने वैष्णव-धर्म की चौथी शाखा माना है। राधाकृष्ण की लीलायें, गोपों गोपिकाओं का साथ, कदम्ब वृक्ष, यमुनातट, गौश्चारण आदि सभी गेय हैं ध्येय हैं। वल्लभ का विष्णुलोक गोलोक है जो नारायण के वैकुण्ठ से भी ऊँचा है। इस सम्प्रदाय में राधा का समावेश प्रमुख है, जो रामानुज आदि वैष्णवों में नहीं हुआ था।

चैतन्य

जिस समय उत्तर भारत में मथुरा-वृन्दावन की कुञ्जगलियों में वल्लभ-सम्प्रदाय का विकास हुआ, उसी समय बंगाल में चैतन्य महाप्रभु का उदय हुआ जिन्होंने वल्लभ के ही समान राधाकृष्ण की विष्णु-भक्ति-शाखा को आगे बढ़ाया। परन्तु चैतन्य एवं वल्लभ में एक विशिष्ट अन्तर भी है। जहाँ वल्लभ और वल्लभ के अनुयायियों ने धर्म के उपचारात्मक— कर्म-काण्डीय (ceremonial) पक्ष पर विशेष जोर दिया वहाँ चैतन्य और उनके अनुयायियों ने भावपक्ष (emotional side) पर विशेष आस्था रक्खी. कीर्तन-परम्परा के सूत्रपात का श्रेय चैतन्य को है। राधाकृष्ण के प्रेमगीत के कीर्तनों की वह बहार आई कि झुण्ड की झुण्ड जनता प्रेम-विभोर हो भगवद्भक्ति में आप्लावित हो गयी। रामानन्द के समान चैतन्य ने भी जातीय वैषम्यवाद को तिलाञ्जलि दी और भेदभाव मिटाकर सभी के लिये यह मार्ग प्रशस्त किया।

चैतन्य का जन्म १४८५ ई० नदिया (नवद्वीप) में जगन्नाथ मिश्र की पत्नी शची देवी के गर्भ से हुआ। चैतन्य का घरेलू नाम विश्वम्भरनाथ मिश्र था। चैतन्य-भक्तों ने इनको 'कृष्ण-चैतन्य' का नाम दिया जिनकी धारणा थी कि चैतन्य कृष्ण के ही अवतार हैं। चैतन्य का दूसरा नाम गौरांग भी है। सम्भवतः गौरवर्ण सुन्दर होने के कारण यह नाम दिया गया। चैतन्य के बड़े भाई का नाम नित्यानन्द था जो 'बलराम' के अवतार माने गये। बड़े भाई ने छोटे भाई की साधना एवं प्रचार में पूर्ण सहायता दी। अष्टादश वर्षदेशीय चैतन्य लक्ष्मी देवी के साथ विवाह-सूत्र में बँधे। पुनः देश-भ्रमण प्रारम्भ किया। इसी बीच स्त्री का देहान्त हो गया। २३ वर्ष में पुनर्विवाह हुआ।

काली-उपासक बंगीयों के बीच चैतन्य का जब हरिकीर्तन प्रारम्भ हुआ तो विरोध स्वाभाविक ही था। भक्ति की भावना-गंगा के उद्दाम प्रवाह में सभी कूलंकषायित हुए और चैतन्य को आत्मविभोर भक्ति विजयिनी बनी। १५१० ई० में केशव भारती से दीक्षा लेकर चैतन्य संयासी हो गये और पर्यटन प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम जगन्नाथपुरी गये वहाँ से अन्य स्थान। पर्यटनानन्तर पुनः जगन्नाथपुरी को ही चैतन्य ने अपना प्रचार-केन्द्र बनाया और १५३३ ई० में मुक्ति प्राप्त की।

जहाँ तक चैतन्य के दार्शनिक सिद्धांतों (अर्थात् वेदान्त-दर्शन) का सम्बन्ध है वे निम्बार्क से मिलते जुलते हैं। कहा जाता है चैतन्य से भी पहले अद्वैतानन्द ने इस सम्प्रदाय का सूत्रपात किया था। अतएव चैतन्य सम्प्रदाय के तीन प्रधान आचार्य प्राख्यात हैं—कृष्ण-चैतन्य, नित्यानन्द एवं अद्वैतानन्द जिनकी संज्ञा 'प्रभु' है। इनके उपासना-पीठ—मंदिर बंगाल के तीन प्रमुख स्थानों—नदिया, अम्बिका तथा अग्रद्वीप के अतिरिक्त मथुरा-वृंदावन में भी है। बंगाल के राजसाही जिले में खेट्टूर नामक स्थान पर एक चैतन्य मंदिर है जहाँ पर अक्तूबर में एक बड़ा मेला लगता है जिसमें पचीस हजार की भीड़ होती है। चैतन्य के सम्प्रदायवादी वैष्णव मस्तक पर दो धवल लकीरों का टीका लगाते हैं जो दोनों भ्रुओं पर मिलकर नीचे नासिका तक फैला रहता है। तुलसी की माला भी ये लोग पहनते हैं।

राधोपासना

वैष्णव-धर्म की जिस चौथी शाखा पर ऊपर प्रविवेचन किया गया है उसमें गोपाल-कृष्ण की ही प्रमुखता है। परन्तु कालान्तर में गोपालकृष्ण की प्रेयसी राधा को लेकर कुछ लोगों ने राधा-सम्प्रदाय की स्थापना की जिसके अनुयायी राधास्वामी के नाम से पुकारे जाते हैं। डा० भाण्डारकरने इस सम्प्रदाय को 'वैष्णव धर्म की भ्रष्टता' (Debacement of vaisnavism) की संज्ञा से पुकारा है (See Vaisnavism etc. p. 86)। ये लोग सखीभाव के उपासक हैं। राधा की सखियों—गोपिकाओं के रूप में राधास्वामी लोग वे सभी स्त्री-कृत्य करते हुए पाये जाते हैं जो एक प्रकार से उपहासास्पद ही नहीं विकत्थ्य भी है।

वैष्णव पुराणों—हरिवंश, विष्णु-पुराण तथा भागवत में राधा का नाम नहीं आता है। 'नारद-पञ्चरात्र-संहिता' में 'राधाकृष्ण' के अर्ध-नारीश्वरत्व पर प्रकाश है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में राधाकृष्ण का सनातन साहचर्य है। सम्भवतः इन्हीं आधार स्रोतों से यह कलंकषा सरिता वह निकली जो वैष्णव-धर्म की शुद्ध गंगा को कलुषित करने में भी सहायक हुई। वैष्णव-धर्म में कृष्ण-भक्ति-शाखा की अपेक्षा राम-भक्ति-शाखा का नैतिक प्रभाव विशेष उपकारक हुआ। कृष्ण-भक्ति में गोपी-लीलाओं एवं राधा-प्रेम का अगाध आध्यात्मिक रहस्य साधारण जनों की समझ के बाहर था। स्वभावतः वह निम्नस्तर के लोगों में पड़कर यदि कलुषित हो गया हो तो आश्चर्य की बात नहीं। साहित्य वैसे तो समाज का दर्पण है परन्तु अश्लील साहित्य समाज को बिगाड़ सकता है। जयदेव के गीत-गोविंद का प्रभाव कृष्ण-भक्त कवियों पर अच्छा नहीं पड़ा। कालान्तर में हिन्दी के रीति-कालीन कवियों ने तो शुद्ध प्रेम एवं विशुद्ध शृङ्गार की अधोगति करने में कुछ भी कसर नहीं उठा रक्खी।

नामदेव और तुकाराम

विष्णु—मराठा देश में विष्णु-भक्ति का गीत गानेवाले वैष्णव-भक्त-आचार्यों में नामदेव और तुकाराम का नाम अमर है। यहाँ के वैष्णव-धर्म का केन्द्र पण्ढरपुर (जो सम्भवतः पाण्डुरंगपुर का अपभ्रंश है) में स्थित विठोबा-मन्दिर (विठोबा—कनारी विट्ठल—संस्कृत

विष्णु) था। यह पण्ढरपुर नामक नगर भीमा नदी के तट पर स्थित है। यह एक प्राचीन विष्णु-मन्दिर है जो १३वीं शताब्दी में विद्यमान था। इसकी कब रचना हुई असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता।

मराठी परम्परा के अनुसार उस देश में विठोबा-भक्ति के पल्लवन का श्रेय पुण्डलीक (पुण्डरीक) नामक आचार्य को है—इसे नामदेव और तुकाराम दोनों ने स्वीकार किया है।

मराठी विष्णु-भक्ति एवं वैष्णव-धर्म-प्रचार की विशेषता यह है कि इसमें राधा के स्थान पर रुक्मिणी की प्रमुखता है। विठोबा-विष्णु को रुक्मिणी-पति या रुक्मिणी-वर के नाम से संकीर्तित किया जाता है। मराठी वैष्णव-धर्म में राधा का स्थान न के बराबर है। रामानन्दी विष्णु-भक्ति-शाखा के समान इस शाखा के भक्तों ने जन-भाषा—मराठी में ही प्रचार किया। नामदेव और तुकाराम असंस्कृतज्ञ थे। इस धर्म का विशेष प्रसार निम्न स्तर के लोगों—शूद्रों में विशेष रूप से पनपा—यद्यपि उच्च वर्णीय ब्राह्मणों ने भी इसे अपनाया। इस मराठी शाखा के आचार्य शूद्र ही थे। नामदेव दर्जी थे और तुकाराम मोर जो मुरा जाति का शूद्र वंश ही माना जाता है—यद्यपि इसका उदय मौर्य क्षत्रियों से ही हुआ हो।

डा० भाण्डारकर ने अपने ग्रन्थ में नामदेव और तुकाराम की विष्णु-भक्ति-शाखा को सामान्य मराठी वैष्णव-धर्म-परम्परा (General vaisnavism) के रूप में समीक्षा की है अथच इस रूप को विशेष शुद्ध एवं संस्कृत माना है—Thus the vaisnavism of the Maratha Country, associated with these two names (*i.e.* vithoba and Rukmini and not Krishna and Radha—wirte) is more sober and purer than that of the three systems named above.

नामदेव और तुकाराम का समय क्रमशः चौदहवीं शताब्दी तथा सत्तरहवीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने सहस्रों पदों (जिनके पृथुल संग्रह निकल चुके हैं) में न केवल भगवन्महिमा के गीत गाये हैं वरन् दार्शनिक सिद्धान्तों पर पूर्ण प्रवचन किया है।

उपसंहार

इस प्रकार ईशवीय-पूर्व पंचम शतक से लेकर ईशवीयोत्तर सप्तदश शतक तक वैष्णव-धर्म का हमने जो विहंगावलोकन किया उससे इस धर्म के संक्षेप में निम्न सोपान स्थिर हुए। इसके उदय में वैसे तो बौद्ध-धर्म एवं जैन-धर्म के समान ही प्रेरणा मिली परन्तु इसके आविर्भाव में देव-भक्ति की प्रधानता स्पष्ट थी। इसका प्राचीन स्वरूप ऐकान्तिक धर्म था जिसका अर्थ एक ही अधीश्वर देव के प्रति भक्ति भावना है। इसकी पृष्ठ-भूमि में वासुदेव-कृष्ण के मुख से उपदिष्ट भगवद्गीता का प्रस्थान मूलाधार परिकल्पित है। वैष्णव-धर्म का यह सरल एवं सामान्य स्वरूप शीघ्र ही 'पांचरात्र' अथवा 'भागवत-धर्म' के नाम से विख्यात होकर साम्प्रदायिक स्वरूप में परिणत हो गया। इस धर्म के अनुगामी सात्वत नामक क्षत्रिय थे और इस तथ्य का ईशवीय-पूर्व चतुर्थ शतक-कालीन

मैगास्थनीज ने प्रामाण्य प्रस्तुत किया है। सात्वतों का यह 'भागवत-धर्म' पूर्व-विद्यमान नारायणवाद (सब मानवों के परम एवं सनातन स्रोत) एवं 'वैदिक विष्णुवाद' (जिसकी परम सत्ता का साक्षात्कार हो चुका था और जो एक व्यापक एवं अद्भुत तत्व के रूप में परिकल्पित हो चुका था) के तत्वों से मिश्रित हो गया। इस धर्म के मूल-प्रस्थान भगवद्गीता के उपदेशों में औपनिषद तत्व तो विद्यमान ही थे साथ ही साथ सांख्य और योग की भी दार्शनिक दृष्टियाँ समाविष्ट थीं। ईशवीयोत्तर शतक के प्रारम्भ में ही इस धर्म के चौथे सोपान में देवकी-पुत्र वासुदेव-कृष्ण की अर्धश्वरता अपनायी गयी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कृष्णावत सम्प्रदाय गोप या आभीर नामक एक विदेशी जाति द्वारा उदय हुआ जिसमें कृष्ण को ईश्वर-रूप में परिकल्पित किया गया और जिसकी अद्भुत् बाल-लीलाओं और गोपियों के साथ क्रीडाओं के प्रति विशेष अभिनिवेश दिखाया गया। वैष्णव-धर्म का यह विभिन्न-घटकाश्रित स्वरूप ईशा की आठवीं शताब्दी तक चलता रहा। इसी समय शंकराचार्य का उदय हुआ जिनके अद्वैतवाद एवं मायावाद के सिंहनाद को सुनकर वैष्णव-धर्म के अनुयायी भयभीत होगये। वैष्णव-धर्म की मौलिक भित्ति-- सुगणोपासना एवं भक्तिवाद को बड़ा धक्का लगा। वैष्णवों की इस प्रतिक्रिया का उस समय उग्र रूप दिखाई पड़ा जब ११वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने वैष्णव-धर्म की इस मूलभित्ति -- भक्तिवाद को बड़ी तर्कना एवं वैदुष्य से पुनर्जीवित किया एवं इसके पुनः प्रसार का प्रशस्त पथ तैयार किया। रामानुज की ही परम्परा में आगे चलकर अनेक वैष्णव आचार्य उदित हुए जिनमें उत्तरी आचार्यों में निम्बार्क ने वैष्णव-धर्म के चतुर्थ सोपान—राधा-कृष्ण की भक्ति को प्रश्रय दिया। अद्वैतवाद की धारा भी समानान्तर बह रही थी। आनन्दतीर्थ (माधवाचार्य) का द्वैतवाद रामानुज के विशिष्टाद्वैत के समान ही शंकर के अद्वैतवाद का विरोधी था। इन्होंने भी विष्णु-भक्ति को ही सर्वप्रमुख स्थान दिया। उत्तर भारत के लोकप्रिय वैष्णव-आचार्य स्वामी रामानन्द ने वैष्णव-धर्म में एक नया प्रस्थान प्रस्तुत किया जो रामभक्ति-शाखा के नाम से विश्रुत है। दूसरी विशेषता यह थी कि इन्होंने तथा इनके अनुयायियों ने अपने धर्मोपदेशों का माध्यम जनभाषा चुना। रामानन्द का युग १४वीं शताब्दी था। उनके शिष्य कबीर ने १५वीं शताब्दी में सगुण रामभक्ति-शाखा में निर्गुण-परम्परा पल्लवित की। १७वीं शताब्दी में बल्लभाचार्य ने वैष्णव-धर्म में बाल-कृष्ण की भक्ति तथा राधा-कृष्ण की भक्ति की प्रतिष्ठा की। उसी समय बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-भक्ति की जो गंगा बहायी उसमें आबालवृद्धवनिता—सभी ने अवगाहन किया। चैतन्य के वैष्णव-धर्म में राधा-कृष्ण के विशुद्ध प्रेम की परम निष्ठा थी जो आगे चलकर राधा-स्वामियो ने उसे गर्हित स्थान को पहुँचा दिया। मराठा देश के नामदेव और तुकाराम की भी विष्णु-भक्ति कम व्यापक न थी। इन्होंने राधा-कृष्ण के स्थान पर पंढरपुर के विठोबा की उपासना चलायी इन दोनों ने भी अपना उपदेश जनभाषा में दिया। कबीर, नामदेव और तुकाराम ने चरित्र-शुद्धि एवं नैतिक उत्थान पर विशेष जोर दिया।

वैष्णव-धर्म के इन विभिन्न सम्प्रदायों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में यह उल्लेख्य है कि इन सभी ने भगवद्गीता से अपना अध्यात्म-तत्व लिया। वासुदेव की

सर्वाधीश्वरता का मूलाधार सभी में विद्यमान है। सभी अद्वैतवाद एवं मायावाद के विरोधी हैं। इस सामान्य साम्य के होते हुए भी इनके पारस्परिक भेद का आधार दार्शनिक दृष्टि की विभिन्नता, वैष्णव-धर्म के सोपान-विशेष (अर्थात् विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण तथा राम और राधा) के प्रति अभिनिवेश-विशेष, अपने-अपने सम्प्रदाय का शास्त्रीय एवं तात्विक निरूपण तथा सम्प्रदाय विशेष की पूजा पद्धति थी। वैष्णव-धर्म के मूल-प्रस्थान भगवद्गीता के अतिरिक्त कालान्तर में पाञ्चरात्र संहिताओं एवं पुराणों (जैसे विष्णु एवं भागवत) तथा इस विषय के अन्यान्य ग्रन्थों (जैसे अध्यात्मरामायण, रामगीता, हरिगीता हारीत-स्मृति आदि आदि) की भी मान्यता प्रतिष्ठित हुई। इन ग्रन्थों में भागवत धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या के साथ-साथ उपचारात्मक पूजा-पद्धति, एवं पौराणिक आख्यानों के द्वारा इस धर्म के वाह्य कलेवर को व्यापक, लोकप्रिय एवं आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया गया।

टि०—यह उपसंहार डा० भाण्डारकर की एतद्विषयिका समीक्षा (Resume) का भावानुवाद है। स्थान विशेष पर परिवर्धन लेखक का है।

६

अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक

(शैव-धर्म)

वैष्णव-धर्म के विशाल, विस्तीर्ण, अगाध एवं गम्भीर महासागर (क्षीर-सागर) के इस किञ्चित्कर आलोडन से जो रत्न हाथ आये उनके संबल से अब हिमाद्रि के सर्वोत्तुंग कैलाश-शिखर पर आसीन भगवान् देवाधिदेव महादेव, पशु-पति शिव, लोक-शंकर शंकर के दर्शन करना है। परन्तु उत्तुंग शिखर पर आरोहण करने के लिये मार्ग की भीषण उपत्यकायें, घाटियां, कान्तार, कंकड़ और पत्थर पार करने हैं। क्रान्त-दर्शी मनीषी महाकवि कालिदास ने सत्य ही कहा है:—

"यमामनन्त्यात्मभुवोपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति"—

कु० सं० ५-८१

अतः शिव-पूजा का शिव के समान न तो आदि है और न अन्त। अनादि, अनन्त, अजन्मा शिव की पूजा शिव-लिंग एवं पशु-पति शिव के रूप में न केवल प्रागैतिहासिक काल (मोहेन्जदाड़ो-हड़प्पा-सभ्यता) में ही प्राप्त होती है वरन् प्राचीन से प्राचीनतम नाद्य-सभ्यताओं (riparian civilizations) के अन्धकारवृत भूगर्भों की खुदाई से प्राप्त स्मारकों में भी शिवलिंग एवं अन्य शिव-पूजा-प्रतीकों (शिव-लिंग की पीठ योनि-मुद्रा आदि) की प्राप्ति से महाकवि की यह उक्ति सर्वथा संगत है। अतः शिव-पूजा से इस उपोद्घात के यह विना संकोच कहा जा सकता है कि शिव-पूजा से बढ़ कर कोई भी देव-पूजा न तो प्राचीन है और न प्रख्यात।

महा कवि कालिदास का काल ईशवीय-पूर्व प्रथम शताब्दी प्रमाणित हो चुका है। अतः ईसा से बहुत पूर्व शिव का अर्ध-नारीश्वर-रूप प्रसिद्ध था। कुमार-संभव के सप्तम सर्ग (२८ वां श्लो०) तथा मालविकाग्निमित्र के प्रथम पद्य में इस रूप का कवि का संकेत है। पञ्चानन शिव की परम्परा भी अति प्राचीन है। तैत्तरीय आरण्यक (१०-४३-४७) तथा विष्णु-धर्मोत्तर (३-४८-१) में शिव को पञ्च-तुण्ड कहा गया है—सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान शिव के ये पाँच स्वरूप (aspects) हैं। शिव का वैदिक स्वरूप रुद्र है। ऋग्वेद की ऋचाओं के परिशीलन से रुद्र देवता किसी भी देवता से कम नहीं। तैत्तरीय-संहिता (४.५.१-११) में एकादश रुद्र-अनुवाकों के परिशीलन से रुद्र-शिव की महिमा का अनुमान लगाया जा सकता है। यजुर्वेद में तो 'रुद्राध्याय' नामक एक महत्त्वपूर्ण तथा स्वतन्त्र अध्याय है जिसमें शिव की सर्वतोमुखी महिमा का वर्णन है। वाजसनेय-संहिता (१६) में रौद्री महिमा अपार है। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४-१-४६) में भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, तथा मृडानी शब्दों की निष्पत्ति

में शिव के भव, शर्व, रुद्र तथा मृड की नाम-परम्परा के दर्शन होते हैं। सूत्र-साहित्य में भी रुद्र-देवता-पूजा के प्रचुर संकेत हैं। 'शूलगव' याग में रुद्र की ही प्रधानता है। आश्व० गृ० सू० (४.६.२७-२६) में तो रुद्र का आधिराज्य, आधिपत्य एवं सर्व-प्रभुता पर संकेत के साथ-साथ रुद्र के द्वादश नामों की गणना है। पतञ्जलि के महाभाष्य से भी शिव-भक्तों की परम्परा का पूर्ण परिचय मिलता है—'शिव-भागवत।'

शिव लिंग-पूजा की प्राचीनता के विभिन्न प्रमाणों का हम उद्घाटन कर ही चुके हैं (दे० अ० ४)। शिव-भक्त बाणासुर ने चौदह करोड़ शिवलिङ्गों की विभिन्न स्थानों में स्थापना की थी। इन्हीं को आगे बाण-लिङ्गों के नाम से पुकारा गया है। ये ही बाण-लिङ्ग स्फटिक-शिलोद्भव वर्तुलाकृति में नर्मदा, गंगा तथा अन्य पुण्यतोया सरिताओं में पाये जाते हैं। महाकवि बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में सैकत-लिंग (अच्छोद-सरोवर-तट-स्थित) तथा शौक्तिक-लिंग का वर्णन किया है। कूर्म-पुराण (पूर्वा० २६ वां अ०) में लिंग एवं लिंग-पूजा के जन्म एवं विकास की वार्ता पर प्रकाश डाला गया है। वामन-पुराण (४६) में उन पवित्र स्थानों की महिमा गायी गयी है जहाँ प्राचीन शिव लिंगों की स्थापना की गयी थी। इन्हें ज्योतिर्लिंग की संज्ञा दी गयी है जो द्वादश हैं:—

संख्या	ज्योतिर्लिंग	स्थान	संख्या	ज्योतिर्लिंग	स्थान
१	ओंकार	मांधाता	७	केदारनाथ	गढ़वाल
२	महाकाल	उज्जैन	८	विश्वेश्वर	वाराणसी
३	त्र्यम्बक	नासिक के निकट	९	सोमनाथ	काठिया-वाड़
४	घृष्णेश्वर	इलौरा	१०	वैद्यनाथ	न्यूपरली
५	नागनाथ	अहमदनगर के पूर्व	११	मल्लिकार्जुन	श्रीशैल
६	भीमाशंकर	सह्याद्रि में भीमा नदी के उद्गम पर	१२	रामेश्वर	दक्षिण में सागर-वेला पर

आधुनिक पुराविदो में कई प्रसिद्ध विद्वान् रुद्र को अनार्य देवता मानते हैं। इसके विपरीत आचार्य बलदेव उपाध्याय (दे० 'आर्य-संस्कृति के मूलाधार पृ० ३४३) लिखते हैं:—

"रुद्र अनार्य देवता कदापि नहीं है। वे वस्तुतः अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य भौतिक आधार पर ही रुद्र की कल्पना खड़ी की गयी है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्व-लिंग की कल्पना है। शिवलिङ्ग को 'ज्योतिर्लिंग' कहने का भी यही अभिप्राय है। अग्नि वेदी पर जलते हैं, इसीलिये शिव जलधारा के बीच में स्थापित किये जाते हैं। शङ्कर जल के अभिषेक से प्रसन्न होते हैं तथा शिवभक्त अपने शरीर पर भस्म धारण करते है। यह बात भी इसी सिद्धांत को पुष्ट करती है। वस्तुतः अग्नि के दो स्वरूप हैं—घोरा तनु और अघोरा तनु। अपने भयङ्कर घोररूप से वह संसार के संहार करने में समर्थ होता है, परन्तु अघोररूप में वही संसार के पालन में भी समर्थ होता है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण-सञ्चार रह सकता है ? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि प्रलय

में ही सृष्टि के बीज निहित रहते हैं तथा संहार में ही उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। अतः उग्ररूप के कारण जो देव रुद्र हैं, वे ही जगत के मंगल-साधन करने के कारण शिव हैं। जो रुद्र है वही शिव है। शिव और रुद्र दोनों अभिन्न हैं। इस प्रकार शैवमत की वैदिकता स्वतः सिद्ध है। अतः शैवमत वेदप्रतिपादित नितान्त विशुद्ध, व्यापक प्रभावशाली तथा प्राचीनतम है, इसमें किसी प्रकार के सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं है"।

हमारी समझ में तो शिव जिस प्रकार ऊपर अनादि, अनन्त एवं अजन्मा कहे गये हैं उसी प्रकार शिव वैदिक भी हैं और अ-वैदिक भी, आर्य भी है और अनार्य भी। शिव की सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वन्तनीन सत्ता की स्थापना के लिये यह समीचीन ही है कि वह किसी जाति-विशेष, देश-विशेष, काल-विशेष अथवा स्थान-विशेष से न बांधे जावें।

शैव-धर्म की इस भूमिका में इतना यहाँ पर संक्षेप में और सूचित करना अभीष्ट है कि शैव-धर्म इस देश में सर्वत्र व्यापक है। शैव-धर्म की विभिन्न परम्परायें हैं और उन्हीं के अनुरूप विभिन्न सम्प्रदाय। इन विभिन्न सम्प्रदायों के अपने-अपने दार्शनिक सिद्धांत हैं और अपनी-अपनी पूजा-पद्धति। तामिल देश के शैवगण 'शैव सिद्धांती' के नाम से विख्यात हैं। ये द्वैतवादी हैं। कर्नाटक का 'वीर-शैव धर्म' शक्ति-विशिष्टाद्वैत पर आश्रित है। गुजरात तथा राजपूताने का 'पाशुपत' मत विशेष प्रसिद्ध है और वह भी द्वैतवादी है। इन सबों से विलक्षण एवं प्रशस्त काश्मीर का शैवधर्म 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के नाम से विश्रुत है जो पूर्ण रूप से अद्वैतवादी है। अभिनवगुप्त ऐसे मेधावी शैवों ने इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सुदृढ़ प्रतिष्ठा करने में महायोग-दान दिया है। भारत से बढ़कर विशाल भारत अथवा बृहत्तर भारत के निर्माण में जहाँ बौद्ध-धर्म ने मार्ग प्रशस्त किया वहाँ शैवधर्म भी कम सहायक नहीं हुआ।

शैव-धर्म एवं वैष्णव-धर्म एक प्रकार मानव-मनोविज्ञान के अनुरूप हृदय की दो प्रमुख प्रवृत्तियों—भय और प्रेम की आधारभूत महा भावनाओं की तृप्ति के प्रतीक हैं। डा० भाण्डारकर की यह समीक्षा कि:—"What contributed to the formation of vaisnavism were the appearances and occurances which excited love, admiration and a spirit of worship; while to Rudra-Saivism the sentiment of fear is at the bottom, howsoever concealed it may have become in certain developments of it, and this sentiment it is that has worked itself out in the formation of various Rudra-Saiva systems of later times. In the monotheistic religions of other countries the same god is feared and loved, in India the god that is loved is Visnu-Narayana-Vasudeva-Krisna, while the one that is feared is Rudra-Siva."

अस्तु। आगे शैव-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की संक्षिप्त समीक्षा में तत्तच्छाखाओं के मूल सिद्धांतों पर कुछ संकेत किया ही जायगा। शैव-सम्प्रदाय के अनेक अवान्तर भेद हैं। उनकी दार्शनिक दृष्टि भी भिन्न है। संक्षेप में शैव-धर्म के सामान्य तीन सिद्धांत हैं जो 'पकार' से प्रारम्भ होते हैं—पशु, पाश और पति।

परिच्छिन्न रूप तथा सीमित शक्ति से युक्त जीव ही पशु है। पाश—बन्धन—मल, कर्म माया तथा रोध-शक्ति। पति से अभिप्राय परमेश्वर परम शिव से है। परमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य एवं सर्वज्ञत्व आदि पति के असाधारण गुण हैं। शिव नित्य मुक्त हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार तिरोभाव तथा अनुग्रह के सम्पादक शंकर हैं। शिव कर्ता भी है और स्वतन्त्र भी हैं। पाणिनि के अनुसार (स्वतन्त्रः कर्ता) कर्ता वही है जो स्वतन्त्र है। शिव की दो अवस्थायें—लयावस्था और भोगावस्था में सृष्टि की स्थिति एवं संहार दोनों छिपे हैं। वैसे तो 'शिव' शब्द की मौलिक व्युत्पत्ति एवं निष्पत्ति असन्दिग्ध नहीं है तथापि "शेरते प्राणिनो यस्मिन् सः शिवः" (दे० आ० मू० पृ० ३४७) सम्भवतः इस दृष्टि से संगत होती है। 'रुद्र' शब्द कैसे निष्पन्न होता है—यह भी अपनी-अपनी तर्कना से ही समझा जा सकता है। उपाध्याय जी आ० स० मू० में 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति में लिखते हैं:—

"तापत्रयात्मकं संसारदुखं रुत रुद्रं द्रावयतीति रुद्रः"

अस्तु! शैव-धर्म की समान्य समीक्षा में एक तथ्य और निदर्शनीय है। यद्यपि कालांतर पाकर ईशवीयोत्तर तृतीय तथा सप्तम शताब्दी में शैवों एवं वैष्णवों में परस्पर बड़ा विद्वेष एवं विरोध उदय हो गया था परन्तु इन दोनों की प्राचीन परिपाटी इस विद्वेष से सर्वथा रहित थी। गोस्वामी तुलसीदास ने शैव-धर्म एवं वैष्णव-धर्म के व्यापक समन्वय का जो आभास अपने रामचरितमानस में दिया वह सम्भवतः प्राचीन ऐतिहासिक एवं पौराणिक परम्पराओं के अनुरूप ही था। नानापुराणनिगमागमसम्मत तुलसीरामायण भला पूर्वमध्य-कालीन (छठी तथा ७वीं शताब्दी) दूषित धार्मिक-परम्परा को प्रश्रय कैसे दे सकती थी?

वैष्णवों एवं शैवों के पारस्परिक सौहार्द्र एवं सहिष्णुता के प्रचुर संकेत महाभारत एवं कतिपय पुराणों में बिखरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ महाभारत की निम्न भारती का उद्घोष सुनिये:—

"शिवाय विष्णुरूपाय, विष्णवे शिवरूपिणे" वनपर्व (३१-७१)
**"यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु।
नावयोरन्तरं किञ्चिन्मा ते भूद्बुद्धिरन्यथा।"** शा० (३४३ ११४)

महाभारत जहां विष्णु के सहस्रनामों (दे० अनुशा० १४६०१४-१२०) का संकीर्तन करता है वहां शिव के सहस्रनामों (दे० अनु० १७ तथा शान्ति २८५-७४) का भी संकीर्तन करता है।

पुराणों की सहिष्णुता भी देखिये:—

**एकं निन्दति यस्तेषां सर्वानेव स निन्दति।
एकं प्रशंसमानस्तु सर्वानेव प्रशंसति॥** (वायु० ९९,११४)

मत्स्यपुराण (५२-२३) के भी इसी कोटि के प्रवचन हैं।

अस्तु ! अब शैव-धर्म के विकास की विभिन्न धाराओं के पावन सलिल में अवगाहन आवश्यक है।

रुद्र-शिव की वैदिक पृष्ठ भूमि

ऋग्वेद में 'रुद्र' देवता का साहचर्य मरुद्देवों के साथ देखने को मिलेगा। आंधी-पानी, ध्वंस-विनाश व्याधि-रोग आदि के विधाता मरुद्देव जगत् के उस भयावह, भीषण एवं विनाशकारी शक्ति के प्रतीक हैं जिनकी शान्ति के लिये ऋषियों ने उसी तन्मयता से ऋचाओं की उद्भावना की जिस तन्मयता एवं तल्लीनता से उषादेवी, मित्र, सूर्य, वरुण आदि देवों के लोकरञ्जक, लोकोपकारक एवं लोकरक्षक स्वरूप के उद्घाटन में उन्होने बड़ी सुन्दर ऋचाओं का निर्माण किया। ऋग्वेद की रौद्री ऋचाओं में जहां रुद्र को एक भयावह जगत (Phenomenon) का अधिष्ठाता माना गया है वहीं वह शिव के विशेषण से भी भूषित किया गया है। जगत की भयावह स्टष्टि देव-क्रोध का कारण है। अतः यदि मानव अपनी भक्ति किंवा अपनी निष्ठा (नियम, आदि) से उस क्रोध को शान्त कर लेवे—देवता को रिझा लेवे तो फिर वही रुद्र (क्रोधी) देवता 'शिव' का रूप धारण करता है और जगत के कल्याण का विधायक बनता है। जो रुद्र विनाश एवं संहारक है (दे० ऋ० ७.४६.३; १.११४.१०; १.११४.१) वही पशुप, पशुओं एवं मनुष्यों का त्राण-कर्ता (दे० ऋ० १ ११४.६) बन जाता है। ऋग्वेद की निम्न ऋचाओं में रुद्र की एक महादेव के रूप में प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से परिनिष्ठित है:—

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मानो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान् मा नो रुद्र भामितोवधीर्हविष्मन्तः सदमित त्वा हवामहे॥

ऋ० वे० १.१४.८

स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति।
अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव॥

ऋ० वे० ७ ४६.२

यजुर्वेद की रौद्री ऋचाओं में जैसा पूर्व ही संकेत किया जा चुका है रुद्र-महिमा अपार है। शत-रुद्रिय (तै. सं. ४.५.१; वाज० सं० अ० १६) के परिशीलन से रुद्र के शिव-रूप (शिवातनुः) पर ही कवि का विशेष अभिनिवेश है। रुद्र गिरीश, गिरित्र, शतधन्वा, सहस्राक्ष तो हैं हीं साथ ही साथ पशु-पति भी हैं और कपर्दी भी हैं और अन्त में शम्भु, शंकर एवं शिव के महास्वरूप में परिणत हो जाते हैं। रुद्र के शतरुद्री नाना रूपों में आगे की विभिन्न एवं बहुमुखी पौराणिक रूपोद्भावनाओं एवं परम्पराओं के बीज छिपे हैं। 'दिगम्बर' एवं 'गजाजिन' शिव के पौराणिक रूप का विकास कृत्तिवसानः से प्रादुर्भूत हुआ।

यजुर्वेद की रौद्री ऋचाओं के परिशीलन से रुद्र-शिव का निषादों, कुलालों, रथकारों, मृगलुब्धकों आदि के साहचर्य एवं गणरूप, गणपति-संकीर्तन आदि से डा० भाण्डारकर की निम्न समीक्षा पठनीय है:—

Thus these followers of handicraft and also the forest tribes of Nisadas are brought into close connection with Rudra; probebly they were his worshippers or their own peculiar gods were identified with the Aryan Rudra. This last supposition appears very probable, since the groups of beings whose Pati or Lord, he is represented to have been, dwelt in or frequented open fields, forests and waste lands, remote from the habitations of civilized men.

अथर्ववेद में रुद्र-शिव का आधिराज्य और भी आगे बढ़ जाता है। भव एवं सर्व प्रथम यहां पर दो पृथक देवों के रूप में उद्भावित है— क्रमशः भूतपति एवं पशुपति। परन्तु पुनः महादेव की ही महा भूतियों में परिणत हो जाते हैं। भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र महादेव एवं ईशान अपने क्रमिक विकास में समस्त स्थावरजंगमात्मक विश्व के ऐकाधिपत्य का एक मात्र अधिकारी—यही अथर्ववेद की रौद्री ऋचाओं का मर्म है जिसका उद्घाटन ब्राह्मणों ने किया। रुद्र की इसी महिमा का विशेष व्याख्यान शतपथ-ब्राह्मण (६.१.३ ७) एवं कौषितकी ब्राह्मण (६.१.६) में मिलेगा। उषा के पुत्र रुद्र को प्रजापति ने आठ नाम दिये—सात ऊपर के और आठवां अशनि। अथर्ववेद में भव, शर्व, आदि सातों में रुद्र-शिव रूप पृथक पृथक उद्भावित है, परन्तु यहाँ पर शिव की इन अष्ट-मूर्तियों में महादेव बाबा का ही बोलबाला है। जिस प्रकार सविता, सूर्य, मित्र, पूषा आदि को एक ही लोकोपकारक सूर्यदेव के नाना रूपों में उद्भावित किया गया उसी प्रकार लोक-संहारक रुद्र के भी नाना रूप प्रकल्पित किए गए। इन नाना रूपों अर्थात् अष्ट-रूपों में रुद्र, शर्व उग्र एवं अशनि लोक-संहारक हैं और भव, पशुपति, महादेव एवं ईशान लोकरञ्जक एवं लोकरक्षक हैं। इस प्रकार जो देव सृष्टा एवं संहारक जगत्पालक, संसार-रक्षक एवं सर्वत्र-व्यापक है वही महादेव है। उस महादेव की भक्ति-भावना का सूत्रपात नितान्त स्वाभाविक है। यह कार्य श्वेताश्वतर-उपनिषद् ने किया।

इस उपनिषद् के परिशीलन से ईश्वर, जीव, जगत पर जो प्रवचन प्राप्त होते हैं उनका सानुगत्य ऋग्वेद एव यजुर्वेद की रुद्र-शिव सम्बन्धिनी ऋचाओं से स्थापित करते हुए योगाभ्यास एवं चिन्तन आदि साधनों के द्वारा साध्य 'मोक्ष' की प्राप्ति पर उपनिषदों की सामान्य शिक्षा एवं दीक्षा का ही स्वरूप समुद्घाटित है। निराकार ब्रह्म के साकार स्वरूप की भक्ति-भावना के लिए मार्ग-निर्देश करने वाला यह उपनिषद अद्वितीय है। परन्तु साकारोपासना के प्रवचन सम्प्रदायवादी नहीं है। जो देव अर्चक का अर्च्य है—भक्त का भावनीय है वह 'देव' ही है राम नहीं कृष्ण नहीं। उस देव को रुद्र, शिव, ईशान, महेश्वर के नाम से संकीर्तित किया गया है और उसकी शक्तियां ईशानी।

जिस प्रकार वैष्णव-धर्म का प्रथम शास्त्रीय प्रस्थान भगवद्गीता के रूप में हमने अङ्कित किया है उसी प्रकार शैव-धर्म (शिव-पूजा—शिवोपासना) का महास्रोत इस उपनिषद में मिलेगा जो भगवद्गीता से बहुत पूर्व रची जा चुकी थी। इस दृष्टि से वैष्णव-धर्म की अपेक्षा शैव-धर्म अधिक प्राचीन है यह बिना सन्देह कहा जा सकता है।

डा० भाण्डारकर भी इसी निष्कर्ष का समर्थन करते हैं। रुद्र-शिव की कल्पना बिना उमा-पार्वती के कैसे पूर्ण हो सकती है। उमा-महेश्वर का सर्वप्रथम संकेत केनोपनिषद् में प्राप्त होता है। अथर्वशिरस् उपनिषद में तो शैव सम्प्रदायों (दे० पाशुपत मत) पर भी पूर्ण निर्देश है। डा० भाण्डारकर के मत में इसे प्राचीन उपनिषद् नहीं माना जा सकता।

रुद्र-शिव की उत्तर-वैदिक-कालीन पृष्ठभूमि—सूत्र-ग्रन्थ, इतिहास एवं पुराण।

सूत्र-ग्रन्थों में रुद्र-शिव की रौद्री प्रकृति का ही विशेष प्रख्यापन है। बहुसंख्यक गृह्य-सूत्रों में 'शूलगव' नामक याग का उल्लेख है। इस यज्ञ में रुद्रदेव की प्रीत्यर्थ वृषभ-बलिदान विहित है। पारस्कर गृह्य-सूत्र (तृ० ८) तथा हि० गृ० सू० (द्वि० ३.८) में यजुर्वेदीय एवं अथर्ववेदीय रुद्र-शिव की अष्ट मूर्तियों—भव, शर्व आदि के साथ साथ उनकी भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी आदि पत्नी-देवियों के लिये भी आहुति विहित है। इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थों में (पा० गृ० सू० तृ० १५ तथा हि० गृ० सू० प्र० ५.१६) यह भी आदिष्ट है कि शृंगाटक, चतुष्पथ, नदीतरण, कान्तार-प्रवेश, पर्वतारोहण सर्पदर्शन, प्रकाण्डपादप-समीप-गमन आदि अवसर पर रुद्र-स्मरण अनिवार्य है। इस प्रवचन से रुद्र-शिव का भयावह जगत् का साम्राज्य एवं आधिपत्य पूर्णरूप से स्थापित होता है। अतएव ऐसे देव-महादेव की वन्दना मानव के लिये कितनी स्वाभाविक है—यह हम समझ सकते हैं। जो देव मनुष्य को विपत्तियों से बचा सकता है, भयावह दृश्यों से पार लगा सकता है—ऐसे देव के प्रति सहज ही सर्वातिशायिनी भक्ति के भावप्रभुता एवं आधिपत्य के उद्गार प्रादुर्भूत हो सकते हैं।

महाभारत के विभिन्न आख्यानों में शिव-महिमा वर्णित है। 'किरातार्जुनीय' वृत्तान्त—जिसमें अर्जुन ने शिव से 'पाशुपतास्त्र' प्राप्त किया था—से हम सभी परिचित हैं। अश्वत्थामा ने भी शिव-भक्ति से ही प्राप्त खड्ग के द्वारा महाभारत युद्ध में अपने बाप का बदला लिया था। वैसे महाभारत को वैष्णव-ग्रन्थ माना जा सकता है परन्तु विभिन्न उपाख्यानों में विष्णु के परमावतार (भगवान् कृष्ण) ने भी शिव-महिमा गायी है—शिवाराधन किया है (द्रोणपर्व अ० ८०, ८१)। महाभारत का एक विशेष वृत्तान्त इस अवसर पर विशेष स्मरणीय है। अनुशा० प० (अ० १४) की कथा है कृष्ण की जाम्बवती नामक रानी ने रुक्मिणी देवी के सुन्दर पुत्र के समान ही सुन्दर पुत्र की अभिलाषा प्रकट की जो बिना शिवाराधन कृष्ण पूरी न कर सकते थे। अतएव कृष्ण हिमालय (कैलाश) प्रस्थान के अवसर पर मार्ग में महामुनि उपमन्यु के आश्रम पर भी गये जहाँ उपमन्यु एवं कृष्ण के बीच शिव-रहस्य पर विशेष वार्ता हुई तथा उपमन्यु ने अपनी शिव-निष्ठा के भी विभिन्न वृत्तान्त सुनाये। उसमें उपमन्यु की निष्ठा से प्रसन्न शिव-दर्शन यहाँ पर विशेष निदर्शनीय है जिसमें वृषभस्थ पार्वती-परमेश्वर के साथ दायें-बायें हंसवाहन ब्रह्मा एवं गरुडासन विष्णु भी पधारे और उपमन्यु को विभिन्न वरदानों से उपकृत किया। उपमन्यु के पथ-प्रदर्शन से कृष्ण ने भी उसी प्रकार की तपस्या की और उसी रूप में आशुतोष ब्रह्मा-विष्णु के साथ प्रत्यक्ष हुए और कृष्ण के ऊपर विभिन्न वरदानों की बौछार की। उपमन्यु एवं कृष्ण

के इस उपाख्यान में भगवान् शिव का प्रकर्ष (Supremacy) प्रतिपादित है। दूसरे, ऊपर उपमन्यु के द्वारा उद्भावित जिस शिव-रहस्य का संकेत है, उसमें शिव की 'लिंगार्चा' के प्रथम शास्त्रीय प्रवचन की प्राप्ति होती है जिसका प्रयोग लिंग-पूजा के आगे स्तम्भ में किया जावेगा।

महाभारत के एक अन्य उपाख्यान में शिव-महिमा में यह भी सूचित किया गया है कि जगत्-सृष्टि का कार्य शिव के ही द्वारा होता था परन्तु ब्रह्मदेव के अधिक सर्जना-वर्जन पर शिव ने अपना लिङ्ग काट डाला और उसे भूमि पर स्थापित कर योगाभ्यास एवं तपश्चर्यार्थ मुञ्जवान पर्वत पर प्रस्थान किया। इस उपाख्यान में भी शिव-लिङ्ग पर प्राचीन शास्त्रीय प्रवचन का संकेत है। अस्तु निष्कर्ष रूप में महाभारत के समय रुद्र-शिव की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वह रुद्र भी थे और आशुतोष-शंकर-शिव भी थे। वरदाता उनसे बढ़कर कोई न था। हिमालय उनका घर था—उमा उनकी पत्नी थीं। विभिन्न-वर्गीय गण उनके सेवक थे। उनका वाहन वृषभ था। परमेश्वर के सभी गुण उनमें विद्यमान थे। वह सृष्टा भी थे परन्तु सृष्टि से विराम लेने पर महायोगी बने।

रुद्र-शिव की पौराणिक पृष्ठ-भूमि इतनी सर्वविदित है कि उसकी अवतारणा एक प्रकार से पिष्ट-पेषण ही होगी। रुद्र-शिव की आगमिक पृष्ठ-भूमि पर अनायास शैव-सम्प्रदायों के स्तम्भ में स्वतः प्रकाश पड़ेगा। अतः विस्तारभय से अब शिव की लिङ्गोपासना के आरम्भ एवं विकास पर शास्त्रीय मंथन करें।

लिङ्गोपासना

शैव-धर्म में लिङ्ग-पूजा की बड़ी महिमा है। लिङ्ग-पूजा विशुद्ध आर्य-परम्परा है अथवा यह अनार्य-संस्था है—असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना तो निर्विवाद है जैसा कि शिव-पूजा एवं शैव धर्म के उपोद्घात में संकेत किया जा चुका है कि शैव-धर्म उस व्यापक भारत, महाभारत एवं विशाल भारत की देन है जिसमें आर्य एवं अनार्य दोनों घटकों का सम्मिश्रण है। पूजा-परम्परा की प्राचीनता की समीक्षा में सिंधुघाटी सभ्यता में प्राप्त पशु-पति शिव-पूजा एवं लिङ्गार्चा आदि की उस सुदूर भूत की वार्ता पर विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं तथा यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में रुद्र-शिव का निषादों, गणों, नागों आदि के साथ जो साहचर्य पाया गया है; अथच ऋग्वेद की ऋचाओं में प्राप्त 'शिश्न-देव' शब्द से लिंगोपासक, जाति अथवा वर्ग—इस देश के मूल निवासियों के प्रति संकेत होने से यह मत निर्भ्रान्त माना जा सकता है शैव-धर्म में आर्यों एवं अनार्यों—दोनों की परम्परायें मिश्रित हैं। परंतु जातियों की सम्मिश्रण-गाथा बड़ी रोचक है। सभ्य एवं संस्कृत जातियाँ दूसरों की नकल नहीं करतीं। आदान करती हैं परंतु उसे आत्मसात् करके अपनाती हैं। आगे के विवेचन से इस धारणा को पोषित पायेंगे।

महाभारत के समय लिङ्गार्चा की महिमा स्थापित हो चुकी थी। ऊपर उपान्यु के शिव-रहस्याख्यान पर संकेत किया गया है। डा० भाण्डारकर (See Vaisnavism etc p. 114) के मत में लिङ्गार्चा के सूचक शास्त्रीय निर्देशों में महाभारत का यह

उपाख्यान सर्वप्राचीन है। इसमें एक आर्य ऋषि (महामुनि उपमन्यु) के द्वारा लिङ्गार्चा की महिमा गायी गयी है।

ऋग्वेद का रुद्र अग्नि का प्रतीक है। तीनों तेजों—आकाशीय सूर्य, मेघमण्डलीय विद्युत एवं पार्थिव अग्नि के प्रतीक रुद्र के त्रिविध जन्म से अग्नि-रुद्र को त्र्यम्बक (तीन हैं अम्बायें जननियाँ जिसकी) कहा गया है।

आधुनिक विज्ञान भी यही बताता है कि भूतल पर सूर्य की अत्युग्र उष्णता से आँधी (मरुद्-देव) उत्पन्न होती है। आँधी से पानी (मेघ) आता है और आँधी-पानी से अन्तरिक्ष में विद्युत प्रकट होती है। यही सब भौतिक तथ्य ऋग्वेद के क्रान्त-द्रष्टा कवि रुद्र-अग्नि के प्रतीकत्व में वर्णित करते हैं। रुद्र एवं अग्नि की एकता Identity) महाभारती स्कन्दजन्मोपाख्यान से भी स्थापित होती है (दे० वनपर्व)। इसी अग्नि-प्रतीक पर अनार्यों की लिङ्गार्चा को वैदिक आर्यों ने भी अपनाया। शिवार्चा में लिङ्गी शिव की पूजा ही सनातन से इस देश में प्रचलित है। वैदिक आर्यों का 'स्कम्भ' (जो विश्व का प्रतीक है) अनार्यों के लिङ्ग का एक प्रकार से प्रतिनिधित्व करता है। अथर्ववेद में 'स्कम्भ' की महिमा में हिरण्यगर्भोत्पादन प्रमुख है। हिरण्यगर्भ प्रजापति को यहां पर 'बेतस' का ज्ञाता बताया गया है:—

"यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद स गुह्यः प्रजापतिः।"

अथच 'वेतस' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद एवं शतपथ-ब्राह्मण में (See H: I. Vol. II, pt. I, p. 57) में 'लिङ्ग' के अर्थ में हुआ है।

पुराणों में भी इस प्राचीन स्कम्भ का लिङ्ग-प्रतीकत्व-समर्थन मिलता है। ब्रह्मा और विष्णु जिस समय परस्पर झगड़ रहे थे—उन दोनों में कौन बड़ा है, ब्रह्मा का दावा था वह बड़े हैं और विष्णु भला कब छोटे होने को राजी थे। उसी समय भगवान् शिव एक प्रोज्ज्वल स्तम्भ (स्कम्भ) के रूप में प्रकट हुए। यह प्रोज्ज्वल स्कम्भ लिङ्ग का ही प्रतीक था। यहाँ पर भी रुद्राग्नि-तादात्म्य स्थिर होता है।

लिङ्ग एवं उसकी पीठिका—दोनों को दो अरणियों के रूप में परिकल्पित किया गया है। दो अरणियों (ऊपर वाली पुरुष एवं नीचे वाली स्त्री) से वैदिक-काल में अग्नि-जन्म की परम्परा से हम परिचित ही हैं। अतः यह रुद्र-स्वरूप अग्नि लिंग-पीठ-जन्या (लिंगी) शिव-मूर्ति का ही प्रतिनिधित्व करता है।

इसी प्राचीन आधार पर आगे पुराणों में 'लिङ्गार्चा' के नाना निदर्श प्राप्त होते हैं। 'अर्धनारीश्वर' 'हर्यर्ध' आदि शिव-स्वरूपों में लिङ्गार्चा का ही संकेत है। लिङ्ग प्रतिष्ठा में पिण्डिका को योनि माना गया है। लिङ्ग-पीठ एक प्रकार से विश्व की सृष्टि का उपलाक्षणिक साधन तत्व है। मार्कण्डेय, भागवत, लिंग, विष्णु आदि पुराणों के लिङ्गार्चा-विषयक अनेक उपाख्यान इसी तत्व की व्याख्या करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से, जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, आर्यों की लिङ्गी शिव की उपासना में अनार्यों (शिश्न-देवों) की लिङ्गार्चा का पूर्ण प्रभाव है। डा० भण्डारकर (See Vaisnavism etc. p. 115) का यह आकूत—'Just as the

Rudra-Siva-cult borrowed several elements from the dwellers in forests and stragglers in places out of the way, so it may have borrowed this element of phallic worship from the barbarian tribes with whom the Aryas came in contact.' अर्थात् जिस प्रकार से रुद्र-शिव की (यजुर्वेदीय) उपासना-परम्परा में अरण्यवासी निषादों आदि की उपासना-परम्परा के घटकों का आदान प्रत्यक्ष है उसी प्रकार इस देश के मूलनिवासियों में असभ्य शिश्न-देवों (जिनके साथ आर्यों का सम्पर्क हुआ) की लिङ्गार्चा का भी आदान आर्यों की लिङ्गी-शिव की पूजा में प्रकट हुआ।

आगे हम देखेंगे शैव सम्प्रदायों की परम्परा में वैदिक एवं अवैदिक दोनों प्रकार के शवों के विपुल संकेत प्राप्त होते हैं। सम्भवतः यह परम्परा भी शैव-धर्म की आर्य-अनार्य-मिश्रित-परम्परा पर ही संकेत करती है। अस्तु। अब क्रम-प्राप्त शैव-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों पर भी कुछ समीक्षा प्रासङ्गिक है।

शैव-मतों एवं सम्प्रदायों का आर्य-साहित्य में सर्वप्रथम संकेत अथर्वशिरस् उपनिषद् में प्राप्त होता है। शैव-तन्त्र के पाशुपतव्रत, पशु, पाश आदि पारिभाषिक शब्दों की इसमें उपलब्धि से शैव सम्प्रदायों में पाशुपत-सम्प्रदाय की प्राचीनता असन्दिग्ध है। महाभारत में भी शैव-मतों का संकेत है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में पाशुपत मत को पांच प्रसिद्ध धर्म-दर्शनों में उपश्लोकित किया गया है (दे० शा० प० अ० ३४६ श्लोक० ६४)। पतञ्जलि ने अपने भाष्य में शिव-भक्तों को केवल 'शिव-भागवत' के नाम से संकीर्तित किया है अतः पतञ्जलि के उपरान्त ही प्रसिद्ध पाशुपत आदि शैव सम्प्रदायों की परम्परा पल्लवित हुई—यह कहना ठीक न होगा। अथर्वशिरस् उपनिषद् एवं मूल महाभारत को पतञ्जलि से प्राचीन ही मानना विशेष संगत है। प्रशस्तपाद ने अपने काणादी न्याय-भाष्य में (वैशेषिक-सूत्रों पर) सूत्रकार कणाद को माहेश्वर माना है, जिन्होंने अपने योगाभ्यास एवं अर्चा (पाशुपत एवं शैव — दोनों सिद्धान्तों की सामान्य उपासना-पद्धति) के द्वारा 'महेश्वर' शिव को प्रसन्न करके यह शास्त्र रचा—अन्त में ऐसा निर्देश किया है। इसी प्रकार वात्स्यायन के न्यायभाष्य के टीकाकार भारद्वाज को पाशुपताचार्य कहा गया है। वेमाकड-फिसीज (ई० तृतीय शतक) ने अपने मुद्राओं पर अपने को माहेश्वर अंकित किया है। ७वीं ईशवी के मध्य में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-वृत्तान्त के वर्णनों में पाशुपतों का बारबार उल्लेख किया है (द्वादश बार)

शैव-सम्प्रदायों में काल-मुख अथवा कापालिक सम्प्रदाय का निर्देश सप्तम-शतक के महाराष्ट्रीय पुलकेशिन द्वितीय के भतीजे नागवर्धन के ताम्र-पत्र आदेश (copper-plate charter) पर 'कापालेश्वर' के लिये ग्राम-दान से प्राप्त होता है। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (१०वीं शताब्दी ईशवीय) की करहाड दान में जिन शैवों का संकेत है वे पाशुपत नहीं प्रतीत होते हैं। अतः पाशुपतों, कापालिकों के अतिरिक्त अन्य वर्गीय शैव भी थे—जिनमें साम्प्रदायिक एवं सामान्य दोनों प्रकार के शिव-भक्त थे। बाण ने अपनी कादम्बरी में तथा भवभूति ने अपने मालती-माधव में क्रमशः विलासवती एवं मालती का शिव मन्दिराभिगमन पर जो निर्देश किया है उससे शिव-भक्तों के सामान्य वर्ग का ही पोषण होता है।

शूद्रक राजा की सभा में रक्तवस्त्रधारी पाशुपतों पर बाण का संकेत सामान्य न होकर साम्प्रदायिक ही है। अतः शिव-भक्तों के सम्प्रदायवादी, सम्प्रदायानुयायी एवं सामान्य जन—ये तीन वर्ग प्रकल्पित किये जा सकते हैं। कालिदास, सुबन्धु, बाण, श्रीहर्ष, भट्टनारायण, भवभूति आदि अनेक कवियों ने शिवस्तुति की है। प्राचीन चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों के अनेक शिवमंदिर तथा इलौरा का कैलाश मंदिर आदि प्राचीन शिवालयों का सम्बन्ध साम्प्रदायिक न होकर सामान्य शिव-भक्ति-परम्परा से ही था।

शैव-सम्प्रदायों की सूचक ऐतिहासिक सामग्री के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि शैव-सम्प्रदायों में सर्वाधिक प्राचीन सम्प्रदाय पाशुपत था। प्राचीन परम्परा के अनुसार यह सम्प्रदाय स्वयं पशु-पति भगवान शिव ने स्थापित किया था। इसकी विशेष चर्चा आगे होगी। परन्तु यहाँ पर मैसूर के अभिलेखों (जिनकी संख्या ८ है) में 'पाशुपत' सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में लकुलीश पाशुपत का ही विशेष संकेत है। 'लकुलीश' को वायु-पुराण (अ० २३) तथा लिंग-पुराण (अ० २४) में महेश्वरावतार माना गया है जो विष्णु के वासुदेव कृष्णावतार के समान ही है और जिसके चार प्रधान शिष्यों में कुशिक, गर्ग, मित्र तथा कौरुष्य का नाम संकीर्तन है। 'लकुलीश' के इस पौराणिक आख्यान का समर्थन ऐतिहासिक अभिलेखों से होता है। राजपूताना (उदयपुर) के नाथ-मंदिर के एक प्राचीन (दशमशतक-कालीन) अभिलेख (inscription) में लिखा है 'भृगुकच्छेत्र' में लगुडहस्त शिव ने अवतार लिया। कुशिक आदि उपर्युक्त शिष्य-ऋषियों का भी उसमें संकीर्तन है। इसी प्रकार इसी काल का एक और अभिलेख—चिन्तृ-प्रशस्ति में यही वार्ता समर्थित होती है। साथ ही साथ उसमें यह भी संकेत है कि लकुलीश के उपर्युक्त चारों शिष्य चारों विभिन्न शैव सम्प्रदायों के संस्थापक हुए।

माधव ने अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में जिस पाशुपत-दर्शन की समीक्षा की है उस को लकुलीश-पाशुपत के नाम से पुकारा है। अतः डा० भाण्डारकर (See Vaisnavism p. 116-17) का निम्न निष्कर्ष पठनीय है:—"इन सब विवरणों से यह प्रतीत होता है कि 'लकुली' नामक कोई महापुरुष अवश्य था जिसने 'पाशुपत-मत' की संस्थापना की। इसी मत से चार आवान्तर मत प्रस्फुटित हुए और उनके संस्थापक-गण (वे चाहे ऐतिहासिक हैं अथवा कपोलकल्पित) इसी लकुली के शिष्य माने गये। लकुली और नकुली एक ही है। पुराणों के प्रवचनों में (दे० पीछे वायु तथा लिंग पुराण का संकेत) लकुली का जो उदय वासु-देव कृष्ण के समकालिक बताया गया है उस का मर्म यही है कि जिस प्रकार वासुदेव-कृष्ण-भक्ति में पंचरात्रों के प्रस्थान एवं पद्धति की प्रतिष्ठा अभीष्ट थी उसी प्रकार रुद्र-शिव-भक्ति में पाशुपत-प्रस्थान एवं पद्धति की प्रतिष्ठा। अतः हम नारायणीयोपाख्यान में सूचित पाशुपत-मत को 'पञ्चरात्र' मत के एक सौ वर्ष बाद अर्थात् ईशवीय पूर्व द्वितीय शतक-कालीन मान सकते हैं।"

अस्तु, शैव-धर्म के निम्नलिखित प्रमुख सम्प्रदाय विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१. शैव-सम्प्रदाय

२. पाशुपत-सम्प्रदाय

३. कारुक-सिद्धान्तवादी (कालमुख)

४. कापालिक

५. वीर-शैव

६. प्रत्यभिज्ञावादी

प्रथम 'शैवसम्प्रदाय' को आगमान्त अथवा शुद्ध शैव-सम्प्रदाय के नाम से भी संकीर्तित किया जाता है। इस मत का विशेष प्रचार दक्षिण में तामिल-प्रदेश में है। तामिल देश शैव-धर्म का प्रधान दुर्ग है। तामिली शैवों की परम्परा की स्थापना का श्रेय वहाँ की संत-मण्डली को है। इन संतों के शिव-स्तोत्रों एवं शैव-धर्म-प्रतिपादक ग्रंथों का श्रुति के समान समादर है। प्राचीन शैवों में प्रथम-शतक-कालीन सन्त वक्कीर, द्वितीयशतक के सन्त कण्णप तथा सन्त तिरूमूलर विशेष स्मरणीय हैं, जिनकी रचनाओं ने शैव-सिद्धांत की उस देश में नीव डाली। आगे ७ वीं तथा ८ वीं शताब्दी में निम्नलिखित चार प्रमुख सन्त शैव-धर्म के प्रमुख आचार्य हुए जिन्होंने शैव-धर्म के चार प्रमुख मार्गों की संस्थापना की:—

१. सन्त अप्पार —चर्या (दास-मार्ग)

२. सन्त ज्ञानसम्बन्ध —क्रिया (सत्पुत्र-मार्ग)

३. सन्त सुन्दरमूर्ति—योग (सहमार्ग) तथा

४. सन्त माणिक्कवाचक—ज्ञान (सन्मार्ग)

तामिल देश के शैव-सन्तों की यह परम्परा दक्षिण के अलवारों के ही समान शैव-धर्म के प्रचारार्थ पनपी। 'पीरियपुराण' में उपर्युक्त जिन शैव-सन्तों का समुल्लेख किया गया है उससे यह निष्कर्ष दृढ़ होता है।

शैवधर्म के धार्मिक ग्रंथों को आगमों या शैव-तन्त्रों की संज्ञा दी गयी है। इन आगमों को 'शैव-सिद्धांत' के नाम से भी पुकारते हैं। शैव-तन्त्रों की उद्भावना में शैवों की परम्परा है कि भगवान शङ्कर ने अपने भक्तों के उद्धार के लिये अपने सद्योजातादि पांचों मुखों से निम्नलिखित २८ तन्त्रों का आविर्भाव किया:—

१. **सद्योजात से**—१ कायिक, २ योगज, ३ चिन्त्य, कारण, ४, ५ अजित।

२. **वामदेव से**— ६ दीप्त, ७ सूक्ष्म, ८ सहस्र, ९ अंशुमान, १० सुप्रभेद।

३. **अघोर से**—११ विजय, १२ निःश्वास, १३ स्वायम्भुव, १४ अनल, १५ वीर।

४. **तत्पुरुष से**—१६ रौरव, १७ मुकुट, १८ विमल, १९ चन्द्रज्ञान, २० विम्ब।

५. **ईशान से**—२१ प्रोद्गीत, २२ ललित, २३ सिद्ध, २४ सन्तान, २५ सर्वोत्तर २६ परमेश्वर, २७ किरण, २८ वातुल।

टि०:—इन सब तन्त्रों की 'आगम' संज्ञा है जो 'कामिकागम' आदि के नाम से प्रख्यात हैं। प्रत्येक के पीछे आगम शब्द जोड़ा जाता है।

भारत के सभी धर्म-सम्प्रदाय बिना दर्शन-ज्योति निष्प्राण हैं। अतएव इन तन्त्रों में जहाँ धार्मिक क्रियाओं एवं उपासनाओं तथा भिन्न-वर्गीय शिव-दीक्षाओं का वर्णन है वहाँ शैव-दर्शन के सिद्धांतों का भी बड़ा ही मार्मिक समुद्घाटन मिलेगा। इन प्रधान २८ आगमों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन में दस द्वैत-मूलक हैं जिन्हें परम शिव ने प्रणवादि दस शिवों को पढ़ाया था तथा १८ द्वैताद्वैत-प्रधान है जिनका उपदेश परम शिव

ने अघोरादि अठारह रुद्रों को दिया था। पुराणों के जिस प्रकार उप-पुराण हैं उसी प्रकार ये आगम अनेक उपागमों से युक्त होकर इनकी संहिताओं की संख्या दो सौ आठ है।

आगमान्त शैव-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में पाठकों का ध्यान एक तथ्य की ओर विशेष रूप से आकर्षित करना है कि आगमान्त शैवों की परम्परा से वेदान्त शैवों की परम्परा सर्वथा विलक्षण है। वेदान्त शैव अपनी परम्परा को वेदों एवं उपनिषदों के आधार पर पल्लवित करते हैं। श्वेताश्वेतर एवं अथर्वशिरस् उपनिषद् में जिस शैव-धर्म का आभास एवं प्रोल्लास हम पाते हैं उसी के आधार पर वेदान्त-शैवों ने अपना सम्प्रदाय चलाया। अद्वैत-वेदान्ती शिव-भक्त वेदों को शिव का निःश्वसित मानते हैं—"यस्य निःश्वसितं वेदाः" अतः आगमान्त, शैवों का दावा है कि निःश्वास तो एक अज्ञात रूप से स्वाभाविक दैहिक अथवा मानसिक क्रिया है अतः आगमों के सामने (जिन्हें भगवान भूतभावन शिवने व्यक्तिगत रूप से शास्त्रोपदेशक के रूप में उपदिष्ट किया) वेदों की रचना एवं वेद प्रतिपादित धर्म एवं दर्शन कोई महत्त्व नहीं रखते। अस्तु कुछ भी हो परन्तु यह निर्विवाद है, शैव-सम्प्रदाय यद्यपि अपने प्राचीन स्वरूप में एक प्रकार से वेद-वाह्य ही था परन्तु कालान्तर पाकर इस सम्प्रदाय ने भी वैदिकों की विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक संस्थाओं को अपना कर अपनी प्रतिष्ठा बनायी अन्यथा प्रसिद्ध वैदिक शास्त्रकार जैसे कुमारिल भट्ट आदि, शैवों को नास्तिकों एवं शूद्रों के रूप में ही सम्बोधित करते रहते।

शैवाचार्य

इस आगमान्त शैव-सम्प्रदाय के जन्म एवं विकास की कहानी में तामिली सन्तों की उपर्युक्त देन के अनन्तर अब कतिपय शैवाचार्यों का भी उल्लेख आवश्यक है जिन्होंने इन आगम-सिद्धांतों को पल्लवित एवं प्रतिष्ठापित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इसमें अष्टम-शतक-कालीन आचार्य सद्योज्योति का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। सद्योज्योति के अतिरिक्त 'हरदत्त शिवाचार्य' भी एक विशिष्ट शैव-आचार्य थे। इसी प्रकार अन्य बहुत से आचार्य हुए जिन्होंने अपने अपने ग्रंथ रचकर इस धर्म की प्रतिष्ठा एवं इस सम्प्रदाय के विकास में योग दिया।

शैव-दीक्षा

सभी शैव-सम्प्रदायों की सर्व प्रमुख विशिष्टता उनकी दीक्षा है। *दीक्षा से तात्पर्य धर्म-विशेष के ग्रहण-समय संस्कार-विशेष-अथवा कर्मकाण्ड-विशेष से है। शैव-धर्म में दीक्षा उसी प्रकार एक अनिवार्य संस्कार है जिस प्रकार वैदिक-धर्म में यज्ञोपवीत—सावित्री।* बिना दीक्षा के शिव-भक्त मोक्ष का अधिकारी नहीं। आचार्य के रूप में शिव-विभूति शैवों की आस्था है। दीक्षा-संस्कार के दीक्षा-ग्राहक की मर्यादा एवं कोटि के अनुरूप विभिन्न रूप हैं। जो शिव-भक्त संसार-पराङ्मुख होकर शैव-धर्म अपनाता है वही सर्वश्रेष्ठ दीक्षित है। दीक्षावसर 'शक्ति' की कृपा आवश्यक है। इसे 'शक्ति-पातम्' कहा जाता है जो चार प्रकार की कही गयी है—तात्कालिक, द्रुत, मन्द एवं मन्दतर। मन्दतर शक्ति-पात में दीक्षा को 'समय-दीक्षा' कहते हैं। मन्द में विशेष दीक्षा तथा द्रुत एवं तात्कालिक में निर्वाण-

दीक्षा की संज्ञा व्यवहृत की गयी है। इसी चतुर्विधा दीक्षा के अनुरूप दीक्षा संस्कार में ही दीक्षित के नाम एवं उसके शैव-मार्ग का भी निर्धारण हो जाता है। दीक्षान्त पर आचार्य की आज्ञा से शिष्य को अपनी पुष्पाञ्जलि को दीक्षा-कुम्भ पर फेंकना पड़ता है और उस कुम्भ के शिरोभाग अथवा उसकी चारो दिशाओं पर जैसे पुष्प गिरते हैं उसी के अनुरूप पञ्चानन शिव के सद्योजातादि नामों से उसके नाम भी पड़ते हैं और उन नामों के अन्त में (अर्थात् सद्योजात, अघोर, ईशान आदि) जोड़ने के लिये शिव अथवा देव या गण का निर्धारण शिष्य को वर्ण-व्यवस्थानुरूप होता है। उदाहरण के लिये यदि शिष्य के पुष्प ईशानाभिमुख गिरते हैं तो उस का नाम ईशान-शिव या ईशान-देव पड़ेगा यदि वह ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय है। इसके विपरीत यदि वह वैश्य अथवा शूद्र है तो उसका नाम ईशानगण पड़ेगा। इसी प्रकार यदि शिष्या स्त्री है तो उसका नाम क्रमशः ईशा-शिव-शक्ति, ईशा-देव-शक्ति, ईशा-गण-शक्ति पड़ेगा। अथच जो शिव-भक्त समय-दीक्षा से दीक्षित होते हैं वे 'समयी' कहलाते हैं और 'रुद्र-पद' के अधिकारी बनते हैं। इनके लिये आगमों का 'चर्या-पाद' विहित है। समयी शैवों के मार्ग का नाम दास-मार्ग है।

इसी प्रकार विशेष दीक्षा से दीक्षितों की भी सब वे ही पद्धतियाँ हैं। अन्तर यह है कि इसमें आचार्य शिष्य की आत्मा को 'माय-गर्भ' से 'शक्ति-गर्भ' में संयुक्त करता है—ऐसा उल्लेख है। विशेष-दीक्षित 'ईश्वरपद' के अधिकारी कहे गये हैं। इनके लिये आगमों का 'चर्या-पाद' 'क्रिया-पाद' दोनों ही विहित हैं। ये अपने जीवनकाल में 'पुत्रक' कहलाते हैं। तामिल के तादर और पिल्लई अथवा पिल्लयियार क्रमशः दास (अर्थात् समयी) और पुत्रक (अर्थात् विशेष-दीक्षित) ही हैं। अब रहे 'निर्वाण-दीक्षित' उनके विषय में शैवों की यह धारणा है कि शिष्य के पाशों का उसके जीवन-काल में ही उन्मूलन हो जाता है अतएव इसी धारणा के अनुरूप दीक्षा-संस्कार में ही शिष्य के शिर से पर तक गुण-ग्रन्थन किया जाता है और गुरु (आचार्य) उन पाशोपम ग्रन्थियों (जोकि मल, माया, कर्म और कला के प्रतीक हैं) का छिन्न कर देता और उनको हव्याग्नि में स्वाहा कर देता है। इसमें यह आस्था है कि शिष्य की आत्मा शिव की आत्मा के समान पवित्र बन गयी। निर्वाण-दीक्षा में आचार्य अन्त में शिष्य की आत्मा में परम शिव के षडैश्वर्य— सर्वज्ञत्व, पूर्ण-कामत्व, अनादि-ज्ञान, अपार-शक्ति, स्वाधीनत्व, अनन्त-शक्ति की भावना करता है। निर्वाण-दीक्षितों के दो वर्ग हैं साधक तथा आचार्य। अत: दोनों के पुनः संस्कार होते हैं। साधक अणिमादि सिद्धियों से भूषित होते हैं—ऐसी शैवों की धारणा है। साधक नित्य कर्मों —स्नान, पूजा, जप, ध्यान, होम तथा काय-कर्म का सम्पादन करते हैं। आचार्य इन नित्य कर्मों के साथ-साथ नैमित्तिक कर्म जैसे दीक्षा-प्रदान, मन्दिर-प्रतिष्ठा, मूर्त्ति-प्रतिष्ठा आदि के भी अधिकारी हैं। निर्वाण-दीक्षा भी द्विविधा है—लोकधर्मिणी अथवा भौतिकी एवं शिव-धर्मिणी अथवा नैष्ठिकी। शिव-धर्मिणी-निर्वाण-दीक्षा-दीक्षित शैव अपने ब्रह्मरन्ध्र पर केश-पुञ्ज धारण करते हैं। लोकधर्मिणी-निर्वाण-दीक्षा-दीक्षितों के लिये केशोन्मूलन आवश्यक नहीं।

शैव-मत की इस चर्चा के उपरांत अन्त में यह सूचित करना अवशेष है कि इस मत के तीन प्रधान तत्व हैं—पति, पशु, पाश। इनकी समीक्षा पीछे दी जा चुकी है। इस मत

के चार प्रधान पाद विद्या—क्रिया, योग तथा चर्या हैं इन पर भी पीछे संकेत किया जा चुका है।

पाशुपत-सम्प्रदाय

शैव-धर्म में पाशुपत मत अथवा पाशुपत सम्प्रदाय सर्वाधिक प्रमुख है। इसका वामाचार अथवा उग्राचार ही इसकी लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि का विशेष कारण है। पाशुपत मत के प्रतिष्ठापक 'लकुलीश' के सम्बन्ध में हम पीछे कह आये हैं। शिव-पुराण के 'कारवण-माहात्म्य' में लकुलीश के जन्म-स्थान भड़ौंच के पास 'कारवन' नामक स्थान का संकेत है। राजपूताना और गुजरात में 'लकुलीश' की प्रचुरसंख्यक प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। उनकी विशेषता यह है कि उनके मस्तक केशों से ढके रहते हैं, दक्षिण हाथ में बीजपूर के फल और वाम हस्त में लगुड या दण्ड शोभित है। लगुड-लांछन से ही सम्भवतः इनका नाम लगुडेश या लकुलीश पड़ा। भगवान् शङ्कर के १८ अवतारों में लकुलीश आद्य अवतार माने जाते हैं। १८ अवतारों की गणना इस प्रकार है:—

१. लकुलीश	७. पारगार्ग्य	१३. पुष्पक
२. कौशिक	८. कपिलाण्ड	१४. बृहदार्य
३. गार्ग्य	९. मनुष्यक	१५. अगस्ति
४. मैत्र्य	१०. अपर कुशिक	१६. सन्तान
५. कौरुष	११. अत्रि	१७. राशीकर तथा
६, ईशान	१२. पिङ्गलाक्ष	१८. विद्यागुप्त

लकुलीश पाशुपत के प्रादुर्भाव-काल की स्थापना में हम पहले ही इंगित कर चुके हैं। उदिताचार्य नामक एक प्राचीन पाशुपत ने गुप्त-नरेश विक्रमादित्य द्वितीय के राज्य-काल में अपने गुरु-मन्दिर में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिव लिङ्गों की स्थापना की थी—ऐसा तत्कालीन शिला-लेख में वर्णित है। उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक से दशम बताया है। लकुलीश कुशिक के गुरु थे अतः प्रत्येक पीढ़ी में २५ या ३० वर्ष के अन्तर मानने पर भी पूर्व-संकेतित ईशवीय-पूर्व द्वितीय शतक पाशुपत-मत की स्थापना एवं उसके संस्थापक का समय प्रतीत होता है।

पाशुपत-मत का मूल सूत्र-ग्रन्थ 'महेश्वर-रचित पाशुपत-सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका कौण्डिन्य-कृत 'पञ्चार्थी-भाष्य' विशेष द्रष्टव्य है। माधव ने अपने सर्वदर्शन-संग्रह में इस मत के जिन आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है उनमें पाँच प्रमुख सिद्धान्त हैं—कार्य (अर्थात् महत्) कारण (अर्थात् ईश्वर—महेश्वर—प्रधान) योग (चिन्तन मनन आदि तथा 'ओं' जाप) विधि ('दिन में तीन बार नियत समय प्रातः मध्याह्न एवं सायं, भस्मावलेपन) तथा दुःखान्त (अर्थात् मोक्ष)। इन्हीं पाँच प्रधान सिद्धान्तों पर अखिल पाशुपत दर्शन आधारित है।

इस पंचो-प्रपञ्च का विस्तार न कर इसके विधि-विधान पर कुछ विवेचन कर अग्रसर होना चाहिये। पाशुपतों की विधि बड़ी ही मनोरञ्जक एवं चित्तोद्वेजक भी है।

पाशुपतों के मत में विधि वह विधान है जिसके द्वारा साधक कायिक, वाचिक एवं मानसिक शुचिता प्राप्त करता है। यह विधि प्रधानतया द्विविधात्मक आचार है—मुख्य एवं गौड़। प्रथम को चर्या कहते हैं जो व्रतादि साधनों से सम्पन्न होती है। व्रतों में भस्मलेपन, भस्मशयन, उपहार, मंत्रोच्चारण, प्रदक्षिणा आदि विहित हैं। लकुलीश का स्वयं उपदेश है—'शैव को दिन में नियत तीन समय में भस्मावलेपन एवं भस्मशयन करना चाहिये'। व्रत के इस सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त अन्य षडुपचारों में, हास, गान, नृत्य, हुडुक्कार, साष्टांग प्रणाम और मन्द जाप हैं। हास में तीव्र कण्ठ से हाहोच्चारण विहित है। इसी प्रकार गायन और नृत्य में संगीत-शास्त्र एवं नाट्य-शास्त्र में प्रतिपादित कला का पूर्ण अनुसरण होना चाहिये। हुडुक्कार को वृषभनाद के समान पवित्र नाद बताया गया है।

विधि की प्रधान चर्या में व्रतों के अतिरिक्त द्वारों (means) में क्राथन (जाग्रत होने पर भी निद्रालु) स्पन्दन (अंगों को हिलाना) मन्दन (पाद-चालन) शृङ्गारण यथानाम शृङ्गार-चेष्टायें—कामुक व्यवहार, अवितत्करण (अकर्तव्य-करण) अवितद्-भाषण अनर्गल लाप हैं गौडाचार में भस्मावलेपन आदि के अतिरिक्त उच्छिष्ट भोजन चढ़ाये हुए बासी फूलों का एवं लिंग-प्रतिमा का धारण आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

कापालिक एवं कालमुख शैव-सम्प्रदाय

रामानुजाचार्य ने कालमुखों, कापालों एवं आगमान्त शैवों को 'पाशुपत-मत' के ही अवान्तर भेदों के रूप में परिगणित किया है। जैसा कि ऊपर शैव-धर्म की पञ्चार-प्रारम्भ पशु-पति-पाश की सामान्य दार्शनिक दृष्टि का संकेत किया गया है उसके अनुरूप रामानुजाचार्य का यह परिसंख्यान समझ में आ सकता है। ये सभी शैव-सम्प्रदाय जीवात्मा को पशु एवं परमात्मा को पति रूप में परिकल्पित करते हैं। पाशों की ग्रन्थियों को सुलझाने के नैकविध प्रयत्न ही नाना सम्प्रदायों के जनक हुए।

कापालिक

कापालिक भी पाशुपतों के समान एक प्राचीन सम्प्रदाय है। कापालिक वाममार्गी एवं उग्र सम्प्रदाय के रूप में उदय हुए। अतएव 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'— की स्वाभाविक एवं नैसर्गिक प्रतिक्रियानुरूप शीघ्र ही समाप्त हो गये—नाममात्रावशेष हैं। रुद्र-शिव में घोर और अघोर दोनों रूप छिपे हैं। अतएव दो प्रकार के शैव-सम्प्रदायों के विकास को प्रश्रय मिला। वैष्णव धर्म के समीक्षण में जिन-जिन सोपानों एवं प्रस्थानों—वैदिक-विष्णु, महाभारतीय नारायण, सात्वत वासुदेव, भागवत गोपालकृष्ण एवं गोपीकृष्ण के हमने दर्शन किये, उनमें भी आगे के अवान्तर सम्प्रदाय—राधाकृष्ण आदि जिस प्रकार एक अतिमार्ग का आभास देते हैं उसी प्रकार शैव-सम्प्रदायों की इस कहानी में वामाचारों का विकास भी उसी अतिमार्ग की अतिरञ्जना है।

कापालिकों की प्राचीनता की सूचक ऐतिहासिक सामग्री में महाकवि भवभूति का विरचित मालती-माधव, कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय तथा आनन्दगिरि का शंकर-दिग्विजय

के संकेत स्मरणीय हैं। मालती-माधव में कपालकुण्डला कापालिकी मुण्डमाला धारण किये हुए है और नाटक की नायिका मालती को श्मशानस्था करालाचामुण्डा की मूर्ति के सम्मुख अपने गुरु अघोरघण्ट के द्वारा उसको बलिदानार्थ अपने पिता के प्रासाद से सोती हुई उठा ले जाती है। यहाँ पर कापालिकों की वेष-भूषा में मुण्डमाला-धारण एवं उनकी उपासना में मानव-बलि के पूर्ण दर्शन होते हैं। इसी प्रकार कृष्ण मिश्र के कापालिक का निम्न उद्घोष सुनिये:—

> "मस्तिष्कान्त्रवसाभिघारितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां ।
> वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा ।
> सद्यःकृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधाराजलै —
> रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः ॥
>
> प्र० च० ३-१३

माधव के शंकर-दिग्विजय एवं आनन्दगिरि के शंकर-विजय दोनों में ही शंकर की उज्जन में कापालिकों के साथ मुठभेड़ पर विवरण प्राप्त होते हैं। उन कापालिकों का जो वर्णन है वह भी उपर्युक्त वर्णन से सानुगत्य रखते हैं। साथ ही साथ यह भी संकेत है कि कापालिकों के उपास्य भैरव के आठ स्वरूप हैं—असितांग, रुरू, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त कापाल, भीष्म और शंकर। ऐसे कापालिकों को शंकराचार्य ने अपना लिया था परन्तु जो कापालिक उन्मत्त भैरव के ही एकमात्र उपासक थे एवं नाना अमानुषिक क्रिया-कलापों के अनुगामी थे उन्हें शंकर ने त्याज्य ही समझा।

कापालिकों के सिद्धांतों का 'षड्मुद्रिका' सिद्धांत ही परमोपजीव्य है—षड्मुद्राओं के नाम हैं:—

कापालिकों का कथन है 'जो षड्मुद्राओं को ठीक तरह समझता है और जिसे परममुद्रा (भगासन पर बैठ आत्म-चिंतन) का पूर्ण ज्ञान एवं अभ्यास है वह निर्वाण (मोक्ष) का अधिकारी है।'

कालमुख

कापालिकों की संज्ञा कपाल-धारण से उदित हुई। कालमुखों का नाम सम्भवतः उनके मस्तक पर काले टीके के कारण प्रसिद्ध हुई। कालमुखों की दूसरी संज्ञा राव गोपीनाथ जी ने (See H. I. vol. II Pt. I p. 24) 'सोम सिद्धान्त' दी है। रामानुज के विवरण में कालमुखों को 'महाव्रताधर' कहा गया। सम्भवतः यह संज्ञा उनके उग्र चरण—वामाचरण—अद्भुताचरण के कारण दी गयी है। इनके अद्भुताचरण में कपाल-पात्र में भोजन एवं पान, शरीर पर चिताभस्मावलेप, शव-मांस-भक्षण, मद्य सेवन, पीनदण्ड धारण आदि माने गये हैं।

कापाल एवं कालमुख एक प्रकार से दोनों ही उग्राचारी हैं। इन दोनों में विशेष भेद नहीं। मालती-माधव के टीकाकार जगद्धर ने 'महाव्रत' (जो ऊपर कालमुखों की विशेषता बताई गयी है) को कापालिक-व्रत कहा है। अतः कापालिक एवं कालमुख एक प्रकार भाई-भाई हैं।

शैवागमों के निर्देश से कापालिकों, कालमुखों के अतिरिक्त दो तीन और अवान्तर सम्प्रदाय हैं जैसे कौल, क्षपणक, दिगम्बर आदि जिनका यहाँ पर निर्देशमात्र अभीष्ट है। एक दूसरे प्रवचन के अनुसार शिव के नाना रूपों एवं विभूतियों में शैव 'ताण्डव भूषण' शिव, पाशुपत भस्माङ्गधारी जटा-मुकुट-शोभित शिव, कापालिक कपाल-माला-धारी शिव, कालमुख स्फटिक एवं पुलदीप-मालाधारी शिव, वामाचारी यज्ञोपवीतधारी साग्नि शिव तथा भैरव डमरू बजाते हुए और नूपुर-धारी शिव की उपासना करते हैं।

पाशुपात, कापालिक एवं कालमुख आदि घोर शैव-सम्प्रदायों की इस सरल समीक्षा से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उस में पूर्वोदिष्ट शैव धर्म में अनार्य-परम्परा के मिश्रण का ही पोषण होता है। पुराणों में भी नाना ऐसे निर्देश हैं जिनमें शिव को यज्ञभाग नहीं दिया जाता था—दक्ष प्रजापति के यागवृतान्त से हम सभी परिचित हैं। इससे यह सूचित होता है, अनार्य शिव को आर्य-शिव बनने में काफी संघर्ष करना पड़ा होगा। रुद्र-शिव की वैदिक संस्था पर हम संकेत कर चुके हैं। अनार्य शिव के नाना घटकों पर भी हम दृष्टिपात कर चुके हैं।

वैदिक कर्मकाण्ड के अतिमार्ग के विरुद्ध जो आभ्यन्तरिक प्रतिक्रिया (आरण्यकों एवं उपनिषदों के धर्म एवं दर्शन के रूप में) एवं बाह्य विद्रोह (बौद्ध एवं जैन-धर्म का प्रादुर्भाव) उठ खड़ा हुआ—उस पर भी संकेत किया जा चुका है। अतः इन सब ऐतिहासिक तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा बुद्ध ने अहिंसा-प्रधान कर्मकाण्ड-शून्य जिस सरल धर्म (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया उससे वैदिक-धर्म के परिशोध के लिए पौराणिक धर्मों को पल्लवित होने के लिये अनुकूल वातावरण मिला। साथ ही साथ वैष्णव धर्म का उदय हुआ जिसने बौद्ध-धर्म को आत्मसात् करके हिन्दू-धर्म (वैदिक-स्मार्त-पौराणिक) की विजय-वैजयन्ती पुनः फहराई। परन्तु बहुत सम्भव है बहुत से वैदिक एवं अनार्य उस समय भी इस धर्म-संस्कार एवं धर्म-परिशुद्धि को न अपना सके हों। उनके लिए भगवान् शिव का वह अनार्य रूप (जिसमें उपर्युक्त वामाचारी शैव-सम्प्रदायों के आचरण-बीज सहज ही निहित थे) विशेष सुखद एवं अनुकूल लगा। अतएव शैव-धर्म में ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हुआ। सनातन से द्वन्द्व की कथा में ही संसार की सारता है। सभ्यता एवं संस्कृति को जीवित रखने के लिए अनैकान्तिक घटकों की बड़ी आवश्यकता है। आर्य, अनार्य, शैव, वैष्णव, वैदिक, अवैदिक—ये सब इस महातथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

दूसरे इन सम्प्रदायों के द्वारा भारतीय स्थापत्य एवं मूर्ति-निर्माण-कला के विकास को बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस विषय की सविस्तार समीक्षा हम आगे तांत्रिक उपासना की मीमांसा में करेंगे।

तीसरे इन सम्प्रदायों की उग्रता एवं वामाचार बहुत दिनों तक न चल सका। वैदिक शैवों के सम्पर्क से इनमें बड़ा परिशोध हुआ अथवा यों कहिये इनका सम्प्रदाय ही समाप्त हो गया। काश्मीर का शैव-मत (प्रत्यभिज्ञा-दर्शन) इस नैसर्गिक विकास एवं स्वाभाविक प्रतिक्रिया का जीता-जागता उदाहरण है। चौथे वैदिक देवोपासकों—चाहे वे वैष्णव

थे अथवा शैव—का देवालय-निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा एवं अर्चा-पद्धति के प्रति विशेष अभिनिवेश न था। उनके देवों का घर उन्हीं के घर का एक स्थान-विशेष था जो देवकुल, देवगृह के नाम से संकीर्तित किया जाता था। परन्तु इन तांत्रिक उपासकों के संसर्ग से उन्होंने भी इस दिशा में कदम उठाये और भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जो शिव-मन्दिरों की अविच्छिन्न निर्माण-परम्परा पनपी, उस पर तान्त्रिकों का ही विशेष प्रभाव है। पुराणों और आगमों ने नवीन हिन्दू-धर्म (पौराणिक-धर्म) को जीवित रखने के लिए मन्दिर-निर्माण पर जो इतना जोर दिया उससे भारतीय स्थापत्य निखर उठा।

उग्रार्चा अथवा वामाचार के इन उपर्युक्त सम्प्रदायों की समीक्षा के उपरान्त अब क्रमप्राप्त उदारार्चा अथवा विनीतार्चा (milder form के दो प्रमुख शैव-सम्प्रदायों की ओर चर्चा करनी है जिनमें क्रमप्राप्त काश्मीर-शैव-धर्म—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम प्राप्त है। परन्तु हम लिंगायतों अथवा वीर-शैवों पर पहले दृष्टि-पात करेंगे। काश्मीर-शैव-मत (Kasmira-Saivism) लेखक की दृष्टि में शैव-धर्म एवं शैव सम्प्रदायों का मुकुट-मणि है जिसमें भारतीय राष्ट्रीय दर्शन एवं धर्म — वेदान्त-दर्शन—अद्वैत-दर्शन एवं वैदिक-धर्म के उस प्रोज्ज्वल प्रकर्ष की प्रतिष्ठा हुई जो एक प्रकार से विकासवाद के सिद्धांतानुरूप एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। अतः उसको सिद्धांत-पक्ष के रूप में प्रकल्पित कर अन्त में ही उसका विवेचन विशेष अभीष्ट है।

लिङ्गायत (वीर-शैव)

शैव सम्प्रदायों में लिङ्गायत अथवा वीर-शैव एक विकट सम्प्रदाय है। इसकी विकटता का कारण इसकी वीरता है। वीरता की कथा यह है कि वैसे तो लिङ्गायत इस मत को बड़ा प्राचीन मानते हैं परन्तु वास्तव में इसको ऐतिहासिक संस्थापना अथवा प्रचार का श्रेय द्वादश-शतक-कालीन 'वसव' नामक ब्राह्मण को है जो कलचुरी-नरेश विज्जल का अमात्य माना जाता है। राजा और अमात्य में घोर सङ्घर्ष प्रादुर्भूत हुआ। वसव एवं वसवानुयायियों ने अपने धर्म (शैव) के प्रतीक लिङ्ग को उसे प्राणपण से बचाने के लिये बाहु, ग्रीवा अथवा शिर पर सदैव धारण करने का निश्चय किया। 'प्राण जायँ पर लिङ्ग न जाहीं' वाली कहावत चरितार्थ की। उन्होंने प्राणों से लिङ्ग की एकात्मता स्थापित की। लिङ्गायतों की दीक्षा-संस्कार में भी लिंग और प्राणों का तादात्म्य माना गया है।

वसव-पुराण जो पूना से १६०५ ई० में प्रकाशित हुई है उसमें इस सम्प्रदाय के नाना वृत्तांत एवं धर्म की विशद व्याख्या मिलती है। इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ।
मत वसव से बहुत प्राचीन है। वसव के पूर्व जिन पाँच महापुरुषों ने इस मत मत में
पना में योग दिया था उनके नाम रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकरोम दर्शन को प्रत्य-
तथा विश्वाराध्य हैं; जिन्होंने क्रमशः सोमेश्वर (कोल्लिपकी शिष्य (तथा लक्ष्मणगुप्त
(द्राक्षाराम-क्षेत्र), मल्लिकार्जुन (श्रीशैल) तथा विश्वेश्व महान् दार्शनिक ज्योति को
लिङ्ग-पीठों पर आविर्भूत होकर शैव-धर्म का प्रचार ज्वल प्रकाशित है। इनकी ईश्वर-
है कि इन शिवाचार्यों के नाम से सम्बन्धित ग्रन्थ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनके
विभिन्न प्रदेशों में पाये जाते हैं। इनकी संज्ञा सि शास्त्र का विश्वकोष माना है। अभिनव
ा ही साहित्य में भी। 'अभिनव-भारती'

इन पाँचों आचार्यों ने क्रमशः अपने-अपने मठ—'वीर' सिंहासन रम्भापुरी मैसूर में, 'सद्धर्म' सिंहासन उज्जयिनी में (यह उज्जयिनी आधुनिक मध्य-भारत का उज्जैन है कि मद्रास के वेलारी जिला में स्थित उज्जैन—यह विवादास्पद है), 'वैराग्य' सिंहासन केदारनाथ (हिमालय) के पास डावी मठ में, 'सूर्य' सिंहासन श्री शैल में तथा 'ज्ञान' सिंहासन काशी (जङ्गमवाड़ी-विश्वाराध्य महासंस्थान) में स्थापित किये।

वीर-शैवों (लिङ्गायतों) की तीसरी संज्ञा जङ्गम भी है। इनके आचार बड़े विलक्षण हैं। ये वर्णव्यवस्था नहीं मानते हैं। ये लोग शङ्कर की लिङ्गात्मक मूर्ति सदैव गले में लटकाये रहते हैं। शैव-सिद्धांत के २८ आगम इन्हें भी मान्य हैं। एकादश शतक-कालीन श्रीपति ने 'ब्रह्म-सूत्र' पर जो 'श्रीकर' भाष्य लिखा है उसमें इस मत की उपनिषन्मूलकता प्रदर्शित की है। श्री शिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धांतशिखामणि' वीर-शैवों का माननीय ग्रन्थ है। इनकी दार्शनिक दृष्टि विशेषाद्वैत अथवा शुद्ध द्वैताद्वैत मानी जाती है।

वीर-शैवों की सर्वप्रमुख विशेषता इनकी सङ्घ-स्थापन है जो सनातन वर्णाश्रम-व्यवस्था के सदृश एक दूसरी ही साम्प्रदायिक संस्था मानी जा सकती है। उच्च-वर्णीय लिंगायत अपने को लिंगी-ब्राह्मण कहते हैं अन्य इनके अनुयायी। लिंगि-ब्राह्मणों में भी दो वर्ण अथवा वर्ग हैं—आचार्य और पंचम। इनकी पुराण का प्रवचन है पांच मूलाचार्य भगवान् शिव के सद्योजात आदि पांच मुखों से प्रादुर्भूत हुए। इन्हीं आचार्यों से आगे की आचार्य परम्परा पल्लवित हुई। इन पांचों के पांच गोत्र भी थे—वीर, नन्दी, वृषभ, भृङ्गी तथा स्कन्द। शिव के ईशान मुख से जो गणेश्वर उदय हुआ वह भी पंचमुख था। इन्हीं पांचों मुखों से पांच पंचमों का प्रादुर्भाव माना जाता है—मखारि, कालरि, पुरारि, स्मरारि तथा वेदारि। इन मूल पंचमों से जो पंचम प्रादुर्भूत हुए वे उप-पंचम कहलाये। प्रत्येक पञ्चम का पञ्च मूलाचार्यों से सम्बन्ध स्थापित किया गया। आचार्य का गोत्र पञ्चम का गोत्र माना गया। पंचमों की भी ब्राह्मणादि वर्णों के अनुरूप गोत्र, प्रवर, शाखा आदि भी परिकल्पित हुई—इससे यह निष्कर्ष स्वतः सिद्ध है इन्होंने एक नया ही समाज चलाने की ठानी।

ब्राह्मणों के उपनयन-संस्कार के सदृश लिङ्गायतों का भी दीक्षा-संस्कार होता है परन्तु इनकी इस दीक्षा में गायत्री का स्थान 'ओं नमः शिवाय' तथा 'यज्ञोपवीत-धारण' का 'लिङ्ग धारण' ने ले लिया।

उ५ इस मत के प्रधान सिद्धान्त 'अष्टवर्ण' तथा 'षट्-स्थल' हैं। वर्ण-व्यवस्था का कुछ ऊपर दिया जा चुका है। 'षट्-स्थल' से तात्पर्य शैवागम-प्रतिपादित शैव-सिद्धान्तों दूर ...ोंने षट्स्थलों—भक्तस्थल, माहेश्वरस्थल, प्रासादिस्थल, प्राणलिंगिस्थल,
को बड़ा प्रोत्साहन प्रा... —में विभाजित कर रक्खा है।
की मीमांसा में करेंगे।

तीसरे इन सम्प्रदायों कत्यभिज्ञा-दर्शन)
वैदिक शैवों के सम्पर्क से इनमें बड़ ...रूपरेखा पर हमने दृष्टिपात किया वे सभी द्वैतपरक थे।
समाप्त हो गया। काश्मीर का शैव-मत (. तन्त्रालोक की टीका में इस दर्शन के आविर्भाव के
विक प्रतिक्रिया का जीता-जागता उदाहर

सम्बन्ध में यह सूचना मिलती है कि परम शिव ने अपने पञ्चमुखों से उत्पन्न शिवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत-सिद्धान्त के प्रचार के लिये इस प्रत्यभिज्ञा-तंत्र का आविर्भाव किया तथा दुर्वासा ऋषि को इस शैव-शासन के प्रचारार्थ नियुक्त किया। दुर्वासा ने त्र्यम्बक, आमर्दक तथा श्रीनाथ नामक मानस-पुत्रों को उत्पन्न कर क्रमशः अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत दर्शनों का उपदेश दिया। त्र्यम्बक इस अद्वैत-दर्शन के संस्थापक बने। सोमानन्द ने, जिनको इस प्रत्यभिज्ञा-शैवदर्शन का प्रतिष्ठापक माना जाता है, अपने को त्र्यम्बक से १६वीं पीढ़ी में बतलाते हैं। सोमानन्द का समय ८५० ई० है। अतः यदि प्रत्येक पीढ़ी को २५, ३० वर्ष रक्खें तो इस मत के आविर्भाव का समय ईशवीयोत्तर तृतीयशतक तथा पंचम शतक के बीच का हो सकता है।

काश्मीर शैव-दर्शन को 'प्रत्यभिज्ञा' या 'स्पन्द' के नाम से भी पुकारते हैं, परन्तु इसकी 'त्रिक' संज्ञा ही विशेष उपयुक्त है। वैसे तो यह मत भी सभी शैवागमों की प्रभुता मानता है परन्तु उनमें 'सिद्धा' 'नामक' तथा 'मालिनी' का त्रिक विशेष मान्य है। अथच इस मत में पर, अपर, परापर के 'त्रिक' की परम्परा पर प्रमुख प्रश्रय है। शिव-शक्ति के संयोग का नाम पर है। शिव, शक्ति एवं नर के संयोग को अपर कहते हैं। परा, अपरा, एवं परापरा शक्तियों के संयोग का प्रतिनिधित्व परापर करता है। अथच इस मत में धर्म, (Religion) दर्शन (Metaphysix) एवं विज्ञान (epistemology) तीनों का समन्वय है। अतः ज्ञान के तीन अधिकरणों (aspects) अभेद, भेद, भेदाभेद के त्रिक के अभेद-वाद में समन्वय से भी इसकी संज्ञा 'त्रिक' ही विशेष उपयुक्त है। इसी 'त्रिक' संज्ञा के अनुरूप इसका दूसरा नाम 'षडर्ध' भी है।

त्रिक के मूल प्रवर्तक अष्टमशतक-कालीन आचार्य वसुगुप्त माने जाते हैं। इनकी प्रवर्तना का एक रोचकमय इतिहास है। क्षेमराज (देखो शिव-सूत्र-विमर्शिणी) ने लिखा है कि भगवान् श्रीकण्ठ ने स्वयं वसुगुप्त को स्वप्न में महादेवगिरि के एक विशाल शिला-खण्ड पर उल्लिखित 'शिव-सूत्रों' के उद्धारार्थ एवं प्रचारार्थ प्रेरणा प्रदान की। जिस बृहती शिला पर ये शिव-सूत्र उट्टङ्कित मिले थे उसे आज भी वहाँ के लोग शिव-पल (शिवोपल—शिवशिला) के नाम से पुकारते हैं। इन सूत्रों की संख्या ७७ है जो इस दर्शन के मूलाधार हैं। वसुगुप्त ने स्पन्द-कारिका (जिनकी संख्या ५२ है) में इन्हीं शिव सूत्रों के सिद्धांतों का विशदीकरण किया। वसुगुप्त के दो शिष्यों—कल्लट तथा सोमानन्द ने क्रमशः स्पन्द-सिद्धांत तथा प्रत्यभिज्ञा-मत का प्रतिष्ठापन एवं प्रचार किया। सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य ने 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' लिख कर इस मत में प्रत्यभिज्ञा-मत की प्रतिष्ठापना की और इसी से इस काश्मीर-शैव-धर्म एवं दर्शन को प्रत्यभिज्ञा शाखा (School) के नाम से पुकारा जाता है। उत्पल के प्रशिष्य (तथा लक्ष्मणगुप्त के शिष्य) महामाहेश्वर अभिनवगुप्त ने इस परम्परा में उस महान् दार्शनिक ज्योति को बिखेरा जिसके दिव्यालोक से आज भी यह मत प्रोज्ज्वल प्रकाशित है। इनकी ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी इस मत का अत्यन्त अधिकृत एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनके तंत्रालोक को आचार्य बलदेव उपाध्याय ने मंत्र शास्त्र का विश्वकोष माना है। अभिनव गुप्त का शैव-दर्शन के क्षेत्र में जैसा आदर है वैसा ही साहित्य में भी। 'अभिनव-भारती'

तथा 'ध्वन्यालोक-लोचन' से इनका नाम सदा के लिये अमर हो गया है। अभिनव-गुप्त को साहित्य एवं दर्शन में सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित करने का श्रेय है। सर्वतन्त्र-स्वतंत्र अभिनव-गुप्त एक अलौकिक महापुरुष थे। अर्ध-त्र्यम्बक मत के प्रधान आचार्य शम्भूनाथ के भी ये अनुयायी थे एवं मत्स्येन्द्रनाथ-सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय को अभिनव-गुप्त पर प्रौढ़ अनुसन्धान करने का श्रेय है।

सरल ढंग से प्रत्यभिज्ञामत का निम्न सारांश है। सत्ता एवं सत्य के साक्षात्कार की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में निहित है। परमात्मा या परमेश्वर सच्चिदानन्द—सनातन, सर्वव्यापक, सर्वस्वाधीन है। जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। जीवात्मा 'माया' मल (अंधकार) से आवृत रहता है। गुरु की सहायता से जिसने इस अंधकार को दूर कर अपने में सच्चिदानन्दघन परमेश्वर को पहिचान लेता है, वही ज्ञानी और मुक्त है। इसी पहिचान का नाम 'प्रत्यभिज्ञा' है। प्रत्यभिज्ञा-मत की विभिन्न सिद्धान्त-शिक्षाओं (Categories) का विशेष विस्तार यहाँ पर अभीष्ट नहीं हैं।

अब तक हम शैव-धर्म की जिस सरल समीक्षा का प्रयत्न करते रहे उसमें धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण के साथ-साथ सांस्कृतिक दृष्टिकोण ही प्रधान रहा परन्तु शैव-धर्म के पूर्ण मूल्याङ्कन के लिये शैव-दर्शन की विभिन्न धाराओं के स्रोतों एवं उनके कूलों पर विकसित विभिन्न शैव-दर्शन के मतमठों का दर्शन भी आवश्यक है। विस्तार-भय से एवं प्रसङ्ग की अनुकूलता के अभाव में हम यहाँ पर शैव-दर्शन की विभिन्न धाराओं में अवगाहन नहीं कर सकते। परन्तु इतना सूचित करना प्रासङ्गिक ही है कि इस दर्शन की निम्नलिखित आठ परम्परायें प्रमुख हैं जिनका उदय उपर्युक्त शैव-धर्म के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अभ्यन्तर ही सम्पन्न हुआ :—

१. पाशुपत-द्वैतवाद

२. सिद्धान्तशैव-द्वैतवाद

३. लकुलीश-पाशुपत-द्वैताद्वैतवाद

४. विशिष्टाद्वैतवाद

५. वीर-शैवों का विशेषाद्वैतवाद

६. नन्दिकेश्वर का शैव-दर्शन

७. रसेश्वर-शैव-दर्शन

८. काश्मीर का अद्वैत-शैव-दर्शन

टि०:—इस सब शैव-दर्शनों की सुन्दर समीक्षा के लिये डा० कान्तिचन्द पाण्डेय की Bhaskari vol. III—An outine of History of Saiva philosophy—विशेष द्रष्टव्य है।

७

अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक

शाक्त, गाणपत्य एवं सौर धर्म

तंत्र

शाक्त-धर्म को समझने के लिये तंत्र, तान्त्रिक भाव तथा तान्त्रिक आचार समझना आवश्यक है। भागवत-पुराण (एकादश० २७, ७) वैदिकी, तान्त्रिकी तथा मिश्री, (वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः इति त्रिविधो मखः) जिस त्रिविधा पूजा-परम्परा का संकेत करता है उसमें तान्त्रिकी पूजा भी वैदिकी पूजा के समान एक प्रतिष्ठित एवं मान्य संस्था प्राचीन काल से परिकल्पित है। वैदिकी पूजा की ही पृष्ठ-भूमि पर स्मार्त एवं पौराणिक पूजा-पद्धतियों का विकास हुआ। तान्त्रिकों की परम्परा में आगमिक पूजा-पद्धति भी गतार्थ है। अतः आगम एवं निगम जो सनातन से इस देश में समस्त ज्ञान, कर्म, उपासना के महा स्रोत समझे जाते रहे उनमें तान्त्रिक-परम्परा भी देश, काल, समाज एवं मानव-संस्कृति के नाना घटकों से प्रभावित हो कर यदि प्रबल प्रकर्ष को प्राप्त हुई तो इसमें आश्चर्य ही क्या? तन्त्रों के सम्बन्ध में जो अनेक भ्रम एवं कुत्सित धारणायें फैली हुई हैं उनसे तन्त्रों की परम्परा का दोष नहीं वरन् उन तान्त्रिकों का दोष है जो बिना महती आस्था एवं योग के ही तान्त्रिक बन भ्रष्टाचार के उन्नायक बने।

'तन्त्र' शब्द 'शास्त्र' का बोधक। वह शास्त्र के ज्ञान का विस्तार करता है (तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्) और साधकों का त्राण (रक्षा) भी करता है। 'तन्त्र' की इस व्युत्पत्ति में कामिकागम का निम्न प्रवचन द्रष्टव्य हैः—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

विभिन्न दर्शनों की 'संज्ञा' तन्त्र से दी गयी है। शंकराचार्य ने सांख्य को तन्त्र के नाम से पुकारा है (शा० भा० २, १, १)। महाभारत की भी यही परम्परा है। परन्तु यहाँ पर 'तन्त्र' से अभिप्राय उस धार्मिक साहित्य से है जो यंत्रमंत्रादिसमन्वित एक विशिष्ट साधन-मार्ग का उपदेश देता है। इस प्रकार 'तन्त्रों' का दूसरा नाम 'आगम है।

आगम

आगम की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र (दे० तत्ववैशारदी १, ७) का यह प्रवचन आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः—अत्यन्त सार्थक है। उपासना, कर्म और ज्ञान के स्वरूप को निगम-वेद बतलाते हैं, जैसा कि ऋग्वेद की ऋचाओं के प्रार्थना-मन्त्रों से उपासन, यजुर्वेद एवं ब्राह्मणादि ग्रंथों से कर्म (यज्ञ) तथा आरण्यकों एवं उपनिषदों से ज्ञान की परम्परा को हम पूर्णरूप से समझते ही हैं। उसी प्रकार इनके साधनभूत उपायों का आगम उपदेश करता है।

आगमों की धर्मिक परम्परा एक प्रकार से वैदिक, स्मार्त एवं पौराणिक परम्पराओं की विभिन्न धाराओं के प्रबल प्रवाह का वह अवसान अथवा परम अभ्युदय (highest culmination) है जो सागर के साथ सरिताओं के सम्मिलन के रूपक की रंजना करता है। आगम-समुद्र में बिना मंथन उपाय-रत्न नहीं मिल सकते। साधारण साधकों को खारी जल के अतिरिक्त क्या मिल सकता है? इसी ऊपरी खारी जल ने आगमों एवं तन्त्रों के महासागर को 'अपेय' कर रक्खा है। 'कुलार्णव' तंत्र कलियुग में (आजकल के लिये) तो तान्त्रिकी उपासना ही परमोयोगिनी मानता है:—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसंभवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसंमतः॥

अर्थात् सत्ययुग में श्रौताचार का (श्रुति-वेद-विहित), त्रेता में स्मार्त (स्मृतियों में प्रतिपादित) आचार का, द्वापर में पुराणों के द्वारा प्रचारित आचार का और कलियुग में आगमों के द्वारा आदिष्ट मार्ग का विशेष महत्व है। महानिर्वाण तंत्र के अनुसार कलियुग में मेध्यामेध्य के विचार से हीन मानव-समाज के कल्याणार्थ भगवान् शंकर ने तंत्रों का स्वयं उपदेश दिया। अतः कलियुग में आगमिक उपासना से ही मानवों को सिद्धि प्राप्त होती है। तंत्रों में देवता-विषयक मन्त्रों को यंत्र में संयोजित कर देवता के ध्यान एवं उपासना के पञ्चाङ्ग—पटल, पद्धति, कवच, नाम-सहस्र और स्तोत्र की व्यवस्था परमोपजीव्य है। वाराही-तन्त्र के निम्न प्रवचन से उन ग्रंथों को आगम कहते हैं जो सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शांति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण), साधन तथा ध्यानयोग इन सात लक्षण से युक्त होते हैं:—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः॥

अतः तन्त्रों की विशेषता क्रिया ही परमोपजीव्या है। वैदिक-ज्ञान का क्रियात्मकरूप या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है। यद्यपि तन्त्र (आगम) वेदानुकूल एवं वेदबाह्य दोनों प्रकार के कहे गये हैं परन्तु वेदबाह्यता का कारण तन्त्रों का वामाचार है जिस पर पीछे संकेत किया जा चुका है, वह अनार्य घटक है।

तन्त्रों की प्रामाणिकता में मनुस्मृति-टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने हारीत ऋषि का एक प्रवचन 'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च' दिया है। श्रीकण्ठाचार्य (दे० ब्रह्मसूत्र का शैव भाष्य) ने भी तंत्रों की वेदवत प्रामाणिकता मानी है। तन्त्रों के तीन प्रधान विभाग हैं—ब्राह्मण-तंत्र, बौद्ध-तंत्र तथा जैन-तंत्र। ब्राह्मणतंत्र सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव, शाक्त—पाँच प्रकार के हैं। इनमें वैष्णव एवं शैव तंत्रों पर हम पीछे संकेत कर आये हैं। शाक्त-तंत्र गाणपत्य एवं सौर इस अध्याय के विषय हैं—शेष आगे विवृत होंगे।

शाक्त-तन्त्र

शाक्तों की विशुद्ध विचारधारा में अद्वैतवाद का ही निर्मल एवं निर्विकार जल है। शाक्तधर्म का ध्येय जीवात्मा के साथ अभेद-सिद्धि है। अर्च्य एवं अर्चक का तादात्म्य—देवो भूत्वा यजेद् देवम्—शाक्तों का प्रथम सोपान है। शाक्त धर्म एवं दर्शन में परम तत्त्व जो मातृरूप में स्वीकृत किया गया है उसका आधार ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त (१०.१२५) में परब्रह्मस्वरूपा वाग्देवी के रूप में परिकल्पित है।

तान्त्रिक भाव तथा आचार

शाक्त मत में तीन भाव तथा सात आचार हैं। भाव आभ्यन्तरिक मानसिक अवस्था तथा आचार बाह्याचरण को कहते हैं। पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्यभाव तीन भाव हैं। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार—सात आचार हैं। इन आचारों में समस्त भारतीय धर्म एवं उपासना की सुन्दर झाँकी दिखाई पड़ती है। अतः शाक्तमत की व्यापकता का रहस्य हम समझ सकते हैं। पशुभाव से तात्पर्य उन मूढ़ जीवों की मानसिक अवस्था से है जिनमें अद्वैत-ज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ। संसार-मोह में सदैव आसक्त जीव 'अधम पशु' तथा सत्कर्म-परायण 'उत्तम-पशु' कहलाता है। 'वीर' के लिये उपाध्याय जी लिखते हैं (दे०आ०सं०मू० पृ० ३०६) जो मानव अद्वैतज्ञानरूपी अमृतह्रद की कणिकामात्र का भी आस्वादन कर अज्ञान-रज्जु के काटने में कुछ मात्रा में भी कृतकार्य होते हैं, वे 'वीर' कहलाते हैं। 'दिव्य' साधक उपास्यदेव की सत्ता में स्वीय सत्ता को डुबाकर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं।

इन सातों आचारों में प्रथम चार आचार अर्थात् वेद, वैष्णव शैव तथा दक्षिण पशुओं के लिये विहित हैं। वामाचार एवं सिद्धान्ताचार वीरों के लिये एवं अन्तिम कौलाचार (सर्वश्रेष्ठ आचार) कौलों के लिये कहे गये हैं।

कौल

कौलों एवं कौलाचार से क्या अभिप्राय है? पूर्ण-अद्वैत-भावना-भावित दिव्य साधक कौल कहलाता है। उपाध्याय जी (पृ० ३१०) कुल शब्द की व्युत्पत्ति में कतिपय ग्रन्थों के निर्देशानुसार लिखते हैं: "कौलाचार का रहस्य नितान्त निगूढ़ है। भास्कर राय ने 'कुल' शब्द के अनेक अर्थ बतलाये हैं। 'कुलामृतैकरसिका' शब्द के 'सौभाग्य-भास्कर' भाष्य में भास्कर राय ने लिखा है—कुलं सजातीय-समूहः, स च एक विज्ञानविषयत्वरूप–साजात्यापन्न-ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञानरुपत्रयात्मकः। ततः सा त्रिपुटी कुलम्—इस अर्थ में कालिदासकृत 'चिद्गगन-चन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—मेयमातृमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्—अर्थात् जिस साधक की अद्वैत-भावना पूर्ण तथा विशुद्ध है वही वास्तविक कौलपद वाच्य है। तभी तो उसे कर्दम तथा चन्दन में, शत्रु तथा प्रिय में, श्मशान तथा भवन में, काञ्चन तथा तृण में, तनिक भी भेद-बुद्धि नहीं रहती।" भावचूडा-मणि तंत्र का निम्न प्रवचन सुनिये:—

कर्दमे चन्दने मित्रे पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि! तथैव काञ्चने तृणे।
न भेदो यस्य देवेशि! स कौलः परिकीर्तितः॥

यह कौल-साधना वेदागम-महोदधि का सार बतलाई गयी है। कौल भीतर से शाक्त, बाहर से शैव, सभा में वैष्णव बताये गये हैं :

अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥

कौल सम्प्रदाय

कौलों के विभिन्न सम्प्रदायों का पता चलता है; (विशेष द्रष्टव्य के लिये दे० आ० सं० मू० २११) परन्तु उन सब का यहाँ पर संकीर्तन आवश्यक नहीं। हाँ इतना सूचित करना आवश्यक है कि इतिहास और परम्परा में प्रसिद्ध, प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में अत्यन्त प्रसिद्ध सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ का सम्बन्ध 'योगिनी-कौल' सम्प्रदाय से सिद्ध होता है जिसकी उत्पत्ति कामरूप में हुई (कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे)। अतः 'नाथ सम्प्रदाय' का सम्बन्ध कौल-मत से असन्दिग्ध है। गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) आदि हठयोगी भी कौल थे — यह भी पुष्ट होता है।

कुलाचार

तान्त्रिक आचार-मार्ग में कौलाचार एवं समयाचार दो प्रधान मार्ग हैं। कुल शब्द का अर्थ मूलाधार-चक्र (कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यस्मिन् तदाधारचक्रं कुलम्) जिसकी त्रिकोण या योनि भी अन्यतम संज्ञा है। आधार-चक्र या योनि की प्रत्यक्षरूपेण पूजा करने वाले तान्त्रिक कौल कहलाते और केवल भावना करने वाले समयमार्गी। तान्त्रिकों की पूजा में 'पञ्चतत्त्व' साधना एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण विषय है। इसमें मकारादि पञ्चवस्तुओं की गणना है—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन। समयमार्ग में इन पांचों का प्रत्यक्ष सेवन न होकर इनका अनुकल्प विहित है परन्तु कौल मत में ऐसा नहीं। कौलों के दो मतों का उल्लेख है—पूर्वकौल तथा उत्तरकौल। पूर्वकौल 'श्रीचक्र' के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं, परन्तु उत्तरकौल सुन्दर तरुणी की प्रत्यक्ष योनि के पूजक हैं, तथा अन्य मकारों—मांस, मद्य आदि का भी प्रयोग करते हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि कौलों का आचार अनार्य है। इन पर तिब्बती तंत्रों का प्रभाव विशेष है। कौलाचार का मुख्य केन्द्र कामाख्या है जो आसाम में स्थित है। महाचीन तिब्बत से पञ्च-मकार-विशिष्ट पूजा का प्रचार वशिष्ठ के द्वारा किया गया—ऐसा लोगों का कथन है।

कौलों के प्रधान तन्त्र कुलार्णव में तो मद्यमांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की बड़ी कड़ी निन्दा है। विशुद्ध कौल-सम्प्रदाय उदात्त सिद्धांतों पर स्थापित है। कौल वह है जो शक्ति को शिव के साथ मिलाने में समर्थ होता है। कुल का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और

अकुल का अर्थ है शिव। जो साधक योग-क्रिया से कुण्डलिनी का अभ्युत्थान कर सहस्रधार में स्थित शिव के साथ सम्मेलन कराता है वही कौल है:—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौल इत्यभिधीयते॥

इसी प्रकार से मद्यमांसादि की भी अध्यात्मपरक व्याख्यायें दी गयी हैं (विशेष द्रष्टव्य आ० सं० सू० ३१४—१६)।

समयाचार

कौलाचार के अतिरिक्त एक अन्य तांत्रिक आचार विशेष प्रसिद्ध है जो समयाचार के नाम से विख्यात है। ये लोग श्री-विद्या के उपासक हैं। आचार्य शंकर को इसका अनुयायी बताया जाता है। शाक्तों की आध्यात्मिक कल्पना पर कुलार्णव (१, ६, १०) का प्रवचन है कि परब्रह्म, निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयं-ज्योतिः, आद्यन्तरहित, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है। अतः तांत्रिक समयमार्ग में अन्तर्याग की ही प्रधानता है। समय का अर्थ है:—"दहराकाशावकाशे चक्रं विभाव्य तत्र पूजादिकं समय इति रूढ्या उच्यते"— इस प्रवचन से हृदयाकाश में चक्र की भावना कर पूजा-विधान या शक्ति के साथ अधिष्ठान अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूप भेद से पञ्च प्रकार के साम्य धारण करने वाले शिव (शिव-शक्ति-सामरस्य)-साधक समयी कहलाते हैं। समयाचार में मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर स्वाधिष्ठानादि चक्रों से होकर सहस्रधार-चक्र में विराजमान सदाशिव के साथ संयोग करा देना प्रधान आचार है। समयाचार वास्तव में बड़ा गूढ़ है। वैसे तो कतिपय समय-मार्गियों ने कौलों की बड़ी निन्दा की है परन्तु उपाध्याय जी का कथन है (पृ० ३११) साधन के रहस्यवेत्ता विद्वज्जनों की सम्मति में आरम्भ में दोनों मार्गों में अन्तर होने पर भी अन्ततः दोनों में नितांत घनिष्ठता है। जो परम कौल है वही सच्चा समयमार्गी है। यही मंत्र-शास्त्र का यथार्थ तात्त्विक सिद्धांत है।

शाक्ततन्त्र की व्यापकता

शाक्त-तन्त्रों की बहुत बड़ी संख्या है। इनके विपुल साहित्यिक विस्तार से इनके आधिपत्य एवं प्रचार पर प्रकाश पड़ता है। गुण, देश, काल, आम्नाय आदि की विभिन्नता से तन्त्रों (आगमों) के अनेक भेद-प्रभेद हैं। सात्विक आगमों को 'तन्त्र' राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं। भगवान् शंकर के मुखपञ्चक से प्रादुर्भूत होने के कारण आगमों के प्रधानतया पाँच आम्नाय—पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय तथा ऊर्ध्वाम्नाय—प्रसिद्ध हैं। एक छठा आम्नाय 'अधाम्नाय' के नाम से भी संकेतित है जो निम्नतर गुप्त मुख से उत्पन्न माना जाता है। इन आम्नायों के पृथक्-पृथक् प्रतिपाद्य प्रधान विषय हैं—सृष्टि, स्थिति, भक्ति, ज्ञान एवं कर्म। इस संकेत से यह निष्कर्ष निकलता है—भारतीय संस्कृति की दो प्रधान परम्पराय पौराणिक एवं आगमिक वैष्णव एवं शैव परम्परायें हैं जिनका प्रधान केन्द्र क्रमशः उत्तरापथ और दक्षिणापथ रहा।

शाक्तों की भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारत तथा एशिया महाद्वीप शाक्तमत का सनातन से क्षेत्र रहा। विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता एवं अश्वक्रान्ता की कल्पना से यह भौगोलिक व्यापकता गतार्थ है। उपाध्याय जी लिखते हैं "भारत का उत्तर-पूर्वीय प्रदेश विन्ध्य से लेकर चित्तल (चट्टग्राम) तक 'विष्णुक्रान्ता' कहलाता है। उत्तर-पश्चिमीय भाग 'रथक्रान्ता' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें विन्ध्य से लेकर महाचीन (तिब्बत) तक के देश अन्तर्भुक्त माने जाते हैं। तृतीय भाग 'अश्वक्रान्ता' के विषय में कुछ मतभेद है। 'शाक्तमंगल' तन्त्र के अनुसार विन्ध्य से लेकर दक्षिण समुद्र-पर्यन्त के समस्त प्रदेश की तथा 'महासिद्धि-सार' के अनुसार करतोया नदी से लेकर जावा तक के समग्र देशों की गणना 'अश्वक्रान्ता' में की जाती है। इन तीनों क्रान्ताओं में ६४ प्रकार के तन्त्र प्रचलित बतलाये जाते हैं। शाक्त-पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं काश्मीर, काञ्ची, और कामाख्या। इनमें प्रथम दोनों स्थान 'श्रीविद्या' के केन्द्र थे और कामाख्या कौलमत का मुख्य स्थान आज भी है। कामाख्या में अनार्य तिब्बती तन्त्रों के विशेष प्रभाव पड़ने के कारण पञ्च तत्त्वों का इतने उग्ररूप में प्रचार दृष्टिगोचर होता है। इस त्रिकोण का मध्य बिन्दु काशी है जिसमें इन सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है"—पृ० ३३७।

शाक्त-तन्त्र की वैदिक पृष्ठ-भूमि

शाक्ततंत्र का सम्बन्ध अथर्ववेद के सौभाग्य-काण्ड के साथ माना जाता है। कौल-त्रिपुरामहोपनिषद्, भावना, बह्वृच, अरुणोपनिषद्, अद्वैतभावना, कालिका और तारा आदि शाक्तमत की प्रतिपादिका उपनिषदें यजुर्वेद एवं ऋग्वेद से सम्बन्धित बतायी जाती हैं।

शाक्त-तन्त्रों की परम्परा

लक्ष्मीधर (दे० शंकराचार्य की सौंदर्यलहरी पद्य ३१ 'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनम्' की टीका) ने शाक्तमत के तीनों मार्गों—'कौल', 'समय' तथा 'मिश्र' के विभिन्न अधिकृत तंत्रों का परिचय दिया है। कौलों के महामाया, शम्बर, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल, आदि तंत्रों की संख्या चौंसठ है। समय-मत का मूल-ग्रंथ 'शुभागम-पञ्चक' कहलाता है जिसमें वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन एवं सनत्कुमार द्वारा विरचित पंच संहिताओं की गणना है। मिश्र मार्ग के आठ प्रकार के तन्त्र—चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य तथा दूर्वासामत—हैं। इनमें उच्च ब्रह्मविद्या के साथ साथ लौकिक अभ्युदय का भी प्रतिपादन है। अतः कौल एवं समय उभयमार्गों के मिश्रण से यह मार्ग 'मिश्र' कहा गया है।

शाक्तों का अर्च्य

वैसे तो अर्चा-परम्परा का साक्षात्सम्बन्ध सगुण-ब्रह्म से है। सगुणोपासना में शैव शिव को एवं वैष्णव विष्णु को प्रधान रूप से पूजते हैं। परन्तु शाक्तों की विलक्षणता यह है कि इन्होंने परम ब्रह्म की निर्गुण एवं सगुण दोनों प्रकार की उपासना का 'शक्ति' देवी में समन्वित कर अपनी पूजा-परम्परा का पल्लवन किया। सांस्कृतिक दृष्टि से, जैसा कि

ऊपर की तांत्रिक समीक्षा से प्रकट है, शाक्त-पूजा परम्परा निर्गुण-सगुण-समन्वित उस विकसित उपासना-मार्ग की परिचायिका है, जिसने निखिल वैदिक पौराणिक एवं आगमिक उपासना-परम्पराओं की मिश्रित-मन्दाकिनी का प्रवहण किया। शाक्तों की देवी (शक्ति-देवी) के बिना ब्रह्माण्ड का विधाता ब्रह्म बेकार है। यह देवी उस विश्वव्यापिनी समस्त शक्ति का प्रतीक है जो अणु एवं परमाणु से लगाकर समस्त स्थावर-जंगमात्मक सृष्टि में व्याप्त है। मानव की कुण्डलिनी शक्ति के विकास में ही परम शिव की प्राप्ति निहित है। यह विकास योगशास्त्र में प्रतिपादित अष्टाङ्ग-मार्गिक योगाभ्यास से प्राप्त होता है।

साध्य (शक्ति-तत्व) की प्राप्ति में संकेतित योगाभ्यास का साधन शाक्त-पूजा-परम्परा में श्रीचक्र की उपासना का ही प्रतीक है। चक्रों एवं यंत्रों की उपासना शक्त-धर्म की विशिष्टता है। यंत्रों में सर्वाधिक प्रसिद्ध यंत्र श्रीचक्र है जिसका रेखा-चित्र परिशिष्ट में द्रष्टव्य है। दक्षिण के शक्ति-पीठों के नाम से प्रख्यात प्रासादों (मंदिरों) में शक्ति-पीठों की जो पूजा प्रचलित है उनके अभ्यन्तर 'श्रीचक्र' उट्टङ्कित रहता है।

शाक्तों की देवी के उदय का ऐतिहासिक विहंगावलोकन

वैदिक वाङ्मय के परिशीलन से रुद्राणी, भवानी आदि देवियाँ रुद्र-शिव की पत्नियों में परिकल्पित की गई हैं। हैमवती उमा की भी यही गाथा है। महाभारत (दे० भीष्मपर्व अ० २३) की 'दुर्गास्तुति' शक्ति पूजा अथवा देवी-पूजा का प्रथम शास्त्रीय निर्देश है। कृष्ण के आदेश से अर्जुन ने महाभारत-युद्ध में विजयार्थ दुर्गास्तुति की। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय दुर्गास्तुति में जिन-जिन नामों से भगवती का स्मरण किया गया है, उनमें कुमारी, काली, कापाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, विजया, कौशिकी, उमा, कान्तारवासिनी उल्लेख्य हैं। महाभारत एवं हरिवंश की दूसरी दुर्गास्तुति में दुर्गा को महिषमर्दिनी, मधुमांसादि-भक्षिणी, नारायणप्रियतमा, वासुदेवभगिनी, विन्ध्यवासिनी के साथ साथ उस आख्यान पर भी इंगित है जिसमें यशोदा की लड़की को कंस ने पत्थर पर जब पटक दिया तो वह देवी-रूप धारण कर स्वर्ग चली गयी थी। विष्णु ने जब पाताल में शयनार्थ प्रवेश किया तो निद्राकालरूपिणी से यशोदा गर्भ से जन्म लेने के लिये आदेश दिया तथा यह भी कहा कि वह कौशिकी नाम से विन्ध्याद्रि पर अपना निवास बनायेगी, और वहाँ पर शुम्भ एवं निशुम्भ दैत्यों का संहार करेगी। हरिवंश में एक और आर्या (दुर्गा)-स्तुति है जिसमें दुर्गा को शबरों, पुलिन्दों, बबरों की देवी कहा गया है। मार्कण्डेय-पुराण (अ० ८२) में महिषमर्दिनी के उदय में शैव, वैष्णव एवं ब्राह्म उग्रतेज का वर्णन है। देवगण जब शुम्भ और निशुम्भ से पीड़ित हुए तो हिमालय गये और देवी-स्तुति प्रारम्भ की तो पार्वती से अम्बिका उत्पन्न हुई। उसकी कौशिकी संज्ञा का मर्म पार्वती के कोश (देह) से उत्पत्ति के कारण दी गयी। चूँकि अम्बिका कृष्णवर्णा लेकर उत्पन्न हुई अतः उसका काली नाम हुआ। चण्ड-मुण्ड के विनाश करने के उपरान्त यह अम्बिका जब पुनः पार्वती के पास गयी तो पार्वती ने इसका दूसरा नाम चामुण्डा रक्खा। अथच प्रमुख सप्त देवों—ब्रह्मा, महेश्वर, कुमार, विष्णु वराह, नृसिंह तथा इन्द्र की विभूतियों से उत्पन्ना यह देवी ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही तथा

ऐन्द्री कहलाई। देवी ने देवों को सन्तोष देते हुए कहा कि वैवस्वत मनु के समय वह पुनः विंध्यवासिनी के रूप में अवतीर्ण होकर शुम्भ-निशुम्भ का संहार करेगी। साथ ही साथ नन्दा, शाकम्भरी, भीमा, भ्रामरी आदि अन्य रूपों में अवतीर्ण होने का भी अपना संकल्प बता गयी।

ऐतिहासिक तथ्य के अनुरूप भगवती दुर्गा के उदय में निम्नलिखित पाँच परम्पराओं का आभास प्राप्त होता है:—

१. उमा—शिव-पत्नी —उमा हैमवती पार्वती इसलिये कहलाई क्योंकि शिव भी तो गिरीश थे।

२. पर्वतवासी अनार्यों की देवियों के साथ सम्मिश्रण—अतः विन्ध्यवासिनी। शतरुद्रिय में जिस प्रकार रुद्र का शवरों, पुलिन्दों के साथ साहचर्य हम देख चुके हैं उसी के अनुरूप शिवरुद्र-पत्नी का यह साहचर्य अनार्य-घटक है एवं रुद्रानुरूप। अतएव काली, कराली, चण्डी, चामुण्डा आदि नाम संगत होते हैं।

३. शक्ति-भावना से विभिन्न देवों के शक्ति-पुञ्ज से प्रादुर्भूत ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि रूपों का आविर्भाव।

४. परिवार-देवता— कात्यायनी, कौशिकी आदि नामों में कात्य, कुशिक आदि परिवारों एवं वंशों का इंगित स्पष्ट है।

५. शाक्तों की शक्ति-उपासना—जिसके तीन सोपान—सामान्य देवी-पूजा, विकराल-देवी-पूजा (कापालिकों एवं कालमुखों की काली-पूजा) तथा संमोहन रूप त्रैलोक्य-सुन्दरी ललिता आदि की पूजा।

शाक्तों की देवी का विराट् स्वरूप

ऊपर हमने 'देवी' के पंचम प्रकर्ष में शाक्त की देवी-पूजा की जो तीन परम्परायें लिखी हैं, उनमें प्रथम के बीज मार्कण्डेय-पुराण में निर्दिष्ट शक्ति के विराट् स्वरूप में निहित है। मार्कण्डेय-पुराण का प्रवचन है कि प्रकृति के राजस, सात्त्विक तथा तामस गुणों के अनुरूप अध्यक्षा—गुप्त-रूपी देवी (शक्ति) लक्ष्मी, सरस्वती तथा महाकाली के रूप में आविर्भूत होती है। ये ही तीनों शक्तियाँ जगत की सृष्टि, रक्षण एवं प्रलय के कारण हैं और ये ही अपने लीला व्यापार में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की रचना कर अपने सहायक के रूप में लेती हैं।

देवी-माहात्म्य (मार्कण्डेय-पुराण) के अनुसार यह अखिलाधारा देवी सृष्टि के प्रारम्भ में महाकाली के नाम से संकीर्तित होती है जो ब्रह्मा को सृष्टि-रचना के लिये प्रेरित करती है। वही प्रलय के समय महामारी के रूप में अवतीर्ण होती है। ऐश्वर्य एव सम्पदाओं की प्रदात्री यह शक्ति लक्ष्मी के नाम से विश्रुत है। संहाररूपा यह देवी अलक्ष्मी या ज्येष्ठा देवीके नाम से भी विश्रुत है। इसी पुराण के अनुसार विश्व के आधारभूत अखिल देवों एवं देवियों का आविर्माव महालक्ष्मी (परम तत्व) से सम्पन्न होता है। सृष्टि के उदय में महालक्ष्मी की आज्ञा से कृष्ण-वर्णा महाकाली (महामाया, महामारी, क्षुधा, तृषा, निद्रा तृष्णा, एकवीरा,

कालरात्रि, दुरत्यया आदि नामों से संकीर्तित) अपने आपको दो रूपों में विभाजित करती है--एक पुरुष-रूप (जो नीलकण्ठ, रक्तबाहु, श्वेताङ्ग, चन्द्रशेखर, रुद्र, शंकर, स्थाणु और त्रिलोचन के नाम से उपश्लोकित है) तथा दूसरा श्वेतवर्ण स्त्री-रूप (जो विद्या, भाषा, स्वरा, अक्षरा, कामधेनु के नामों से सम्बोधित है)। इसी प्रकार महादेवी का सात्विक रूप जो चन्द्र-ज्योत्स्ना की आभा के समान शोभित है और जो अक्षमाला, अंकुश, वीणा और पुस्तक धारण किये है वह भी महालक्ष्मी से ही आविर्भूत होता है। इस स्वरूप को महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, कामधेनु, वेदगर्भा, धी और ईश्वरी के नामों से बखाना गया है। महालक्ष्मी का यह स्वरूप भी महालक्ष्मी के आदेश से अपने को पुरुष एवं स्त्री रूप से द्विधा विभाजित करती है। पुरुष रूप स्वरूप विष्णु, कृष्ण, हृषीकेश, वासुदेव और जनार्दन के नाम से पुकारा जाता है और स्त्री-रूप उमा, गौरी, सती, चण्डी, सुन्दरी, सुभगा और शिवा के नाम से। महालक्ष्मी का राजस स्वरूप लक्ष्मी नाम से ही संकीर्तित है। उसके लांछनों में मातुलुंग फल, गदा, पात्र और खेटक के साथ-साथ एक ऐसा चिह्न भी परिकल्पित है जो स्त्री और पुरुष दोनों का चिह्न (लिङ्ग) है।

महाकाली कृष्णवर्णा, सरस्वती श्वेतवर्णा परन्तु महालक्ष्मी की यह अन्यतम विभूति लक्ष्मी स्वर्णवर्णा है। इसने भी अपने को पुरुष एवं स्त्री रूपों में द्विधा विभाजित कर लिया। पुरुष-रूप हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, विधि, विरञ्चि और धाता के नामों से प्रख्यात हुआ और स्त्रीरूप श्री, पद्मा, कमला, लक्ष्मी के नामों से। जगज्जननी महालक्ष्मी ने ब्रह्मा को सरस्वती को पत्नीरूप में स्वीकार करने के लिये आदेश दिया। ब्रह्मा और सरस्वती के संसर्ग से इस ब्रह्माण्ड का उदय हुआ। रुद्र ने गौरी को अपनाया और उन दोनों ने इस हैम अण्ड (ब्रह्माण्ड) को फोड़कर प्रकाशित किया। भगवती लक्ष्मी ने स्वयं विष्णु को बरा और दोनों, उस विश्व की रक्षा के लिये तत्पर हुए, जो हिरण्यगर्भ हैम अण्ड—ब्रह्माण्ड से प्रादुर्भूत हुआ। इस प्रकार माया के द्वारा विश्व के प्राणियों का जन्म हुआ।

इस दृष्टि से महालक्ष्मी की तीनों शक्तियों से निष्पन्न महादेवों एवं महादेवियों का प्रधान वृन्द निम्न रेखा-चित्र से निभालनीय है:—

टि०—← → से तात्पर्य—विवाह है।
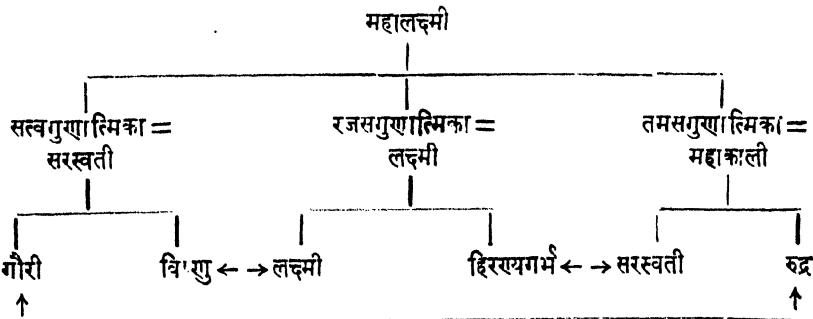
मातृ-परक परमतत्व (शक्ति) की उपासना का द्वितीय सोपान--कापालिकों एवं कालमुखों की काली-कराली—विकराल-देवी-पूजा पर यहाँ विशेष संकेत न करके तृतीय सोपान—देवी

के संमोहन स्वरूप—त्रैलोक्य-सुन्दरी ललितादेवी की उपमना के रहस्य पर कुछ संकेत आवश्यक है।

तान्त्रिक पूजा की शक्ति-उपासना (देवी-पूजा) के इस प्रकार में देवी को आनन्द-भैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी एवं ललिता के नाम से पुकारा गया है। उसके निवास का यह वर्णन कितना रोचक है ? अमृत-समुद्र में पांच दिव्य पादप हैं। उन्हीं के अन्तरावकाश में कदम्ब वृक्षों का एक कुञ्ज है जिसके मध्य एक रत्न-निर्मित मण्डप है। उस मण्डप के अभ्यन्तर एक अत्यन्त सुन्दर प्रासाद विरचित है। वही महाईशानी परम त्रिपुर-सुन्दरी का घर है। उसमें वह लेटी हुई है—शय्या शिव, महेशान विष्टर, सदाशिव तकिया, शय्या के चारों पाये हैं – ब्रह्मदेव, हरि, रुद्र तथा ईश्वर। रहस्यात्मक चक्रों में रहस्यात्मक यंत्रों को निशिष्ट कर यंत्रमंत्रादिसमन्वित तान्त्रिक पूजा-पद्धति की यह पौराणिक व्याख्या है। इस प्रकार इस व्याख्यान से देवी की परम प्रभुता यहाँ पर प्रतिष्ठित की गयी है। आनन्द-भैरव अथवा महाभैरव (जो शिव का नाम है) इस महत् तत्त्व (शक्ति-तत्त्व) की आत्मा है जो सृष्टि के नवात्मक तत्त्वों का प्रतीक है। काल-व्यूह कुल-व्यूह, नाम-व्यूह, ज्ञान व्यूह चित्र-व्यूह आदि नव तत्त्व हैं। समस्त विश्व की परम सत्ता चूँकि शक्ति है अतः यह महाभैरव शक्ति की आत्मा है। अथच तदनुरूप यह परम शक्तितत्त्व भी इन्हीं नवतत्त्वों का प्रतीक है। इस प्रकार महाभैरव एवं महाईशानी (त्रिपुर-सुन्दरी—ललिता) दोनों मिलकर एक परम सत्ता का निर्माण करते हैं। दोनों के सामरस्य में सृष्टि का उदय होता है। इस सत्ता में मातृ-परक महत्-तत्त्व (शक्ति) सृष्टि में प्रबल रहता है और प्रलय अथवा ध्वंस में पुरुष-परक अर्थात् महाभैरव।

शाम्भव-दर्शन की दार्शनिक दृष्टि में इसी संयुक्त सत्ता का प्रतिपादन है। शिव तथा शक्ति विश्व के मूलाधार तत्त्व हैं। शिव प्रकाश हैं। शक्ति स्फूर्ति है। प्रकाशरूप शिव जब स्फूर्तिरूप शक्ति में प्रवेश करता है तो वह बिन्दुरूप धारण करता है। इसी प्रकार जब शक्ति शिव में प्रवेश करती है तो दोनों की संयुक्त सत्ता 'नाद' का विकास करती है। बिन्दु और नाद की संयुक्त सत्ता से पुनः एक मिश्रित बिन्दु बनाता है जो देवपरक एवं देवीपरक दोनों तत्त्वों का तादात्म्य है और उसे 'काम' की संज्ञा दी गयी है। पुनः दोनों के क्रमशः श्वेत एवं रक्त वर्णों के बिदुओं से 'कला' का निर्माण होता है। पुनः इन बिन्दुओं के साथ उस मिश्र बिन्दु के साहचर्य से एक विलक्षण तत्त्व निर्मित होता है जिसकी संज्ञा 'काम-कला' है। इस प्रकार इन चार प्रकार की शक्तियों से। (देव और देवी—शिव एवं शक्ति) सृष्टि प्रारंभ होती है परम माहेश्वर महाकवि कालिदास का वह पद्य जिससे रघुवंश का प्रारम्भ होता है:—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ

वह इस दार्शनिक दृष्टि से कितना मार्मिक है। सृष्टि की उद्भावना में पार्वती (शक्ति) एवं परमेश्वर (शिव) दोनों का सामरस्य वाक्—वाणी – शब्द और उसके अर्थ का नित्य, शाश्वत एवं सनातन सहयोग परम कारण है। इसी परम कारण से जगत् के सब कार्य अर्थात् वस्तुयें (जो शब्द के द्वारा संज्ञापित एवं अर्थ के द्वारा व्यवहृत होती हैं) उत्पन्न होती हैं।

उपर्युक्त काम-कला (जो मिश्रित परम तत्त्व है) को इस दर्शन के कतिपय ग्रंथों में परादेवी के रूप में परिकल्पित किया गया है। सूर्य (अर्थात् मिश्रित बिन्दु) उसका मुख निर्माण करता है। अग्नि एवं चन्द्र (रक्त तथा श्वेत बिन्दु) उसके दोनों स्तनों का निर्माण करते हैं। 'हार्ध-कला' (वह तत्त्व है जो नाद के साथ साथ विकसित होता है जब स्त्रीतत्त्व शक्तितत्त्व साधारण बिन्दु (शिव) में प्रथम प्रवेश करता है) के द्वारा उसकी योनि का निर्माण होता है। इस दूसरे विवरण से जन्या सृष्टि की उत्पत्ति में जननी-तत्त्व पर इंगित है। इस प्रकार सृष्टि का परम-कारण-तत्त्व-रूपा जो देवी उद्भावित हुई वही परा, ललिता भट्टारिका और त्रिपुर-सुन्दरी के नाम से बखानी गयी है। शिव एवं शक्ति को अ तथा ह (वर्ण माला के आद्यन्ताक्षर) के रूप में भी उद्भावना की गयी है। 'ह' वर्णात्मिका शक्ति को 'अर्धकला' की संज्ञा दी गयी है। ह और अ—(जो शिव का प्रतीक है) की मिश्रित संज्ञा 'हार्धकला' 'कामकला' (त्रिपुरा-सुन्दरी) का दूसरा नाम 'अहम्' है। इसी अहम् में व्यष्टि एवं समष्टि का मर्म निहित है एवं समस्त सृष्टि का विस्तार भी। सभी जीवात्मायें त्रिपुर-सुन्दरी के ही रूप हैं और जो मानव कामकला-विद्या के रहस्य को समझ लेता है और यन्त्रादिकों के साधन से साध्य (त्रिपुर-सुन्दरी) का अभ्यास करता है तो वह त्रिपुर-सुन्दरी का परम पद प्राप्त कर लेता है अर्थात् त्रिपुर सुन्दरी ही हो जाता है। अतः शाक्तों का परम निःश्रेयस त्रिपुरसुन्दरी-प्राप्ति है; और उनके अनुसार परम तत्त्व मातृ-परक है।

देवी पूजा

शाक्त-धर्म एवं शाक्त-दर्शन की इस सरल समीक्षा के अनन्तर अब एक दो शब्द देवी-पूजा पर आवश्यक हैं। पौराणिक एवं आगमिक दोनों परम्पराओं में देवी की विभिन्न अवस्था-सूचक रूपों की पूजा यहाँ विशेष उल्लेखनीय है। एकवर्षदेशीया देवी को सन्ध्या के रूप में, द्विवर्षीया सरस्वती के रूप में, सप्तवर्षीया चण्डिका के रूप में, अष्टवर्षीया शाम्भवी के रूप में, नववर्षीया दुर्गा (अथवा बाला) के रूप में, दशवर्षीया गौरी के रूप में, त्रयं दश-वर्षीया महालक्ष्मी के प्रोज्ज्वल रूप में और षोडशवर्षीया ललिता के लावण्यमय रूप में पूजने की परम्परा है। इसके अतिरिक्त देवी-लीलाओं में कुछ विशेष विख्यात रूप भी अर्च्य है जैसे महिषासुरमर्दिनी। पीठानुरूप देवी-पूजा के संबंध में आगे के अध्याय 'अर्चागृह' में विवरण मिलेंगे।

शाक्तार्चा की तांत्रिक उपासना के प्रसिद्ध भाव, आचार, परम्पराओं, सम्प्रदायों पर हम प्रथम ही दृष्टि-पात कर चुके है। अतः अब इस स्तम्भ को यहीं समाप्त कर अन्य अवान्तर धार्मिक सम्प्रदायों की कुछ चर्चा प्रासङ्गिक है।

गाणपत्य सम्प्रदाय

'अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक' के उपोद्घात में हमने ऊपर हिंदुओं की उदार एवं व्यापक देव-पूजा में पंचायतन-परम्परा का संकेत कर चुके है। पंचायतन परम्परा में विष्णु, शिव, देवी के साथ साथ गणपति गणेश का भी परम-पूज्य स्थान है।

रुद्र के मरुद् गणों का गान हम गा चुके हैं। उन गणों के स्वामी को गणपति कहा गया है। विभिन्न गणों एवं भूतों का रुद्र-साहचर्य हमें विदित ही है। उन्हीं भूतों

अथवा गणों में एक गण अथवा भूत विनायक के नाम से प्रख्यात था—अथर्व-शिरस्-उपनिषद् में यह विनायक-संकेत है। महाभारत (दे० अनुशा० पर्व) में जो देव मानवों के कार्यों का निरीक्षण करते हैं और सर्वत्र व्यापक है उनमें विनायकों का निर्देश है। महाभारत की यह भी सूचना है कि विनायकस्तुति से प्रसन्न होने पर, विघ्नों एवं व्याधियों का विनाश करते हैं। जिस प्रकार 'शतरुद्रिय' में गणों की गाथा है वैसी यह महाभारती कथा है—गणों और विनायकों की बड़ी संख्या है। मानव गृह्य-सूत्र (२, १४) में विनायकों का वृत्तांत दिया है। विनायकों की संख्या चार है १ शालकटंक, २ कूष्माण्डराजपुत्र, ३ उस्मित तथा ४ देवयजन। यहां पर यह भी उल्लिखित है कि विनायकों के द्वारा जब लोग आविष्ट हो जाते हैं तो उनकी मनः स्थिति एवं कार्य-कलाप में बड़ी विषमता उत्पन्न हो जाती है—बुरे स्वप्न, नाना भयावह एवं विस्मयकारी दृश्य देखता है—मिट्टी के ढेर बटोरता है—घास काटने लगता है। राजपुत्र (अधिकारी होने पर भी) राज्य नहीं प्राप्त कर पाते, कुमारियों की शादी नहीं हो पाती। स्त्रियां बंध्या ही रह जाती हैं। जननियों के पुत्र मरने लगते हैं। विद्यार्थी भी बेचारा विनायकाभिभूत होने पर पढ़ने में मन नहीं लगा पाता। यही हालत वणिकों की बताई गयी है—व्यापार रोजगार स्वाहा - कारोबार बंद। अतः गृह्यसूत्र विनायक-शांति के लिये विधान बताता है—जिसमें पीडित का स्नान एवं पीडक को बलि-प्रदान आदि विहित है।

सूत्र-कालीन इस वैनायकी-परम्परा में गणपति-गणेश की पूजा-परम्परा की प्राचीनता असंदिग्ध है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी मानवगृह्य-सूत्र के सदृश ही विनायक-शांति का वर्णन है। परंतु इस वर्णन से विनायक-गणेश के विकास में 'विघ्नेश्वर' के उदय की सूचना मिलती है। रुद्र और ब्रह्मदेव ने विनायक को गणों का अधिपति नियुक्त किया और उनको कार्य जो सौंपा वह था लोगों के कार्य में संकट डालना। अतः 'विघ्नेश्वर' के उदय का मर्म इसमें निहित है। विनायक की दूसरी स्मार्त-विशेषता में यह इंगित है कि सूत्रकार के चार विनायकों के स्थान पर एक ही विनायक का बखान है- हां उस विनायक के चार के स्थान पर छह नाम दिये गये हैं—मित, सम्मित, शाल, कटङ्कट, कूष्माण्ड और राजपुत्र। इस प्रकार सूत्रकालीन चार विनायकों का स्मृतियों के समय में एक ही गणपति-विनायक के रूप में प्रत्यवसान हो गया। उसकी माता अम्बिका परिकल्पित की गयी तथा उसका तेज एवं प्रताप अपने पिता रुद्र-शिव के समान रौद्र एवं शिव दोनों परिकल्पित किये गये।

विनायक-पूजा-परम्परा बहुत प्राचीन है—इसमें सूत्रों की यह विनायक-शांति दृढ़ प्रमाण प्रस्तुत करती है, परन्तु डा० भाण्डारकर के मत में अम्बिकासुत गणपति-विनायक का आविर्भाव अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। गुप्तकालीन अभिलेखों में गणपति विनायक की परम्परा पर प्रकाश नहीं पड़ता। स्थापत्य- निदर्शनों में सर्वप्रथम गणपति-विनायक की प्रतिमा-पूजा-परम्परा के दर्शन इलौरा के दो गुहा-मंदिरों में काल, काली, सप्तमातृकाओं के साथ साथ गणपति की भी प्रतिमा से प्राप्त होता है। इन गुहा-मंदिरों की तिथि अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इस प्रकार गाणपत्य-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव ५ वीं तथा ८ वीं शताब्दी के बीच में हुआ होगा। गण-पति-पूजा के अन्य ऐतिहासिक प्रामाण्य में जोधपुर के उत्तर-पश्चिम में स्थित घटियाला नामक एक स्थान में स्थापित स्तम्भ के ऊपर चारों दिशाओं में चार विनायक-प्रतिमाओं का स्थापत्य-निदर्शन प्रस्तुत किया गया

है। इसमें एक अभिलेख भी है जिसमे गणपति-स्तुति उट्टङ्कित है। इसका भी समय ८ वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है।

गणपति के दो लक्षणों—गजानन एवं ज्ञानराशि—की परम्परा कब पल्लवित हुई यह असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। गणपति-गणेश-प्रतिमा-लक्षण में पौराणि-परम्परा में गणपति की गजाननता एक अयिवार्य अंग है। इलौरा की गणपति-प्रतिमायें गजानन हैं। सप्तमाष्टमशतक-कालीन भवभूति ने भी गजानन गणपति की स्तुति की है—दे० मालतीमाधव। काडरिंगटन (Codrington) ने अपने 'प्राचीन-भारत' (Ancient India) में पंचम-शतक-कालीन एक गणेश-प्रतिमा पर संकेत किया है जो मोदक-गणेश है। गणेश की पूजा जैनियों में भी प्रचलित थी—ऐसा आचार-दिनकर (१४६८ ई०) के उल्लेख से पुष्ट होता है। एलि शगेटे (Alice Getty) ने गणेश पर एक सुन्दर पुस्तक लिखी है।

विघ्नेश्वर गणेश के जन्म एवं आविर्भाव पर पुराणों के प्रवचन बड़े मनोरंजक हैं। मुग्दल-पुराण तथा गणेश पुराण में गणेश-पूजा का विस्तृत वर्णन है। ये पुराण उपपुराण हैं तथा इनकी तिथि सन्दिग्ध है। अग्नि पुराण एवं वाराह-पुराण में भी गणेश-जन्म एवं गणेश-गौरव की गाथाये हैं। स्मार्त-परम्परा में गणपति विनायक के आविर्भाव में 'विघ्नेश्वर' की जो कल्पना है उसका समर्थन 'लिङ्ग-पुराण' भी करता है असुर और राक्षस तपस्या कर शिव को प्रसन्न कर लेते थे और विभिन्न वरदान मांग लेते थे। इस पर इन्द्रादि देवों ने शिव से प्रार्थना की कि यह तो ठीक नहीं क्योंकि वरदानों की विभूति से सम्पन्न ये असुर और राक्षस देवों से युद्ध करते और उन्हें परास्त भी कर देते। अतः देवों ने भगवान से ऐसे व्यक्ति को उत्पन्न करने की प्रार्थना की जो उन असुरों के इन धार्मिक कार्यों में बाधा डाल सके और वे सफल-मनोरथ न हो सकें। शिव ने देवों की प्रार्थना स्वीकार करली और 'विघ्नेश्वर' को उत्पन्न कर उसको असुरों की यागादिक क्रियाओं में विघ्न डालने के लिये नियुक्त किया। वाराह-पुराण, मत्स्य-पुराण तथा स्कन्द-पुराण के जो गणेश-जन्म के आख्यान है उनमें भी यही विघ्नेश्वर का संकेत है। परन्तु शिव-पुराण का गणेश-जन्म विशेष प्रसिद्ध है। विभिन्न कल्पों में विघ्नेश्वर की जन्म-कथायें विभिन्न हैं। श्वेत-कल्प में एकदा जया विजया नामक पार्वती की सखियों ने सुझाव पेश किया कि पार्वती को अपना एक अलग खास सेवक रखना चाहिये। पार्वती को यह बात चुभ गयी। एकबार जब वह अपने एकांत कक्ष में स्नान कर रही थीं तो शिव जी निस्संकोच उस कक्ष में आ धमके। पार्वती को बड़ा बुरा लगा और अपनी सखियों की सलाह याद आई और उसका मूल्याङ्कन भी इस समय वह कर सकीं। तुरन्त उन्होंने अपने शरीर से थोड़ा सा मल लिया और एक अत्यन्त सुन्दर युवक की रचना कर डाली तथा उसको आदेश दिया—विना मेरी अनुमति किसी का भी मेरे अन्तःपुर में प्रवेश न होने देना। द्वारपाल युवक डट गया। शिव जी पुनः एकबार पार्वती से मिलने के लिये उनके अंतर्कक्ष में जाने लगे। द्वारपाल ने रोक दिया। अनुनय विनय पर भी जब वह न माना तो भगवान ने जबरदस्ती की। इस पर उस द्वारपाल ने उनके बेंत रसीद किये और दरवाजे से बाहर निकाल दिया। इस क्षुद्र

द्वारपाल की इस बदतमीजी से क्रुद्ध शिव ने अपने भूतगणों को उसे तुरन्त कत्ल कर देने की आज्ञा दी।

पार्वती के द्वारपाल और शिवगणों में जो युद्ध हुआ उसमें विजय-श्री ने द्वारपाल को ही विजयमाला पहनाई। तब विष्णु, सुब्रह्मण्य तथा अन्य देवों ने भी शिव-सहायतार्थ उस द्वारपाल के साथ अपनी अपनी ताकतें आजमाईं परन्तु परिणाम प्रतिकूल ही निकला। अब पार्वती घबड़ायीं कि कहीं उनका द्वारपाल (जो अकेले ही ऐसे महावीरों से लड़ रहा है) पराभूत न हो जावे, दो देवियों को उसकी सहायतार्थ भेजा। उन्होंने उसकी रक्षा की तथा देवों एवं गणों के सभी अस्त्रों-शस्त्रों को अपनी ओर ले लिया। विष्णु ने जब यह देखा, काम नहीं बन रहा है तो फिर अपनी सनातन कूटनीति का दांव फेका। 'माया' की सहायता से उन देवियों को बेकार कर दिया। फिर क्या शिव ने अपने हाथों उस द्वारपाल का शिरश्छेद कर दिया। नारद को मौका मिला। पार्वती के पास पहुँच द्वारपाल के शिरश्छेदन का वृत्तान्त कह सुनाया। पार्वती के क्रोध का पारावार न था। उन्होंने हजारों देवियों की रचना करके देवों के दांत खट्टे करने के लिये आदेश दिया। अब देवों की आँखें खुलीं। आग लगाकर बुझाने के लिये दौड़नेवाले नारद ने फिर अन्य ऋषियों के साथ पार्वती को प्रसन्न करने की प्रार्थना प्रारम्भ कर दी। पार्वती ने कहा जब तक उनका द्वारपाल पुनरुज्जीवित नहीं उठ खड़ा होता तब तक वह कुछ नहीं जानतीं। जब शिव ने यह सुना तो देवों को आदेश दिया कि वे उत्तर दिशा जावें और जो भी पहला जीवधारी मिले उसका शिर काट कर इस द्वारपाल पर लगा दें। देवों ने ऐसा ही किया। उनको और तो कोई मिला नहीं मिला एक हाथी, जिसके एक ही दाँत था, उसकी सूड़ (शिर-सहित) काटकर द्वारपाल पर लगा दी गयी। द्वारपाल जीवित हो उठा। वह गजानन था—एक दन्त भी था। परमेश्वर पार्वती दोनों में सुलह होगयी। गजानन द्वारपाल ने सबसे क्षमा माँगी। आशुतोष शंकर ने प्रसन्न होकर अपने गणों का उसे राजा बनाया (गणपति)। इस प्रकार यह गजानन एकदंत गणेश के रूप में शिव-पार्वती-सुत प्रसिद्ध हुए।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में गणेश का गजानन वृत्तांत दूसरा ही है। यहां पर गणेश को कृष्ण माना गया है जो पहले मानवमुख थे। जब वह शिशु ही थे तो शनैश्चर की उन पर कुदृष्टि पड़ गयी। शिशु का शिर अलग होगया और गोलोक चला गया। उस समय ऐरावत का छौना वन में खेल रहा था। उसी का शिर काटकर जब लगाया गया तो गणेश कृष्ण गजानन कहलाये।

गणेश की 'गणपति' संज्ञा में म्योर महाशय ने एक बड़ी रोचक मीमांसा दी है। इसका संबंध लेखन-कला से है। प्राचीन काल में प्रत्येक शास्त्र एवं दर्शन की शब्दमाला की संज्ञा 'गण' दी गयी। ब्रह्मणस्पति का नाम गणपति रक्खा गया। 'गणपति' धीरे-धीरे 'ज्ञानपति' परिकल्पित हुए। वह ब्रह्म हो गये। वह वेदरूप थे। प्रातिशाख्यों ने गणों की संख्या पर प्रकाश डाला ही है। यास्क का ग्रंथ ऐसे गणों का ही संकलन है। सम्भवतः इसी मूलाधार पर गणेश का वह लेखक-रूप-वृत्तांत आधारित है जिसमें गणेश को व्यास का लेखक माना जाता है।

अब अन्त में गाणपत्य सम्प्रदायों की थोड़ी समीक्षा आवश्यक है। परन्तु देव-विशेष के धार्मिक-संप्रदाय का प्रादुर्भाव बिना उसकी परमसत्ता के नहीं होता। एतरेय ब्राह्मण में गणेश की ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति अथवा बृहस्पति के साथ एकात्मकता स्थापित की गयी है। 'गाणपत्याथर्वशीर्षोपनिषत्' तो गणेश को परब्रह्म मानती है।

माधव के शंकर-विजय के टीकाकार धनपति ने और आनन्दगिरि ने अपने शंकर-दिग्विजय में 'गाणपत्य सम्प्रदाय' के निम्नलिखित ६ अवान्तर शाखाओं पर संकेत किया है:—

१. महागणपति-पूजक-सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के गणेशोपासक गणेश को ही इस जगत् का कर्ता एवं परमतत्व तथा परमेश्वर मानते हैं। शक्तिसहित महागणपति के गजानन-एकदन्तरूप की उपासना से उपासक मोक्ष को प्राप्त होता है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक का नाम 'गिरिजासुत' संकीर्तित किया गया है।

२. हरिद्रागणपति-सम्प्रदाय—जिसमें पीताम्बरपीतवस्त्रधारी, पीतयज्ञोपवीत पहिने हुए चतुर्बाहु, त्रिलोचन, दण्डपाणि, अंकुशहस्त गणेश की पूजा का विधान है और दार्शनिक दृष्टि पूर्वोक्त सम्प्रदाय के ही अनुरूप। इसका प्रतिष्ठापक 'गणपतिकुमार' के नाम से प्रख्यात है।

३. उच्छिष्ट-गणपति सम्प्रदाय—इसके प्रतिष्ठापक का नाम 'हेरम्बसुत' है। यह सम्प्रदाय वामाचारी शक्ति-पूजक कौलों से प्रभावित है। घोराकृति गणेश की पूजा का इसमें विधान है।

४–६. अन्य सम्प्रदायों में गणेश को क्रमशः 'नवनीत' 'स्वर्ण' 'सन्तान' रूप में पूजा जाता है।

अस्तु, पंचायतन-परम्परा के अनुरूप जैसा ऊपर संकेत है, प्रत्येक अनुष्ठान, उत्सव, विधान, संस्कार आदि में 'गणेश-पूजन' एक प्रथम उपचार है।

सूर्य-पूजा—सौर-सम्प्रदाय

सूर्योपासना एक अति प्राचीन परम्परा है। ऋग्वेद के देववाद में सूर्य का प्रमुख स्थान है। ऋग्वेद की ऋचाओं (दे० सप्तम, ६०, १; ६२, २.) के परिशीलन से सूर्योपासना में पाप मोचन की प्रार्थना प्रधान है। कौषीतकी-ब्राह्मण-उपनिषद् (द्वितीय, ७) में भी यही तथ्य पोषित होता है। आश्वलायन गृ० सू० परिशिष्ट प्रथम ३ तथा तै० आ० दशम २५. १ में त्रैकालिक सन्ध्या-विधान में आचमनादि एवं अर्घ्य-दान में उपासक की पाप-मोचन प्रार्थना का ही संकेत दृढ़ होता है। द्विजातियों की सन्ध्या में अनिवार्य गायत्री-मंत्र के जाप में भी तो नैष्ठिक की यही कामना है कि भगवान् सविता का दिव्य तेज उपासक के बुद्धि को निर्मल बनावे और निर्मल बुद्धि ही कर्तव्याकर्तव्यज्ञान की प्रेरणा दे सकती है। अतः पापाचरण से दूर रहने में इससे बढ़कर मानव के लिये और कौन सा सोपान है? सूर्योदय में अंधकार का नाश एक दैनिक प्राकृतिक प्रत्यक्ष दृश्य है। अंधकार पाप, व्याधि एवं अज्ञान का प्रतीक है। वैदिक-कालीन सूर्य-देव का यह गुण सदैव स्मरण किया गया। सप्तमशतक में उत्पन्न मयूर कवि ने अपने सूर्य-शतक से अपने कुष्ठ-निवारणार्थ जो सूर्य-पूजा की उसका दिव्य फल एक ऐतिहासिक तथ्य है। उसी काल के महाकवि भवभूति ने अपने मालती-माधव नाटक में सूत्रकार के द्वारा जो सूर्य-प्रार्थनात्मक मंगलाचरण कराया उसमें पापमोचन की ही कामना सर्वातिशायिनी है:—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते।
धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव प्रसीद॥
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे।
भद्रं भद्रं वितार भगवन् भूयसे मंगलाय॥

सूर्य की प्राचीन उपासना में जिस प्रकार यह पाप-मोचन घटक प्रमुख है उसी प्रकार सूर्य-तेज ऐश्वर्य और अमरत्व का भी दाता है। आश्वला० गृ० सू० (१-२०-६) तथा खा०-गृ० सू० (चतुर्थ) सूर्य की इसी वरद महिमा का गुणगान करते हैं। महाभारत में युधिष्ठिर जिस समय अज्ञातवासार्थ वन-प्रवेश करते हैं उस समय सूर्य से उन्होंने अपने भरण के लिये वरदान माँगा था।

सूर्य-पूजा यद्यपि पञ्चायतन-पूजा-परम्परा का एक अभिन्न अंग है परन्तु शिव, विष्णु, शक्ति एवं गणेश के सदृश ही सूर्योपासना का भी एक पृथक् सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जिसमें सूर्य को परमतत्व माना गया और सूर्य की अंगोपासना के स्थान पर अंगी-उपासना स्थापित हुई। जिस प्रकार प्राचीन भारत में बड़े बड़े राजकुल एवं श्रेष्ठि-गण विष्णु अथवा शिव को ही परम देव के रूप में पूजते थे और वैष्णव अथवा शैव कहलाते थे उसी प्रकार कान्य-कुब्ज नरेश हर्षवर्धन सूर्य को ही परम देव मानते थे। हर्षवर्धन के ताम्र-निर्मित दान-पत्र में हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन, बाबा आदित्यवर्धन, परबाबा राज्यवर्धन सभी को 'परमादित्य-भक्त' की उपाधि से संकीर्तित किया गया है।

सौर-सम्प्रदाय का आविर्भाव यद्यपि विशुद्ध भारतीय है तथापि सूर्योपासक मग-ब्राह्मणों के संकेत से विद्वानों में इस सम्बन्ध में विभिन्न विप्रतिपत्तियां उठ खड़ी हुई हैं जिनकी थोड़ी सी समीक्षा यहां अभिप्रेत है। परन्तु इस समीक्षा के प्रथम सौर-सम्प्रदाय के आविर्भाव की सूचक-सामग्री का थोड़ा सा निर्देश और आवश्यक है।

'शंकर दिग्विजय' में शंकराचार्य को सौरों का भी सामना करना पड़ा था ऐसा उल्लेख है। शंकर की सौरों की भेंट का स्थान दक्षिण में अनन्तशायनम् (त्रिविन्दरम्) से १४ मील की दूरी पर सुब्रह्मण्य संकेतित है। सौरों के तत्कालीन आचार्य का नाम दिवाकर था। ये सौर अपने मस्तक पर चक्राकार रक्त चन्दन-तिलक लगाते थे और रक्त-पुष्प-धारण करते थे। दिवाकर ने सौर-धर्म की जो व्याख्या की है (दे० आनन्दगिरि का शंकर-दिग्विजय) उसमें सूर्य ही परमतत्व एवं अधिष्ठातृ-देव है। सूर्य ही इस जगत् का विधाता है। सौर-धर्म में सूर्य ही परमोपास्य है। ऋग्वेद (प्र० ११५. १ में सूर्य को समस्त स्थावर-जंगमात्मक जगत् की आत्मा कहा गया है और आदित्य को ब्रह्म भी बखाना गया है। तैत्तरीयोपनिषद् (तृ० १. १.) में भी यह मर्म उद्घाटित है। स्मार्त-परम्परा में भी सूर्य को जगत् का परम अधिष्ठाता स्वीकार किया गया है।

डा० भाण्डारकर ने सौरों (सूर्योपासकों) की छह श्रेणियों पर संकेत किया है। इन सभी की सूर्योपासना का सामान्य अंग है—रक्तचन्दन का मस्तक पर तिलक, रक्त-पुष्प-धारण तथा अष्टाक्षर-मंत्र का जाप। परन्तु अन्य अवान्तर उपचारों एवं सिद्धांतों से इनकी श्रेणियों में परस्पर अन्तर भी कम नहीं है।

१. प्रथम सूर्य को जगत्-स्रष्टा ब्रह्मदेव के रूप में विभावित कर सद्यःउदित सूर्य-विम्ब (हैम-ब्रह्माण्ड के प्रतीक) की उपासना करते हैं।

२. दूसरे सूर्य को जगत्संहारक ईश्वर के रूप में परिकल्पित कर मध्याह्न-कालीन सूर्य की उपासना करते हैं।

३. तीसरे सूर्य को जगत्पालक परम विभु विष्णु के रूप में विभावित कर अस्तंगत-सूर्य की उपासना करते हैं।

४. चौथे उपर्युक्त तीनों रूपों—प्रातः-मध्याह्न-सायं-कालीन सूर्य की उपासना करते हैं।

५. पाँचवीं श्रेणी के सूर्योपासकों में कुछ तो सूर्य-विम्ब के दैनिक-दर्शनार्थी हैं और इस विम्ब में स्वर्णश्मश्रु एवं स्वर्णकेश परमेश्वर की कल्पना करते हैं तथा दूसरे सूर्य-मण्डलव्रती कहलाते हैं—सूर्य-विम्ब के दर्शन विना जलान्न नहीं ग्रहण करते तथा इस विम्ब को विभिन्न षोडशोपचारों से पूजते हैं।

६. छठे तो तप्त आयसी शलाका से सूर्य-विम्ब को प्रतीक-रूप में अपने शरीर के प्रमुख अंगों—मस्तक, वाहु एवं वक्ष पर गुदवाते हैं।

सौर-धर्म के सौराचार्यों ने सौर-महिमा की स्थापना में वैदिक पुरुष-सूक्त तथा शतरुद्रिय की व्याख्या में सौर-तत्त्वात्मक व्याख्या की है।

सूर्योपासना पर विदेशी प्रभाव

वराह-मिहिर ने अपनी बृहत्-संहिता में 'प्रासाद-लक्षण' में भिन्न भिन्न देवों के देवालयों में भिन्न-भिन्न पुजारियों पर निर्देश किया है। उनमें सूर्य-मन्दिर के पुजारियों के लिये मग-ब्राह्मणों की अधिकारिता बतायी है। ये मग-ब्राह्मण कौन थे? भविष्यपुराण (अ० १३६) के कृष्ण जम्बावती-सुत शाम्ब वृत्तान्त से इन मगों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है—वे शाकद्वीपी थे। कथा है, शाम्ब को अपने शापजन्य कुष्ठ-रोग के निवारण-हेतु सूर्योपासना की सलाह दी गयी। अतः उन्होंने चन्द्रभागा (आधुनिक पंजाब की चिनाब) नदी के किनारे सूर्य-मंदिर का निर्माण कराया। परन्तु उसमें पुजारी के पद को स्वीकार करने के लिये कोई तैयार न हुआ। तब शाम्ब ने उग्रसेन के पुरोहित गौरमुख से पूछा, क्या किया जावे। गौरमुख ने शाम्ब को सूर्योपासक शाकद्वीपी मग-ब्राह्मणों को लाने और इस पद पर उनको आसीन करने की सलाह दी। मगों के इतिहास पर यहाँ यह संकेत किया गया कि मिहिर-गोत्र का सुजिह्व नामक एक ब्राह्मण था। उसकी निक्षुभा नाम की एक लड़की थी। उस पर सूर्य आसक्त हो गये। निक्षुभा से सूर्य का जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम जरषभ अथवा जरषष्ट रक्खा गया। इसी जरषभ से ये मग ब्राह्मण पैदा हुए। मग लोग अव्यङ्ग नामक मेखला पहनते थे। शाम्ब के पास यात्रा-सुविधा के लिये कोई असुविधा तो थी नहीं। तुरंत अपने पिता के परम वाहन गरुड़ पर सवार होकर शाकद्वीप चले गये और वहाँ से एक नहीं अठारह मगब्राह्मण-परिवार लाये और उनको उस मंदिर के अधिकृत आचार्य के आसन पर प्रतिष्ठापित किया।

मगों के सम्बन्ध में भारतीय साहित्य में प्रचुर निर्देश बिखरे पड़े हैं। मग लोग भोजक के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। यादवों की एक शाखा—भोजकों ने मगों से विवाह-संबंध स्थापित किया अतएव वे भी भोजक कहलाये। इस तथ्य का प्रामाण्य महाकवि बाणभट्ट-विरचित हर्ष-चरित (दे० चतुर्थ उच्छ्वास) में तारक नामक एक भोजक गणक—astrologer का निर्देश है जिसने हर्ष-जन्म के समय हर्ष की महत्ता की सूचना दी थी। भोजक की व्याख्या में टीकाकार ने भोजक को मग-ब्राह्मण माना है। कोई-कोई मग-ब्राह्मणों को मागध ब्राह्मण मानते हैं।

भविष्य-पुराण (अ० ११. ३६.) में मंगो अथवा मगों को शाकद्वीपी माना गया है, और वे शाम्ब के द्वारा यहाँ लाये गये थे—इस पौराणिक तथ्य के ऐतिहासिक पोषण में कतिपय ऐतिहासिक अभिलेखों का प्रामाण्य प्रस्तुत किया जा सकता है। गया जिला के गोविंदपुर स्थान पर एक ११३७-३८ ई० का एक शिलालेख मिला है जिसमें सूर्य से आविर्भूत मगों को शाम्ब लाये थे—ऐसा उल्लिखित है। राजपूताना तथा उत्तरी भारत के बहुसंख्यक ब्राह्मण-कुल मग-ब्राह्मणों के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रश्न यह है कि ये मग कौन थे? फारस की एक जाति माजी, मजाई अथवा मागी के नाम से प्रसिद्ध है। निक्षुभा और सूर्य से उत्पन्न जरषभ अथवा जरषष्ट पारसियों के अवेस्ता आचार्य जरथुश्त्र (Zarathustra) से संगत किया गया है। उनका भविष्य-पुराणोक्त 'अव्यङ्ग' (धारण) अवेस्ता का ऐव्याओंघ्नेन (Aivyaonghen) है जो पारसियों के अर्वाचीन पहनावे में 'कुश्ती' के नाम से पुकारा जाता है। अलबरूनी ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में इन मगों को पारसी-पुरोहित निर्दिष्ट किया है और हिंदुस्तान में इनकी मग-संज्ञा लिखी है। डा० भाण्डारकर का आकूत है कि शकों के समान इनके विदेशी होने के कारण इन लोगों की शाकद्वीप-निवासी होने की प्रसिद्धि उठ खड़ी हुई। अतः यह अनुमान गलत न होगा कि भारतवर्ष में सूर्योपासना को सगुणोपासना के रूपमें विशेष प्रोत्साहन देने का श्रेय पारसी मगों को है। परन्तु पारसी मागी या गाजी यहाँ आये कैसे? इसकी ऐतिहासिक समीक्षा आवश्यक है। भविष्य-पुराणोक्त शाम्ब-वृत्तान्त में सूर्योपासक मागों के इस देश में आगमन से हम परिचित ही हैं। जहाँ पर इनकी प्रथम प्रतिष्ठा हुई—उसके सम्बन्ध में पुराण-निर्दिष्टा चन्द्रभागा से भी हम परिचित ही हैं। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस स्थान का नाम मुलतान (मूलस्थान) दिया है तथा इस मन्दिर की बड़ी प्रशंसा की है। ह्वेनसांग से चार सौ वर्ष बाद आने वाले अलेबरूनी का निर्देश हम कर चुके हैं, जिसने भी इस मन्दिर का वर्णन किया है। यह मन्दिर १७वीं शताब्दी तक विद्यमान था। बाद में नृशंस धर्म-द्वेषी औरंगजेब के हाथ इसका ध्वंस हुआ। चूँकि इस स्थान ने इस देश में सूर्य की प्रतिमा-पूजा का प्रथम श्रीगणेश किया अतः इसका नाम भी मूल-स्थान पड़ा। बाद में भ्रष्ट होकर मुलतान कहलाया। पुनः दूसरा प्रश्न यह है कि सूर्य की इस उपासना का कब आविर्भाव हुआ? इस सम्बन्ध में कनिष्क के सिक्के बड़े सहायक हैं। उन पर एक प्रतिमा खुदी है जिसका संकीर्तन मीरो (संस्कृत मिहिर—सूर्य) से है जो कि अवेस्ता 'मिथ्र' का रूपान्तर है। अतः यह अनुमान संगत ही है कि फारस में जो मिहिरोपासना (सूर्योपासना) उदय हुई वही कालान्तर पाकर अन्य देशों (एशिया

माइनर तथा रोम तक) में भी फैल गयी। वही कुशान-शासकों के समय (अथवा उससे भी पहले) भारत में भी प्रविष्ट हुई। यह अनुमान इस लिए और भी संगत है कि ऊपर सौर-धर्म (सूर्य-पूजा) तथा उसके जिन विभिन्न सम्प्रदायों का संकेत किया गया है उसमें सूर्य की निर्गुणोपासना (परब्रह्म के ध्यान-रूप) का ही रूप प्रत्यक्ष है जो उपनिषत्-कालीन भारतीय भक्ति-धारा के साथ सानुगत्य रखता है। सगुणोपासना का विशेष जोर ईशवीय-पूर्व पंचम शतक के बाद प्रारम्भ हुआ।

सूर्य की 'सगुणोपासना' की परम्परा में मुलतान के मन्दिर के अतिरिक्त अन्य बहुत से मन्दिर बने, जिनमें बहुत से नाममात्रावशेष हैं और कुछ अब भी विद्यमान है। मन्दसोर के ४३७ ई० के शिलालेख में जुलाहों के द्वारा निर्मापित सूर्य-मन्दिर का संकेत है। इसी प्रकार इन्दौर (जि० बुलन्दशहर) में प्राप्त एक ताम्र-पत्र पर देवविष्णु नामक किसी राजा के ४६४ ई० के सूर्य-मन्दिर में दीपक जलाने के अनुदान का वर्णन है। इसी प्रकार और बहुत से ऐतिहासिक प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि मुलतान से पश्चिम कूच तथा उत्तरी गुर्जर-प्रदेश तक सूर्य के मन्दिर बिखरे पड़े थे। कोनार्क और मोधारा के सूर्य-मन्दिर अपने प्राचीन गौरव का आज भी गान कर रहे हैं।

सूर्य की साकारोपासना में अपेक्षित प्रतिमाओं के जो विवरण प्राचीन साहित्य में (दे० वराह-मिहिर-बृहत्संहिता अ० ५८) प्राप्त होते हैं, उससे भी इस परम्परा पर विदेशी प्रभाव पुष्ट होता है।

८

अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक
बौद्धधर्म एवं जैनधर्म

बौद्ध-धर्म—बुद्ध-पूजा

बौद्ध-धर्म का एक लम्बा इतिहास है। बौद्ध-साहित्य भी कम पृथुल नहीं है। बौद्धों की दार्शिनक ज्योति का भी बड़ा तीक्ष्ण प्रकाश फैला हुआ है। बौद्धों का विपुल प्रचार, बौद्ध-धर्म की व्यापकता एवं बुद्ध के पावन धर्म एवं शिक्षाओं की एक महती प्रतिष्ठा का सूचक है। अतः यहाँ पर हम बौद्ध-धर्म के उसी अङ्ग अथवा अवान्तर अङ्ग की समीक्षा करेंगे जो पूजा-परम्परा से सम्बन्धित है।

यह सभी जानते हैं, बौद्ध-धर्म के प्राचीन स्वरूप में उपचारात्मक पूजा एवं प्रतिमा-पूजा का कोई स्थान नहीं था। हाँ, कालान्तर पाकर भगवान् बुद्ध के महा-परिनिर्वाण के उपरान्त प्रतीकोपासाना का उदय हो गया था जो महायान में बुद्ध-प्रतिमा-पूजा तथा वज्रयान की तान्त्रिक-पूजा में आगामी उपचारात्मक उपासना-विकास के आविर्भाव का कारण समझा जा सकता है।

बुद्ध की प्राचीन शिक्षाओं में चार आर्यसत्यों एवं अष्टाङ्गिक मार्ग से हम सभी परिचित हैं। बुद्ध के तीन मौलिक सिद्धान्त हैं—१. 'सर्वमनित्यम्' सब कुछ अनित्य है; २. सर्वमनात्मम्—अर्थात् नैरात्म्यवाद—समग्र वस्तुएँ एवं प्राणी आत्मा से रहित हैं। ३. निर्वाणं शान्तम्-निर्वाण ही एकमात्र शांति (परम शान्ति) का सोपान है।

बौद्ध धम के सुदीर्घ-कालीन इतिहास में तीन प्रधान प्रगतियाँ प्रस्फुटित हुई १—हीनयान २—महायान तथा ३—वज्रयान। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्ध-संघ में विपुल विचार-क्रांति का उदय स्वाभाविक था। वैशाली में बौद्ध-परिषद् में यह संघर्ष इतना प्रबल हो गया कि बुद्ध के अनुयायियों के दो दल खड़े हो गये। एक हीनयान दूसरा महायान। बुद्ध के मूल उपदेशों पर अवलम्बित रहने वाला मार्ग हीनयान है। इसके अनुयायियों को थेरावादी (स्थविरवादी) भी कहते है। महायानी लोग यद्यपि तथागत की शिक्षाओं से प्राप्त प्राचीन बौद्ध दर्शन के अनुगामी थे परन्तु धार्मिक आचार एवं नैतिक शिक्षाओं में परिवर्तन चाहते थे। इनको महासांघिकों के नाम से भी पुकारा गया है। इस प्रकार यद्यपि महायान हीनयान का ही विकसित रूप है तथापि इन दोनों में कतिपय व्यापक पार्थक्य हैं। इनमें तीन प्रधान रूप से उल्लेख्य हैं। प्रथम, हीनयानानुयायी बुद्ध को केवल महापुरुष मानते हैं जिन्होंने अपने प्रयत्नों से बोधि अर्थात् सम्बुद्धि (ज्ञान) तथा निर्वाण प्राप्त किया। इसके विपरीत महायानी लोग बुद्ध को लोकोत्तर पुरुष मानते हैं। ऐतिहासिक गौतम बुद्ध तो उनके केवल अवतार थे। बुद्ध के व्यक्तित्व के संबंध में इस मतभेद के अतिरिक्त दूसरा मतभेद

है भक्तिवाद । महायान भक्ति-प्रधान पन्थ है परन्तु हीनयान में भक्ति का कोई स्थान नहीं। तीसरे मतभेद का केन्द्रबिन्दु लक्ष्य है। हीनयान निवृत्ति-मार्ग है और महायान प्रवृत्ति-मार्ग-प्रधान है। जहाँ हीनयान का आदर्श अर्हत है वहाँ महायान का बोधि-सत्व ।

वज्रयान

हीनयान और महायान के अतिरिक्त जिस तीसरे यान का ऊपर संकीर्तन किया गया है वह वज्रयान है। इसमें तान्त्रिक साधना की प्रधानता है। इस पंथ के प्रवर्तक पुरुषों को सिद्ध कहते हैं जिनमें चौरासी सिद्ध प्रसिद्ध हैं। इस यान का प्रचार तिब्बत आदि देशों में विशेषरूप से हुआ है। इन तीनों का क्रमिक उदय ईशवीय शतक की दूसरी और तीसरी शताब्दी तक सम्पन्न हो गया था।

बौद्ध-प्रतिमा-लक्षण (जिसके उपोद्घात में बौद्ध-धर्म की यह समीक्षा लिखी जा रही है) को ठीक तरह से समझने के लिये बौद्ध-दर्शन की भी थोड़ी सी अन्वीक्षा आवश्यक है। धर्म के प्रधान यानों का ऊपर निर्देश है परन्तु बौद्ध दर्शन की चार प्रधान धारायें हैं—सर्वास्तिवाद (सौत्रान्तिक), वाह्यार्थभंग-वाद (वैभाषिक), विज्ञानवाद (योगाचार) तथा शून्यवाद (माध्यमिक)। दर्शन धर्म की मौलिक भित्ति है। अतः तीन यानों के मैदानों पर ये चार दर्शन-महाधारायें कैसे बह रही हैं? प्रश्न बड़ा मार्मिक है। ऐसा कहा जाता है, बुद्ध के समय में ही धर्म के दो यान थे—श्रावकयान तथा प्रत्येकयान। श्रावकगण एक बुद्ध से सुनें दूसरे से निर्वाण पाने की अभिलाषा में प्रतीक्षा रक्खें। परन्तु प्रत्येकगण अपने प्रयत्न से निर्वाण प्राप्त कर सकते थे। हाँ, वे दूसरे के निर्वाण के लिए असमर्थ थे। बुद्ध की मृत्यु के बाद के तीनों यानों का हम निर्देश कर ही चुके हैं—श्रावकयान ही आगे का हीनयान है और प्रत्येक वज्रयान। महायान तो महायान है ही। अद्वयराज नामक एक बंगीय विद्वान् (द्वादशशतककालीन) इस सम्बन्ध में लिखते हैं 'बौद्ध-धर्म में तीन यान हैं—श्रावकयान, प्रत्येकयान तथा महायान। बौद्ध-दर्शन के चार सिद्धान्त हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। श्रावकयान और प्रत्येकयान वैभाषिक सिद्धान्त में गतार्थ हैं। महायान दो प्रकार का है—पारमिता-यान और मंत्रयान। पारमितों की व्याख्या सौत्रान्तिक या योगाचार अथवा माध्यमिक किसी से भी की जा सकती है;" अस्तु, इस संकेत से यह निष्कर्ष नितान्त निभ्रान्त ही है कि वज्रयान के उदय में जहाँ प्रत्येकयान का प्राचीन मूलाधार था ही, महायान के इस मंत्रयान के संयोग ने उसमें सुदृढ़ भित्ति का निर्माण किया जिसके अग्रिम विकास में वज्रयान का सुखप्रद प्रासाद खड़ा हो गया।

मंत्रयान और वज्रयान में केवल मात्रा का अन्तर है। सौम्यावस्था का नाम 'मंत्रयान' है; उग्ररूप की संज्ञा वज्रयान है। योगाचार के शून्यता अथवा शून्यवाद और माध्यमिकों के विज्ञानवाद के गहन सिद्धान्तों की धारणा साधारणजनों के लिये कठिन ही नहीं असम्भव सी प्रतीत हुई। अतः जिस प्रकार उपनिषदों के गहन ब्रह्मज्ञान के विशिष्ट धर्म एवं दर्शन के प्रकाश से अप्रकाशित जन-समाज एक सरल एवं मनोरम मार्ग के लिये लालायित था तो पौराणिक-धर्म ने वह साधना-पथ तैयार किया जिसके सभी

पथिक हो सकते थे। उसी प्रकार बौद्ध भी उस मार्ग को ढूंढ रहे थे जिसमें स्वल्प प्रयत्न से महान् सुख मिलने की आशा हो। बौद्धों के इस मनोरम धर्म का नाम वज्रयान है। इस सम्प्रदाय ने 'शून्यता' के साथ-साथ 'महासुख' के दार्शनिक सिद्धान्तों की कल्पना की। 'शून्यता' का ही नाम 'वज्र' है। वज्र अनश्वर है, वह दुर्भेद्य अस्त्र है। वज्रशेखर (दे० अद्वय-वज्र-संग्रह) का प्रवचन है :—

दृढं सारमसौशीर्यं अच्छेद्याभेद्यलक्षणम्, अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते।

अतः वज्र दृढ़, सार, अपरिवर्तनशील, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य एवं अविनाशी कहा गया है अतः वह शून्यता का प्रतीक है। यह शून्य 'निरात्मा' है—वह देवी-रूप है जिसके गाढ़ आलिङ्गन में मानव-चित्त (बोधिचित्त या विज्ञान) सदा संयुक्त रहता है। यह युगमिलन सार्वकालिक सुख तथा आनन्द का उत्पादक है। अतः वज्रयान का प्रयाग शून्य, विज्ञान तथा महासुख के त्रिवेणी-संगम पर पनपा। महासुख के विकास के विभिन्न सोपान हैं। शक्ति (जो करुणारूपा है) के विना सिद्धि नहीं मिल सकती। महासुख-प्रकाश की इस प्रकाश-किरण को पढ़िये : शून्यता-बोधितो बीजं बीजात् बिम्बं प्रजायते, बिम्बे च न्यासविन्यासस्तस्मात् सर्वं प्रतीत्यजम्—अर्थात् शून्यता के साक्षात्कार से बीज का आविर्भाव होता है। बीज से बिम्ब (प्रतिमा) की परिकल्पना होती है (अर्थात् मानसी) पुनः उससे प्रतिमा (परिग्रह) का विकास होता है। अतः बौद्ध-प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के सम्यक् ज्ञान के लिये बौद्ध-दर्शन के शून्यता-सिद्धांत का हृदयङ्गम आवश्यक है। महाचीनी तिब्बतों का याबयूम (yab yum) सिद्धांत शून्यता और करुणा के द्वैतवाद पर आश्रित है जिसके द्वारा दोनों को लक्ष्य में रखकर प्रतिमा-कल्पना एवं प्रतिमा-आकृति प्रदान की वह ऊर्वरा भूमि निष्पन्न हुई जिस पर शतशः प्रतिमा-क्षेत्रों की लहलहाती खेती देखने को मिलेगी। अन्ततोगत्वा शून्यता और करुणा की एकधारा बह निकली।

वज्रयान का उदय-स्थान

तिब्बती ग्रंथों की सूचना है कि बुद्ध ने बोधि के प्रथम वर्ष में ऋषिपत्तन नामक स्थान पर श्रामण-धर्म का चक्र-परिवर्तन किया, तेरहवें वर्ष में राजगृह के निकट गृध्रकूट पर्वत पर महायान नाम का द्वितीय धर्म-चक्र-परिवर्तन प्रारम्भ किया और सोलहवें वर्ष में मन्त्रयान का तृतीय धर्म-चक्र परिवर्तन श्रीधान्यकटक में किया। यह धान्यकटक मद्रास के गुन्टूर जिले में धरणीकोट के नाम से प्रसिद्ध है। अतः वज्रयान का उद्गम-स्थान यह प्रदेश तथा श्रीपर्वत है। श्रीपर्वत के सम्बन्ध में तन्त्र-शास्त्र में बहुल संकेतों से इसकी महाख्याति का अनुमान लगाया जा सकता है। संस्कृत के महाकवियों जैसे भवभूति (दे० मा० मा० बौद्ध-भिक्षुणी कपाल-कुण्डला) तथा बाण (दे० ह० च० श्रीहर्ष का साम्य श्रीपर्वत से) ने श्रीपर्वत को तान्त्रिक-उपासना के केन्द्ररूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार श्रीहर्षवर्धन ने अपनी रत्नावली नाटिका में 'श्रीपर्वत' को सिद्धों के अड्डे के रूप में निर्दिष्ट किया है। शंकर-दिग्विजय में श्रीशैल को तान्त्रिकों का गढ़ माना गया है जहाँ पर शंकराचार्य ने इन तान्त्रिकों को परास्त किया था। बौद्ध-परम्परा है कि नागार्जुन ने श्रीपर्वत पर रहकर अलौ-

किक सिद्धियाँ सम्पादन की थीं। अतः निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धों का मंत्रयान एवं वज्रयान का उगद्‌म यहीं से हुआ।

वैसे तो वज्रयान का अभ्युदय आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता है, जब सिद्धाचार्यों ने जनभाषा में कविता और गीत लिखकर इसके प्रचार की पराकाष्ठा कर दी, परन्तु तांत्रिक-मार्ग का उदय जैसा ऊपर संकेत है, बहुत पहले हो चुका था। मंजुश्री-कल्प मंत्रयान का प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह तृतीय शतक की रचना है। इसके अनन्तर श्री गुह्यसमाज-तन्त्र का समय ५वीं शताब्दी माना जाता है जो 'श्रीसमाज' के नाम से प्रसिद्ध है।

वज्रयान का विशाल साहित्य था जो अपने मूलरूप में अप्राप्य है। इसके अभ्युदय के केन्द्र नालन्दा तथा ओदन्तीपुर के विहार थे। वज्रयानी साहित्य के ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती साहित्य के तंजूर नामक विभाग में उपलब्ध है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के "बौद्धगान ओ दोहा" में वज्रयानी आचार्यों की भाषा-रचनाएं बंगीय साहित्य-परिषद् ने प्रकाशित की हैं।

वज्रयान के प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में सरहपा, शवरपा, लूइपा, पद्मवज्र, जालन्धरपा, अनङ्गवज्र, इन्द्रभूति, लक्ष्मीङ्करा, लीलावज्र, दारिकापाद, सहयोगिनी चिन्ता, डोम्बीहेरूक विशेष प्रसिद्ध हैं। वज्राचार्यों में अद्वयवज्र का ऊपर निर्देश किया ही जा चुका है। आचार्य बलदेव उपाध्याय का 'बौद्ध-दर्शन' बौद्ध धर्म एवं दर्शन की एक विद्वत्तापूर्ण एवं गवेषणात्मक रचना है, अतः विशेष ज्ञातव्य के लिये पाठक उपाध्याय जी के ग्रंथ का अध्ययन करें।

वज्रयान-पूजा-परम्परा

वज्रयान के उपोद्‌घात के अनन्तर अब हमें इसके उस अंग की ओर ध्यान देना है जिसके द्वारा बौद्ध-देववाद (Pantheon) तथा बौद्ध-प्रतिमाओं (Buddhist Icons) का विपुल विकास एवं प्रबल प्रकर्ष देखने को मिलता है।

वज्रयान में आचार्य का माध्यम एवं उसकी मर्यादा विशेष महत्त्वपूर्ण रखती है। चूंकि वज्र क दार्शनिक अवलम्ब मंत्रशास्त्र था जो साधारण जनों की उपासना में न तो सरलता ला सकता है और न रोचकता। अतः इन आचार्यों ने साधारण जनों के लिये धारणी-मंत्रों का पाठ प्रस्तुत किया जिनके पाठ से देव-पूजा की परम्परा पल्लवित हुई। प्रत्येक देव की 'धारणी' विरचित हुई। अतः जो उपासक साधना से सिद्धि के लिये असमर्थ थे उनको धारणी-मंत्रों के पाठमात्र से निर्वाण का मार्ग दिखाया गया। कालान्तर पाकर इसी परम्परा में तंत्रों का उदय हुआ। तंत्र का सामान्य अर्थ शक्ति-तत्व (देवी) की उपासना है। बौद्धों की शक्ति-पूजा शाक्तों की शक्ति-पूजा से विलक्षण है। इसमें शक्ति-देवी का देव-विशेष के साथ संयोग आवश्यक है। वज्रयान के उपास्य नाना बुद्धों, बोधिसत्त्वों, यक्षों आदि के साथ देवी-साहचर्य एवं उनके मिथुन संयोग ने उपासकों को इस पंथ के प्रति महान् आकर्षण प्रदान किया जिससे बौद्ध-स्थापत्य के प्रतिमा निर्माण अंग का विपुल विकास एवं वृद्धि सम्भव हो सकी। देवी और देवों के इस मिथुन-निदर्शक प्रतिमाओं के तीन प्रधान वर्ग देखने को मिलेंगे (दे० आगे उत्तर-पीठिका—बौद्ध-प्रतिमा लक्षण)—

किन्हीं में देव और देवी का उसी प्रतिमा में पृथक् स्थान, दूसरों में देव की गोद में देवी का स्थान और तीसरी कोटि की प्रतिमाओं में देवी का देव के साथ गाढ़ालिङ्गन-प्रदर्शन-पुरस्सर-चित्रण। प्रथम दो कोटियों को तन्त्र के शीलमय सम्प्रदाय ने अपनाया परन्तु उग्रों ने तो उसी देव प्रतिमा की उपासना चलाई जिसमें मिथुन का गाढ़ालिंगन अनिवार्य था; जिसको महाचीनी तिब्बती बौद्ध याबयूम (Yab Yum) के नाम से संकीर्तित करते हैं।

वज्रयान के देव-वृन्द का उदय-इतिहास

इस समीक्षा को समाप्त करने के प्रथम इस यान के देव-वृन्द की थोड़ी-सी झाँकी आवश्यक है। पाँच ध्यानी बुद्धों की परम्परा सर्वप्रथम पल्लवित हुई। परन्तु इसके विकास बीज का सर्वप्रथम दर्शन सुखावती-व्यूह अथवा अमितायुस-सूत्र (जो चीनी भाषा में १४८-७० ई० के बीच अनूदित हुआ था) में अकणिष्ठ स्वर्ग का वासी अमिताभ (अमितायुस) देव का संकेत है जिसने बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का भू पर अवतार कराया। इसी सूत्र के संक्षिप्त संस्करण (जो चीनी में ई० ३८४-४११ के बीच में अनूदित हुआ) में अक्षोभ्य को तथागत के रूप में और मंजुश्री को बोधिसत्व के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। चीनी-यात्री फाहियान (३९४-४१४) ने मंजुश्री, अवलोकितेश्वर और मैत्रेय इन तीन देवों का निर्देश किया है। ह्वेनसांग (६२९-६४५) तो नाना बौद्ध-देवों का वर्णन करता है—अवलोकितेश्वर, हारीति, क्षितिगर्भ, मैत्रेय, मञ्जुश्री, पद्मपाणि, वैश्रवण, शाक्य बुद्ध, शाक्य बोधिसत्व और यम ह्वेन-सांग के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है, बहुत से बौद्ध-भिक्षु जैसे अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, सुमेधस, आदि की बोधिसत्व के रूप में देव-कल्पना की जा चुकी थी। इत्सिंग नामक तीसरे चीनी यात्री (६७१-६९५) ने भी अनेक देवों का संकीर्तन किया है।

नालन्दा के बौद्ध-विहार के आचार्य शान्ति-देव (७वीं अथवा ८वीं शताब्दी में प्रादुर्भूत) के शिक्षा-समुच्चय में अक्षोभ्य, अमिताभ, तथा सिंहविक्रीडित को तथागत रूप में एवं गगनगंज को बोधिसत्व के रूप में परिकल्पित किया गया है। इनके इस ग्रन्थ में बहुल तान्त्रिक निर्देशों से तत्कालीन तान्त्रिक प्रभाव का मूल्याङ्कन किया जा सकता है। इसमें चुण्डा, त्रिसमयराज और मारीची की धारणियाँ भी उल्लिखित हैं। इनके श्रीमाला-सिंहनाद से अवलोकितेश्वर के नाना नामों में सिंहनाद नाम का निर्देश स्पष्ट है। अपने बोधिचर्य्यावतार में शान्तिदेव ने मंजुश्री के नाना रूपों में एक रूप मंजुघोष पर भी निर्देश किया है।

शान्तिदेव के अनन्तर लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक इन्द्रभूति की ज्ञान-सिद्धि के अतिरिक्त अन्य संस्कृत-ग्रंथ की उपलब्धि नहीं हुई परन्तु पन्थ की पूजा-परम्परा में दैनन्दिन उदीयमान विकास होता रहा। अनेकानेक देव एवं देवियों की कल्पना के साथ साथ नाना मंत्रों एवं मण्डलों की भी परिपल्पना की गयी। प्रत्येक देव के मंत्रों एवं बज्र मंत्रों का भी आविर्भाव इसी काल में हुआ।

एकादशशतक कालीन अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता में बौद्ध-देववृन्द के रेखा-चित्र भी मिलते हैं। पञ्चरक्षा के चित्र-पुरस्सर-प्रतिमा-लक्षण भी इसी समय के हैं। साधन-माला के नाना प्रतिलिपि-ग्रंथ भी इस काल में लिखे गये थे जिनमें बौद्ध-देव वृन्द के प्रधान एवं गौण दोनों प्रकार की देवताओं के लगभग चार सौ ध्यान संग्रहीत हैं।

बंगाल तांत्रिक-उपासना का उस समय का प्रख्यात केन्द्र था पालवंश के राज्यकाल में वज्रयानियों एवं सिद्ध-पुरुषों की महती परम्परा पल्लवित हुई। विक्रमशिला का बौद्ध-विहार तांत्रिक विद्या और साधना का तत्कालीन प्रख्यात पीठ था। उड्डियान (उड़ीसा) भी वज्रयान का एक प्रधान केन्द्र सिद्ध किया गया है (See Buddhist Iconography p. xxvii)। उड्डियान (उड़ीसा) के राजा इन्द्रभूति के ज्ञान-सिद्धि में वज्रयान का प्रथम शास्त्रीय संकीर्तन है। इसमें वज्रयान के आदि बुद्धों की परम्परा पर इसका 'पंचाक्षर' नामक अध्याय प्रकाश डालता है। जिस प्रकार ऊपर संकेत किया जा चुका है अमिताभ से अवलोकितेश्वर और अक्षोभ्य से प्रज्ञापारमिता का आविर्भाव हुआ उसी प्रकार पञ्च आदि-बुद्धों से नाना देवों का आविर्भाव हुआ—ऐसा निष्कर्ष इस ग्रंथ से निकलता है।

कालान्तर पाकर वज्रयान के नाना अवान्तर सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये जिनमें काल-चक्रयान विशेष उल्लेख्य हैं। काल-चक्रयान ने आदि-बुद्ध की बौद्ध-देवों के अधीश्वर अथवा मूल देव (Primordial Buddha) के रूप में उद्भावना की। इस उद्भावना का प्रथम आविर्भाव नालन्दा में हुआ। इसी आदि-बुद्ध से पंच ध्यानी-बुद्धों का प्रादुर्भाव बताया गया। आदि-बुद्ध की पूजा के लिये ज्वाला-प्रतीक की उद्भावना की गयी, जिस ज्वाला को नैपाली बौद्ध-पण्डित सनातन, स्वयम्भू एवं स्वयं-सत्ताक (Self-existent) परिकल्पित करते हैं। आदि-बुद्ध के ज्योतिरूप का आविर्भाव प्रथम नैपाल में हुआ जहाँ का स्वयम्भू-चैत्य इसका स्थापत्य-निदर्शन है। आदि-बुद्ध के अन्य अवान्तर रूपों में 'वज्रधर' की भी परिकल्पना महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार वज्रपाणि बोधिसत्व के विकास में 'वज्रसत्व' का आविर्भाव है उसी प्रकार आदि-बुद्ध की मानव-मूर्ति की परिकल्पना में वज्रधर। वज्रयान में आदिबुद्ध को अधीश्वर-देव माना गया और उसी से ध्यानी बुद्धों की अवतारणा भी संगत की गयी। आदि-बुद्ध के वज्रधर रूप के दो स्वरूप विकसित हुए—अद्वैत एवं द्वैत (याबयूम)। वज्रधर की अद्वैत-प्रतिमा को राजसी वस्त्रों, आभूषणों से अलंकृत करने की प्रथा है—आसन वज्रपर्यंक, मुद्रा वज्र हुंकार, एक हाथ में वज्र दूसरे में घण्टा। द्वैतरूप में अन्य लांछन समान परन्तु विशिष्ट लांछन शक्ति का आलिंगन है जिसका नाम गेटी (Getty) के अनुसार प्रज्ञापारमिता है। शक्ति-देवी की भूषा भी देवानुरूप है और उसके वामहस्त में कर्तरी तथा दक्षिणहस्त में कपाल दिखाया गया है।

अस्तु, आगे प्रतिमा-लक्षण (बौद्ध) में हम इन नाना देवों की प्रतिमोद्भावनाओं का एक संक्षिप्त एवं सरल वर्णन करेंगे। अतः अब यहाँ पर इतना संकेत आवश्यक है, वज्रयान परम्परा में प्रादुर्भूत नाना सम्प्रदायों की नाना देवोद्भावनायें उदित हुईं जिनका यहाँ पर उल्लेख न कर बौद्ध-प्रतिमा-लक्षण में कुछ आभास मिलेगा।

वज्रयान के चार प्रधान पीठ

वज्रयान की परम्परा में चार प्रमुख पीठ माने गये हैं। साधनमाला के अनुसार कामाख्या, सीरीहट्ट, पूर्णगिरि तथा उड्डियान। शाक्त-पीठ कामाख्या (आसाम) से हम सभी परिचित ही हैं। सीरीहट्ट सम्भवतः श्रीपर्वत है। पूर्णगिरि की अभिज्ञा नहीं हो पाई है। उड्डियान से तात्पर्य उड़ीसा से है।

जैन धर्म—जिन-पूजा

जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म का समकालिक अथवा उससे कुछ ही प्राचीनतर मानना संगत नहीं। नवीन गवेषणाओं एवं अनुसन्धान से (दे० ज्योति-प्रासाद जैन—Jainism—The Oldest Living Religion)। जैन धर्म कालक्रम से बहुत प्राचीन है। भले ही श्रीयुत ज्योति प्रसाद जी के जैन-धर्म के प्राचीनता-विषयक अनेक आकूत न भी मान्य हों तब भी वह निर्विवाद है कि जैनों के २४ तीर्थङ्करों में केवल महावीर ही ऐतिहासिक महापुरुष नहीं थे, उनके पहले के भी कतिपय तीर्थङ्कर ऐतिहासिक हैं जो ईशवीय-पूर्व एक हजार वर्ष से भी प्राचीनतर हैं। पार्श्वनाथ (ई० पू० ६ वीं शताब्दी) के पूर्व के तीर्थङ्करों में भगवान् नेमिनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे—म० भा० अनु० पर्व, अ० १४९, श्लो० ५०, ८०—में नेमिनाथ को जिनेश्वर कहा गया है। ज्योतिप्रसाद जी ने नेमिनाथ के सम्बन्ध में एक बड़ा ही अद्भुत संकेत ऋग्वेद से भी निकाला हैः—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ऋ० १-१-१६, यजु० २५०१६, सा० ३०८,

अस्तु, जैन-धर्म की प्राचीनता के प्रवल अथवा निर्वल प्रमाणों की अवतारणा यहाँ अभिप्रेत नहीं है—इस विषय की विशद समीक्षा उपर्युक्त प्रवन्ध में द्रष्टव्य है। हाँ इतना हमारा भी आकूत है कि इस धर्म का नाम 'जैन-धर्म' वर्धमान महावीर से भी पहले प्रचलित था—यह सन्दिग्ध है। इस धर्म की प्राचीनतम संज्ञा सम्भवतः 'श्रामण-धर्म' थी जो कर्मकाण्डमय ब्राह्मण धर्म का विरोधी था। इस श्रामण धर्म के प्रचारक 'अर्हत' थे जो सर्वज्ञ, रागद्वेष के विजयी, त्रैलोक्य-विजयी सिद्ध पुरुष थे अतएव इसकी दूसरी संज्ञा 'आर्हत-धर्म' भी थी। 'दीघनिकाय' में जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर का उल्लेख तत्कालीन विख्यातनामा ६ तीर्थङ्करों के साथ 'निगण्ठनातपुत्त' के नाम से किया गया है। 'निगण्ठ' अर्थात् 'निर्ग्रन्थ' यह उपाधि महावीर को उनकी भव-बन्धन की ग्रंथियों के खुल जाने के कारण दी गयी थी। रागद्वेष-रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण वर्धमान 'जिन' के नाम से भी विख्यात हुए; अतएव वर्धमान महावीर के द्वारा प्रचारित यह धर्म जैन-धर्म कहलाया।

जैन-धर्म में ईश्वर की सत्ता की कोई आस्था नहीं। धर्म-प्रचारक तीर्थङ्कर ही उनके आराध्य हैं। 'तीर्थङ्कर' का अर्थ 'मार्ग-स्रष्टा' तथा संघ-स्थापक भी है।

महावीर के पहले पार्श्वनाथ जी ने इस धर्म का विपुल प्रचार किया। उनके मूल सिद्धांत थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह जो ब्राह्मण-योगियों (दे॰ योग-सूत्र) की ही सनातन दिव्य दृष्टि थी। पार्श्वनाथ ने इनको चार महाव्रतों के नाम से पुकारा है। महावीर ने इन चारों में पांचवा महाव्रत ब्रह्मचर्य जोड़ा। पार्श्वनाथ जी वस्त्र-धारण के पक्षपाती थे परन्तु महावीर ने अपरिग्रह-व्रत की पूर्णता-सम्पादनार्थ वस्त्र-परिधान को भी त्याज्य समझा। इस प्रकार जैनियों के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का भेद अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है।

जैनियों का भी बड़ा ही पृथुल धार्मिक साहित्य है। बौद्धों ने पाली और जैनियों ने प्राकृत अपनाई। महावीर ने भी तत्कालीन-लोक भाषा अर्धमागधी या आर्ष-प्राकृत में अपना उपदेश दिया था। महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य) गौतम इन्द्रभूति ने आचार्य के उपदेशों को १२ 'अंग' तथा १४ 'पूर्व' के रूप में निवद्ध किया। इनको जैनी लोग 'आगम' के नाम से पुकारते हैं। श्वेताम्बरों का सम्पूर्ण जैनागम ६ भागों में विभाजित है—अङ्ग, उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेदसूत्र, सूत्र, तथा मूल-सूत्र जिनके पृथक्-पृथक् अनेक ग्रंथ हैं। दिगम्बरों के आगम—षट् खण्डागम एवं कसाय-पाहुड विशेष उल्लेख्य हैं। जैनियों के भी पुराण हैं जिनमें २४ तीर्थङ्कर १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव ६ प्रतिवासुदेव के वर्णन हैं। इन सबकी संख्या ६३ है जो 'शलाका-पुरुष' के नाम से उपश्लोकित किये गये है।

जैन-धर्म की भी अपनी दर्शन-ज्योति है परन्तु इस धर्म की मौलिक भित्ति आचार है। आचार-प्रधान इस धर्म में परम्परागत उन सभी आचारों (आचारः प्रथमो धर्मः) का अनुगमन है जिससे जीवन सरल, सच्चा और साधु बन सके।

जैन-धर्म यतियों एवं श्रावकों दोनों के लिये सामान्य एवं विशिष्टाचारों का आदेश देता है। अतएवं भाव-पूजा एवं उपचार-पूजा-दोनों का ही इस धर्म में स्थान है। प्रतीक-पूजा मानव-सभ्यता का एक अभिन्न अंग होने के कारण सभी धर्मों एवं संस्कृतियों ने अपनाया अतः जैनियों में भी यह परम्परा प्रचलित थी।

उपचारात्मक पूजा-प्रणाली के लिये मन्दिर-निर्माण एवं प्रतिमा-प्रतिष्ठा अनिवार्य है। अतएव जैनियों ने भी श्रावकों के लिये दैनिक मन्दिराभिगमन एव देव-दर्शन अनिवार्य बताया। समस्त धार्मिक-कृत्यों एवं उपासनाओं के लिये मन्दिर ही जैनियों के केन्द्र हैं। देव-पूजा के उपचारों में जल-पूजा, चन्दन-पूजा, अक्षत-पूजा, आरार्तिक और सामायिक (पाठ) आदि विशेष विहित हैं। प्रतीक-पूजा का सर्व-प्रबल निदर्शन जैनियों की सिद्धि-चक्र-पूजा है जो तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं के साथ-साथ मन्दिर में महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। श्वेताम्बरों और दिगम्बरों की पूजा-प्रणाली में भेद है—श्वेताम्बर पुष्पादि द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। दिगम्बर उनके स्थान पर अक्षत आदि ही चढ़ाते हैं। दूसरे दिगम्बर प्रचुर जल का (मूर्तियों के स्नान में) प्रयोग करते हैं परन्तु श्वेताम्बर बहुत थोड़े जल से काम निकालते हैं। तीसरे दिगम्बर रात्रि में मूर्ति-पूजा कर सकते हैं परन्तु श्वेताम्बर तो अपने मन्दिरों में दीपक भी नहीं जलाते—सम्भवतः हिंसा न हो जावे।

जिस प्रकार ब्राह्मणों के शाक्त-धर्म में शक्ति-पूजा (देवी-पूजा) का देव-पूजा में प्रमुख स्थान है। बौद्धों ने भी एक विलक्षण शक्ति-पूजा अपनायी उसी प्रकार जैनियों में

भी शक्ति-पूजा की मान्यता स्वीकार हुई। जैन-धर्म तीर्थङ्कर-वादी है ईश्वर-वादी नहीं है—यह हम पहले ही कह आये हैं। जैनियों के मन्दिरों एवं तीर्थ-स्थानों में देवी-स्थान प्रमुख स्थान रखता है। जैन-शासन की पूर्णता शाक्त-शासन पर है। जैन-यति तान्त्रिक-उपासना के पक्षपाती थे। कंकाली, काली आदि तान्त्रिक देवियों का जैन-ग्रन्थों में महत्वपूर्ण-प्रतिष्ठा एवं संकीर्तन है। श्वेताम्बरों ने महायान बौद्धों के सदृश तान्त्रिक-परम्परा पल्लवित की। जैन-शासन में तीर्थङ्कर-विषयक ध्यान-योग का विधान है। इस योग के धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान-दो मुख्य विभाग हैं। धर्म-ध्यान के ध्येय स्वरूप के पुनः चार विभाग हैं। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूप-वर्जित। इनमें मंत्र-विद्या का संयोग स्वाभाविक था—हेमचन्द्र कृत-योग-शास्त्र ने ऐसा प्रतिपादन किया है। इस मंत्र-विद्या के कालान्तर पाकर दो स्वरूप विकसित हुए—मलिन-विद्या और शुद्ध-विद्या जैसा कि ब्राह्मण-धर्म में वामाचार और दक्षिणाचार की गाथा है। शुद्ध-विद्या की अधिष्ठातृ-देवी सरस्वती की पूजा जैनियों में विशेष मान्य है। सरस्वती-पूजा के अतिरिक्त जैन-धर्म में प्रत्येक तीर्थङ्कर की एक एक शासन-देवता का भी यही रहस्य है। श्वेताम्बर-मतानुसार ये चौबीस देवता आगे जैन प्रतिम-लक्षण में चौबीस तीर्थङ्करों के साथ साथ संज्ञापित की जावेंगी। सरस्वती के षोड़श विद्या-व्यूहों का भी हम आगे ही उसी अवसर पर संकीर्तन करेंगे। इस प्रकार जैन-धर्म में प्रासाद-देवता, कुल-देवता और सम्प्रदाय-देवता इन तीन देव-वर्गों का अभ्युदय हुआ। इन सभी में हिन्दुओं के देवों और देवियों का ही विशेष प्रभाव है। बौद्धों की अपेक्षा जैन हिन्दू-धर्म के विशेष निकट हैं। जैन-देव वृन्द के इस संकेत में यक्षों को नहीं भुलाया जा सकता। तीर्थङ्करों के प्रतिमा-लक्षण में देवी-साहचर्य के साथ-साथ यक्ष-साहचर्य भी एक अभिन्न अङ्ग है। प्राचीन हिन्दू-साहित्य में यक्षों की परम्परा, उनका स्थान एक उनके गौरव और मर्यादा के विपुल संकेत मिलते हैं। जैन-धर्म में यक्षों का तीर्थङ्कर-साहचर्य तथा जैन-शासन में यक्षों और यक्षिणियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान का क्या मर्म है? यक्षाधिप कुबेर देवों के धनाधिप संकीर्तित हैं। यक्षों का भोग एवं ऐश्वर्य सनातन से प्रसिद्ध है। जैन-धर्म का संरक्षण सम्पन्न श्रेष्ठि-कुलों एवं ऐश्वर्यशाली वणिक-वृन्द में विशेष रूप से पाया गया है। अतएव यक्ष और यक्षिणी प्राचीन समृद्ध जैनधर्मानुयायी श्रावकगणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, ऐसा भट्टाचार्य जी का (See Jain Iconography) आकूत है। हमारी समझ में यक्ष एवं यक्षिणी तांत्रिक-विद्या तन्त्र-मन्त्रसमन्विता रहस्यात्मिका शक्ति-उपासना का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दुओं के दिग्पाल और नवग्रह-देवों को भी जैनियों ने अपनाया। क्षेत्रपाल, श्री (लक्ष्मी) शान्ति देवी और ६४ योगिनियों का विपुल वृन्द जैन-देव-वृन्द में सम्मिलित है। अन्त में जैन-तीर्थों पर थोड़ा संकेत आवश्यक है जैन-तीर्थङ्करों की जन्म-भूमि अथवा कार्य-कैवल्य भूमि जैन-तीर्थ कहलाये। लिखा भी है:—

> जन्म - निष्क्रमणस्थान - ज्ञान - निर्वाण भूमिषु।
> अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूले नगरेषु च॥
> ग्रामादिसन्निवेशेषु समुद्रपुलिनेषु च।
> अन्येषु वा मनोज्ञेषु कारयेज्जिनमन्दिरम्॥

९

अर्चापद्धति

विगत तीन अध्यायों में अर्च्य-देवों के विभिन्न सम्प्रदायों का जो एक सरल इतिहास लिखा गया है उसमें अर्चा और अर्चकों की सामान्य मीमांसा पर अनायास एक उपोद्‌घात हो ही गया है तथापि इस देश की प्रतिमा-पूजा-परम्परा में वैदिक-याग के ही सदृश पूजा-पद्धति का भी एक विपुल विस्तार एवं शास्त्रीय-करण अथवा पद्धतिरूप पाया जाता है। अतः इस विषय की एक विशिष्ट अवतारणा अपेक्षित है। यहाँ पर इतना संकेत आवश्यक है कि यद्यपि इस ग्रन्थ में हिन्दू स्थापत्य-शास्त्र में प्रतिपादित प्रतिमा-लक्षणों में हिन्दुओं के पौराणिक देवों एवं देवियों का ही प्राधान्य है परन्तु बौद्ध धर्म एवं जैन-धर्म को हिन्दू-धर्म का ही एक विशिष्ट विकास मानने वाले प्राचीनाचार्यों ने 'बौद्ध-लक्षण' तथा 'जैन-लक्षण' शीर्षक अध्यायों में बौद्ध-प्रतिमाओं एवं जैन-प्रतिमाओं के भी लक्षण लिखे हैं। अतः इस अध्याय में जहाँ हम हिन्दुओं की अर्चा-पद्धति के विभिन्न अंगों एवं उपांगों का विवेचन करेंगे वहाँ हमें बौद्धों एवं जैनों की अर्चा-पद्धति—'ध्यानपरम्परा' आदि पर भी कुछ न कुछ संकेत करना अनिवार्य है।

'अर्चा-पद्धति' की मीमांसा के उपोद्धात में दूसरा संकेत यहाँ पर यह करना है कि अर्चा-पद्धति में यद्यपि विभिन्न देवों की पूजा में एक सामान्य स्वरूप अवश्य प्रत्यक्ष है तथापि अर्चक एवं अर्च्य के भेद से पूजा-पद्धति में सुतरां एक स्वाभाविक प्रभेद भी परिलक्षित होगा। अर्चा-पद्धति एवं अर्चागृह निर्माण में अधिकारि-भेद एक सनातन परम्परा है। वैदिकी, तांत्रिकी और मिश्री जिन तीन प्रकार की पूजाओं का ऊपर संकेत किया गया है उनमें प्राचीन भारतीय समाज का मूलाधार—वर्णाश्रम-व्यवस्था का अनिवार्य प्रभाव है। वैदिक-होम में द्विजातिमात्र की ही अधिकारिता थी। परन्तु आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। जिस प्रकार बहुद्रव्यापेक्ष्य वैदिक-याग एवं ज्ञानिगम्य ब्रह्म-चिन्तन एवं आत्मसाक्षात्कार सामान्यजनों के लिये कठिन साध्य एवं असंभव होने के कारण प्रतिमा-पूजा ऐसे सरलमार्ग के निर्माण की आवश्यकता उत्पन्न की; अतएव विशाल भारतीय समाज के उस अंग में जिसमें निर्धन गृहस्थ, साधारण विद्याबुद्धि वाले प्राणी और निम्न वर्ण के शूद्र लोग थे उनकी उपासना का कोई मध्यम मार्ग होना ही चाहिये था। भगवान् बुद्ध ने जो मध्यम मार्ग चलाया उसके प्रचार में इस देश की सनातन ज्योति—वैदिक-धर्म की प्रभुता—का अभाव था। अतएव वह इस देश में चिरस्थायी न रह सका। वैदिक-धर्म की पृष्ठ-भूमि पर पल्लवित स्मार्त एवं पौराणिक-धर्म ने भगवान् बुद्ध के इसी मध्यम मार्ग को वैदिक संस्कृति के ही अनुरूप रूप प्रदान कर एक नवीन हिन्दू-धर्म की प्रतिष्ठा की। पौराणिक धर्म का प्रधान लक्ष्य देव-पूजा है। अतएव देव-पूजा से सम्बन्धित देवों का उदय एवं देव-गृहों (मन्दिरों) का निर्माण एवं देवमूर्तियों की कल्पना एवं प्रतिष्ठा आदि इस धर्म के प्रधान तत्त्व प्रकल्पित हुए।

अस्तु, देव-पूजा का जो स्वरूप इस अर्चा-पद्धति में देखने को मिलेगा वह अकस्मात् नहीं उदित हो गया था। देव-पूजा देव-यज्ञ से उद्भूत हुई। देव-यज्ञ अग्नि में देव-विशेष का सम्प्रदान कारक में संकीर्तन कर स्वाहोच्चारण-सहित समिधा एवं हव्यान्न अथवा कोई अन्य वस्तु (दुग्ध दधि आदि) अथवा एकमात्र समिधा-दान (आहुति) से सम्पन्न होता है। अतः जैसा पूर्व ही संकेत किया जा चुका है (दे० अ० २) देव-यज्ञ के तीन प्रधान अंग थे—द्रव्य, देवता तथा त्याग। अतः वैदिक-काल में हमारे पूर्वज जो हवन करते थे वही देव-यज्ञ का प्रधान रूप था। अग्निहोत्र की इस सामान्य व्यवस्था—प्राचीन आर्यों की देव-पूजा को—सूत्रकारों ने (जैसे आपस्तम्ब, बौद्धायन आदि) देव-यज्ञ की संज्ञा से संकीर्तित किया है। प्राचीनों की इस देव-यज्ञात्मक-पूजा-पद्धति (अर्थात् अग्निहोत्र) की देवतायें विभिन्न धर्म-सूत्रों एवं गृह्य सूत्रों में भिन्न भिन्न संकीर्तित है। आश्वलायन गृ० सू० (प्रथम. २२.) के अनुसार अग्निहोत्र की देवतायें सूर्य अथवा अग्नि एवं प्रजापति, सोम, वनस्पति, अग्नि-सोम, इन्द्राग्नि, द्यावा-पृथिवी, धन्वन्तरि, इन्द्र, विश्वेदेवाः, ब्राह्मण हैं। इसी प्रकार अन्य सूत्रकारों ने जिस देव-वर्ग को अग्निहोत्र का अधिकारी माना है वह एक सा नहीं है। हाँ उनमें उन देवों की प्रधानता का सर्वथा अभाव है जिनका पौराणिक पूजा-पद्धति में उदय हुआ—जैसे गणेश, विष्णु, सूर्य, शिव, दुर्गा आदि। प्राचीन वैदिक-कालीन देव-यज्ञ के इस प्रथम स्वरूप के दर्शन के अनन्तर एक दूसरा सोपान जो देखने को मिलता है उसमें प्राचीन देव-यज्ञ (हवन या वैश्व-देव) के साथ-साथ एक नवीन अर्चा-पद्धति, जिसे देव पूजा के नाम से पुकारा गया है, भी सम्मिलित की गयी। याज्ञवल्क्य एवं मनु ने अपनी स्मृतियों में देव-यज्ञ (हवन) एवं देव-पूजा को पृथक्-पृथक् रूप में परिकल्पित किया है। याज्ञवल्क्य (दे० १. १००) तर्पणोपरान्त देव-पूजा का समय बताते हैं। मध्यकालीन धर्म-शास्त्र के कतिपय आचार्यों ने देव-यज्ञ को एकमात्र 'वैश्वदेव' (जो देव-यज्ञ का एक अंगमात्र था) के रूप में परिणत कर वैदिक-होम की प्राचीन प्रधानता के ह्रास का मार्ग तैयार किया अतः उत्तर-मध्यकाल एवं आधुनिककाल में देव-यज्ञ नाममात्रावशेष रह गया और देव-पूजा अपने विभिन्न उपचारों से इस देश की उपासना का एकमात्र अंग बन गयी। यद्यपि सिद्धान्तरूप में देव-पूजा और देव-यज्ञ एक ही है (दे० विगत अ०) क्योंकि पाणिनि के 'उपान्मंत्रकरणे' इस सूत्र के वार्तिक में देव-पूजा की व्याख्या में देव-यज्ञ एवं देव-पूजा दोनों में त्याग (dedication) समान बताया गया है। जैमिनि एवं उसके प्रसिद्ध टीकाकार शबर की भी यही धारणा है कि याग अर्थात् यजन, पूजन, होम एवं दान सभी में उत्सर्ग समान है। परन्तु इस देव-पूजा का स्वरूप वैदिक देव-यज्ञ से सर्वथा विलक्षण हो गया। काल्पनिक देवों के स्थान पर देव-मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। अतः इस पद्धति के दो स्वरूप प्रतिफलित हुए। एक वैयक्तिक तथा दूसरा सामूहिक। वैयक्तिक पूजा में लोग अपनी-अपनी इष्ट-देवता की अपने अपने घरों में पाषाण, लौह, ताम्र, रजत अथवा स्वर्ण आदि द्रव्यों से विनिर्मित प्रतिमाओं की पूजा करते तथा जहाँ पर ये प्रतिमायें प्रतिष्ठापित की जाती थीं उनको देव-कुल, देवगृह, देवस्थान आदि नामों से इस अर्चा-पद्धति के अर्चा-गृहों को संकीर्तित करते थे। बाल्मीकि-रामायण एवं भास के नाटकों में ऐसे अर्चा-गृहों की संज्ञा

'देवकुल,' 'देवगृह' आदि देखकर देव-पूजा की यह परिपाटी काफी प्राचीन है—यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। अथच यहाँ पर प्राचीन-काल, पूर्व-मध्यकाल, उत्तर-मध्य काल एवं आधुनिक-काल का समय विभाजन प्रचलित ऐतिहासिक परम्परा से सर्वथा विलक्षण समझना चाहिये। प्राचीनकाल ईसा से लगभग पाँच हजार वर्ष से प्रारम्भ होता है तथा ढाई हजार वर्ष पूर्व तक पूर्व एवं उत्तर वैदिक युग के रूप में परिकल्पित है। पुनः मध्यकाल ईसा से दो हजार वर्ष से प्रारम्भ समझना चाहिये जिसके पूर्व एवं उत्तर दोनों धाराओं को डेढ़ डेढ़ हजार वर्ष देवें तो आधुनिक काल का श्री गणेश ११ वीं शताब्दी से प्रारम्भ समझना चाहिये। यही युग विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के विकास का चरम युग था तथा बड़े-बड़े तीर्थ-स्थानों, मंदिरों, धर्म-पीठों के आविर्भाव का भी यही समय था। अतः सामूहिक उपासना का जो स्वरूप इस देव-पूजा के विकास में प्रतिफलित हुआ वह भी उत्तरमध्य-काल में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। पौराणिक-धर्म में तीर्थ-माहात्म्य एक प्रमुख स्थान रखता है। तीर्थों का आविर्भाव पौराणिक धर्म के संरक्षण में ही हुआ। बड़े-बड़े प्रसिद्ध देवपीठ एवं तीर्थ-स्थान सामूहिक देव-पूजा के निदर्शन हैं। अतः इस सामूहिक पूजा-पद्धति में अर्च्य देवों में सर्वाधिक प्रभुता विष्णु एवं शिव को मिली; पुनः अन्य देवों एवं देवियों—ब्रह्मा, सूर्य गणेश, दुर्गा, सरस्वती, तथा राम, कृष्ण आदि को (विष्णु-अवतार)। पुराणों में यद्यपि ब्रह्मा-विष्णु-महेश (त्रिमूर्ति) की त्रिदेवोपासना समान रूप से अभीष्ट है तथा पुराणों से प्रभावित भारतीय वास्तु-शास्त्र के ग्रंथों में भी वैष्णव एवं शैव-प्रासादों (मंदिरों) के समान ही ब्राह्म एवं सौर-प्रसादों का भी वर्णन है रन्तु व्यावहारिक रूप में यह संघटित नहीं हुआ। विष्णु और शिव की भक्ति की जो दो प्रधान धारायें पौराणिक-धर्म में प्रस्फुटित हुई उनका प्रयाग भगवती दुर्गा (शक्ति-उपासना) की रहस्यात्मका सरस्वती के पीठ पर परिकल्पित किया गया और अन्य देव परिवार देवों—सहायकदेवों के रूप में ही रह गये।

इस नवीन पूजा-पद्धति के अर्च्य देवों के इस संकेत के उपरान्त अर्चा-पद्धति में अधिकारि-भेद का सूत्रपात करने के पूव यहाँ पर इतना संकेत और वांछित है कि इस अर्चा-पद्धति के सामूहिक रूप के विकास में जिन देवालयों की स्थापना हुई उनकी प्रधान-रूप से दो शैलियाँ विकसित हुईं—द्राविड़-शैली तथा नागर-शैली। द्राविड़-शैली में निर्मित देवागारों को 'विमान' तथा नागर में निर्मित मंदिरों की 'प्रासाद' संज्ञायें प्रसिद्ध हैं। इस विषय पर आगे के अध्यायों—अर्चागृह तथा प्रतिमा एवं प्रासाद में विशेष चर्चा होगी।

देव-पूजा के अधिकारि-भेद के उपोद्घात में हमारी यह धारणा अवश्य ग्राह्य कही जा सकती है कि वास्तव में देव-पूजा के उदय का लक्ष्य ही निम्न श्रेणी के मनुष्य थे अतः प्राचीन परम्परा में देव-पूजा के सभी अधिकारी थे। इस प्रकार का धार्मिक साम्यवाद ही पुराणों की महती देन है। कालांतर पाकर जो वैषम्यवाद देखने को मिलता है तथा जिसका दृढीकरण शास्त्रों में भी पाया जाता है वह धार्मिक संकीर्णता एवं सम्प्रदाय-वादिता का परिणाम है। नृसिंह-पुराण का निम्न प्रवचन देव-पूजा के प्राचीन एवं मौलिक स्वरूप में इसी उदारता का समर्थक है:—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः ।
संपूज्य तं सुरश्रेष्ठं भक्त्या सिंहवपुर्धरम् ।
मुच्यन्ते चाशुभैर्दुःखैर्जन्मकोटिसमुद्भवैः ॥

इस श्लोक में विष्णु-पूजा (नृसिंहावतार) के सभी समान रूप से अधिकारी माने गये हैं ।

'पूजा-प्रकाश' में संग्रहीत नाना पुराण-संदर्भों से यह स्पष्ट है कि शूद्र भी शालग्राम की पूजा कर सकते हैं—हाँ, वे उसको स्पर्श नहीं कर सकते थे जो पूर्ण वैज्ञानिक है । प्राचीनों के लिए आचार प्रथम धर्म था । अतः अपूताचरण शूद्र ब्राह्मतेज से पवित प्रतिमा के स्पर्श के अधिकारी कैसे हो सकते थे ? भागवत-पुराण (२-४-१८) भी यही उद्घोष करता है कि किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुलत्त, आभीर, सुह्म, यवन, खश आदि निम्न जातियाँ एवं पापी भी जब भगवान् विष्णु के चरणों में आत्मसमर्पण कर देते हैं तो पवित्र बन जाते हैं ।

देव-पूजा की अधिकारिता की इस सामान्य परम्परा से प्रतिमा-पूजा की सामान्य-परम्परा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है । परन्तु प्रतिमा-पूजा भी तो एक प्रयोज्य है—प्रयोजन तो वह जगद्व्यापी परमेश्वर है जिसकी प्रतिमा के प्रतीक में पूजा प्रारम्भ हुई । अन्यथा प्रतिमा के अतिरिक्त भी उस महाप्रभु की विभिन्न स्थानों में विभिन्न महामूर्तियाँ हैं, जैसे जल में, अग्नि में, हृदय में, सूर्य में, यज्ञ की वेदी में (यज्ञनारायण) ब्राह्मणों में 'ब्राह्मणोऽस्य मुख-मासीत्' परन्तु सभी तो इतनी विशालता नहीं रखते सभी का ज्ञान इतना विकसित नहीं । अतएव प्रतिमा-पूजा के सभी अधिकारी हो सकते हैं । इसी तथ्य की उद्भावना निम्न प्रवचनों से स्पष्ट है :—

(अ) अप्स्वग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च ।
षट्स्थानेषु हरेः सम्यगर्चनं मुनिभिः स्मृतम् ॥ नारद ॥

(ब) हृदये प्रतिमायां वा जले सवितृमण्डले ।
वह्नौ च स्थण्डिले वापि चिन्तयेद्विष्णुमव्ययम् ॥ वृद्धहारीत ॥

(स) अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे ।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥ भागवत

परन्तु शातातप का प्रवचन है:—

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम् ।
काष्ठलोष्टेषु मूर्खाणां युक्तस्यात्मनि देवता ॥

अर्थात् मनीषी मनुष्य अपने देवता का विभावन जल में वा आकाश में कर लेते हैं परन्तु मूर्ख लोगों के लिये काष्ठमयी, मृण्मयी आदि द्रव्यजा प्रतिमायें ही इस विभावन के अनुकूल हैं । जो युक्तात्मा (योगी है) उसको तो बाहर जाने की जरूरत ही नहीं; उसे अपनी आत्मा में ही अपना देव विभाव्य है ।

नृसिंह पुराण (दे० अ० ६२) भी इसी का समर्थन करता है :—

अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः ॥

अस्तु, इन प्रवचनों से देव-पूजा के अधिकारि-भेद पर थोड़ी सी समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि देव-पूजा का दरवाजा यद्यपि सबके लिये खुला था तो भी विभिन्न जनों के विभिन्न बुद्धि-स्तर का मनोवैज्ञानिक आधार भी महत्त्व रखता था। अतः जिस मनुष्य का बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तर जितना ही प्रबल एवं विकसित है उसके अनुरूप ही उसके अधिकार, कर्तव्य, आचार एवं विचार भी अनुषङ्गतः प्रभावित होंगे ही। देव-पूजा के अधिकार भेद का यही मर्म है। सभी तो योगी नहीं और न सभी मुमुक्षु ही बनना चाहते हैं। अपने दैनंदिन के कार्य-व्यापार में भी मानव को ईश्वर की सहायता का बड़ा भरोसा रहता है। अतएव वे अपनी-अपनी मर्यादा एवं विभूति के अनुरूप उसको विभिन्न रूप में एवं विभिन्न प्रक्रियाओं से पूजते हैं—ध्याते हैं, आत्मनिवेदन करते हैं, अपना दुखड़ा रोते हैं, वरदान माँगते हैं और सफल-मनोरथ उपहार चढ़ाते हैं। देव-पूजा में प्रतिमा-पूजा का यही रहस्य है।

अर्चा-पद्धति की इस सामान्य अधिकारिता का अर्चागृहों में भी प्रभाव पड़ा। विष्णु-मन्दिरों में भागवत, सूर्यमन्दिरों में मगब्राह्मण, शिवमन्दिरों में भस्मधारी द्विजाति, देवि-मन्दिरों में मातृमण्डल (श्रीचक्र ?) के ज्ञाता लोग, ब्राह्ममन्दिर में विप्रगण, सर्वहित शान्तमन बुद्ध के मन्दिर में शाक्य लोग, जिन (जैन-तीर्थङ्कर) के मन्दिर में नग्न लोग पुजारी होने के अधिकारी हैं—वराहमिहिर की बृहत्संहिता (दे० ६०.१६) का यह प्रवचन इस उपर्युक्त तथ्य का बड़ा पोषक है। अर्चागृह का यह अधिकारि-भेद प्रासादों की कर्तृकारक-व्यवस्था से अनुप्राणित है—जिस पर हमारे प्रासाद-वास्तु (Temple-Architecture) में विशेष विवेचन मिलेगा। आगे का अध्याय 'प्रतिमा एवं प्रासाद' भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डालेगा।

देव-यज्ञ से देव-पूजा के विकास-इतिहास के इस सूक्ष्म दिग्दर्शन के उपरान्त अब क्रम-प्राप्त अर्चा-पद्धति की विवेचना करना है। इस स्तम्भ में हम अर्चा-पद्धति की सामान्य उपचारात्मक पद्धति के प्रतिपादन के पूर्व देव-विशेष की पूजा-पद्धति पर प्रथम संकेत करेंगे।

विष्णु-पूजा-पद्धति

विष्णु-धर्म-सूत्र (दे० अ० ६५) में देव-पूजा (विशेष कर वासुदेव-विष्णु) का सर्वप्राचीन वर्णन है। सर्वप्रथम हस्तपाद-प्रक्षालन कर सुस्नात होकर विष्णु की विभावना करना चाहिये अर्थात् अपने मन में विष्णु की झाँकी देखनी चाहिये—शिवो भूत्वा शिवं यजेत—'विष्णुर्भूत्वा यजेद्विष्णुं वा'। सूत्रकार ने इसी को 'जीवदान' कहा है जो 'अश्विनोः प्राणस्तौत इति' मंत्र (दे० मैत्रा० सं० २-३-४) से संपादन करना चाहिये। व्यापक विष्णु को अर्चा के योग्य विभावित कर पुनः उनका अर्चा के लिये 'युञ्जते मनः' इस अनुवाक् (दे० ऋ० ५-८१) से आवाहन करना चाहिए। तदनन्तर अर्चक को अपने

अर्च्य को—जानु, पाणि एवं शिर से प्रणाम करना चाहिये। जीवदान, आवाहन तथा प्रणाम के उपरान्त आगे जो पूजोपचार हैं—तालिकावद्ध निम्नरूप से द्रष्टव्य हैं:—

उपचार		मंत्र
१—३.		ऊपर देखिये
४.	अर्घ्यनिवेदन	'आपोहिष्टेति' तीन मंत्रों से (दे० ऋ० दशम० ६.१-३)
५.	पाद्यजल निवे०	'हिरण्य वर्णा' इति चार मंत्रों से (तै० सं० के पंचम ६. १. १-२)
६.	आचमनीयजल	'शं न आपो' इति मंत्र से (अथर्व० प्रथ० ६.४)
७.	स्नानीयजल	'इदमापः प्रवहत' इति से (ऋ० प्र० २३. २२)
८—९	अनुलेपन और आभूषण	'रथेष्वक्षेषु' से (तै० ब्रा० द्वि० ७. ७.)
१०.	वस्त्र	'युवा सुवासा' से (ऋ० तृ० ८.४)
११.	पुष्प	'पुष्पावत रिति' से (तै० सं० च० २. ६. १)
१२.	धूप	'धूरसि धूर्वेति' से (वाज सं० प्र० ८)
१३.	दीप	'तेजोसि शुक्रमिति' से (वाज० सं० २२ वाँ १)
१४.	मधुपर्क	'दधिक्राव्ण' इति से (ऋ० च० ३९.६)
१५.	नैवेद्य	'हिरण्यगर्भ इत्यादि' ८ मंत्रों से (ऋ० दश० १२१. १-८)
१६—२१	चामर	व्यजन, दर्पण, छत्र, यान, आसन आदि समर्पण गायत्री मंत्र से विहित हैं।

इस प्रकार इस उपचारात्मक पूजा का सम्पादन कर अर्चक के लिये पुरुष-सूक्त का जाप भी सूत्रकार ने विहित किया है और उसी पुरुषसूक्त से अन्त में आज्य हवन भी आवश्यक है—यदि वह शाश्वत पद का अभिलाषी है। इस दृष्टि से प्राचीनों की जो यह आस्था थी:—

हविषाग्नौ जले पुष्पैः ध्यानैर्वा हृदये हरिम्।
अर्चन्ति सूरयो नित्यं जपेन रविमण्डले॥ स्मृ० मु०

उसके अनुरूप इस पूजा-विधान में पुष्पादि उपचार के साथ जप एवं हवन भी देव-पूजा के अनिवार्य अंग सिद्ध होते हैं। बौ० गृ० परिशेष-सूत्र में महापुरुष (भगवान् विष्णु) की पूजा-प्रक्रिया पर एक अति पुरातन तथा प्राञ्जल एवं महत्वपूर्ण प्रविवेचन है। इसमें कतिपय नवीन उद्भावनायें है जैसे पूजोपचारों में गोमय-प्रयोग—प्रतिमा के अभाव में एक शुचि स्थान पर गोमय-लेप के अनन्तर उसी स्थान पर विष्णु की प्रतिकृति खींच लेना तथा आवाहनादि-उपचारों (जिनके मंत्रों में भी यत्र तत्र भेद है) के अतिरिक्त विसर्जन भी निर्दिष्ट है। हाँ, आवाहन और विसर्जन अचला प्रतिमा की उपासना में वर्ज्य हैं।

शिव-पूजा-पद्धति

शिव-पूजा में भी (दे० बौ० गृह्यशेष० द्वि० १७) प्रायः उपर्युक्त अविकल उपचारों का परिगणन है; केवल विष्णु के नाम के स्थान पर महादेव, भव, रुद्र, त्र्यम्बक आदि नाम संयोजित किये जाते हैं। कहीं-कहीं पर उपचार-मंत्रों में भी भेद है। शिव-पूजा के

दोनों रूपों लिङ्ग एवं प्रतिमा से हम परिचित ही हैं। अतः जब अचललिङ्ग की उपासना का अवसर है तो फिर उसमें आवाहन एवं विसर्जन की आवश्यकता नहीं। बौधायन के शिवार्चा-सम्बन्धी निम्न प्रवचन को पढ़िये:—

'अथातो महादेवस्याहरहः परिचर्याविधिं व्याख्यास्यामः। स्नातः ......पुष्पोदकेन महादेवमावाहयेत् ......आयातु भगवान् महादेव इति। यो रुद्रो अग्नौ इति यजुषा पात्रमभिमन्त्र्य ......अथ ......आचमनीयं दत्वाभिषिञ्चति—आपो हि ष्ठा ब्रह्मजज्ञानं, कद्रुद्राय, त्वरितरुद्रं, वामदेव्यं, आपो वा इदम् इति च। ......अद्भिस्तर्पयति भवं देवं तर्पयामि इत्यष्टाभिः। ओं नमो भगवते रुद्राय त्र्यम्बकाय इति वस्त्रयज्ञोपवीते दद्यात्। भवाय, देवाय नमः इत्यष्टाभिः पुष्पाणि दद्यात्। त्वरितरुद्रेण गन्धपुष्पधूपदीपं ददाति। ...... 'त्र्यम्बकं' इति परिषेकं दद्यात्। अमृतोपस्तरणमसीति प्रतिपदं कृत्वा हविरविरुद्धं सर्वं स्वादु वस्तु कन्दमूलफलानि दद्यात्। मुहूर्तमनवेक्षमाणा आसीनो हविरुद्वासयामि इति नैवेद्यमुद्वास्य अमृतापिधानमसीति प्रतिपदं कृत्वा त्र्यम्बकमित्याचमनीयं दद्यात्। ...... लिङ्गस्थानेष्वावाहनोद्वासनवर्जमहरहः स्वस्त्ययनमाचक्षत इत्याह भगवान् बौधायनः (दे० स्मृति चि० प्र० २०४-५; स्मृतिमु० आह्निक पृ० ३९२, पूजाप्रकाश पृ० १९४-६)।

पूजा-प्रकाश (पृ० १६४) में हारीत ऋषि के आदेश का उल्लेख है जिसके अनुसार देवाधिदेव महादेव की पूजा पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) से अथवा रुद्र-गायत्री (तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि, तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्) से या 'ओं' से अथवा तै० आ० दशम ४७ के 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' मंत्र से या फिर तै० सं० चतु० ५.१-११ के रुद्र-मंत्रों से अथवा ऋग्वेदीय (सप्त० ५६.१२) 'त्र्यम्बकं यजामहे' मंत्र से सम्पन्न की जा सकती है। शिव-भक्त के लिये रुद्राक्ष-धारण की परम्परा पर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। शिव-लिङ्ग की पूजा में दुग्ध-स्नान, दधि-स्नान, घृत-स्नान, मधु-स्नान, इक्षुरस-स्नान, पञ्चगव्य-स्नान, कर्पूरागुरुमिश्रित-जल-स्नान आदि पृथक् पृथक् पुण्यलाभ के विधायक हैं—ऐसी स्मार्त धारणा है। प्रत्येक मास की कृष्ण चतुर्दशी शैवों का परम पुनीत दिवस होता है—यह पुरातन विश्वास महाकवि बाण के समय विद्यमान था। कादम्बरी में महारानी विलासवती ने उज्जयिनी के महाकाल की पूजा के लिये इसी तिथि पर प्रयाण किया था।

पंचायतन के विष्णु एवं शिव—इन दो देवों की अर्चा-पद्धति के इस संकेत के उपरांत क्रमप्राप्त अन्य देवों एवं देवियों की पूजा-पद्धति की विस्तारभय से सविस्तर चर्चा न करके यहाँ पर इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि इन सभी देवों की पूजा-परम्परा पर अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक के चार अध्यायों में सविस्तर संकेत है। उन अध्यायों में अर्चा का आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है यहाँ पर उपचारात्मक पद्धति की ही समीक्षा विशेष उपजीव्य है। अतः दो चार शब्दों में इन सभी देवों की उपचारात्मक पूजा-प्रणाली पर निर्देशोपरान्त आगे उपचारों की समीक्षा करनी है।

दुर्गा-पूजा

दुर्गा-पूजा में रुधिर-प्रयोग एक पुरातन प्रचार है। बाण ने अपनी कादम्बरी में चण्डिका, उसके त्रिशूल और उनका हत महिषासुर—तीनों को रुधिरदान लिखा है। कृत्य-

रत्नाकर (पृ० ३५१) में भी दुर्गा-पूजा-विधान में देवी-पुराण के प्रामाण्य पर महिष-बलिदान विहित है। आजकल भी कलकत्ते के काली-मंदिर में यह बलिदान-परम्परा पूर्ण-रूप से जीवित है। रघुनन्दन ने अपनी दुर्गार्चन-पद्धति में दुर्गा-पूजा का सविस्तर वर्णन किया है। दुर्गा की शक्ति पूजा के तांत्रिक आचार पर हम पहले ही लिख आये हैं।

सूर्य-पूजा

सूर्य-पूजा में द्वादश नमस्कारों (अथवा द्वादश-गुणित संख्या के नमस्कारों) का प्रयोग विशेष प्रसिद्ध है। इन नमस्कारों में सूर्य के ओं पुरस्सर निम्नलिखित १२ नामों का चतुर्थी में स्मरण अभीष्ट है :—

१ मित्र	४ भानु	७ हिरण्यगर्भ	१० सवितृ
२ रवि	५ खग	८ मरीचि	११ अर्क तथा
३ सूर्य	६ पूषन्	९ आदित्य	१२ भास्कर

इस पद्धति का एक दूसरा रूप भी है जिसको 'तृचाकल्पनमस्कार' के नाम से पुकारा जाता है। इसमें ओं के बाद कतिपय रहस्यात्मक अक्षरों एवं मंत्रों के सन्निवेश से उन्हीं द्वादश नामों का निम्नरूप से उच्चारण किया जाता है :—

(i) **ओं ह्रां उद्यन्नद्य मित्र महः ह्रां ओं मित्राय नमः।**
(ii) **ओं ह्रीं आरोहन्नुत्तरां दिवं ह्रीं ओं रवये नमः।**
(iii) **ओं ह्रूं हृद्रोगं मम सूर्य ह्रूं सूर्याय नमः।**
(iv) **ओं ह्रैं हरिमाणं च नाशाय ह्रैं भानवे नमः।**
(v) **ओं ह्रौं शुकेषु मे हरिमाणं ह्रौं खगाय नमः।**
(vi) **ओं ह्रः रोपणाकासु दध्मसि ह्रः पूष्णे नमः।**

टि०—इसी प्रकार से अन्य नामों का रहस्यात्मक पुट बढ़ता ही जाता है। विस्तार-भय से इस प्रणाली का सूचनमात्र आवश्यक था।

गणेश-पूजा

गणेश-पूजा पर पिछले अध्याय में कुछ संकेत हो ही चुका है। अग्निपुराण (अ०७१) मुद्गलपुराण और गणेशपुराण में गणेश-पूजा का विशेष प्रतिपादन है। गणेश-गौरव इसीसे अनुमेय है कि कोई भी विधान या संस्कार, उत्सव या आरम्भ बिना गणपति गणेश के पूजन प्रारम्भ ही नहीं होता। गणेश-पूजा सभी आरम्भों का प्रथम कर्तव्य है। गणेश के द्वादश नामों के संकीर्तनमात्र से सभी कार्य (विद्यारम्भ, विवाह उत्सव आदि) सफल हो जाते हैं। तथापि:—

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः।
धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः॥
लम्बोदरश्च विघ्नो विघ्न राजो विनायक.॥

गणेश के साथ उनकी माता गौरी का साहचर्य तो समझ में आ सकता है परन्तु गणेश-लक्ष्मी-पूजा का महापर्व दीपावली में लक्ष्मी-साहचर्य जरा कम समझ में आता है।

नवग्रह-पूजा

गणेश-पूजा के समान ही प्रत्येक धार्मिक कार्य—होम, प्रतिष्ठा, यज्ञोपवीत, विवाह आदि सभी कार्यों एवं संस्कारों में नवग्रह-पूजा एक आवश्यक अंग है। नवग्रहों में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि के साथ राहु और केतु की भी गणना की जाती है। इनकी पूज्य प्रतिमाओं के निर्माण में एवं पूजा-पद्धति में याज्ञवल्क्य (अ० १. २९६-९८) के विवरण विशेष द्रष्टव्य हैं। प्रतिमा-निर्माण-द्रव्य ताम्र आदि का संकेत आगे होगा। इनकी पूजा भी उपचारात्मक है—पुष्प, गंध, वस्त्र, नैवेद्य आदि के साथ समिधादान भी विहित है। याज्ञवल्क्य के प्रख्यात टीकाकार ने मत्स्यपुराण (अ० ९४) के श्लोकों को उद्धृत कर नवग्रह-पूजा के विवरण प्रस्तुत किये हैं।

अन्य पूज्य देवों एवं देवियों में दक्षिणापथ में दत्तात्रेय और सर्वत्र सरस्वती, लक्ष्मी, राम, हनूमान आदि विशेष हैं जिनकी पूजा में विशेष वैशिष्ट्य न होने से संकेतमात्र अभीष्ट है।

अन्त में देवाधिदेव परमेष्ठी पितामह ब्रह्मा की पूजा का कुछ भी संकेत न होने से यह स्तम्भ अधूरा ही रह जाता है। अतः ब्राह्म-पूजा की विरलता का क्या कारण है? स्थापत्य-शास्त्र (दे० समराङ्गण-सूत्रधार) के सभी ग्रन्थों में और पुराणों में भी ब्राह्म-मन्दिरों की विरचना के विवरण वैसे ही मिलेंगे जैसे किसी अन्य प्रमुख देव के तथापि ब्रह्म-प्रतिमा एवं ब्राह्म-पूजा के वैरल्य का क्या रहस्य है? स्थापत्य-निदर्शनों में स्थापत्य-शास्त्र के विपरीत ब्राह्म-मन्दिर केवल अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। अजमेर (पुष्कर), ईडार स्टेट और पद्रा तालुक (बड़ौदा स्टेट) के तीन ब्राह्म-मन्दिरों के अतिरिक्त और मन्दिर नगण्य हैं। यद्यपि पौराणिक पूजा-परम्परा के प्रथम प्रभात में त्रिदेवोपासना का गुणगान सभी पुराणों में हैं; पुनः कालान्तर पाकर ब्रह्मा के इस ओर से वैराग्य का हेतु सम्भवतः सावित्री के शाप से प्रारम्भ हुआ। पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड अ० १७वां) का कथन है कि ब्रह्म-पूजा का ह्रास सावित्री का शाप है। इस शाप-कथा का क्या मर्म है ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह निर्विवाद है, शिव और विष्णु के समान न तो ब्रह्मा के भक्तों के सम्प्रदाय बने और न ब्रह्मा के अर्चा-गृहों की ही परम्परा पल्लवित हुई। हाँ, यह निस्संदिग्ध है कि ब्रह्मा की मौलिक प्रमुखता का जहां ह्रास दिखाई पड़ता है वहां उनकी गौण प्रतिष्ठा सर्वत्र समान है। विष्णु-मन्दिरों एवं शिव-मन्दिरों सभी में ब्रह्मा को परिवार-देवता के रूप में प्रथम स्थान दिया गया है। अस्तु, इस उपोद्घात से यह संगत ही है कि ब्रह्मा की पूजा पद्धति का विकास भी नहीं हो पाया।

पूजोपचार

विष्णु-पूजा पद्धति में उपचारों के नाम एवं संख्या आदि का संकीर्तन हो ही चुका है। यहाँ पर इन उपचारों के सम्बन्ध में कुछ विशेष विवेचना आवश्यक है। षोडशोपचारों की निम्न तालिका देखिये:—

१ आवाहन	५ आचमनीय	९ अनुलेपन अथवा गन्ध	१३ नैवेद्य (अथवा उपहार)
२ आसन	६ स्नान	१० पुष्प	१४ नमस्कार
३ पाद्य	७ वस्त्र	११ धूप	१५ प्रदक्षिणा
४ अर्घ्य	८ यज्ञोपवीत	१२ दीप	१६ विसर्जन अथवा उद्वासन

उपचार-संख्या—भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में इस उपचार-तालिका के भिन्न-भिन्न अंग हैं। नृसिंह-पुराण, ऋग्विधान, स्मृति-चिन्तामणि, नित्याचारपद्धति, संस्कार-रत्नमाला, आचार-रत्न, आचार-चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में देव-पूजा के षोडशोपचार-विषयक विवरण-विजृम्भण में कोई तो यज्ञोपवीत के उपरान्त भूषण तथा प्रदक्षिणा अथवा नैवेद्य के उपरान्त ताम्बूल अथवा सुवासव का उल्लेख करते हैं (दे० वृ० हा० चतु० ३१-३२)। अतएव ऐसे ग्रन्थों में षोडशोपचार के स्थान पर अष्टादशोपचार का परिगणन है। सत्य तो यह है अक्षत, नारियल, पुङ्गीफल, दूर्वा, धान्य आदि नाना द्रव्यजात से तो यह संख्या और बढ़ जाती है। यही कारण है ६४ भोज्य व्यंजनों के समान पूजा के उपचार भी ६४ तक पहुँच सकते ही हैं।

अथच किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में आवाहन का उल्लेख न होकर स्नानोपरान्त स्वागत की संयोजना है। इसी प्रकार आचमनीय के उपरान्त मधुपर्क का पुट है। कोई-कोई स्तोत्र तथा प्राणायाम को भी उपचार ही मानते हैं। इसके विपरीत किन्हीं किन्हीं आचार्यों का मत है कि प्राणायाम तथा स्तोत्र एक ही हैं और प्रदक्षिणा विसर्जन का अंग है।

उपचार-सामग्री—उपचारों की प्रथम सामग्री जल है। विष्णु ध० सू० (६६-१) का आदेश है कि वह ताजा होना चाहिये। बासी पानी का प्रयोग देव-कार्य एवं पितृ-कार्य में वर्ज्य है। **आसन** के सम्बन्ध में यह आदेश है कि पूजक को पाषाणासन अथवा असमिधीय-काष्ठासन या स्थण्डिलासन अथवा शष्पादि-पत्रादि-निर्मितासन पर नहीं बैठना चाहिये। ऊर्णामय कम्बल, कौशेय वस्त्र अथवा मृगचर्म इस के लिये विशेष प्रशस्त हैं। **अर्घ्य** जल में दधि, अक्षत, कुशाग्र, दुग्ध, दूर्वा, मधु, यव, शुक्ल सर्षप - ये आठ वस्तुयें अवश्य मिश्रित करना चाहिये। इसी प्रकार **आचमनीय** जल भी सादा न होना चाहिये। उसमें उशीर, कङ्कोल आदि सुगन्धित द्रव्य मिश्रित करने चाहिये। **स्नान** में पंचामृत - दुग्ध, दधि, घृत, मधु एवं शर्करा—विहित हैं। नृ० पु० का पंचामृत-स्नान-क्रम देखिये:—

क्षीरेण पूर्वं कुर्वीत दध्ना पश्चाद्घृतेन च।
मधुना चाथ खण्डेन क्रमो ज्ञेयो विचक्षणैः॥

शर्करा के अन्तिम प्रयोग में चिकनाहट दूर करने का मर्म है। पुनः शुद्धोदक से स्नान कराना चाहिये। स्नान समन्त्रोच्चारण विहित है। पंचामृत के अभाव में विष्णु-पूजा में तुलसीदल मिश्रित जल ही पर्याप्त है।

टि०—विष्णु प्रतिमा के स्नानीयोदक को अति पावन माना गया है। इसकी 'तीर्थ' की संज्ञा दी गयी है। पूजक सपरिवार इस जल का पान करता है एवं शिर पर छिड़कता है। इसे व्यास कहते हैं जो निम्न श्लोकपाठ से संपन्न होता:—

देव देव जगन्नाथ शङ्खचक्रगदाधर।
देहि देव ममानुज्ञां भवत्तीर्थ - निषेवणे ॥
इत्यनुज्ञां ततो लब्ध्वा पिबेत्तीर्थमघापहम्।
अकाल - मृत्युहरणं सर्वव्याधि - विनाशनम् ॥
विष्णोः पादोदकं तीर्थं शिरसा धारयाम्यहम्।
इति मन्त्रं समुच्चार्य सर्वदुष्टग्रहापहम् ॥
तुलसी - मिश्रित तीर्थं पिबेन्मूर्ध्ना च धारयेत् ॥

अनुलेपन (गन्ध) के लिये इन द्रव्यों में से कोई एक अथवा अनेक या दो तीन मिश्रित अर्पित करना चाहिये—चन्दन, देवदारू, कस्तूरी, कर्पूर, केशर, जायफल (अर्थात् घिसकर)। पुष्पों में विष्णु की पूजा में तुलसी की बड़ी महिमा है। उग्र-गन्ध अथवा गन्ध-रहित पुष्प वर्ज्य हैं। जाति-पुष्प सर्वोत्तम पुनः नवमल्लिका, चम्पक, अशोक, वासन्ती, मालती, कुन्द आदि। नृ० पु० में दूर्वा के अतिरिक्त २५ पुष्पों की विष्णु-प्रियता प्रतिपादित है। निर्माल्य (चढ़ाये हुए बासी फूल) की बड़ी महिमा है। शिव-पूजा में पुष्पों की उत्तमता का ऊर्ध्वक्रम निम्न है - अर्क, करवीर, विल्व (पत्र), द्रोण, अपामार्ग (पत्र), कुश, शमी (पत्र), नील कमल (दल), धत्तूर, शमी-पुष्प, नीलकमल (सर्वोत्तम)। धूप, दीप (आरार्तिक) आदि की सामान्य प्रक्रिया से हम परिचित ही हैं। नैवेद्य में शास्त्रों में अवर्ज्य भोज्य का निवेदन निषिद्ध है। बकरी या भैंस का दूध भी वर्ज्य है। रामायण (अयो० का०) की उक्ति—यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नः तस्य देवताः—सामान्य नैवेद्य-नियम है। पद्म-पुराण (दे० पू० प्र०) का प्रवचन है--नैवेद्य स्वर्णिम, राजत, रैतिक (पीतल के) ताम्र अथवा मृण्मय पात्र अथवा पलाश-पत्र या कमल-दल पर समर्पित करना चाहिये। नैवेद्योपहार में निम्न पाठ आवश्यक है:—

ओं प्राणाय स्वाहा। ओं अपानाय स्वाहा। ओं व्यानाय स्वाहा। ओं उदानाय स्वाहा। ओं अमानाय स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। नैवेद्य-मध्ये प्राशनार्थे पानीयं समर्पयामि। ओं प्राणाय स्वाहा। ·······ब्रह्मणे स्वाहा। उत्तरापोशनं समर्पयामि। हस्तप्रक्षालनं समर्पयामि। मुखप्रक्षालनं समर्पयामि। करोद्वर्तनार्थे चन्दनं समर्पयामि। मुखवासार्थे पूगीफल-ताम्बूलं समर्पयामि।

ब्रह्मपुराण (दे० पू० प्र० तथा अपरार्क) के अनुसार नैवेद्य का वितरण निम्न प्रकार से होना चाहियेः—

विप्रेभ्यश्च तद्देयं ब्रह्मणे यन्निवेदितम्।
वैष्णवं सात्वतेभ्यश्च भस्मांगेभ्यश्च शाम्भवम् ॥
सौरं मगेभ्यः शाक्तेभ्यो देवीभ्यो यन्निवेदितम्।
स्त्रीभ्यश्च देयं मातृभ्यो यत्किञ्चिन्निवेद्यते ॥
भूतप्रेतपिशाचेभ्यो यत्तद्दीनेषु निक्षिपेत ॥

टि०—यह विशेष नियम है—सामान्य तो अर्चक के लिये भक्ष्य है ही।

ताम्बूल—देव-पूजा में ताम्बूलार्पण प्राचीन गृह्य तथा धर्म सूत्रों में नहीं है। डा० काणे के मत में यह उपचार ईशवीय शतक से कुछ पूर्व या उत्तर प्रारम्भ हुआ। ताम्बूल के ६ या १३ अंग हैं जिन से हम परिचित ही हैं—पान, सुपारी चूना, कत्था, इलायची, जावित्री, जायफल, गिरी, केशर, बादाम, कर्पूर, कस्तूरी, कक्कोल आदि। ताम्बूल-भक्षण के निम्न १३ गुणों में क्या इन १३ द्रव्यों का मर्म है?:—

> ताम्बूलं कटुतिक्तमुष्णमधुरं क्षार कषायान्वितं।
> वातघ्नं कफनाशनं कृमिहरं दुर्गन्धिविध्वंसकम्॥
> वक्त्रस्याभरणं विशुद्धिकरणं कामाग्निसंदीपनं।
> ताम्बूलस्य सखे त्रयोदश गुणाः स्वर्गेपि ते दुर्लभाः॥

प्रदक्षिणा—और नमस्कार, जैसा ऊपर संकेत है, दोनों मिलकर एक उपचार बनाते हैं। प्रदक्षिणा हम समझते ही हैं। नमस्कार अष्टाङ्ग अथवा पञ्चाङ्ग विदित है। अष्टाङ्ग प्रणाम:—

> दोर्भ्यां पद्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा।
> मनसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥

पञ्चाङ्ग प्रणाम:—

> पद्भ्यां कराभ्यां शिरसा पञ्चाङ्गप्रणतिः स्मृता॥

अस्तु। इन षोडशोपचारों में से कतिपय उपचारों की इस संक्षिप्त समीक्षा के उपरान्त इनसे सम्बन्धित एक दो तथ्यों की मीमांसा और प्रासङ्गिक है।

प्रथम इन उपचाराङ्गों को देखकर अनायास पाठकों के मन में संभार-बहुल बहु-द्रव्यापेक्ष वैदिक-याग की परिपाटी की ही पुनरावृत्ति पर अवश्य ध्यान जाता होगा। साधारण जन इन सभी उपचारों को करें—इसमें बड़ी कठिनता हो सकती है। साधारण जनों की इतनी विपुल सम्पदा कहाँ जो अहर्निश देव-पूजा में वस्त्रदान, भूषणदान अथवा नाना द्रव्यों के संभार के जुटाव का प्रबन्ध कर सकें। अतएव दूरदर्शी प्राचीनाचार्यों ने अपनी-अपनी पूजा-मीमांसा में उपचार-विषयक औदार्य को समुचित स्थान दे रक्खा है। यदि कोई वस्त्र एवं अलंकार के उपचारों से पूजा करने में असमर्थ है तो वह षोडशोपचार के स्थान पर यथासामर्थ्य दशोपचार से पूजा करे। यदि दशोपचार में भी कठिनता हो तो पञ्चोपचार-पूजा भी वैसी ही फलदायिनी है। सभी का अभाव है तो पुष्पमात्र से सभी उपचारों का सम्पादन करे। आज भी हम अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों में किसी भी अभाव को अक्षतों (सिततण्डुलों) से सम्पन्न कर लेते हैं—गन्धाभावे अक्षतं समर्पयामि। परम्परा भी है:—

> पुष्पाभावे फलं शस्तं फलाभावे तु पल्लवम्।
> पल्लवस्याप्यभावे तु सलिलं प्राह्यमिष्यते॥
> पुष्पाद्यसंभवे देवं पूजयेत्सिततण्डुलैः॥

दूसरे जो लोग देव-पूजा में पुरुष-सूक्त का पाठ करते हैं उनको प्रत्येक उपचार के साथ इस सूक्त की एक ऋचा का पाठ करना चाहिये—ऐसा नृ० पु० का आदेश है। वृद्ध हारीत की आज्ञा है जो लोग पु० सू० का पाठ नहीं कर सकते (जैसे स्त्रियां और शूद्र) वे ओं शिवाय नमः या ओं विष्णवे नमः कहकर प्रत्युपचार पूजा करें। सधवाओं के लिये बाल-कृष्ण और विधवाओं के लिये हरि की पूजा वृ० हा० ने विहित की है। इस उपचारात्मक-पूजा के सम्बन्ध में तीसरी बात यह ध्यान देने की है कि स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत तथा नैवेद्य - इन उपचारों में आचमन भी प्रदान करना चाहिये और यह आचमनीय यहाँ पर पृथगुपचार नहीं परिगणित होता—यह उसी का अंग है। चौथी विशेषता यह है कि यदि प्रतिमापीठ-स्थित अचल है तो आवाहन और विसर्जन न करके चतुर्दशोपचार-पूजा ही उचित है अथवा इनके स्थान पर मंत्र-पुष्पाञ्जलि देकर पूजा के षोडशोपचार सम्पन्न किये जाते हैं।

अन्त में इन उपचारों के सम्बन्ध में एक विशेष विवक्षा यह है कि इनमें से कतिपय उपचार—आसन, अर्घ्य, गन्ध, माल्य (पुष्पमाला), धूप, दीप तथा आच्छादन (वस्त्र) आश्व० गृ० सू० में श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मणों के लिये विहित हैं, अतः फर्क्युहर (See Outlines of the Religious Literature of India p. 51) का यह कथन – देव-पूजा के षोडशोपचार वैदिक याग के उपचारों से इतने भिन्न हैं कि इन पर विदेशी प्रभाव का आभास है—ठीक नहीं। वास्तव में बात यह है कि देव-पूजा की परम्परा के उदय में जो उपचार आमन्त्रित श्रद्धेय ब्राह्मणों को अर्पित किये जाते थे वे ही या उनमें थोड़े से और जोड़कर प्रतिमाओं में अर्पित किये जाने लगे। अतः यह उपचार-पद्धति विदेशी-अनुकरण न होकर एक मात्र देशी-प्रसार है। काणे साहब ठीक ही कहते हैं (See H.D. vol. 2, pt. 2, p. 730)—It was a case of extension and not of borrowing from an alien cult.

बौद्ध तथा जैन अर्चा-पद्धति

इस अध्याय के उपोद्घात में हमने बौद्धों और जैनों की अर्चा-पद्धति पर भी कुछ संकेत करने की प्रतिज्ञा की थी; परन्तु पीछे के अध्याय में इस सम्बन्ध में पर्याप्त संकेत (दे० जैन-धर्म—जिन-पूजा) होने के कारण उसकी विशेष अवतरणा आवश्यक नहीं।

बौद्धों की पूजा-पद्धति की सर्वप्रमुख विशेषता उनकी ध्यान-परम्परा है। वैसे तो सभी सम्प्रदायों में कर्म-काण्ड (Ritualism) एक सामान्य विशेषता है परन्तु बौद्धों की यह विशेषता (ध्यान-परम्परा) सर्वोपरि है। बौद्धों की अर्चा-पद्धति की दूसरी विशेषता आरार्तिक है। बौद्ध तीर्थ-यात्री बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों में जाकर अपनी मनौती या यों ही सैकड़ों, हजारों, लाखों की संख्या में बाती जलाते हैं। दीप-दान की यह बौद्ध-प्रथा बड़ी विलक्षण है।

१०

अर्चा-गृह

(प्रतिमा-पूजा का स्थापत्य पर प्रभाव)

मानव-जीवन की पूर्णता ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों अभ्युदयों से सम्पन्न होती है। साध्य अभ्युदय (ऐहिक उन्नति) एवं निःश्रेयस (पारलौकिक उन्नति—मोक्ष) का एकमात्र साधन धर्म ही है। प्राचीन आर्य विचारकों ने धर्म-संस्थापन में इष्टापूर्त की व्यवस्था की है। 'इष्ट' से तात्पर्य यज्ञ आदि कर्मकाण्ड है तथा 'अपूर्त' का सम्पादन देवालय, वापी, कूप, तड़ाग आदि के निर्माण से होता है। वैदिक-धर्म 'इष्टि' देव-यज्ञ का विशेष प्रतिपादक था, परन्तु पौराणिक-धर्म में अपूर्त-व्यवस्था ही मानव का परम पुरुषार्थ माना गया। अतः स्वाभाविक ही था इस परम्परा में देव-पूजा के उपयुक्त स्थानों का निवेश एवं निर्माण ही सर्वप्रमुख अंग माना गया। देवालय—अर्चा गृह के समीप वापी, कूप, तड़ाग आदि की संयोजना आवश्यक थी, क्योंकि देवस्थान या किसी भी स्थान के लिये जलाशय की आवश्यकता एक अनिवार्य आवश्यकता है।

देवालयों की निर्माण-परम्परा में दो धारायें प्रमुख हैं—सार्वजनिक देव-स्थान जिनकी संज्ञा तीर्थ है तथा नागरिक-देवालय, ग्रामीण-देवालय अथवा वैयक्तिक-देवालय। दूसरी कोटि के देवालयों का सम्बन्ध पुर-निवेश अथवा ग्राम-निवेश एवं भवन-निवेश से है जिस पर हमारे 'भारतीय वास्तु-शास्त्र'—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश—नामक ग्रंथ में सविस्तार विवेचन है वह वहीं अवलोकनीय है।

यहाँ पर हम उन अर्चा-गृहों (देवालयों) का उपोद्घात करने जा रहे हैं जो सामूहिक-पूजा, तीर्थ-यात्रा एवं धार्मिक-पीठों के प्रमुख केन्द्र थे। पौराणिक-धर्म में तीर्थों का माहात्म्य एवं तीर्थ-यात्रा का सर्वप्रमुख स्थान है। इन तीर्थों का उदय धर्म-संस्थापकों—विभिन्न भगवदवतारों के नाम से सम्बन्धित स्थानों—नगरियों, क्षेत्रों पर विशेष आश्रित है। गरुड़-पुराण (प्रथम, अ० १६) में अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका तथा द्वारावती—इन महानागरियों को मोक्षदायिका माना है जो हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान हैं। 'तीर्थ' शब्द द्वयर्थक है—क्षेत्र तथा जलावतार जो बड़ा ही मार्मिक एवं सुसंगत है। जीवन स्वयं एक तीर्थ-यात्रा है जिसकी विभिन्न अवस्थायें विभिन्न पड़ाव हैं। भारतवर्ष की तत्व-विद्या में मृत्यु भी तो एक पड़ाव है। इसी जीवन-दर्शन में मुक्ति-दर्शन भी निहित है। जिस प्रकार संसार-सागर की रूपकरजना में मोक्ष की प्राप्ति भवसागर-पार उतरने को कहा गया है उसी प्रकार तीर्थ-यात्रा (जो भुक्ति एवं मुक्ति का साधन मानी गयी है—दे० अग्नि-पुराण अ० १०६) में भी वही रूपक छिपा है। तीर्थ-स्थान की स्थापना

किसी सरिता के कूल अथवा समुद्र के तट अथवा किसी तड़ाग, पुष्करिणी अथवा झील के किनारे ही हुई है अर्थात् तीर्थ में जलाशय का सान्निध्य अनिवार्य है अन्यथा वह तीर्थ कैसा ? वह देवस्थान कैसा ? देवता तो वहीं रमते हैं जहाँ मानव का भी मन रमता है—सुन्दर प्राकृतिक दृश्य, वन का एकान्त स्थान, सरिता का सुरम्य एवं पावन तट, पर्वत के उत्तुंग शिखर अथवा उसकी उपान्त भूमियाँ, कलकल रव करने वाले निर्झरों का विमुग्धकारी वातावरण, विविध प्रकार के पुष्पों एवं फलों से लदे सुरम्य पादपों एवं लताओं के आकार उद्यान और क्षेत्र—ये ही देव-स्थान हो सकते हैं। बृहत्संहिता (५५-८) का निम्न प्रवचन इस तथ्य की पुष्टि करता है:—

वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु ।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च ॥

भविष्य-पुराण (प्रथम, १३० वाँ अ०) में भी ऐसा ही उल्लेख है। महाकवि बाण ने भी दुर्वासा-शाप-दग्धा सरस्वती को मन्दीकृत-मन्दाकिनीद्युति ब्रह्मपुत्र शोण नामक महानद की उपकण्ठभूमियों में ही मर्त्यलोक-निवासार्थ उचित प्रदेश बताया दे० हर्षचरित उच्छ्वा० प्र०। पुण्य-भूमि भारत के इस विशाल भू-भाग में प्रायः सर्वत्र पुण्य स्थान बिखरे पड़े हैं जिनकी संज्ञा तीर्थों एवं क्षेत्रों के नाम से प्रख्यात है।

तत्व की बात तो यह है कि मायिक संसार के जाल से बचने के लिये चिरन्तन से मानव ने अदृष्ट महाशक्ति की खोज में उसमें तन्मयता प्राप्त करने के लिये प्राकृतिक एकांत एवं उदात्त प्रदेशों में जाकर अपनी अध्यात्म-पिपासा की तृप्ति में निवास किया है। जलाशय का सान्निध्य मानव के लिये ही नहीं देव के लिये भी परमावश्यक ही नहीं अनिवार्य है। जिस प्रकार जीवन-यापन विना जल असम्भव है उसी प्रकार कोई भी देवकार्य—यज्ञ, पूजा, उपासना, सन्ध्यावन्दन आदि विना जल के नहीं हो सकता। हिंन्दू शास्त्रों ने जल को जीवन तो बताया ही है जल शुचि भी है। अतः इन तीर्थ-भूमियों में, प्राख्यात क्षेत्रों में ही पुरातन परम्परा के अनुसार बड़े-बड़े तीर्थों का निर्माण हुआ। तीर्थ तथा देव मंदिर—दोनों का अन्योन्याश्रय सर्वदा रहा तथा रहेगा।

अथच जिस प्रकार हम आगे देखेंगे—प्रासाद निराकार ब्रह्म की साकार प्रतिकृति के रूप में उद्भावित है उसी प्रकार जलावतार—तीर्थ (जल को जीवन भी कहा गया है) मनुष्य की अपनी निजी आत्मा है जिसको पारकर (पहिचान कर) परमात्मा में लीन होने का तत्व अन्तर्हित है। तीर्थ-यात्रा साधन है—साध्य तो मोक्ष है। मोक्ष के ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों के साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियों एवं वैरागियों के लिये आत्मा ही परम तीर्थ है। अनात्मज्ञ विशाल मानव-समूह को भवसागर पार उतारने का परम साधन तीर्थ-सेतु है। तीर्थों का तत्व सागर के समान गम्भीर है और शैल के समान ऊँचा है। विभिन्न धार्मिक-सम्प्रदायों ने विभिन्न रूप से तीर्थों की परिकल्पना की। शैव एवं शाक्त धर्मों में भगवती के ५१ शक्ति-पीठों का प्रविवेचन है। महाभारत में शतशः तीर्थों का निर्देश है। पुराणों एवं आगमों एवं तन्त्रों में तो यह संख्या संख्यातीत है। सत्य तो यह है मनुष्य जब स्वयं तीर्थ है तो मानव-वसति—समस्त देश भारतवर्ष एक महातीर्थ है। स्वदेश-प्रेम का यह अद्वितीय मूल-मन्त्र है, जहाँ पर जन्म-भूमि की यह लोकोत्तर महिमा

बखानी गयी हो। पावन एवं पूज्य विभिन्न सरितायें भौगोलिक रूप में ही नहीं परिकल्पित हैं, वे आध्यात्मिक महातत्व के महास्रोत की विभिन्न धारायें हैं। शैव-दर्शन की इस धारणा में बहुत कुछ मर्म है।

इस अध्याय का नामकरण 'अर्चा-गृह' है। अर्चा-गृह— इस शब्द के व्यापक कलेवर में (अर्चा—अर्थात् अर्च्य-देवों के विग्रह—प्रतिमायें, उनके गृह—स्थान) तीर्थ, क्षेत्र, देवालय सभी गतार्थ हैं। हिन्दू-प्रतिमा-विज्ञान को पूर्णरूप से समझने के लिये हिन्दू-तीर्थों का ज्ञान परमावश्यक है। हिन्दू-तीर्थ वास्तव में स्थापत्य एवं कला के जीते जागते केन्द्र--संग्रहालय (Musuems) हैं। प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि—पूजा-परम्परा—की इस पूर्व-पीठिका में अर्चा-गृह नामक इस अध्याय में हम इस पुण्य देश के उन पावन प्रदेशों की एक संक्षिप्त समीक्षा करेंगे जो तीर्थ स्थानों के नाम से विश्रुत हैं अथवा जहाँ पर देव-दर्शन सुलभ है एवं पुण्यार्जन सुकर। आगे उत्तर-पीठिका में इसी विषय की स्थापत्य की दृष्टि से 'प्रतिमा एवं प्रासाद' नामक अध्याय में तदनुकूल विवेचन का प्रयास होगा।

प्रतिमा पूजा का स्थापत्य पर जो युगान्तकारी प्रभाव पड़ा अर्थात् अनेकानेक देव पीठों, देवालयों, तीर्थ-स्थानों का उदय हुआ—मंदिरों का निर्माण हुआ प्रतिमाओं की स्थापना हुई—उसके मर्म का हम तभी पूर्णरूप से मूल्याङ्कन कर सकते हैं जब हम पौराणिक धर्म की उस नवीन धार्मिक ज्योति को ठीक तरह से समझ लें जिस की प्रकाश-किरणों से प्रोज्ज्वल देव-पूजा-परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। पौराणिक अपूर्त-व्यवस्था में देवालय-निर्माण तथा देव-पूजा इस नवीन धार्मिक ज्योति की सर्वप्रमुख किरण थी। त्रिमूर्ति-कल्पना, अवतार-वाद, पञ्चायतन-परम्परा आदि सब इसी महाज्योति के प्रकाशक यंत्र हैं।

तीर्थों की परम्परा यद्यपि पौराणिक काल में विशेष रूप से पनपी तथापि तीर्थोद्भावना का श्रीगणेश वैदिककाल में ही हो चुका था। वैदिक-साहित्य में 'तीर्थ' शब्द के इसी अर्थ से बहुल प्रयोग देखे गये हैं। ऋग्वेद (१.४८-८) में 'तीर्थे सिन्धूनाम्' उल्लिखित है। इसी प्रकार अथर्ववेद (१८.४-७) में 'तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीः' में तीर्थ की महिमा पर संकेत है। तैत्तरीय-ब्राह्मण के निम्न प्रवचन से भी तीर्थों के माहात्म्य की अति प्राचीन परम्परा पर प्रकाश पड़ता है—यथा धेनुं तीर्थे तर्पयन्ति—तै० ब्रा० २-१-८-३। तैत्तरीय संहिता तो साफ-साफ तीर्थ-स्नान का संकेत करती है—तीर्थे स्नाति ६-१-१-२। इसी प्रकार षड्विंश-ब्राह्मण में देव-तीर्थ का पूर्ण आभास है—चैतद्वै देवानां तीथम् ३-१। इसी प्रकार अनेकानेक सन्दर्भ (जैसे पंचविंश ब्राह्मण ६-४; शांखायन श्रौत-सूत्र ५-१४-२) वैदिक वाङ्मय से समुद्धृत किये जा सकते हैं।

प्रश्न यह है कि इन तीर्थों-देवालयों के अर्चागृहों में प्रथम अर्चा (देव-प्रतिमा) की प्रतिष्ठा हुई कि अर्चा-गृह—देवालयों एवं तीर्थों का प्रथम निर्माण हुआ जिनमें अर्चा की प्रतिष्ठा बाद में की गयी। इस प्रश्न का उत्तर असन्दिग्ध रूप से नहीं दिया जा सकता। हाँ यह अवश्य है कि भारत के धार्मिक भूगोल में शतशः ऐसे नाम हैं जिनसे

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रथम देव-विशेष की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी जो उस देव-विशेष की भक्ति-परम्परा अथवा उपासना-परम्परा का प्रतिनिधित्व अथवा प्रतीकत्व करती थी पुनः कालान्तर पाकर समृद्ध भक्तों के द्वारा उस स्थान पर मंदिर बनवाये गये, वापी, कूप, तड़ाग आदि भी खुदवाये गये और पुष्पोद्यानादि की संयोजना भी की गयी। दर्शनार्थी यात्रियों के लिये निवासार्थ मण्डपादि भी बनाये गये। अतः जहाँ उस स्थान-विशेष पर एकमात्र देव-प्रतिमा ही प्रथम प्रतिष्ठित थी वहाँ आगे चलकर एक बड़ा विशाल मंदिर बन गया एवं मंदिर के आवश्यक अन्य निवेश भी सहज ही उदय हो गये। मयमत (दे० अ० ८) में प्रासाद (देवालय अर्थात् द्राविड़-शैली में निर्मित एवं प्रतिष्ठित विमान-प्रासाद) शब्द की परिभाषा में जो प्रवचन है:—

सभा शाला प्रपा रङ्गमण्डपं मन्दिरं तथा।
प्रासाद इति विख्यातं·········॥

उसमें सभा, शाला, प्रपा, (पानीयशाला-पियाऊ) रङ्गमण्डप (नाट्यशाला अथवा प्रेक्षागृह जहाँ पर अवसर विशेष पर विभिन्न धार्मिक समारोह सम्पन्न होते थे और नाटक, खेल आदि भी होते थे) तथा मन्दिर—इन पांचों को प्रासाद की संज्ञा देने का क्या रहस्य है ? इस सम्बन्ध में प्रोफेसर कुमारी डा० स्टैलाक्राम्रिश (दे० हिन्दू-टेम्पटल ग्रंथ प्रथम) की निम्न समीक्षा बड़ी सार्थक है:—

"·······They are part of the whole establishment of a south Indian temple. The meaning of Prasada is extended here from the temple itself (Mandira) to the various halls also which are attached to it" अर्थात् ये पांचों निवेश दाक्षिणात्य मन्दिर के पूरे निवेश के भिन्न-भिन्न अंग हैं। इस प्रकार मन्दिर के अर्थ में प्रयुक्त 'प्रासाद' शब्द मन्दिर के ही अवयवभूत अन्य भवन जैसे सभा (Assembly Hall) अर्थात् मण्डप, शाला (विभिन्न परिवार-देवों के निकेतन एवं पुजारियों के निवास भवन, कथा-वाचकों के पुराण-पीठ, देव-दर्शनार्थियों के विश्राम-शालायें) प्रपा—जलागार, तथा रंगमण्डप के लिये भी प्रासाद शब्द का प्रयोग उचित ही है। अवयवी का नाम अवयव के लिये प्रयुक्त करना पुरानी परम्परा है।

पुर-निवेश (दे० लेखक का 'भारतीय वास्तु शास्त्र'—इस अध्ययन का प्रथम ग्रंथ) में हमने देखा प्राचीन भारत के नगर-विकास में मंदिरों ने महान योग दिया। मंदिर-नगरों (Temple Cities) के विकास की कहानी में मंदिर की ख्याति एवं उसकी धार्मिक गरिमा विशेष उपकारक तो थी हो साथ ही साथ तीर्थ-यात्रियों की सुविधार्थ विभिन्न आवासयोग्य निवेश एवं विहार-योग्य वसतियाँ तथा संचार सौकर्य के लिये वीथियाँ (मंगल-वीथी आदि) ही नहीं बनीं वरन् समृद्ध भक्तों ने अपने दान से विभिन्न मंदिर-निवेशों की अभिवृद्धि भी की जिससे एक मन्दिर के स्थान पर अनेक मन्दिर बन गये; एक प्रतिमा के स्थान पर अनेक प्रतिमायें पूजी जाने लगीं। एक मन्दिर एक नगर में परिणत हो गया।

मंदिर-नगरों की इस प्राचीन परम्परा के गर्भ से ही शतशः ऐसे तीर्थ-स्थान उदय हुए हैं जिनके नाम भी उस देव-स्थान के अधिष्ठातृ देव से संकीर्तित किये गये। उदाहरणार्थ

विष्णु (अथवा नारायण) के नाम पर विष्णु-पुर (बंगाल) विष्णु-पद (पंजाब) विष्णु-प्रयाग (अलकनन्दा तथा दुग्ध गंगा का संगम—हिमाद्रि) विष्णु-काञ्ची (मद्रास-प्रदेश का कञ्जीवरम्) नारायण-पुर (दे० पद्मपुराण—'यः प्रयाति स पूतात्मा नारायणपुरं व्रजेत्'), नारायणाश्रम (ब्रह्मपुराण में संकीर्तित) आदि-आदि प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वैष्णव-लांछनों—चक्र, पद्म आदि को लेकर विभिन्न तीर्थ-नगरों-मंदिर-नगरों का उदय हुआ, जैसे चक्रतीर्थ, पद्मपुर, पद्मावती आदि। विष्णु के विभिन्न अवतारों से भी अनेक स्थान एवं प्रदेश सम्बन्धित हैं जैसे मत्स्य-देश—आधुनिक जयपुर (मत्स्यावतार) कूर्मस्थान—आधुनिक कुमायूं (कूर्मावतार) शूकरक्षेत्र आधुनिक सोरों (एटा से २७ मील पर गंगातट पर पुण्यप्रदेश)। इसी प्रकार नृसिंहावतार, रामावतार, कृष्णावतार पर विभिन्न स्थानों के नामकरण हैं।

रुद्र-शिव के नाम पर भी अनेक शैव पीठों एवं शैव-नगरों का उदय हुआ। रुद्र प्रयाग, शिव-काञ्ची, ईशान-तीर्थ, वैद्यनाथ, केदारनाथ, सोमनाथ, रामेश्वर आदि आदि। सरस्वती और दृषद्वती नामक दो देवनदियों के अन्तरावकाश में प्रकल्पित 'ब्रह्मावर्त' पावन प्रदेश में ब्रह्मा का आज भी अहर्निश नाम लिया जाता है। ब्रह्म-वाहन हंस के नाम पर हंसतीर्थ का ब्रह्म-पुराण में संकेत है—ब्रह्मावर्तं कुशावर्तं हंसतीर्थं तथैव च। इसी प्रकार सूर्य एवं चन्द्र के पावन क्षेत्रों—भास्कर-क्षेत्र जो आधुनिल कोनार्क—पुरी (उड़ीसा) से १६ मील की दूरी पर स्थित है, तथा सोमतीर्थ (गुजरात के दक्षिण ओर) का नाम आज भी प्रोज्ज्वल एवं प्रख्यात है।

स्कन्द (कार्तिकेय), गणेश, काम, इन्द्र (अथवा शक्र) अग्नि (अथवा हुताशन) आदि देवों के नाम पर भी अनेक स्थान विख्यात हैं। कार्तिकेयपुर (अलमोड़ा) से हम परिचित ही हैं। स्कान्दाश्रम का उल्लेख ब्रह्मपुराण में आया है। वैनायक-तीर्थ की प्रसिद्ध भी कम नहीं है। काम-रूप (भगवती कामाख्या का पीठ—आसाम) शाक्त-पीठ के महा माहात्म्य का दैनंदिन गौरव बढ़ रहा है। शक्र-तीर्थ, हौताशन-तीर्थ पुराणों में निर्दिष्ट हैं।

देवी-तीर्थ के ५१ पीठों का हम संकेत कर ही चुके हैं। उनकी तालिका आगे द्रष्टव्य है। यहाँ पर कालिकाश्रम (दे० ब्रह्मपु०) विरजाक्षेत्र (उड़ीसा का आधुनिक यजपुर) श्रीतीर्थ (पुरी) गौरी-तीर्थ (दे० पद्मपुराण) श्रीनगर (काश्मीर) भवानीपुर (कलकत्ता का दक्षिण भाग तथा बोगरा जिला का भी भवानीपुर) आदि देवी-स्थानों का संकेतमात्र अभीष्ट है। काशी, मथुरा, अयोध्या आदि सात पुण्य नगरियों का हम संकेत कर ही चुके हैं। पुष्करक्षेत्र (अजमेर के निकट), ब्राह्म-तीर्थ एवं विन्ध्याचल—दुर्गा-तीर्थ की भी बड़ी महिमा है।

अस्तु, इन नामों के निर्देश का अभिप्राय, जैसा ऊपर संकेत है कि बहुसंख्क नगरों का विकास, पावन देवस्थानों, तपःपूत आश्रमों एवं विभिन्न भगवदवतारों के क्रीड़ाक्षेत्र से सम्पन्न हुआ जो कालान्तर में प्रसिद्ध देव-पीठों के रूप में प्रख्यात हुये।

अस्तु, वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म, सौर, गाणपत्य आदि प्रसिद्ध देव-पीठों, क्षेत्रों, तीर्थों का संकीर्तनमात्र के उपरान्त अब हम पूजा-परम्परा से प्रभावित भारतीय स्थापत्य के

स्मारक-निदर्शन विभिन्न मन्दिरों की एक सरल समीक्षा के उपरान्त इस अध्याय को समाप्त कर पूर्वपीठिका से उत्तरपीठिका की ओर प्रस्थान करेंगे।

अर्चागृहों की इस द्विविधा संकीर्तन प्रक्रिया (अर्थात् पुराणों एवं आगमों में संकीर्तित देवस्थल एवं स्थापत्य के स्मारक-निदर्शन देवालय) का क्या मर्म है—इस पर संकेत आवश्यक है। पुराणों मे संकीर्तित नाना देव-स्थानों, देव-पीठों, तीर्थों एवं क्षेत्रों का देश की भौगोलिक सीमा में निर्धारण करने की भारतीय-विज्ञान (Indology) की एक जटिल समस्या है। विद्वानों ने इस ओर स्तुत्य प्रयत्न किये हैं। परन्तु अबभी बहुसंख्यक ऐसे पौराणिक तीर्थ-संकेत हैं जिन पर अनुसन्धान आवश्यक है। धार्मिक भूगोल एवं अध्यात्मिक भूगोल क्या भौतिक भूगोल से परे तो हैं नहीं? इस विषय की तात्विक समीक्षा एवं समन्वयात्मक निर्धारण पौराणिक परम्परा के इतिहास पर भी एक आशातीत प्रभाव डालेगा—यह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रायः आधुनिक विद्वान् पुराणों के साहित्य को मध्यकालीन ईशवीय पंचम शतक से अर्वाचीन मानते हैं। ईशवीय पंचम शतक के अर्वाचीन इतिहास को जानने के विपुल साधन हैं। अतः इन स्थान-नाम का पुनः निर्धारण असम्भव कैसे अथवा कठिन कैसे? निस्सन्देह पौराणिक परम्परा इस तथाकथित समय से बहुत प्राचीन है।

अस्तु, जब तक यह अनुसन्धान अपूर्ण है तब तक अर्चा-गृहों की यह द्विविधा प्रक्रिया अर्थात् पुराण-प्रतिपादित एवं स्थापत्य-निर्दिष्ट दोनों के सहारे इस स्तम्भ पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता है। पुराण-प्रतिपादित अर्चा-गृहों की समान्य विशेषता हिन्दू है तथा स्थापत्य-निर्दिष्ट हिंदू, बौद्ध, जैन तीनों है। चूंकि भारतीय प्रतिमा विज्ञान में बौद्ध प्रतिमाओं एवं जैन प्रतिमाओं की भी एक महती देन है, अतः अर्चा-गृहों के उल्लेख में बौद्ध धार्मिक-पीठों एवं जैन-पीठों का संकीर्तन भी आवश्यक है। सत्य तो यह है कि विशाल भारत एवं विशाल हिन्दू-धर्म के महातरु से बौद्ध एवं जैन धर्म को शाखामात्र प्रकल्पित करना ही विशेष संगत है। भले ही वह शाखा दूसरे वृक्ष की कलम ही क्यों न हो—आधार एक ही।

इस सम्बन्ध में एक तथ्य और है। पौराणिक धर्म में देव-पूजा से सम्बन्धित जो प्राचीन स्थान संकीर्तित हैं वे स्थापत्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। पौराणिक एवं तान्त्रिक उपासना से प्रभावित देव-पूजा का स्थापत्य पर जो महा प्रभाव पड़ा वह मध्य-कालीन है। स्थापत्य में जो देवालय-निदर्शन हम प्राप्त करते हैं वे सब ५वीं शताब्दी से अर्वाचीन हैं—विशेषकर ११वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक की अवधि में भारतीय स्थापत्य का स्वर्णिम प्रभात मध्याह्न सूर्य की प्रखर किरणों से आलोकित हो उठा। अतः ये ही निदर्शन प्रतिमा-पूजा के स्थापत्य पर प्रभाव के परम निदर्शन हैं। पुराण-प्रतिपादित देवस्थानों से हमारा मनोरञ्जन हो सकता है हमारी भक्ति भी द्रवित हो सकती है परन्तु इन स्थापत्य-निदर्शनों की अनुपम झाँकी से हमारा वक्षःस्थल गर्वस्फीत हो सकता है। हमने अपने प्रासाद-वास्तु, में भारतीय स्थापत्य की कलात्मक कृतियों एवं शास्त्रीय सिद्धान्तों की समन्वयात्मक मीमांसा के साथ प्रासाद-वास्तु से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विचार

किया है जिसकी अवतारणा यहाँ असम्भव है। पाठक उसे वहीं पढ़े। यहाँ पर सूत्ररूप से ही उसका उपोद्घात अभिप्रेत है।

हाँ सर्व प्रथम हम उन देवस्थानों का दिग्दर्शन करेंगे जो पुराणों एवं आगमों की परम्परा में प्रसिद्ध हैं। पुराणों में सर्व-प्राचीन सबसे बड़ा क्षेत्र **नैमिषारण्य है** जहाँ पर ८४ हजार ऋषि-मुनि किसी समय रहते थे। इसे मिश्रित-क्षेत्र भी कहते हैं—सम्भवतः शैव, वैष्णव एवं शाक्त सभी भक्ति-सम्प्रदायों के कारण इसकी यह संज्ञा हुई। क्षेत्रों को खण्डों के नाम से भी संबोधित करने की प्राचीन प्रथा है—**काशी-खण्ड, केदार-खण्ड, नासिक-खण्ड,** के नामों से हम परिचित ही हैं। क्षेत्रों में पुष्कर-क्षेत्र (ब्राह्म-तीर्थ) शूकर-क्षेत्र (वैष्णव तीथ) का ऊपर संकेत हो चुका है। काशी, प्रयाग, हरिद्वार, अवन्तिका, अयोध्या, मथुरा, काञ्ची, (आधुनिक कञ्जीवरम्) आदि तीर्थों का भी हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। क्षेत्रों, खण्डों, तीर्थों के अतिरिक्त इन प्राचीन पुण्य-स्थानों को धाम और मठ से भी पुकारने की प्रथा है। चारों धाम की तीर्थयात्रा का एक अत्यन्त पुराना रिवाज है। इन में बदरीनाथ धाम (या बदरिकाश्रम) केदारनाथ (केदारखण्ड) द्वारकापुरी और जगन्नाथपुरी का विशेष संकीर्तन है। आदि-शंकराचार्य ने दिग्विजय के उपरांत सनातनधर्म के अनुरक्षण के लिये देश के एक कोने से दूसरे कोने तक चार मठों की इन्हीं प्राचीन धामों पर स्थापना की थी। गया हिन्दुओं और बौद्धों दोनों का ही प्रसिद्ध तीर्थ है। रामचरित से सम्बन्धित चित्रकूट की बड़ी महिमा है। दक्षिण भारतवर्ष का रामेश्वरम् अति प्राचीन तीर्थ है। इसी प्रकार द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में चिदम्बरम् की भी वहाँ के लोग गणना करते हैं। पौराणिक तीर्थों का यह निर्देश अत्यल्प है। अनेकानेक अन्य तीर्थ-संज्ञायें हैं जिनकी खोज आवश्यक है।

यह पहले ही संकेत किया जा चुका है, तीर्थ का तात्पर्य जलाशय है। अतः बहुसंख्यक जलतीर्थों का उदय प्राकृतिक जल-धाराओं के तट पर अथवा सङ्गम पर हुआ। मानसरोवर की बड़ी महिमा है। गङ्गोत्तरी, यमुनोत्तरी, हृषीकेश, हरिद्वार, प्रयाग वाराणसी सभी जल-तीर्थों के नाम से पुकारे जा सकते हैं। गंगा के समान नर्मदा भी बड़ी पुनीत नदी है। धायवी-कुण्ड नामक स्थान से नर्मदेश्वर नामक शिवलिङ्ग दूर-दूर तक जाते हैं। नर्मदा के तट पर स्थित प्रसिद्ध तीर्थ ओंकार-मान्धाता के नाम से सभी परिचित हैं। हम यह भी संकेत कर चुके हैं, तीर्थों के प्रादुर्भाव में भगवदवतारों का विशेष सम्बन्ध है। मथुरा, वृन्दावन, पञ्चवटी, अयोध्या आदि स्थान इसी तथ्य के परिचायक हैं। प्राचीन भारतीय सभ्यता के प्रोल्लास एवं विकास के क्षेत्र एकान्त, निर्जन, प्राकृतिक सुषुमा एवं जलाशय से सम्पन्न बहुसंख्यक पर्वत एवं अरण्य पावन क्षेत्रों, खण्डों अथवा आवर्तों के नाम से विश्रुत हुए। विन्ध्यारण्य इस दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। नैमिपारण्य का संकेत हम ऊपर कर ही चुके हैं।

पौराणिक एवं आगमिक महातीर्थों के दो प्रमुख वर्ग—द्वादश-लिङ्गों तथा ५१ शक्ति-पीठों का हमने ऊपर संकेत किया है उसमें द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की तालिका अध्याय छठे में दी जा चुकी है। यहाँ पर शक्ति-पीठों की तालिका देना है। तन्त्र चूडामणि में शक्ति-पीठों की संख्या बावन है; 'शिव-चरित्र' में इक्यावन और देवी भागवत में एक सौ

आठ। 'कालिका-पुराण' में छब्बीस उप-पीठों का भी वर्णन है अतः कौन सी संख्या विशेष प्रामाणिक एवं परम्परा में प्रचलित है—निस्सन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकती। इनमें अनेक अज्ञात हैं। श्री भगवतीप्रसाद सिंह जी ने (दे० कल्याण 'शक्ति अंक') इस विषय पर स्तुत्य प्रयत्न किया है तथा उन्होंने ४७ शक्ति-पीठों का निर्धारण कर एक मान-चित्र भी दिया है। अस्तु, अकारादि क्रम से इन ४७ शक्ति-पीठों का उल्लेख यहाँ न करके तन्त्र-चूड़ामणि के ५२ पीठों एवं देवी-भागवत के १०८ पीठों की तालिकायें दी जाती हैं। श्री भगवती सिंह जी का पीठ-मान-चित्र परिशिष्ट में द्रष्टव्य है।

शक्ति-पीठ

दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव के अपमान से हम परिचित ही हैं। पति की निन्दा सुनना महासती सती के लिये असह्य हो गया; अतएव वे यज्ञ-कुण्ड में कूदकर प्राण स्वाहा कर दिये। शिव जी यह वृतान्त सुनते ही पागल हो गये और वीरभद्रादि भैरवों के साथ वहाँ जाकर यज्ञ विध्वंस ही नहीं किया प्रजापति के प्राण भी ले लिये और सती के मृतदेह को कंधे पर रख चारों ओर उद्भट-भाव में नाचते हुए घूमने लगे। यह देख भगवान् विष्णु ने अपने चक्र से सती का अङ्गप्रत्यङ्ग काट डाला। अङ्गप्रत्यङ्ग ५१ खण्डों में विभक्त हो जिस जिस स्थान पर गिरे थे, वहाँ एक-एक भैरव और एक-एक शक्ति नाना रूपों में निवास करती है। इन्हीं स्थानों का नाम शक्ति-महापीठ है। अतः इस तालिका में त० चू० के अनुसार स्थान, अङ्ग तथा आभूषण एवं शक्ति और भैरव के निर्देश-पुरस्सर विवरण प्रस्तुत किया जाता है:—

स्थान	अङ्ग तथा आभूषण	शक्ति	भैरव
१—हिंगुला	ब्रह्मरन्ध्र	कोट्टवीशा	भीमलोचन
२—शर्करार	तीनचक्षु	महिषमर्दिनी	क्रोधीश
३—सुगन्धा	नासिका	सुनन्दा	त्र्यम्बक
४—काश्मीर	कण्ठदेश	महामाया	त्रिसन्ध्येश्वर
५—ज्वालामुखी	महाजिह्वा	सिद्धिदा	उन्मत्त भैरव
६—जलन्धर	स्तन	त्रिपुरमालिनी	भीषण
७—वैद्यनाथ	हृदय	जयदुर्गा	वैद्यनाथ
८—नेपाल	जानु	महामाया	कपाली
९—मानस	दक्षिणहस्त	दाक्षायणी	अमर
१०—उत्कल में विरजाक्षेत्र	नाभिदेश	विमला	जगन्नाथ
११—गण्डकी	गण्डस्थल	गण्डकी	चक्रपाणि
१२—बहुला	वामबाहु	बहुलादेवी	भीरुक
१३—उज्जयिनी	कूर्पर	मंगलचण्डिका	कपिलाम्बर
१४—त्रिपुरा	दक्षिणपाद	त्रिपुरसुन्दरी	त्रिपुरेश
१५—चट्टल	दक्षिणबाहु	भवानी	चन्द्रशेखर
१६—त्रिस्त्रोता	वामपाद	भ्रामरी	भैरवेश्वर
१७—कामगिरि	योनिदेश	कामाख्या	उमानन्द
१८—प्रयाग	हस्तांगुलि	ललिता	भव

१६—जयन्ती	वामजङ्घा	जयन्ती	क्रमदीश्वर
२०—युगाद्या	दक्षिणांगुष्ठ	भूतधात्री	क्षीरखण्डक
२१—कालीपीठ	दक्षिणपादांगुलि	कालिका	नकुलीश
२२—किरीट	किरीट	विमला	संवर्त्त
२३—वाराणसी	कर्णकुण्डल	विशालाक्षी मणिकर्णी	कालभैरव
२४—कन्याश्रम	पृष्ठ	सर्वाणी	निमिष
२५—कुरुक्षेत्र	गुल्फ	सावित्री	स्थाणु
२६—मणिबन्ध	दो मणिबन्ध	गायत्री	सर्वानन्द
२७—श्रीशैल	ग्रीवा	महालक्ष्मी	शम्बरानन्द
२८—काञ्ची	अस्थि	देवगर्भा	रूरू
२६—कालमाधव	नितम्ब	काली	असिताङ्ग
३०—शोणदेश	नितम्बक	नर्मदा	भद्रसेन
३१—रामगिरि	अन्यस्तन	शिवानी	चण्डभैरव
३२—वृन्दावन	केशपाश	उमा	भूतेश
३३—शुचि	ऊर्ध्वदन्त	नारायणी	संहार
३४—पञ्चसागर	अधोदन्त	वाराही	महारुद्र
३५—करतोयातट	तल्प	अपर्णा	वामनभैरव
३६—श्रीपर्वत	दक्षिणगुल्फ	श्रीसुन्दरी	सुन्दरानन्दभैरव
३७—विभाष	वामगुल्फ	कपालिनी	सर्वानन्द
३८—प्रभास	उदर	चन्द्रभागा	वक्रतुण्ड
३६—भैरवपर्वत	ऊर्ध्वओष्ठ	अवन्ती	लम्बकर्ण
४०—जनस्थल	दोनोंचिबुक	भ्रामरी	विकृताक्ष
४१—सर्वशैल	वामगण्ड	राकिनी	वत्सनाभ
४२—गोदावरीतीर	गण्ड	विश्वेशी	दण्डपाणि
४३—रत्नावली	दक्षिणस्कन्ध	कुमारी	शिव
४४—मिथिला	वामस्कन्ध	उमा	महोदर
४५—नलहाटी	नला	कालिकादेवी	योगेश
४६—कर्णाट	कर्ण	जयदुर्गा	अभीरू
४७—वक्रेश्वर	मनः	महिषमर्दिनी	वक्रनाथ
४८—यशोर	पाणिपद्म	यशोरेश्वरी	चण्ड
४६—अट्टहास	ओष्ठ	फुल्लरा	विश्वेश
५०—नन्दिपुर	कण्ठहार	नन्दिनी	नन्दिकेश्वर
५१—लङ्का	नूपुर	इन्द्राक्षी	राक्षसेश्वर
विराट	पादांगुलि	अम्बिका	अमृत
मगध	दक्षिणजङ्घा	सर्वानन्दकरी	व्योमकेश

टि०—नीचे के दो नाम भी शक्ति-पीठों में परिगणित किये जाते हैं।

देवी-भागवत में निर्दिष्ट १०८ शक्ति-पीठों की तालिका—

स्थान	देवता	स्थान	देवता
१—वाराणसी	विशालाक्षी	३५—सहस्राक्ष	उत्पलाक्षी
२—नैमिषारण्य	लिङ्गधारिणी	३६—हिरण्याक्ष	महोत्पला
३—प्रयाग	ललिता	३७—विपाशा	अमोघाक्षी
४—गन्धमादन	कामुकी	३८—पुण्ड्रवर्द्धन	पाटला
५—दक्षिणमानस	कुमुदा	३९—सुपार्श्व	नारायणी
६—उत्तरमानस	विश्वकामा	४०—त्रिकटु	रुद्रसुन्दरी
७—गोमन्त	गोमती	४१—विपुल	विपुला
८—मन्दर	कामचारिणी	४२—मलयाचल	कल्याणी
९—चैत्ररथ	मदोत्कटा	४३—सह्याद्रि	एकवीरा
१०—हस्तिनापुर	जयन्ती	४४—हरिश्चन्द्र	चन्द्रिका
११—कान्यकुब्ज	गौरी	४५—रामतीर्थ	रमणी
१२—मलय	रम्भा	४६—यमुना	मृगावती
१३—एकाम्र	कीर्तिमती	४७—कोटितीर्थ	कोटवी
१४—विश्व	विश्वेश्वरी	४८—मधुवन	सुगन्धा
१५—पुष्कर	पुरुहूता	४९—गोदावरी	त्रिसंध्या
१६—केदार	संमार्गदायिनी	५०—गङ्गाद्वार	रतिप्रिया
१७—हिमवत्पृष्ठ	मन्दा	५१—शिवकुण्ड	शुभानन्दा
१८—गोकर्ण	भद्रकर्णिका	५२—देविकातट	नन्दिनी
१९—स्थानेश्वर	भवानी	५३—द्वारावती	रुक्मिणी
२०—बिवल्क	बिल्वपत्रिका	५४—वृन्दावन	राधा
२१—श्रीशैल	माधवी	५५—मथुरा	देवकी
२२—भद्रेश्वर	भद्रा	५६—पाताल	परमेश्वरी
२३—वराहशैल	जया	५७—चित्रकूट	सीता
२४—कमलालय	कमला	५८—विन्ध्य	विंध्यवासिनी
२५—रुद्रकोटि	रुद्राणी	५९—करवीट	महालक्ष्मी
२६—कालञ्जर	काली	६०—विनायक	उमादेवी
२७—शालग्राम	महादेवी	६१—वैद्यनाथ	आरोग्या
२८—शिवलिङ्ग	जलप्रिया	६२—महाकाल	महेश्वरी
२९—महालिंग	कपिला	६३—उष्ण-तीथ	अभया
३०—माकोट	मुकुटेश्वरी	६४—विंध्यपर्वत	नितम्बा
३१—मायापुरी	कुमारी	६५—माण्डव्य	माण्डवी
३२—सन्तान	ललिताम्बिका	६६—माहेश्वरीपुर	स्वाहा
३३—गया	मङ्गला	६७—छगलण्ट	प्रचण्डा
३४—पुरुषोत्तम	विमला	६८—अमरकण्टक	चण्डिका

६६—सोमेश्वर	वरारोहा	८६—चन्द्रभागा	कला
७० —प्रभास	पुष्करावती	६०—अच्छोद	शिवधारिणी
७१—सरस्वती	देवमाता	६१—वेणा	अमृता
७२—तट	पारावारा	६२—बदरी	उर्वशी
७३—महालय	महाभागा	६३—उत्तरकुरु	ओषधि
७४—पयोष्णी	पिङ्गलेश्वरी	६४—कुशद्वीप	कुशोदका
७५—कृतशौच	सिंहिका	६५—हेमकूट	मन्मथा
७६—कात्तिक	अतिशाङ्करी	६६—कुमुद	सत्यवादिनी
७७ —उत्पलावर्त्तक	लोला (लोला)	६७—अश्वत्थ	वन्दनीया
७८—शोणसङ्गम	सुभद्रा	६८—कुबेरालय	विधि
७६—सिद्धवन	लक्ष्मी	६६—वेदवदन	गायत्री
८०—भरताश्रम	अनङ्गा	१००—शिवसन्निधि	पार्वती
८१—जालन्धर	विश्वमुखी	१०१—देवलोक	इन्द्राणी
८२—किष्किन्धापर्वत	तारा	१०१—ब्रह्ममुख	सरस्वती
८३—देवदारुवन	पुष्टि	१०३—सूर्यबिम्ब	प्रभा
८४—काश्मीरमण्डल	मेधा	१०४—मातृमध्य	वैष्णवी
८५—हिमाद्रि	भीमादेवी	१०५—सतीमध्य	अरुन्धती
८६—विश्वेश्वर	तुष्टि	१०६—स्त्रीमध्य	तिलोत्तमा
८७—शङ्खोद्धार	धरा	१०७—चित्रमध्य	ब्रह्मकला
८८—पिण्डारक	धृति	१०८—सर्वप्राणीवर्ग	शक्ति

अस्तु ! इस अत्यल्प संकीर्तन के द्वारा प्राचीन तीर्थ-स्थानों की महिमा वर्णन का एकमात्र प्रयोजन तो इसी तथ्य की उद्भावना है कि देव-पूजा के द्वारा इस देश में सहस्रशः स्थानों का आविर्भाव हुआ, विभिन्न पीठों का निर्माण हुआ, सहस्रशः मन्दिर बने, अनेकानेक विश्रामालय बने, शतशः कूप, तड़ाग, वापी और मण्डप बने जिनसे इस देश के स्थापत्य के विपुल विकास एवं प्रोत्तुङ्ग उत्थान की अक्षय निधि अनायास संपन्न हुई। अब स्वल्प में देव पूजा से प्रभावित स्थापत्य-निदर्शनों पर एक विहंगम दृष्टि के उपरान्त इस स्तंभ को यहीं समाप्त करना प्रासङ्गिक है ।

स्थापत्य-निदर्शनों को हम तीन वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं:—(i) ब्राह्मण मन्दिर (ii) बौद्ध—स्तूप, विहार और चैत्य तथा (iii) जैन-मन्दिर ।

(i) ब्राह्मण मन्दिर

ब्राह्मण मन्दिरों को निम्नलिखित आठ मण्डलों (groups) में विभाजित किया जा सकता है:—१. उड़ीसा, २. बुन्देलखण्ड, ३. मध्यभारत, ४. गुजरात-राजस्थान, ५. तामिलनाड, ६. काश्मीर, ७. नेपाल, तथा ८ बंगाल-बिहार ।

१. उड़ीसा-मण्डल

(अ) भुवनेश्वर—नागर-शैली की स्थापत्य-कला का अनूठा और विशुद्ध केन्द्र है। यहाँ के प्रासाद-वास्तु के दो प्रधान भाग हैं—विमान और जगमोहन। विमान से तात्पर्य केन्द्रीय मन्दिर और जगमोहन मण्डप। किन्हीं किन्हीं मन्दिरों में इन दो प्रधान निवेशों के अतिरिक्त दो और निवेश भी हैं जिन्हें नाट्यमन्दिर और भोजमन्दिर कहते हैं। उड़ीसा-मण्डल में तीन मुख्य मन्दिर है—भुवनेश्वर में लिङ्गराज का मन्दिर, पुरी में श्री जगन्नाथ जी का मन्दिर और कोणार्क में श्री सूर्यनारायण का मन्दिर।

लिङ्गराज मंदिर के पूर्व में स्थित सहस्रलिङ्ग तालाब के चारों ओर लगभग १०० मंदिर हैं जिनमें ७७ अब भी सुरक्षित हैं। लिङ्गराज के ही उत्तर में बिन्दुसागर नामक विशाल तड़ाग है जिसके बीच में एक टापू है और वहाँ एक सुन्दर मंदिर दर्शनीय है। इसी प्रकार अन्य प्रमुख मंदिरों के अपने अपने तीर्थ-जलाशय हैं—यमेश्वर ताल, रामेश्वर ताल, गौरीकुण्ड, केदारेश्वर ताल, चलधुआकुण्ड तथा मरीचिकुण्ड आदि।

भुवनेश्वर की मंदिर-माला बड़ी लम्बी है। इसके गुम्फन में लगभग दो तीन सौ वर्ष (१० वीं से १२ वीं शताब्दी) लगे होंगे। केशरी राजाओं के इस राज-पीठ में स्थापत्य-कला के प्रोज्ज्वल प्रकर्ष के लिये जो राज्याश्रय मिला उसी को श्रेय है कि ऐसे विलक्षण अद्भुत एवं अनुपम मंदिर बने। कहा जाता है कि केशरी राजाओं ने इस स्थान पर ७००० मन्दिर बनवाये जो ५ वीं शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक निर्मित होते रहे। अब भी भुवनेश्वर और उसके आस पास ५०० मंदिर हैं जिनमें निम्न विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१. मुक्तेश्वर	७. भास्करेश्वर	१३. गोपालिनी	२०. कपालमोचनी
२. केदारेश्वर	८. राजरानी	१४. सावित्री	२१. रामेश्वर
३. सिद्धेश्वर	६. नायकेश्वर	१५. लिङ्गराज सारिदेवल	२२. गोसहस्रेश्वर
४. परशुरामेश्वर	१०. ब्रह्मेश्वर	१६. सोमेश्वर	२३. शशिरेश्वर
५. गौरी	११. मेघेश्वर	१७. यमेश्वर	२४. कपिलेश्वर
६. उत्तरेश्वर	१२. अनन्तवासुदेव	१८. कोटितीर्थेश्वर	२५. वरुणेश्वर
		१६. हटकेश्वर	२६. चक्रेश्वर आदि।

इनकी विशेष समीक्षा यहाँ पर नहीं अभिप्रेत है। लेखक के प्रासाद-वास्तु Temple Architecture में प्राचीन भारत के स्थापत्य-कौशल एवं उसके शास्त्रीय विज्ञान के दोनों पहलुओं पर प्रविवेचन का प्रयास है।

(ब) जगन्नाथपुरी का मन्दिर—इस मन्दिर की वास्तु-कला पर बौद्ध प्रभाव परिलक्षित है। बौद्धों के त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म और सङ्घ की भाँति इस मन्दिर में जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की मूर्तियाँ हैं। शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी और ब्रह्मा-सावित्री आदि का स्थापत्याङ्कन अथवा चित्राङ्कन पुरुष और प्रकृति के रूप में हुआ है तब यह भाई-बहिन का योग बौद्धों के प्रभाव का स्मारक है—बौद्ध धर्म को स्त्री-संज्ञक मानते हैं। अस्तु, पुरी के जगन्नाथ-मन्दिर के अतिरिक्त मुक्ति-मण्डप, बिमला देवी का मन्दिर, लक्ष्मी-मन्दिर, धर्मराज (सूर्यनारायण) का मन्दिर, पातालेश्वर, लोकनाथ, मार्कण्डेयेश्वर, सत्यवादी आदि मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं।

(स) **कोणार्क-सूर्यमन्दिर**—कोणार्क एक क्षेत्र है—इसे अर्क-क्षेत्र अथवा पद्म-क्षेत्र कहते हैं। निकट ही बंगाल की खाड़ी की उत्ताल तरङ्गों से उपकण्ठभूमि उद्वेलित रहती है और मन्दिर के उत्तर में आध मील पर चन्द्रभागा नदी बहती है।

२ बुन्देलखण्ड-मण्डल

इस मण्डल के मुकुट-मणि खजुराहो के मन्दिर हैं। खजुराहो महोबा से ३४ मील दक्षिण और छतरपुर से २७ मील पूर्व है। इलौरा-मन्दिर-पीठ के समान खजुराहो भी सर्व-धर्म-सहिष्णुता का एक अन्यतम निदर्शन है। यहाँ पर वैष्णव-धर्म, शैव-धर्म, और जैन-धर्म आदि विभिन्न मतों के अनुयायियों ने पूरी स्वतन्त्रता से अपने मन्दिर निर्माण किये हैं। इससे यह विदित होता है कि चन्देल राजाओं ने शैव होते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय धार्मिक सहिष्णुता दिखायी। निनोरा ताल, खजुराहो गाँव (जो पहले एक बड़ा नगर था) एवं निकट-स्थित शिव सागर झील के इतस्ततः फले हुए प्राचीन समय में ८५ मन्दिर थे जिनमें अब २० ही शेष रह गये हैं। इनमें निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं:—

१. चौसठ योगिनियों का मंदिर (९ वीं श०)

२. कंडरिया (कन्दरीय) महादेव—यह सर्वश्रेष्ठ है—विशालकाय, प्रोत्तुङ्ग, मण्डपादि-युक्त, चित्रादि (Sculptures) विन्यास-मण्डित।

३. लक्ष्मण-मंदिर – निर्माणकला अत्यन्त सुंदर।

४. मतंगेश्वर महादेव। इस में बड़े ही चमकदार पत्थरों का प्रयोग हुआ है। मन्दिर के सामने वाराह-मूर्ति और पृथ्वीमूर्ति (जो अब ध्वंसावशेष हैं) हैं।

५. हनूमान का मंदिर।

६. जवारि-मंदिर में चतुर्भुज भगवान् विष्णु की मूर्ति है।

७. दूला-देव-मंदिर। इस नाम की परम्परा है—एकदा एक बारात इस मंदिर के सामने से निकली तत्क्षण वर जी नीचे गिर कर परमधाम पहुँच गये तभी से इसका नाम दूला-देव-मंदिर हो गया।

३. मध्यभारत-मण्डल

१. ग्वालियर का सास-बहू का मंदिर।

२. उदयपुर का उदयेश्वर महादेव।

३. ग्वालियर का तेली का मंदिर।

४. चौसठ जोगिनियों का मंदिर।

४. गुजरात-राजस्थान-मण्डल

इसके अन्तर्गत जोधपुर, मुटेरा, डभोई और सिद्धपुर पाटन के मन्दिरों की गणना है। गिरनार और शत्रुञ्जय (पालीताणा) के देव-नगर—Temple cities का भी इसी वर्ग में समावेश है। ओसिया (जोधपुर) में सूर्य मंदिरों की संख्या १२ है। इस मण्डल का सर्व-प्रसिद्ध काठियावाड़ का सोमनाथ मंदिर है जिसकी द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग-पीठों में गणना की गयी है। दूसरा प्राचीन मंदिर घुमती (वारदा पहाड़ियाँ) का नवलखा मंदिर बहुत प्रसिद्ध है।

तामिलनाड-मण्डल

इस मण्डल में प्रधान मन्दिर-पीठों में मामल्लपुरम् के शैल-मन्दिर, बादामी और पट्टडकल के मन्दिर, तञ्जौर का मन्दिर, तिरूवल्लूर के मन्दिर, श्रीरंगम का रङ्गनाथ का मंदिर चिदम्बरम का नटनराज, रामेश्वरम् का ज्योतिर्लिङ्ग, मदुरा का मीनाक्षी - सुन्दरेश्वर मन्दिर, वेलूर और पेरूर के मन्दिर तथा विजयनगर के मन्दिर आदि परिसंख्यात होते हैं।

दाक्षिणात्य वास्तु-वैभव के अद्भुत निदर्शन इन मन्दिरों की निर्माण-पद्धति में द्राविड शैली की प्रमुखता है जिसकी सविस्तर समीक्षा लेखक के प्रासाद-वास्तु में द्रष्टव्य है। इन मन्दिरों में अभ्रंलिह गोपुरों की छटा दर्शनीय है। नागर शैली में निर्मित मन्दिरों की संज्ञा प्रासाद है और द्राविड़ शैली में उनको विमान कहते हैं। विमान और प्रासाद के कतिपय वास्तुकलात्मक विभेद हैं जिनकी चर्चा यहाँ अप्रासङ्गिक है। हमारी दृष्टि में दक्षिण के वास्तु-वैभव को देखकर यही कहा जा सकता है कि भारत की सांस्कृतिक गरिमा के ये अक्षुण्ण निदर्शन है और भारतीय धर्म की महती देन। तञ्जौर का विशालकाय बृहदीश्वर मन्दिर को देखकर आश्चर्य होता है यह कैसे बना होगा। मदुरा के मीनाक्षी-मन्दिर के गोपुरों का दृश्य अद्भुत है। रामेश्वरम् की परिक्रमा—अन्धकारिका—भ्रमन्ती (Circumambulatory passage) की दिव्य छटा में, उसकी प्रस्तर-कला एवं चित्रभूषा-विन्यास आदि को देखकर किसे आश्चर्य नहीं होता? राजवंशों की वदान्यता और अक्षय्य धनराशि से ही ये कला-कृतियाँ निर्मित हो सकीं, जिन्होंने भूतल पर स्वर्ग की अवतारणा की।

मामल्लपुरम्—समुद्र के किनारे है और यहाँ पर पञ्च पाण्डवों के रथों (विमानाकृति मन्दिर) के साथ-साथ त्रिमूर्ति, वराह और दुर्गा के मन्दिर भी बने हैं।

काञ्ची के दो विभाग हैं—दीर्घ और लघु। प्रथम बड़ा काञ्जीवरम् अर्थात् शिव-काञ्ची और द्वितीय छोटा काञ्जीवरम् अर्थात् विष्णु-काञ्ची के नाम से विश्रुत है। शिव-काञ्ची में एकाम्रेश्वर शिव का बड़ा मन्दिर है। विष्णुकाञ्ची में वरदराज नामक विष्णु-मन्दिर है। **कुम्भकोणम्** का मन्दिर भी बहुत प्रसिद्ध है।

विजयनगर के स्थानीय देवता विठोवा (विष्णु-अवतार) का मन्दिर ग्रेनाइट पत्थर से बना है जो अनुपम है। विजयनगर से १०० मील की दूरी पर तारपुत्री स्थान पर दो अनुपम एवं कलापूर्ण मन्दिर है।

मैसूर राज्य में होसाल राजाओं के समय के कतिपय मन्दिर बड़े ही सुन्दर हैं। सोमनाथपुर का प्रसन्न-केशव मंदिर, हौसलेश्वर का मन्दिर, केदारेश्वर का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। वेलूर (दक्षिण काशी) का चिन्न-केशव मन्दिर बड़ा विशाल है।

कैलाश मन्दिर—राष्ट्रकूट राजाओं के समय में बने हुए सुप्रसिद्ध मंदिरों में इलौरा के गुहा-मन्दिर अति प्रसिद्ध हैं। इनमें कैलाश की धवल कीर्ति से भारतीय स्थापत्य-अन्तरिक्ष आज भी धवल है।

काश्मीर-मण्डल

पार्वत्य-प्रदेश होने के कारण काश्मीर के मन्दिर विशाल नहीं है और उन पर स्थानीय ग्राम-गृह-निर्माण-कला का प्रभाव भी स्पष्ट है। काश्मीर वास्तु-कला का प्रतिनिधि-

मन्दिर मार्तण्ड-मन्दिर है जो भारत के तीन प्रख्यात सूर्य-मन्दिरों में एक है। काश्मीर के मन्दिर अधिकांश सूर्य-मन्दिर हैं। अवन्तिपुर के मन्दिर भी मार्तण्ड-मन्दिर के ही समकक्ष हैं। शंकराचार्य का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। काश्मीर के अमरनाथ-तीर्थ के दर्शनार्थ प्रतिवर्ष सहस्रों यात्री संकटाकीर्ण संकरीली पहाड़ी पगडन्डियों से होकर इस परम धाम के पुण्यदर्शन का लाभ उठाते हैं।

नेपाल-मण्डल

यहाँ के मन्दिर चीन और जापान के पगोडाओं के सदृश निर्मित है। मन्दिर की यहाँ पर इतनी भरमार है कि सम्भवतः वास-गृहों से अर्चा-गृह ही अधिक हों। बौद्ध-मन्दिरों (चैत्यों एवं विहारों) की भी यहाँ प्रचुरता है। हिन्दू स्थापत्य में शैव-मन्दिर विशेश उल्लेखनीय है। शिव और भवानी के मन्दिर विशेष दर्शनीय हैं। इसी प्रकार महादेव का मन्दिर, कृष्ण का मन्दिर आदि अनेक मन्दिर है। कृष्ण के मन्दिर पर खजुराहों के विमान मंदिरों का स्पष्ट प्रभाव है।

बंगाल-बिहार-मण्डल

अंत में इस मण्डल की करुण कहानी यह है कि यहाँ के मुसलमानी शासन ने प्राचीन मन्दिरों के अवशेष तक नहीं छोड़े। कन्तनगर (दीनाजपुर) का नौ विमानों वाला मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है।

मथुरा वृन्दावन-मण्डल

मथुरा-वृन्दावन में यद्यपि बहुत से मन्दिर अर्वाचीन है; परन्तु कतिपय प्राचीन मन्दिर भी हैं जिनकी वास्तुकला दर्शनीय ही नहीं विलक्षण भी है। इनमें गोविन्द देवी, राधाबल्लभ, गोपीनाथ, जुगल-किशोर तथा मदन-मोहन विशेप उल्लेखनीव हैं।

टि०—इस अध्याय में पुराण-निर्दिष्ट तीर्थों एवं स्थापत्य-निदर्शन उत्तरी और दक्षिणी मंदिरों की इस संक्षिप्त समीक्षा का एकमात्र प्रयोजन (जैसा कि ऊपर संकेत किया ही जा चुका है) देव-पूजा का स्थपत्य पर प्रभाव दिखाना था। अतएव इस लेख में इस विषय की सविस्तर चर्चा का न तो अवसर ही था और न स्थान। अतएव बहुसंख्यक तीर्थ, क्षेत्र, धाम, मठ, आवर्त छूट ही गये हैं मन्दिरों की तो बात ही क्या। अब अन्त में बौद्ध-अर्चागृह और जैन मंदिरों का थोड़ा सा संकेत करना और अवशेष है।

बौद्ध अर्चा गृह

बौद्धों में मन्दिर-निर्माण एवं देव-प्रतिमा-निर्माण अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। तांत्रिक उपासना का बौद्ध स्थापत्य पर जो प्रभाव पड़ा उसका निर्देश हम कर ही आये हैं। यहाँ पर बौद्ध-अर्चागृहों के सर्व-प्रसिद्ध तीन केन्द्र हैं—साञ्ची, अजन्ता और औरङ्गाबाद-इलौरा।

साञ्ची का बौद्ध-स्तूप बौद्धों का अर्चागृह ही है जहाँ पर असंख्य बौद्ध आकर शान्ति लाभ करते हैं। स्तूप एक प्रकार का बौद्धधर्म का प्रतीक है जिसमें विश्व की प्रतिकृति निहित है। स्तूप वैसे तो मृत्यु का प्रतीकत्व करता है परन्तु मृत्यु और निर्वाण के उपलक्षण पर स्तूप की यह मीमांसा असंगत नहीं। अजन्ता के गुहा-मंदिरों में नाना चैत्य और विहार हैं।

जो बौद्धों के उपासना-गृह और विश्राम-भवन दोनों ही थे। चैत्य अर्चा-गृह और विहार यथानाम विश्राम-गृह हैं। औरङ्गाबाद—इलौरा में भी चैत्यों और विहारों की भरमार है।

जैन-मन्दिर

आबू पर्वत पर जैन-मन्दिर बने हैं जिन्हें मन्दिर-नगर के रूप में अंकित किया जा सकता है। इन मन्दिरों के निर्माण में संगमरमर पत्थर का प्रयोग हुआ है। एक मन्दिर विमलशाह का बनवाया हुआ है और दूसर तेजपाल तथा वस्तुपाल बन्धुओं का। इन मन्दिरों में चित्रकारी एवं स्थापत्य-भूषा-विन्यास बड़ा ही दर्शनीय है।

काठियावाड़ प्रान्त में पालीताड़ा राज्य में शत्रुञ्जय नामक पहाड़ी जैन-मन्दिरों से भरी पड़ी है। जैनी लोगों का आबू के समान यह भी परम पावन तीर्थ-स्थान है। काठियावाड़ के गिरनार पर्वत पर भी जैन-मन्दिरों की भरमार है। जैनों के इन मन्दिर-नगरों के अतिरिक्त अन्य बहुत से मन्दिर भी लब्धप्रतिष्ठ हैं जिनमें आदिनाथ का चौमुख-मन्दिर (मारवाड़) तथा मैसूर का जैन-मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। अन्य जैन-मन्दिर-पीठों में मथुरा, काठियावाड़ (जूनागढ़) में गिरनार, इलौरा के गुहा-मन्दिरों में इन्द्र-सभा और जगन्नाथ-सभा, खजुराहो, देवगढ़ आदि विशेष विश्रुत हैं।

भारत के गुहा-मन्दिर

भारतीय स्थापत्य के प्राचीन निदर्शनों में गुहा-मन्दिरों की बड़ी कीर्ति है। इनके निर्माण में प्राचीन भारत का इञ्जीनियरिंग कौशल आज के युग के लिये सर्वथा अनुकरणीय है। अजन्ता और इलौरा के गुहा-मन्दिर हमारे स्थापत्य-वैभव की पराकाष्ठा हैं तथा भारत के अध्यात्म के चरम विकास। समराङ्गण इन गुहा-मन्दिरों को 'लयन' के नाम से पुकारता है। मानवों के देव-पार्थक्य के उपरान्त पुनर्मिलन की यह पृष्ठभूमि अत्यन्त उपलाक्षणिक (symbolic) है।

गुहा-मन्दिरों की निर्माण-परम्परा इस देश में इतनी वृद्धिंगत हुई कि समस्त देश में बारह सौ गुहा-मन्दिर बने जिनमें नौ सौ बौद्ध, दो सौ जैन और सौ हिन्दू हैं। बादामी, इलौरा, एलीफेन्टा, अजन्ता, धमनार (राजपूताना), मस्रूर (कांगरा), मामल्लपुरम्, कलुगुमलाई, नासिक, उदयगिरि, जुन्नार (पूना), करली, भाज आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

उत्तर-पीठिका

प्रतिमा-विज्ञान

शास्त्रीय-सिद्धान्त

१

विषय-प्रवेश

इस ग्रन्थ की पूर्व-पीठिका के विगत दस अध्यायों में प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि पूजा-परम्परा पर जो उपोद्‌घात प्रस्तुत किया गया, उसके विभिन्न विषयों की अवतारणा से प्रतिमा-विज्ञान के प्रयोजन पर जो प्रकाश पड़ा उससे इस उपोद्‌घात के मर्म का हम भली-भाँति मूल्यांकन कर सके होंगे। प्रतीकोपासना एवं प्रतिमा-पूजा की परम्परा का विभिन्न दृष्टिकोणों से यह औपोद्‌घातिक विवेचन प्रतिमा-विज्ञान के उस मनोरम एवं विस्तीर्ण अधिष्ठान का निर्माण करता है जिस पर प्रतिमा अपने दिव्यरूप के प्रकाश-पुञ्ज को वितरण करने में समर्थ हो सकेगी। किसी भी देव-प्रतिमा का प्रतिमा-पीठ एक अनिवार्य अंग है। प्रतिमा-विज्ञान और पूजा-परम्परा के इसी अनिवार्य सम्बन्ध के मर्म को पूर्णरूप से पाठकों के सम्मुख रखने के लिये बड़े संक्षेप में इस परम्परा का यह विहंगावलोकन इस ग्रन्थ की सर्वप्रमुख विशेषता है। विभिन्न विद्वानों ने हिन्दू-प्रतिमा-विज्ञान (Hindu Iconography) पर ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें श्री गोपीनाथ राव के Elements of Hindu Iconography के चार बृहदाकार ग्रन्थ इस विषय की सर्वप्रथम सांगोपांग विवेचना हैं। आज भी ये अधिकृत एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। परन्तु राव महाशय ने जहाँ प्रतिमा सम्बन्धी पौराणिक एवं आगमिक विपुल देव-गाथाओं में स्थापत्य-सन्दर्भों का सविस्तर संग्रह किया है वहाँ उन्होंने पूजा-परम्परा के मौलिक आधार को उसी आनुषङ्गिक महत्ता से नहीं निभा पाया है। चौधरी बृन्दावन भट्टाचार्य का Indian Images अपने ढंग की निराली पुस्तक है। भट्टाचार्य जी ने इस विषय की संक्षिप्त समीक्षा की है तथा उसका समन्वय प्रतिमा-स्थापत्य पर भी प्रतिपादित किया है। परन्तु भट्टाचार्य जी की इस कृति में पुरातत्व से सम्बन्धित सिक्कों, मुद्राओं एवं अन्यान्य स्थापत्य-स्मारक-निदर्शनों की विवेचना के अभाव से वह भी एक प्रकार से सांगोपांग विवेचन से वञ्चित रह गया। डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी महोदय को प्रतिमा-विज्ञान के इस औपोद्‌घातिक विवेचन के इस अङ्ग पर प्रकाश डालने का प्रथम श्रेय है। परन्तु डा० बैनर्जी के इस विवेचन में ऐतिहासिक तत्व की ही प्रमुखता है। धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से पूजा-परम्परा का निरूपण उनके भी ग्रन्थ में न होने से लेखक की दृष्टि में यह अपूर्णता ही कही जायगी। अतएव इसी प्रबल प्रेरणा से कि प्रयोज्य प्रतिमा-विज्ञान के प्रयोजन पूजा-परम्परा पर एक सांगोपांग सरल उपोद्‌घात प्रतिमा-विज्ञान के अभ्रंलिह प्रासाद की पाताल-व्यापिनी प्रथम शिला—आधार-शिला का निर्माण कर सके—लेखक ने इस ग्रन्थ के विवेच्य विषय प्रतिमा-विज्ञान के उपोद्‌घात के लिये आपाततः इतना लम्बा विस्तार किया जो वास्तव में अति संक्षिप्त है।

अस्तु, अब प्रतिमा-निवेश की कलात्मक विवेचना करना है। प्रतिमा-विज्ञान शास्त्र एवं कला दोनों है। अतः सर्वप्रथम हम आगे के अध्याय में प्रतिमा-निर्माण-परम्परा पर

शास्त्रीय (अर्थात् प्रतिमा-विज्ञान के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करनेवाले विभिन्न ग्रन्थ पुराण, आगम, शिल्प-शास्त्र आदि) तथा स्थापत्य (अर्थात् स्थापत्य-केन्द्रों में विकसित विभिन्न शैलियाँ एवं प्रकल्पित बहुविध मूर्तियाँ) दोनों दृष्टियों से विवेचन करेंगे। पुनः इस प्रविवेचन से प्राप्त प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के नाना घटकों से प्रादुर्भूत 'प्रतिमा-वर्गीकरण' Classification of the Images नामक अध्याय में प्रतिमा-निर्माण की विभिन्न प्रेरणाओं पर जानपदीय संस्कारों तथा धार्मिक प्रगतियों का कैसा प्रभाव पड़ा—इन सबका हम मूल्याङ्कन कर सकेंगे।

भारत का प्रतिमा-विज्ञान भारतीय वास्तु-शास्त्र का एक प्रोज्ज्वल अंग है। अतएव यहाँ की प्रतिमा-निर्माण-कला यहाँ की वास्तुकला से सदैव प्रभावित रही। इसके अतिरिक्त चूँकि प्रतिमा-निर्माण का प्रयोजन उपासना रहा अतएव विविध उपासना-प्रकारों में से प्रतिमा-निर्माण में विविध द्रव्यों का प्रयोग वाञ्छित एवं सौविध्यपूर्ण होने के कारण यहाँ के प्रतिमा-द्रव्यों में प्रायः सभी भौतिक द्रव्य एवं धातुयें तथा रत्न-जात जैसे मृत्तिका, काष्ठ, चन्दन, पाषाण, लौह, रीतिका, ताम्र, स्वर्ण, माणिक्य आदि रत्न भी परिकल्पित किये गये। इस दृष्टि से भारतवर्ष के प्रतिमा-निर्माण की द्रव्यजा एवं चित्रजा कला—Iconoplastic Art of India—संसार के स्थापत्य में एक अद्वितीय स्थान रखती है। यूनान और रोम आदि योरोपीय देशों में जहाँ पर इस कला का सुन्दर विकास पाया गया है वहाँ केवल पाषाण का ही प्रबल प्रयोग हुआ है। अतएव वहाँ की कला में विविध द्रव्यापेक्षी वह बहुमुखी विकास नहीं मिलेगा जो यहाँ की वरेण्य विभूति है। 'प्रतिमा-द्रव्य' नामक आगे के अध्याय में इस विषय की सविस्तर समीक्षा की गयी है।

आगे के विभिन्न अध्यायों में प्रतिपादित भारतीय 'प्रतिमा-विज्ञान' के अन्य आधारभूत सिद्धान्त (Canons) जैसे प्रतिमा-मान-विज्ञान (Iconometry) प्रतिमा-विधान (Iconograpby) अर्थात् प्रतिमा के अंगोपांग के विभिन्न मान एवं माप-दण्ड (Standards of measurements) के साथ-साथ प्रतिमा-भूषा के लिये इस देश में जो भूषा-विन्यास-कला (Decorative Art) का प्रगल्भप्रकर्ष देखने को मिलता है, उसकी सुन्दर छटा के दर्शन हमें आगे के एतद्विषयक दो तीन अध्यायों में करने को मिलेगा। इस भूषा-विन्यास-कला का भारतीय स्थापत्य (Sculpture) में जो विलास देखने को मिलता है उसके दो प्रधान स्वरूप हैं—एक वाह्य-चित्रण अर्थात् दैहिक एवं दूसरा आभ्यन्तर अर्थात् आत्मिक। अतः वाह्य-चित्रण का अद्‌भुत विकास जैसे अनेकमुखी प्रतिमा अथवा बहुमुखी प्रतिमा के मर्म को न समझने वाले कतिपय समीक्षकों ने इस विषय में बड़ी भ्रान्त धारणायें की हैं। इसका कारण उनका प्रतिमा-निर्माण-प्रयोजन का ज्ञानाभाव ही है। इसी कोटि में प्रतिमा-आयुध, प्रतिमा वाहन एवं प्रतिमा-आसन आदि भी परिकल्पित किये जाते हैं। आभ्यन्तर-चित्रण की आभा के दर्शन हम भारतीय प्रतिमाओं की विभिन्न मुद्राओं—वरद, ज्ञान, वैराग्य, व्याख्यान में पाते हैं। इन मुद्राओं का क्या मर्म है? इनका प्रयोजन क्या है? इनके चित्रण में कलाकार का कौन सा उद्देश्य है? इन सभी प्रश्नों के कौतूहल का शमन आगे के मुद्राध्याय में मिलेगा।

भारतीय कला यान्त्रिक अर्थात् प्रायोगिक एवं मनोरम अर्थात् रसास्वाद कराने वाली-Mechanical and fine—दोनों ही है। वात्स्यायन के काम-शास्त्र में सूचित एवं उसके प्रसिद्ध टीकाकार के द्वारा प्रोद्भिन्न परम्परा-प्रसिद्ध चौंसठ कलाओं (दे० लेखक का भारतीय वास्तु शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश) में वास्तुकला भी एक कला है। परन्तु कालान्तर पाकर इस कला के व्यापक विकास एवं आधिराज्य में प्रायः सभी प्रमुख कलायें अपने स्वाधीन अस्तित्व को खो बैठीं। भवन-निर्माण-कला, प्रासाद-रचना, पुर-निवेश, प्रतिमा-निवेश, चित्र-कला एवं यंत्र-कला—भारतीय कला के व्यापक कलेवर के ये ही षडंग हैं। इन कलाओं में चित्र कला (जो प्रतिमा-निर्माण-कला का ही एक अंग है) के मर्म का उद्घाटन करते हुए विष्णु-धर्मोत्तर का प्रवचन है कि चित्र-कला, विना नाट्य और संगीत—इन दो कलाओं के मर्म को पूरी तरह समझे, प्रस्फुटित नहीं हो सकती। नाट्य-कला का प्राण रसानुभूति अथवा रसास्वाद है जिसे काव्य-शास्त्रियों ने लोकत्तरानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर माना है। प्रतिमा-कला (Iconography) एवं चित्रकला (Painting) के प्रविवेचन में समराङ्गण-सूत्रधार वास्तु-शास्त्र (जिसके अध्ययन एवं अनुसंधान पर ही आधारित लेखक की भारतीय वास्तु शास्त्रीय समीक्षा के ये पांचों ग्रन्थ हैं – दे० प्राक् कथन) में एक अध्याय 'रस-दृष्टि' के नाम से लिखा गया है। अतः यह अध्याय विष्णु-धर्मोत्तर में संकेतित प्रतिमा-कला की रसात्मिका प्रवृत्ति का ही प्रोल्लास है। प्रतिमा-निर्माण में रसानुभूति का यह संयोग समराङ्गण की अपनी विशेष देन है। इस विषय की सविस्तर समीक्षा आगे के 'प्रतिमा विधान में रसदृष्टि' नामक अध्याय में द्रष्टव्य है।

प्रतिमा का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक—उपासनात्मक अथवा उपचारात्मक प्रयोजन पूजा-परम्परा एवं उसकी पद्धति है। परन्तु प्रतिमा का स्थापनात्मक अथवा स्थापत्यात्मक प्रयोजन प्रासाद (मन्दिर) में प्रतिष्ठा है। प्रासाद एवं प्रतिमा का वही सम्बन्ध है जो शरीर और प्राण का है। विना प्रतिमा प्रासाद निष्प्राण है। यद्यपि मध्यकालीन विचारधारा के अनुरूप प्रासाद स्वयं प्रतिमा है—प्रासाद विश्वमूर्ति की भौतिक प्रतिकृति है अथच वह अर्चागृह (प्रतिमा का घर) के साथ-साथ स्वयं अर्च्य है। हिन्दू-प्रासाद की रचना-पद्धति में प्रासाद-कलेवर के विभिन्न अंगो के निर्माण में प्रतिमा-प्रतीकों का ही प्राधान्य है। प्रासाद का यह तात्त्विक मर्म लेखक के प्रासाद-निवेश—Temple Architecture में विशेष द्रष्टव्य है।

वास्तव में प्रासादों—मन्दिरों की विरचना का एकमात्र उद्देश्य उनमें देव-प्रतिमा की प्रतिष्ठा है। अतः प्रासाद एवं प्रतिमा के इस घनिष्ठ सम्बन्ध एवं उसकी वास्तुशास्त्रीय विभिन्न परम्पराओं तथा प्रतिमा-परिकल्पना की विभिन्न उपचेतनाओं तथा शैलियों का कुछ न कुछ विवेचन आवश्यक ही है। इसी हेतु 'प्रासाद एवं प्रतिमा' नामक एक अध्याय में प्रासादों में प्रतिमा-निवेश एवं प्रतिमा-प्रतिष्ठा के मौलिक तत्वों का निरूपण किया गया है।

प्रतिमा-शास्त्र के उपर्युक्त इन विभिन्न विषयों की समीक्षा एक प्रकार से प्रतिमा-लक्षण (जो प्रतिमा विज्ञान Iconography का परमोपजीव्य विषय है) के औपोद्घातिक विषय हैं। प्रधान विषय तो प्रतिमा-लक्षण है। अतः 'प्रतिमा-लक्षण' पर तीन अध्यायों की

अवतारणा की गयी है—ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन। ब्राह्मण प्रतिमा-लक्षण में त्रिमूर्ति, ब्राह्म, वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य, एवं शाक्त प्रतिमाओं के साथ-साथ शास्त्र में प्रतिपादित एवं स्थापत्य में निर्दिष्ट नाना प्रतिमाओं के लक्षण का भी प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में एक विशेष संकेत यह है कि यद्यपि यह ग्रन्थ भी 'समराङ्गण' के मेरे अध्ययन की पञ्च-पुष्पिका मालिका का ही एक पुष्प होने के कारण समराङ्गण के प्रतिमा-लक्षण से ही विशेष प्रभावित है तथापि विषय-प्रतिपादन की पूर्णता के लिये एतद्विषयिणी अन्य ग्रन्थों को सामग्री का भी पूर्ण प्रयोग किया गया है।

बात यह है कि 'समराङ्गण' का प्रतिमा-विवेचन अपेक्षाकृत न्यून ही नहीं अपूर्ण भी है। प्रासाद-रचना, भवन-कला, यंत्र-कला, तथा चित्रकला आदि पर जो इसकी प्रगल्भता है अथवा वैशिष्ट्य है वह प्रतिमा लक्षण में नहीं। यह अवश्य है जैसा पूर्व ही संकेत किया जा चुका है कि इसकी अपनी कतिपय नवीन उद्भावनायें हैं (दे० 'रसदृष्टि') जिससे इसका यह भी अंश काफी महत्त्वपूर्ण है तथापि प्रतिमा-लक्षण में सर्वप्रसिद्ध ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द आदि देव-प्रतिमायें तथा कौशिकी एवं श्री आदि देवी-प्रतिमायें ही प्रमुख हैं। गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, विद्याधरों के प्रतिमा-लक्षण इसकी विशिष्टता के सूचक हैं। बौद्ध एवं जैन प्रतिमाओं के लक्षणों का सर्वथा अभाव है। इस दृष्टि से 'मानसार' का प्रतिमा-लक्षण विशेष पुष्ट एवं व्यापक है। आगे के 'प्रतिमा-निर्माण-परम्परा पर एक विहंगावलोकन' नामक अध्याय में शास्त्रीय दृष्टि से इस तुलना पर विशेष ध्यान दिया गया है, अतः यहाँ पर इतना ही सूचित करना अभिप्रेत है कि जो प्रतिमा-लक्षण समराङ्गण में अप्राप्य हैं उनकी पूर्ति अन्य ग्रन्थों से की गयी है।

२

प्रतिमा-निर्माण-परम्परा

(एक विहंगम दृष्टि)

शास्त्रीय एवं स्थापत्यात्मक

प्रतिमा-निर्माण-कला, जैसा कि लेखक के 'भारतीय वास्तु-शास्त्र'—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश (दे० प्रथम पटल अ० ७ स्थपति एवं स्थापत्य) में सविस्तर प्रतिपादित है कि वह वास्तु-शास्त्र (स्थापत्य-शास्त्र) का ही एक अंग है। अतः वास्तु-शास्त्र के प्रतिपादक ग्रन्थ एवं आचार्य प्रतिमा शास्त्र के भी प्रतिपादक ग्रंथ एवं आचार्य हैं। वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय प्रासाद-लक्षण अथवा विमान-लक्षण है। अतः प्रासादों (उत्तरी अथवा नागर शैली में निर्मित मन्दिर) एवं विमानों (दक्षिणी अथवा द्राविड़ शैली में निर्मित मन्दिर) के विवेचन में उनमें प्रतिष्ठाप्य देव-प्रतिमा का प्रविवेचन स्वाभाविक ही है। विभिन्न आचार्यों का इस दिशा में पृथक्-पृथक् रूप में वास्तुकला (Architecture) तथा प्रस्तरकला (Sculpture) दोनों के प्रतिपादन में न्यूनाधिक अभिनिवेश दिखाई पड़ता है।

प्रतिमा-निर्माण परम्परा को इस शास्त्रीय-धारा के पांच प्रमुख स्रोत हैं—उनका उद्गम एक ही महास्रोत से हुआ अथवा वे पृथक् पृथक् स्वाधीन स्रोत हैं—इस पर असंदिग्ध दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। हाँ आगे की समीक्षा से इस पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ेगा।

प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के जिन पांच स्रोतों का ऊपर संकेत किया गया है उनको **पुराण, आगम**, तन्त्र, शिल्पशास्त्र तथा **प्रतिष्ठा-पद्धति** के नाम से हम संकीर्तित कर सकते हैं। इसके प्रथम कि हम इन सब पर अलग-अलग से इस विषय की अवतारणा करें एक दो तथ्यों का निर्देश आवश्यक है।

भारत के वास्तु-वैभव के महाप्रसार का कारण पौराणिक धर्म है। पौराणिक धर्म की सर्वातिशायिनी विशेषता अपूर्त-व्यवस्था है। अपूर्त में देवालय-निर्माण, प्रतिमा प्रतिष्ठा एवं वापी, कूप, तड़ागादि के निर्माण प्रमुख हैं। ये सब जन-धर्म की उस व्यापक प्रवृत्ति अर्थात् सगुणोपासना के ही अंग हैं जिनकी, जनसमाज की धार्मिक एवं आध्यात्मिक पिपासा के शमन-हेतु तथा परलोक निर्माणार्थ और आमुष्मिक निःश्रेयस के सम्पादनार्थ, व्यवस्था की गयी। अतः अध्यात्म-प्रधान इस देश में महाराजाओं की अपार धनराशि, सामन्तों, श्रेष्ठियों एवं सभी सम्पन्न व्यक्तियों की अर्जित सम्पदा का एकमात्र लक्ष्य, अपने इष्टदेव के अर्चागृह-निर्माण एवं अन्यान्य धर्मार्थ-कार्यों में व्यय करना था। अतएव पुरातन वास्तुकला के स्मारक-निदर्शनों में—वे ब्राह्मण हैं अथवा बौद्ध या जैन, सभी में पूजा-वास्तु या धार्मिक-वास्तु

(Devotional or religious architecture) की प्रमुखता ही नहीं उसी की एकमात्र सत्ता है। परिणामतः पूर्व एवं उत्तर मध्य-काल में प्रासाद-रचना का एक स्वर्णयुग प्रादुर्भूत हुआ जिसमें शतशः भव्य प्रासादों, विमानों, मठों, विहारों, चैत्यों, तीर्थ-स्थानों, स्नान-घट्टों, पुष्करिणियों एवं तड़ागों का निर्माण हुआ। मध्यकालीन इस वास्तु-वैभव के उदय (Architectural upsurge) का अनुषङ्गतः प्रभाव प्रतिमा-निर्माण (Sculpture) पर भी पड़ा। इस दृष्टि से भारत की वास्तुकला (architecture) का विकास एवं उसकी वृद्धि भारत की प्रस्तरकला (Sculpture) की अन्योन्यापेक्ष्य ही नहीं समकालिक भी हैं। इस आधारभूत तथ्य के हृदयङ्गम करने पर ही हम प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के मूलाधारों की एकात्मकता का मूल्याङ्कन कर सकते हैं।

प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के जिन स्रोतों का ऊपर संकेत किया गया है उनके संबन्ध में एक सामान्य दूसरा तथ्य यह है कि इन सभी स्रोतों को दो व्यापक वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—वास्तु-शास्त्रीय तथा अ-वास्तुशास्त्रीय। प्रथम से वास्तुशास्त्र के उन स्वाधीन ग्रन्थों से तात्पर्य है जिनमें विश्वकर्मीय शिल्प (या विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र) मयमत, मानसार, समराङ्गण-सूत्रधार आदि वास्तु-विद्या के नाना ग्रन्थों (दे० लेखक का भा० वा० शा०) का परिगणन है। अ-वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में पुराणों, आगमों, तन्त्रों के साथ साथ विभिन्न उन ग्रन्थों का समावेश है जिनकी विरचना का प्रयोजन पूजा-पद्धति, मन्दिर-प्रतिष्ठा आदि से है। ज्योतिष के ग्रन्थ तो अर्ध-वास्तुशास्त्रीय (Semi-architectural treatises) कहे जा सकते हैं। ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर की बृहत्संहिता के महत्व का आगे हम मूल्याङ्कन करेंगे। इन स्रोतों में वैदिक वाङ्मय (संहिता, ब्राह्मण, सूत्र-ग्रन्थ आदि) का संकीर्तन नहीं किया गया है—इसका क्या रहस्य है? वैसे तो वास्तु-विद्या के जन्म, विकास एवं वृद्धि के इतिहास में प्रथम स्थान सूत्र-ग्रन्थों को दिया गया है (दे० भा० वा० शा०) और वास्तुविद्या के प्राचीन आचार्य वैदिक-कालीन ऋषि ही परिकल्पित हैं। वास्तु-विद्या की दो महाशाखाओं के मूल प्रवर्तक विश्वकर्मा एवं मय वैदिक-कालीन ही हैं। अंशुमद्भेद तथा सकलाधिकार के प्रख्यात प्रणेता काश्यप और अगस्त्य भी वैदिक-कालीन ऋषियों में ही परिगणित किये जाते हैं। अतः यह निष्कर्ष असंगत न होगा कि पौराणिक वास्तु-विद्या का मूलाधार वैदिक वास्तु-विद्या है। परन्तु वैदिक वास्तु-विद्या (विशेषकर सूत्रकालीन वास्तु-विद्या) का विशेषकर वेदिरचना (जो पूजा-वास्तु अर्थात् प्रासाद-निर्माण की जननी है) ही प्रतिपाद्य विषय था तथा उस काल की प्रतिमा-कल्पन-परम्परा एक प्रकार से अनार्य-संस्था थी अतएव प्रतिमासापेक्ष्य पौराणिक देवोपासना के उदय में जहाँ वैदिक मूलाधार स्पष्ट था वहाँ अनार्यों की—इस देश के मूल निवासियों की प्रतीकोपासना का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। पुराणों का देववाद वैदिक देववाद का ही विजृम्भण है। पुराणों की देवरूपोद्भावना (अर्थात् Iconology जो प्रतिमा-लक्षण Iconography की जननी है) का मूलाधार वैदिक ऋचायें ही हैं। परन्तु प्रतिमा-पूजा (जो अनार्यों की प्रतीकोपासना के गर्भ से उदित हुई) विशुद्ध वदिक-संस्था नहीं थी, अतएव हमने प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के प्राचीन स्रोतों में वैदिक वाङ्मय का उल्लेख नहीं किया।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि वास्तु-विद्या की शास्त्रीय-परम्परा (जिसमें प्रतिमा-विज्ञान भी सम्मिलित है) के उद्भावक आचार्यों में वैदिक ऋषियों की ही प्रमुखता है—उसका क्या रहस्य है ? मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता एवं मानसार में निर्दिष्ट वास्तु-विद्या के प्रतिष्ठापक आचार्यों की एक महती संख्या है (दे० भा० वा० शा०) जिनमें वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नग्नजित, गर्ग, बृहस्पति, अगस्त्य, त्वष्टा, काश्यप, भृगु, पराशर आदि वैदिक-कालीन ही नहीं वैदिक-वाङ्मय के विधाता भी हैं। वास्तु-कला के समान ही प्रतिमा-शास्त्र पर भी इन प्राचीनाचार्यों का निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ बृहत्संहिता में 'प्रतिमालक्षण' के अवसर (दे० अ० ५७ वाँ) वराहमिहिर ने नग्नजित तथा वशिष्ठके तद्विषयक पूर्वाचार्यत्व पर संकेत किया है। नग्नजित के चित्रलक्षण एवं प्रतिमा-लक्षण नामक दो ग्रन्थों के प्रामाण्य पर किसी को सन्देह नहीं। बृहत्संहिता के प्रसिद्ध टीकाकार उत्पल का प्रामाण्य (दे० श्लो० १७वाँ, अ० ५७वाँ) ही पर्याप्त है। वशिष्ठ का ग्रन्थ अप्राप्य है। काश्यप के शिल्पशास्त्र (अंशुमद्भेद) तथा अगस्त्य के सकलाधिकार से हम परिचित ही हैं। अत: यह निर्धारण बड़ा कठिन है कि वैदिक-काल में ही प्रतिमा-निर्माण-परम्परा पल्लवित हो चुकी थी कि नहीं ? बहुत सम्भव है वास्तु-विद्या की अन्य विद्याओं के समकक्ष प्रतिष्ठार्थ ही इन अतीत महापुरुषों की परिकल्पना की गयी हो। अठारह व्यासों की परम्परा से हम परिचित हैं। वैदिक ऋचाओं की संकलना की तो बात ही क्या अष्टादश पुराणों एवं विशालकाय महाभारत के रचयिता व्यास की जैसी परम्परा है, सम्भव है वैसी ही परम्परा इन प्राचीन वास्तु-आचार्यों की हो। इस समीक्षा से इतना तो निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि जिस प्रकार से प्रतिमा-पूजा एक अति प्राचीन परम्परा है वह वैदिककाल में भी विद्यमान थी (दे० पू० पी०) उसी प्रकार प्रतिमा-निर्माण परम्परा भी अति पुरातन परम्परा है। भाषा और व्याकरण का अन्योन्यापेक्षी जन्म एवं विकास प्रतिमा-पूजा एवं प्रतिमा-निर्माण का भी है।

अस्तु, इस औपाद्घातिक संकेत के अनन्तर अब प्रतिमा-निर्माण-परम्परा की दोनों धाराओं—शास्त्रीय एवं स्थापत्यात्मक—की समीक्षा का अवसर आता है।

शास्त्रीय

पुराण—पुराणों के शिल्पशा-स्त्रीय विवरणों पर हमने अपने भारतीय वास्तु-शास्त्र में कुछ चर्चा की है। यहाँ पर विस्तार-भय से पुराणों की पृथुल सामग्री का दिग्दर्शनमात्र अभीष्ट है। प्रायः पुराणों के वास्तु-प्रवचनों को दो विभागों में बांटा जा सकता है—भवन-कला तथा मूर्ति-कला। प्रथम में देव-भवन और जन-भवन—दोनों के साथ-साथ जनावास—पुर, नगर, पत्तन, ग्राम, दुर्ग आदि का भी परिसंख्यान होता है। यहाँ पर इस सामग्री के द्वितीय विभाग—अर्थात् मूर्ति-विज्ञान सम्बन्धी प्रवचनों पर विहंगम दृष्टि डालेंगे।

वैसे तो प्रायः सभी पुराणों में देव-प्रतिमा-पूजन एवं देव-प्रतिमा-निर्माण पर प्रचुर निर्देश प्राप्त होते हैं परन्तु मत्स्य, अग्नि, स्कन्द, गरुड़, लिङ्ग, भविष्य एवं विष्णु (विशेष कर 'विष्णु-धर्मोत्तर')—पुराण विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें मत्स्य अग्नि एवं विष्णु-धर्मोत्तर की कुछ सविस्तर चर्चा आवश्यक है।

मत्स्यपुराण—इस पुराण में वास्तु-शास्त्र पर बड़ाही महत्त्वपूर्ण प्रविवेचन है। अग्नि की अपेक्षा मत्स्य अधिक प्राचीन माना जाता है। अतः इस पुराण की एतद्विषक सामग्री से मूर्ति विज्ञान की प्राचीन परम्परा के इतिहास पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। निम्न लिखित १० अध्यायों में यह प्रतिमा-शास्त्र पूर्णरूप से प्रतिष्ठित प्राप्त होता है:—

सं०	विषय	अ०	सं०	विषय	अ०
१	देवार्चानुकीर्तन-प्रमाण-कथनम्	२५२ वां	६	लिङ्ग-लक्षणम्	२६३ वां
२	प्रतिमालक्षणम्	२५६ ,,	७	कुण्डादि-प्रमाणम्	२६४ ,,
३	अर्धनारीश्वरादि-प्रतिमा-स्वरूपकथनम्	२६० ,,	८	अधिवासन-विधिः	२६५ ,,
४	प्रभाकरादि-प्रतिमा-कथनम्	२६१ ,,	९	प्रतिष्ठा-प्रयोगः	२६६ ,,
५	पीठिका-कथनम्	२६२ ,,	१०	देवता-मानम्	२६७ ,,

मत्स्य-पुराण की विशेषता प्रतिमा-मान (Iconometry) है। प्रतिमा-द्रव्य एवं प्रतिमा-लक्षण तो स्थापत्यानुरूप एवं परम्परोद्भावित ही हैं, परन्तु उनमें भी विशिष्टता इस बात की है। कि शैवी-प्रतिमाओं में लिङ्ग-मूर्तियों के अतिरिक्त आगम प्रसिद्ध-लिङ्गोद्भव-मूर्तियों एवं शिव की पुरुष-प्रतिमाओं (दे० २६० वां अध्याय) में अर्धनारीश्वरादि-प्रतिमाओं पर भी प्रविवेचन है। साथ ही साथ शिव-नारायण, गरुड़, ब्रह्मा, कार्तिकेय, गजानन गणेश, कात्यायनी, महिषासुरमर्दिनी, इन्द्र और इन्द्राणी की प्रतिमाओं का भी वर्णन है। प्रतिमा-मान में विभिन्न देवों की प्रतिमा-कल्पना में विभिन्न ताल-मान (Standards of measurements) प्रतिपादित है जो इसका सर्वाधिक वैशिष्ट्य है।

अग्निपुराण—पुराणों में अग्नि का मूर्ति-विज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। शिल्पशास्त्र पर इसके १६ अध्यायों में निम्नलिखित १३ अध्याय मूर्ति-विज्ञान पर हैं—

सं०	विषय	अ०	सं०	विषय	अ०
१	प्रासाद-देवता-स्थापन	४३ वां	८	चतुष्षष्टि-योगिनी-प्रतिमा०	५२ ,,
२	वासुदेव-प्रतिमा	४४ ,,	९	लिङ्ग-प्रतिमा-लक्षण	५३ ,,
३	पिण्डिका-लक्षण	४५ ,,	१०	लिङ्गमानादिकथन	५४ ,,
४	शालग्रामादि-मूर्ति-लक्षण	४६ ,,	११	पिण्डिका-लक्षण-कथन	५५ ,,
५	मत्स्यादि-दशावतार-कथन	४९ ,,	१२	वासुदेवादि-प्रतिष्ठा-विधि	६० ,,
६	देवी-प्रतिमा-लक्षण	५० ,,	१३	लक्ष्मी-प्रतिष्ठा-विधि	६२ ,,
७	सूर्यादि-प्रतिमा-लक्षण	५१ वां			

अग्नि-पुराण के अध्यायों की इस तालिका से स्पष्ट है कि इस पुराण की प्रतिमा सामग्री कितनी व्यापक एवं समृद्ध है। प्रायः सभी पूज्य देवों एवं देवियों की प्रतिमाओं का वर्णन है। सूर्य की प्रतिमाओं, विष्णु के बराह, कूर्म आदि दशावतार-मूर्तियों के अतिरिक्त वासुदेव आदि वैष्णवी मूर्तियों पर भी प्रविवेचन है। शालग्राम मूर्तियों पर इतना सविस्तर प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

शैवी प्रतिमाओं में लिङ्ग-मूर्तियों का जो समृद्ध वर्णन प्राप्त होता है वह भी अपने ढंग का निराला है। इन सबकी सविस्तर यथास्थान (दे० प्रतिमा-लक्षण) समीक्षा की जावेगी। प्रतिमा-लक्षण (Iconography) के अतिरिक्त प्रतिमा-द्रव्य (Iconoplastic art) पर भी इस पुराण में सविस्तर प्रतिपादन है (दे० ४३ वां अ०)। शालग्रामादि-लक्षण (४६) नामक अध्याय में लगभग २४ प्रकार के शालग्रामों का वर्णन है जो वैष्णव-प्रतिमा-लक्षण में प्रतिपाद्य हैं। इसी प्रकार लिङ्गादिलक्षण (५३ वें) में लगभग २० प्रकार के लिङ्गों का वर्णन है जिनकी चर्चा लिङ्गलक्षण में अभीष्ट है।

विष्णु-धर्मोत्तर—मत्स्य एवं अग्नि के अनन्तर विष्णु-धर्मोत्तर का प्रतिमा-विज्ञान सर्वाधिक समृद्ध एवं सम्पूर्ण है। विष्णु-पुराण का यह परिशिष्ट प्रतिमा-विज्ञान-शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान रखता है।

प्रतिमा-निर्माण-कला के साथ-साथ इसका चित्र-कला पर प्रविवेचन तो प्राचीन परम्परा में अद्वितीय है। वास्तु-शास्त्रीय एवं अ-वास्तु-शास्त्रीय दोनों प्रकार के वास्तु-ग्रन्थों में चित्र-कला पर विवेचन करने वाले इने-गिने ग्रन्थ हैं। विष्णु-धर्मोत्तर, नग्नजित् का चित्र-लक्षण की प्राचीन विभूति के बाद समराङ्गण को ही चित्र-कला पर सविस्तर विवेचन करने का श्रेय है। चित्र-कला यद्यपि प्रतिमा-विज्ञान का ही एक अंग है; विभिन्न द्रव्यजा मूर्तियों में चित्रजा मूर्तियों का परिसंख्यान सर्वत्र हुआ है तथापि हमने इसे अपने वास्तु-शास्त्रीय अध्ययन में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में स्थान दे रखा है (जो इस ग्रन्थ के अनन्तर प्रकाश्य है—यंत्र कला एवं चित्रकला—भारतीय वास्तु-शास्त्र—ग्रन्थ पञ्चम)।

विष्णु-धर्मोत्तर के तृतीय भाग में प्रथम ४३ अध्यायों में चित्र-कला तथा अन्तिम ४२ अध्यायों में मूर्तिकला पर सविस्तर एवं शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत किये गये हैं। विष्णु-धर्मोत्तर की इस सामग्री पर प्रो० (डा०) कुमारी स्टैला क्रामरिश (भू० पू० कलाचार्या कलकत्ता विश्वविद्यालय—cf. Introduction & Translation of Visnu dharmottara) ने स्तुत्य कार्य किया है।

विष्णु धर्मोत्तर में निम्नलिखित लगभग आठ दर्जन मूर्तियों का वर्णन किया गया है जिसको देखकर यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि विष्णु धर्मोत्तर का यह मूर्ति विज्ञान प्रतिमा-निर्माण-कला की ही पराकाष्ठा का सूचक है वरन् इससे उपासना-परम्परा का भी चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होता है जिसमें देव और देवियाँ ही पूज्य नहीं, दिग्पाल, नाग, यक्ष, गन्धर्व, नवग्रह, आदित्य ही उपास्य नहीं वरन् वेद, शास्त्र, दर्शन, पुराण, इतिहास आदि भी प्रतिमा में परिकल्प्य एवं पूज्य हैं:—

सं०	विषय	सं०	विषय	सं०	विषय	सं०	विषय
१.	ब्राह्मी विष्णु-मूर्ति	३३.	गायत्री	६५.	मुनि	९७.	निरुक्त
२.	रौद्री ,, ,,	३४.	कालरात्रि	६६.	कद्रु	९८.	व्याकरण
३.	वैष्णवी ,, ,,	३५.	सरस्वती	६७.	क्रोधा	९९.	छन्दस्
४.	ब्रह्मा	३६.	अनन्त	६८.	दरा	१००.	ज्योतिष
५.	गरुड़ारूढ़ विष्णु	३७.	शेष	६९.	युधा	१०१.	मीमांसा
६.	महेश	३८.	तुम्बुर	७०.	निरूता	१०२.	न्याय
७.	कमल	३९.	चन्द्र	७१.	सुरभि	१०३.	धर्म-शास्त्र
८.	नासत्य (देव-वैद्य)	४०.	सूर्य	७२.	खशा	१०४.	पुराण
९.	इन्द्र	४१.	भौम	७३.	ध्रुव	१०५.	इतिहास
१०.	यम	४२.	बुध	७४.	भृगु	१०६.	धनुर्वेद
११.	वरुण	४३.	बृहस्पति	७५.	बल	१०७.	आयुर्वेद
१२.	कुबेर	४४.	शुक्र	७६.	ज्योत्सना	१०८.	फलवेद
१३.	सुपर्ण	४५.	शनि	७७.	नल-कुबेर	१०९.	नृत्यशास्त्र
१४.	ताल	४६.	केतु	७८.	मणिभद्र	११०.	पञ्चरात्र
१५.	चक्र	४७.	राहु	७९.	पुरोजव	१११.	पाशुपत
१६.	मृग	४८.	मनु	८०.	वर्चस	११२.	पातञ्जल
१७.	मरुद्देव	४९.	कुमार	८१.	नन्दि	११३.	सांख्य
१८.	अर्धनारीश्वर	५०.	भद्रकाली	८२.	वीरभद्र	११४.	अर्थशास्त्र
१९.	अग्नि	५१.	विनायक	८३.	धर्म	११५.	कलाशास्त्र
२०.	निर्ऋति	५२.	विश्वकर्मा	८४.	अर्थ	११६.	लिंगविधान
२१.	वायु	५३.	वसु-गण	८५.	काम	११७.	व्योम
२२.	ईशान	५४.	साध्य-गण	८६.	शुष्का	११८.	नर-नारायण
२३.	स्वाहा	५५.	आदित्य-गण	८७.	भीमा	११९.	धर्म
२४.	विरूपाक्ष (काल)	५६.	भृगु-गण	८८.	बड़वा	१२०.	ज्ञान
२५.	भैरव	५७.	अंगिरस-गण	८९.	ज्वर	१२१.	वैराग्य
२६.	पृथिवी	५८.	काश्यप	९०.	धन्वन्तरि	१२२.	ऐश्वर्य
२७.	अम्बर	५९.	अदिति	९१.	सामवेद	१२३.	काल और उसकी १६ पत्नियां
२८.	लक्ष्मी	६०.	दिति	९२.	ऋग्वेद	१२४.	नृसिंह
२९.	धृति	६१.	दनु	९३.	यजुर्वेद	१२५.	वाराह
३०.	कीर्ति	६२.	काष्ठा	९४.	अथर्ववेद	१२६.	शेष
३१.	पुष्टि	६३.	दनायु	९५.	शिक्षा	१२७.	हयग्रीव
३२.	श्रद्धा	६४.	सिंहिरा	९६.	कल्प	१२८.	हिरण्याक्ष

वाराही-बृहत्संहिता—प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वराह-मिहिर की बृहत्संहिता एक प्रकार से अर्ध-पुराण है। अतः उसकी समीक्षा यहीं उचित है। इसमें प्रतिमा-शास्त्र पर चार

अध्याय हैं—प्रतिमा-लक्षण (५८वां) वनसम्प्रवेशाध्याय (प्रतिमा-निर्माण में आवश्यक द्रव्य—काष्ठ—५६वां) प्रतिष्ठा-विधि (६०वां) तथा पञ्च-महापुरुष-लक्षण (६६वां)। इनमें प्रतिमा-लक्षण में प्रथम प्रतिमा के अंग-प्रत्यंग-विवरण दिये गये हैं, तदनन्तर निम्नलिखित देवों की प्रतिमाओं के लक्षण लिखे गये हैं:—

१. दाशरथि राम	११. बुद्ध
२. वैरोचनि बलि	१२. अर्हत-देव
३. विष्णु (द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज)	१३. रवि
४. कृष्ण-बलदेव (मध्ये नन्दा देवी)	१४. लिङ्ग
५. प्रद्युम्न	१५. मातृ-गण
६. शाम्ब	१६. रेवन्त
७. ब्रह्मा	१७. यम
८. कुमार (स्कन्द)	१८. वरुण
६. इन्द्र (ऐरावत)	१६. कुबेर
१०. शिव (वामार्ध-गिरिसुता)	२०. प्रथमाधिप गणेश

आगम—आगमों की प्रतिमा-विज्ञान की पृथुल सामग्री का राव महाशय ने (cf. E. H. I. 4 Volumes) पूरा उपयोग किया है। अतः उस सब सामग्री का यहाँ सविस्तर निर्देश आवश्यक नहीं; प्रतिमा-लक्षण में उसको विशेष स्थान दिया जावेगा। आगम पुराणों से भी अधिक पृथुल एवं अधिक-संख्यक हैं। पुराण १८ हैं आगम २८। उप पुराणों के सदृश उपागम भी हैं जिनकी सब संहितायें मिलाकर २०० से भी अधिक हैं। इन आगमों में किन्हीं-किन्हीं में तो वास्तु-शास्त्र का इतना विस्तीर्ण एवं सांगोपांग विवेचन है कि उन्हें वास्तु-शास्त्र के ग्रंथ ही कहना चाहिये—उदाहरण कामिकागम (दे० लेखक का भा० वा० शा०) के ७५ पटलों में ६० पटल वास्तु शास्त्र का विवेचन करते हैं। कामिकागम के अतिरिक्त जिन आगमों में प्रतिमा-विज्ञान (तथा प्रासाद-वास्तु) की विशेष विवेचना है उनमें कर्णागम, सुप्रभेदागम, वैखानसागम तथा अंशुमद्भेदागम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन आगमों का वैशिष्ट्य यह है कि इन में शिव की लिङ्गोद्भव मूर्तियों पर बड़ा ही सांगोपांग वर्णन है। तालमान की विवेचना इनकी सर्व-प्रमुख देन है। पुराणों में तालमान नगण्य है। इस प्रकार मूर्ति-विज्ञान एवं मूर्ति-कला के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों (canons) का जैसा समुद्घाटन इन आगमों में मिलेगा वैसा पुराणों में अप्राप्य है। पुराण प्रतिमा-रूपोद्भावना में वैशिष्ट्य रखते हैं आगम प्रतिमा-रचना-प्रक्रिया का कौशल सिखाते हैं। अतएव दाक्षिणात्य प्रस्तर-कला में इन आगमों को शिल्पियों की हस्त-पुस्तक (Handbooks and guidebooks) के रूप में परिकल्पना है।

तन्त्र—वैसे तो शैव-तन्त्रों को आगम तथा वैष्णव-तन्त्रों को 'पञ्चरात्र' की संज्ञा से संकीर्तन किया जाता है परन्तु यहाँ पर तंत्रों से तात्पर्य उन ग्रंथों से है जिनमें शक्ति-पूजा एवं उससे सम्बन्धित शैवी एवं शक्ति-देवी की मूर्तियों का विशेष विवेचन है। तांत्रिक आचार एवं तांत्रिकी देव-पूजा-पद्धति वैदिक एवं पौराणिक आचार एवं अर्चा पद्धतियों से विलक्षण है।

पुराणों और आगमों के सदृश तंत्रों में भी प्रतिमा-विज्ञान की पूर्णरूप से चर्चा है। हमने अपने 'भारतीय-वास्तु-शास्त्र' में जिन २५ तंत्रों (दे० पृ० २२) का समुल्लेख किया है उनमें प्रायः सभी में इस विषय की बहुमुखी सामग्री मिलती है। महानिर्वाण, गौतमी, काली आदि तंत्रों में यंत्रात्मक उपासना का भी विशद् रहस्य एवं प्रतीकत्व समुद्घाटित एवं प्रतिपादित है। पीछे शाक्त-धर्म की समीक्षा में तांत्रिक आचार पर कुछ संकेत किया ही जा चुका है। तंत्रीय प्रतिमा-प्रविवेचन में 'हयशीर्ष-पञ्चरात्र' नामक तंत्र की महती देन है। विद्वानों ने अभी इसका अध्ययन ठीक तरह से नहीं किया और न इसका ठीक तरह से सम्पादन एवं प्रकाशन ही हो सका है।

शिल्प-शास्त्र—शिल्प-शास्त्र के दो वर्ग हैं—दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थ एवं उत्तरी वास्तु-शास्त्र के ग्रन्थ। 'वास्तु-विद्या' के शीर्षक में 'भारतीय वास्तु-शास्त्र' में हमने इन दोनों परम्पराओं के प्रतिनिधि ग्रन्थों का निर्देश किया है। यहाँ पर विस्तार-भय से सब की अवतारणा अभीष्ट नहीं। द्राविड-शैली का प्रतिनिधि ग्रन्थ मान-सार है। इसी शैली में अगस्त्य का सकलाधिकार, काश्यप का अंशुमद्भेद और श्रीकुमार का शिल्परत्न और मयासुर का मयमत विशेष उल्लेखनीय हैं। नागर-शैली (अथवा उत्तरी) शैली के ग्रन्थों में वास्तु-शास्त्र के तीन ही ग्रन्थ विशेष प्रख्यात थे—विश्वकर्म-वास्तु-शास्त्र (विश्वकर्म-प्रकाश), समराङ्गण-सूत्रधार और मण्डन का वास्तु-शास्त्र। 'अपराजित-पृच्छा' के प्रकाशन से उत्तरी परम्परा को एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ हस्तगत हुआ। इन उत्तरी ग्रन्थों में जहाँ भवन-विन्यास, प्रासाद-रचना आदि वास्तु-शास्त्रीय विषय बड़े ही सांगोपांङ्ग एवं विस्तृत रूप में प्रतिपादित है वहाँ मूर्ति-विज्ञान का विवेचन इनमें अधूरा ही है। इसका प्रधान कारण इस प्रदेश की मूर्ति-निर्माण-कला की रूपोद्भावना की सादगी है।

विष्णु की ध्रुव-बेराओं एवं शिव की लिङ्गोद्भव-मूर्तियों का इस प्रदेश में प्रचार नहीं। साहित्य समाज का दर्पण कहा गया है; तो फिर स्थापपत्य शास्त्र (साहित्य) इसका अपवाद कैसे रह सकता है? इसके अतिरिक्त उत्तर मध्यकाल एवं अर्वाचीन समय में स्थापत्यकोविदों को प्रचुरता जितनी दक्षिण में है उतनी उत्तर में नहीं रही। इसका कारण राजनैतिक है। दक्षिण उत्तर की अपेक्षा मध्यकालीन एवं उत्तर-मध्य-कालीन आक्रमणों से कुछ बचा रहा। अतः प्राचीन सांस्कृतिक प्रगतियाँ (Religio-cultural trends) उस प्रदेश में विशेष सुरक्षित रह सकीं। अस्तु, अब संक्षेप में इन शिल्प-शास्त्रों की मूर्ति-निर्माण से सम्बन्धित सामग्री का निर्देश आवश्यक है।

दक्षिणी ग्रन्थ

मानसार—मानसार के कुल ७० अध्यायों में प्रथम ५० अध्याय भवन-कला (Architecture) पर हैं और अन्तिम २० अध्याय मूर्ति-कला (Sculputre) पर हैं। इन २० अध्यायों की प्रतिमा-सामग्री निम्न हैं: —

१. त्रिमूर्त्ति-लक्षण विधान	५१ वां अध्याय	११. गरुड़-मान-विधा०	६१	वां	अध्याय
२. लिङ्ग-विधान	५२ ,,	,,	१२. वृषभ-लक्षण-विधा०	६२	,, ,,
३. पीठ-लक्षण विधा०	५३ ,,	,,	१३. सिंह-लक्षण-विधा०	६३	,, ,,
४. शक्ति-लक्षण-विधा०	५४ ,,	,,	१४. प्रतिमा-विधा०	६४	,, ,,
५. जैन-लक्षण-विधा०	५५ ,,	,,	१५. दशताल-विधा०	६५	,, ,,
६. बौद्ध-लक्षण-विधा०	५६ ,,	,,	१६. मध्यम-दशताल-विधा०	६६	,, ,,
७. मुनि-लक्षण-विधा०	५७ ,,	,,	१७. प्रलम्ब-लक्षण-विधा०	६७	,, ,,
८. यक्ष-विद्याधर विधा०	५८ ,,	,,	१८. मधूच्छिष्ट-विधा०	६८	,, ,,
९. भक्त-लक्षण-विधा०	५९ ,,	,,	१९. अङ्ग-दूषण-विधा०	६९	,, ,,
१०. वाहन-विधाने हंसलक्षण	६० ,,	,,	२०. नयनोन्मीलन-ल० वि०	७०	,, ,,

इन अध्यायों के परिशीलन से पता लगेगा कि यह ग्रन्थ जहां प्रासाद-रचना में उत्तर मध्यकालीन गोपुरों की निर्माण-शैली (१ से १७ भूमिकाओं तक) के विकास का प्रतिनिधित्व करता है वहां प्रतिमा-निर्माण-कला की प्राचीन परिपाटी का निदर्शन प्रस्तुत करता है। इसमें अगत्य के सकलाधिकार अथवा काश्यपीय अंशुमद्भेद (जिन्हें डा० तारापद भट्टाचार्य ने उत्तर-मध्यकालीन कृतियां माना है) के सदृश विष्णु की ध्रुवबेराओं की नानावर्गीय मूर्तियों एवं शिव की लिङ्गोद्भव अनेक मूर्तियों का वर्णन नहीं मिलेगा। अतः यह वैषम्य कैसे दूर किया जावे? डा० आचार्य मानसार को गुप्तकालीन एक प्राचीन कृति मानते हैं, परन्तु डा० तारापद ने इसमें उपर्युक्त गोपुर-विकास से अगस्त्य और काश्यप के ग्रन्थों के समान इसे भी उत्तर-मध्यकालीन कृति ठहराया है। डा० तारापद (cf. A study of Vastu-Vidya) ने केवल वास्तु-कला (architecture) से सम्बन्धित इस ग्रन्थ की सामग्री को देखकर झटिति यह निष्कर्ष निकाल बैठे जो इस ग्रन्थ की समीक्षा में प्रतिमा-विज्ञान सामग्री एक दूसरे ही निष्कर्ष की ओर ले जाती है।

अपेक्षाकृत अर्वाचीन दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थों का प्रतिमा-प्रविवेचन मानसार की एतद्विषयिका विवेचना से सर्वथा विलक्षण एवं अधिक अर्वाचीन प्रतीत होती है। इस कथन की सत्यता आगे के अगस्त्य के सकलाधिकार और काश्यप के अंशुमद्भेद से स्वतः प्रकट है।

अगस्त्य-सकलाधिकार—यथानाम सकल (प्रतिमा) पर ही प्रधान रूप से विवेचन करता है।

निम्नलिखित अध्याय अवलोकनीय हैं :—

(अ)

१. मान-संग्रह
२. उत्तम-दश-ताल
३. मध्यम-दश-ताल
४. अधम-दश-ताल
५. प्रतिमा-लक्षण
६. वृषभ-वाहन-ल०
७. नटेश्वर-विधि०
८. षोडश-प्रतिमा-ल०
९. दारू-संग्रह
१०. मृत्संस्कार
११. वर्ण-संस्कार

(ब)

१. मान-संग्रह
२. उत्तम-दश-ताल
३. मध्यम-दश-ताल
४. सोमास्कन्द-लक्षण
५. चन्द्रशेखर-लक्षण
६. वृषभ-वाहन-ल०
७. त्रिपुरान्तक-ल०
८. कल्याण-सुन्दर-ल०
९. अर्धनारीश्वर-ल०
१०. पाशुपत-लक्षण
११. भिक्षाटन-लक्षण
१२. चण्डेशानुग्रह-ल०
१३. दक्षिणा-मूर्ति-ल०
१४. कालदहन-ल०
१५—१८ (अप्राप्य)
१९. प्रतिमा-लक्षण

(स)

२०. उपपीठ-विधान
२१. शूलमान-विधान
२२. रज्जुबन्ध-संस्कार-विधि
२३. वर्ण-संस्कार
२४. अक्षिमोक्षण

टि०—इन अध्यायों में शिव की पुरुष-प्रतिमायें और लिङ्गोद्भव-प्रतिमायें प्रतिपादित हैं। अतः शैव-प्रतिमा-विकास का अर्वाचीनत्व इससे स्वतः प्रकट है।

काश्यपीय-अंशुमद्भेद—इस विशालकाय ग्रन्थ में ८६ अध्याय हैं जिनमें प्रथम ४५ अध्यायों तथा अन्तिम दो अध्यायों (कुल ४७ अध्यायों) में प्रासाद-वास्तु - Temple Architecture—का विवेचन है तथा शेष ३९ अध्यायों में प्रस्तर-कला (Sculpture) पर प्रविवेचन है। प्रस्तर-कला—प्रतिमा-निर्माण-कला का ऐसा प्रौढ़ प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है। चूंकि यह अंशुमद्भेद अंशुमद्भेदागम का ही अनुयायी है और आगमों के स्थापत्य का प्रधान केन्द्र-विन्दु शैवी-प्रतिमायें हैं; अतः शैव-प्रतिमाओं एवं शैव-परिवार देवी और गणेश आदि की प्रतिमाओं का ही इसमें सांगोपांग वर्णन है। निम्नलिखित अध्याय-विषय-तालिका से यह कथन स्पष्ट है :—

१.	सप्त-मातृका-लक्षण	४६ वां अ०	७.	उत्तम नव-ताल	५२ ,, ,,
२.	विनायक-लक्षण	४७ ,, ,,	८.	मध्यम ,, ,,	५३ ,, ,,
३.	परिवार-विधि	४८ ,, ,,	९.	अधम ,, ,,	५४ ,, ,,
४.	लिङ्गलक्षणोद्धार	४९ ,, ,,	१०.	अष्ट-ताल	५५ ,, ,,
५.	उत्तम-दश-ताल-पुरुष-मान	५० ,, ,,	११.	सप्त ताल	५६ ,, ,,
६.	मध्यम ,, ,, ,, ,,	५१ ,, ,,	१२	पीठ-लक्षणोद्धार	५७ ,, ,,

१३.	सकल-स्थापन-विधि	५८ ,, ,,	२६.	हर्यर्ध-हर-ल०	७१ ,, ,,
१४.	सुखासन	५६ ,, ,,	२७.	भिक्षाटन-मूर्ति-ल०	७२ ,, ,,
१५.	,, ,,	६० ,, ,,	२८.	चण्डेशानुग्रह-ल०	७३ ,, ,,
१६.	चन्द्रशेखर-मूर्ति-लक्षण	६१ ,, ,,	२६.	दक्षिणा-मूर्ति-ल०	७४ ,, ,,
१७.	वृषभ-वाहन-मूर्ति-लक्षण	६२ ,, ,,	३०.	कालह मूर्ति-ल०	७५ ,, ,,
१८.	नृत्त-मूर्ति-लक्षण	६३ ,, ,,	३१.	लिङ्गोद्भव-ल०	७६ ,, ,,
१६.	गंगाधर-मूर्ति-लक्षण	६४ ,, ,,	३२.	शूल-लक्षण	७८ ,, ,,
२०.	त्रिपुर-मूर्ति-ल०	६५ ,, ,,	३३.	शूल-पाणि-ल०	७६ ,, ,,
२१.	कल्याण-सुन्दर-ल०	६६ ,, ,,	३४.	रज्जु-बन्ध-ल०	८० ,, ,,
२२.	अर्ध-नारीश्वर-ल०	६७ ,, ,,	३५.	मृत्संस्कार-ल०	८१ ,, ,,
२३	गजह-मूर्ति-ल०	६८ ,, ,,	३६.	कल्क-संस्कार-ल०	८२ ,, ,,
२४.	पाशुपत-मूर्ति-ल०	६६ ,, ,,	३७.	वर्ण-संस्कार-ल०	८३ ,, ,,
२५.	कंकाल-मूर्ति-ल०	७० ,, ,,	३८.	वर्ण-लेपन-मेध्य-ल०	८४ ,, ,,

टि० —७७वां अ०—'वृत्त-संग्रह' प्रतिमा-लक्षण से साक्षात्सम्बन्धित न होने के कारण इस तालिका में नहीं सम्मिलित किया गया। अन्य दक्षिणी ग्रन्थों जैसे मयमत आदि की अवतारणा यहां पर अनावश्यक है। प्रतिमा-विज्ञान की दो धाराओं—प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों के ही प्रतिनिधि-ग्रन्थों (मानसार प्राचीन एवं अ० सकला० तथा काश्य० अंशु० अर्वाचीन) के इस निर्देश के अनन्तर अब उत्तरी ग्रन्थों की ओर मुड़ना चाहिये।

उत्तरी ग्रन्थ

विश्वकर्म-प्रकाश—नागर-शैली का सर्व-प्राचीन वास्तु-शास्त्र 'विश्वकर्म-प्रकाश' है। इसकी दो प्रतियां प्राप्त हुई हैं—विश्वकर्मीय-शिल्प अथवा विश्व-कर्मीय-शिल्प-शास्त्र तथा विश्वकर्म-प्रकाश अथवा विश्वकर्म-वास्तु-शास्त्र (दे० लेखक का भा० वा० शा०) इन दोनों का विषय-क्रम बिलकुल भिन्न है। अतः डा० तारापद भट्टाचार्य ने विश्वकर्म-प्रकाश को उत्तरापथीय परम्परा एवं विश्वकर्मीय-शिल्प को दक्षिणापथीय परम्परा का ग्रन्थ माना है। विश्वकर्म-प्रकाश की विषय-ग्रन्थना में प्रतिमा-विज्ञान (प्रस्तर-कला) का तो सर्वथा अभाव है ही भवन-विज्ञान (वास्तु-कला) का भी उसमें वैज्ञानिक एवं साङ्गोपाङ्ग विवेचन नहीं। ग्रह-प्रकरण में अपेक्षित ज्यौतिष-विचार आदि की उसमें अधिकता है। विश्वकर्मीय-शिल्प में यह बात नहीं। अतः यह कहना असंगत न होगा इन दोनों को पृथक्-पृथक दो परम्पराओं से जोड़ना ठीक नहीं—दोनों मिलकर एक ही परम्परा—उत्तरी वास्तु-शैली—का निर्माण करते हैं। अस्तु विश्वकर्म-शिल्प के निम्नलिखित विषयों में प्राचीन प्रतिमा-शास्त्र का ही स्वरूप उद्घाटित होता है:—

१. विश्वकर्मोत्पत्तिः, कर्म-विशेष-भेदेन व्यवहृत-तक्षक-वर्धक्यादि-शब्द-व्युत्पत्तिश्च—स्थपतियों के वर्ग-विशेष।

२. सत्यादि-युग-जात नरोच्चता-प्रमाणम्—प्रतिमा-मान।

३. तक्षकस्य गर्भाधानादि-संस्कार-कथनं, गर्भोत्पत्ति-कथनादि च —अर्थात् मूर्तिनिर्माता तक्षकादिकों के धार्मिक-संस्कार।
४. शिव-लिङ्गार्थ-प्रतिष्ठार्थ सभा-निर्माणादि—सभा अर्थात् मन्दिर।
५. ग्रह-प्रतिमा-निर्माण-प्रमाणं, लिङ्ग-पीठ निर्माण-प्रमाणादि च— ग्रह से तात्पर्य नव-ग्रहों से है।
६. रथ-निर्माण-विधि-कथनम्।
७. रथ-प्रतिष्ठा-विधि।
८. ब्राह्मी-माहेश्वर्यादीनां स्वरूपादि-वर्णादि—देवी प्रतिमा-लक्षण।
९. यज्ञोपवीत-लक्षणम्।
१०. सुवर्ण-रजत-मञ्ज्यादि-निर्मित-यज्ञोपवीत-कथनं, दिग्भेदेन देवस्थापन-प्रकारादि, मेरू-दक्षिण स्थित-हेम-शिला-कथनादि च।
११. लक्ष्मी ब्राह्मी-माहेश्वर्यादि-देवीन्द्रादि-दिक्पाल-ग्रहादि-मूर्ति-निर्माण-प्रकारः।
१२-१३. मुकुट-किरीट-जटा-मुकुटादि-निर्माण-प्रकारादि।
१४. स्थावरास्थावर-सिंहासन-निर्माण-प्रकारादि, पुनर्विशेषेण किरीट-ललाट पट्टिकादि-निर्माण-प्रकारः देवतायाः मन्दिरस्य च जीर्णोद्धार-प्रकारः।
१५. लिङ्ग-मूर्ति-मन्दिर-द्वारादि-कथनम्।
१६. प्रतिमा-मूर्ति मन्दिर-द्वारादि-कथनम्।
१७. विघ्नेश-मूर्ति-मन्दिरादि-विधि।

भारतीय वास्तु-शास्त्र की उत्तरी शाखा के प्राचीन ग्रन्थों की नगण्यता है। मध्य-कालीन ग्रन्थों में समराङ्गण सूत्रधार ही सर्व-प्रमुख एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। मण्डन के वास्तु-शास्त्र में भी प्रस्तर-कला (प्रतिमा-विज्ञान) का पूर्ण अभाव है। अतः उसकी यहां अवतारणा व्यर्थ है। समराङ्गण के प्रतिमा-प्रतिपादन की स्वल्पता पर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। अभी हाल में प० अ० मानकद ने 'अपराजित पृच्छा' नामक वास्तु-शास्त्र का उपोद्घात पुरस्सर सम्पादन कर प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ से इस शाखा में इस अंग (प्रतिमा-शास्त्र) की बड़ी सुन्दर पूर्ति प्रतीत होती है। विशेष अनुसन्धान लेखक के अंग्रेजी ग्रन्थ Hindu Science of Architecture Pt. II. में द्रष्टव्य होगा।

अपराजित पृच्छा - समराङ्गण और अपराजित-पृच्छा—दोनों की वास्तु-विद्या का एक ही स्रोत है। समराङ्गण की वास्तु-विद्या की मीमांसा में (दे० लेखक का भा० वा० शा०) हम कह आये हैं कि विश्वकर्मा के चार मानस-पुत्रों—जय, विजय, सिद्धार्थ और अपराजित में जय (सर्वाग्रज) से जिज्ञासित वास्तु प्रश्नों का उत्तर समराङ्गण-वास्तु-शास्त्र है ; उसी प्रकार अपराजित (सर्वानुज) के द्वारा जिज्ञासित प्रश्नों का उत्तर 'अपराजित पृच्छा' वास्तु-शास्त्र है। अपराजित के रचयिता भुवनदेव को भी मानकद ने विश्वकर्मा ही माना है। अतः उत्तरी वास्तु-विद्या के प्रथम प्रतिष्ठापाक विश्वकर्मा के पारम्परित प्रवचनों को ही अपनी अपनी मेधा से धाराधिप महाराज भोज ने ११वीं शताब्दी में समराङ्गण-वास्तु-शास्त्र के रूप में तथा १३वीं शताब्दी में संप्रति अज्ञात विद्वान् ने भुवनदेव (विश्वकर्मा) के नाम से 'अपराजित पृच्छा' रचा। अस्तु, अपराजित की प्रतिमा-शास्त्र-विषयिणी निम्न तालिका से

लिङ्ग-मूर्तियों एवं अन्य शाम्भव-मूर्तियों के अत्यन्त विशद् वर्णन के साथ-साथ अन्य देवों की मूर्तियों का भी वर्णन मिलेगा जिससे पाठक को तुलनात्मक दृष्टि से यह निष्कर्ष निकालने में देर न लगेगी कि सम्भवतः ऐसा विशद्, व्यापक एवं सर्वधर्मानुरूप (शैव, शाक्त, वैष्णव गाणपत्य, सौर एवं ब्राह्म आदि उपासना-सम्प्रदायों के अनुरूप) प्रतिमा-प्रविवेचन अन्यत्र अप्राप्य है :—

लिङ्ग-मूर्ति-लक्षण—(दे० सू० १६६-२०७ पृ० ५०५-३२) में लिङ्गोत्पत्ति, लिङ्गार्चनविधि, रत्नज-लिङ्ग, अष्ट-धातुज-लिङ्ग, दारुज-लिङ्ग मकरेन्दु-आदि नव लिङ्ग, शैलज-लिङ्ग, त्रयस्त्रिंशल्लिङ्ग के वर्णनोपरान्त लिङ्ग-परीक्षा शुद्ध-लिङ्ग—शुभाशुभ चिह्न, लिङ्ग-लाञ्छन, शल्यदोष एवं मण्डल-दोषों का प्रतिपादन है। पुनः व्यक्ताव्यक्त-पार्थिव-लिङ्ग-निर्णय में पक्वापक्व द्विविध पार्थिव-लिङ्गों के निर्णयोपरान्त अव्यक्त-लिङ्गों में सद्यः, वामदेवः, अघोरः, तत्पुरुषः, ईशानः ५मुख-लिङ्गों के संकेत-पुरस्सर लुप्त-शत-लिङ्गों पर प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर बाण-लिङ्गोत्पत्ति एवं तल्लक्षण प्रतिपादित हैं। लिङ्ग-पीठ के लक्षण में स्थण्डिल, वापी, यक्षी, वेदी, मण्डला, पूर्णचन्द्रा, वज्री, पद्मा, कृत्यर्धचन्द्रा, त्रिकोणा—इन दश पीठिकाओं का वर्णन है।

शाम्भव-मूर्ति-लक्षण—(दे० सू० २०८, २१२ पृ० ५३३, ५४०-४२)—में नन्दीश्वर, चण्डनाथ, एकादश-रुद्र—सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान, मृत्युञ्जय, विजय, किरणाक्ष, अघोरास्त्र, श्रीकण्ठ एवं महादेव—के लक्षणों के साथ-साथ द्वादशकला-सम्पूर्ण सदाशिव का लक्षण भी प्रतिपादित है। अन्य शाम्भव-मूर्तियों में हरिहर-मूर्ति एवं वैद्यनाथ मूर्ति के लक्षणोपरान्त त्रिपुरान्तक अर्ध-नारीश्वर—उमामहेश्वर—कृष्ण-शङ्कर हरिहर-पितामह—हरिहर-हिरण्यगर्भ (दे० सू० २१३) आदि मूर्तियों के भी लक्षण दिये गये हैं; साथ ही साथ शिव के आठ प्रतिहारों—नन्दि, महाकाल, हेरम्ब, भृङ्गी, दुर्मुख, पाण्डुर, सित और असित—के भी लक्षण लिखित हैं।

वैष्णव-मूर्ति-लक्षण—(दे० सू० २१५-२१६ पृ० ५४६-६१)—में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, के पृथक् लक्षणों के साथ इनके पृथक्-पृथक् त्रिक सहित द्वादश-मूर्ति-लक्षण—अधोक्षज, कृष्ण, कार्तिकेय, पुरुषोत्तम, गरुडध्वज, अच्युत, उपेन्द्र, जयन्त, नारसिंहक, जनार्दन गोवर्धन और हरिकृष्ण—भी विवृत हैं। अन्य वैष्णवी मूर्तियों में विश्वरूप, अनन्त, त्रैलोक्य-मोहन, जलशायी, वराह, वैकुण्ठ आदि के लक्षणों के साथ कृष्ण-मूर्ति के विशेष लक्षण भी द्रष्टव्य हैं। वैष्णव-प्रतिहारों की भी इस ग्रन्थ में परिकल्पना है—चण्ड, प्रचण्ड, जय, विजय, धातृ विधातृ, भद्र और सुभद्रक।

ब्राह्म-मूर्ति-लक्षण—दे० सू० २१४—में कमलासन, विरञ्चि, पितामह, ब्रह्मा की मूर्तियों के साथ ब्रह्मा के भी आठ प्रतिहारों (दे० सू० २२०)—सत्य, धर्मक, प्रिय, उद्भव यज्ञ, भद्रक, भव और विभव—के वर्णन हैं।

सौर-प्रतिमा-लक्षण—में नवग्रह-सहित सूर्य-प्रतिमाओं के वर्णन हैं। भास्कर के आठ प्रतीहारों के नाम हैं—दण्डी, पिङ्गल, आनन्द, नन्दक, चित्र, विचित्र, किरणाक्ष और सुलोचन।

गाणपत्य-प्रतिमा लक्षण—दे० सू० २१२—में गणपति, गणेश, सेनापति स्वामि-

कार्तिकेय के वर्णन साधारण और विशिष्ट दोनों हैं—विशिष्टता गणेश-प्रतिहार—अविघ्न, विघ्न-राज, सुवक्त्र, बलवद, गजकर्ण, गोकर्ण, सौम्य और अभय-दायक।

देवी-लक्षण (शाक्त-प्रतिमा)—दे० सू० २२२-२२३—में गौरी की द्वादश मूर्तियों में उमा, पार्वती, गौरी, ललिता, श्रियोत्तमा, कृष्णा, हेमवती, रम्भा, सावित्री, त्रिषण्डा, तोतला और त्रिपुरा के वर्णनों के साथ पञ्चललीय मूर्तियों—ललीया, लोला, लीलाङ्गी, ललिता और लीलावती तथा नव-दुर्गा-मूर्तियों—महालक्ष्मी, नन्दा, क्षेमकरी, शिवदूती, महारुण्डा, भ्रमरी, सर्वमङ्गला, रेवती और हरसिद्धी के विशिष्ट-वर्णनोपरान्त चामुण्डा, कात्यायनी आदि सामान्य देवियां के साथ-साथ सप्त मातृकाओं—चामुण्डा, ऐन्द्री, वाराही, कौमारी, ब्रह्माणी, वैष्णवी, और माहेश्वरी—के भी वर्णन दिये गये हैं। देवी-द्वार-पालिकाओं (अर्थात् प्रतिहारियों) में गौरी और चण्डिका के अलग द्वार-पालिकायें परिकल्पित की गयी हैं—गौरी-द्वा० पा०—जया, विजया, अजिता, अपराजिता, विभक्ता, मङ्गला, मोहिनी और स्तम्भिनी; चण्डिका की द्वारपालिकायें न होकर देवों के जैसे उद्भट प्रतिहार ही द्वारपाल हैं—वेताल, कोटर, पिङ्गाक्ष, भ्रकुटि, धूम्रक, कंकट, रताक्ष और सुलोचन।

पञ्चायतन—के इन पंचवर्गीय देवता-मूर्ति-लक्षण के साथ-साथ जैन प्रतिमा-लक्षण भी बड़ा विशद् है। बौद्ध-प्रतिमा-लक्षण का अभाव खटकता है। सम्भवतः यह ग्रन्थ मध्यकालीन होने से उसका लेखक तत्कालीन बौद्ध-धर्म-ह्रास से प्रभावित होकर भारतीय मूर्ति-विज्ञान के इस अत्यन्त उदात्त अंग के प्रति उदासीन हो गया।

जैन-प्रतिमा-लक्षण—(दे० सू० २२१ पृ० ५६६-७०)—में २४ तीर्थङ्करों उनकी २४ शासन-देविकाओं तथा उनके २४ यक्षों के भी पूर्ण लक्षण लिखे गये हैं। इनकी नामावली 'जैन-प्रतिमा-लक्षण' के अध्याय में स्पष्ट है। वीतराग जिनेन्द्र के आठ प्रतिहार हैं—इन्द्र, इन्द्रजय, महेन्द्र, विजयेन्द, धरणेन्द्र, पद्मक, सुनाभ और सुरदुन्दुभि।

टि०—इस ग्रन्थ में प्रतिमा-विज्ञान के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों (Canons) जैसे हस्तमुद्रा, आयुध, आदि पर भी पृथुल सामग्री है। चित्रकला पर भी समराङ्गण के समान इसका भी प्रतिपादन-वैशिष्ट्य रखता है। इसकी समीक्षा—लेखक के इस अध्ययन के पंचम ग्रन्थ—'यन्त्र एवं चित्र' में द्रष्टव्य है।

पूजा-पद्धतियों, प्रतिष्ठा-ग्रन्थों तथा अन्यान्य धार्मिक ग्रन्थों—में ईशान-शिव-गुरु-देव पद्धति, हरिभक्ति-विलास, अभिलषितार्थ-चिन्तामणि (मानसोल्लास) रघुनन्दन-मठ-प्रतिष्ठा-पद्धति हेमाद्रि-चतुर्वर्ग-चिन्तामणि, कृष्णानन्द-तन्त्र-सार आदि-आदि ग्रन्थों में प्रतिमा विज्ञान की अपार सामग्री भरी पड़ी है; जिनमें एतद्विषयिणी पौराणिक परम्परा एवं आगमिक तथा तान्त्रिक परम्पराओं की ही स्पष्ट छाप है। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में कुछ ऐसी भी विवेचना है जो उनकी विशिष्टता है जैसे चित्र-कला की लेप्य सामग्री अथवा प्रस्तर-कला के वज्र-लेप आदि बन्ध जिनका आगे यथावसर संकेत किया जावेगा।

अस्तु, प्रतिमा-विज्ञानोद्यान की शास्त्रीय-शाखा के इन हरे-भरे पल्लवों, मनोज्ञ गन्धाढ्य पुष्पों एवं सुस्वादु फलों की स्वल्प में इस छटा पर सरसरी दृष्टि डालने के बाद कुछ क्षणों के लिये स्थापत्य-केन्द्र-कुञ्जों में बैठकर कुछ विश्राम और विहार करें।

स्थापत्यात्मक

प्रतिमा-निर्माण की शास्त्रीय-परम्परा के इस निर्देश के उपरान्त अब स्थापत्य में उसके समन्वय एवं निदर्शनों की मीमांसा का अवसर आता है। परन्तु इस विषय की सन्तोष-जनक समीक्षा के लिये न तो अभी तक सामग्री का पूर्णरूप से संकलन हो पाया है और न इस ओर विद्वानों के अनुसन्धान एवं गवेषणा ही पथ-प्रदर्शन करते हैं। राव महाशय ने आगम-प्रति-पादित वैष्णव ध्रुवबेराओं का दाक्षिणात्य स्थापत्य में समन्वय एवं निदर्शनों पर एक स्तुत्य प्रयत्न किया है। डा० बैनर्जी ने भी इस समस्या की ओर संकेत किया है तथा कतिपय ऐसी मूर्तियों का भी निर्देश प्रस्तुत किया है जो स्थापत्य में मिलती है परन्तु शास्त्र में प्रतिपादित नहीं हैं। इस प्रकार लक्ष्य एवं लक्षण का यह समन्वय एवं सानुगत्य भारतीय प्रतिमा-विज्ञान (Indian Iconography) का ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय है जिसपर एक स्वाधीन प्रबन्ध (Thesis) के लिये बड़ा सुयोग है। अतः स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थ में इस विषय की पूरी समीक्षा का न तो अवसर है और न साधन ही हैं। भारतीय-विज्ञान (Indology) की इस महत्त्वपूर्ण गवेषणा की ओर ध्यान आकर्षित करने का एकमात्र प्रयोजन आगे के अनुसन्धान-कर्ताओं के लिये पथ प्रदर्शन अवश्य है।

भारतीय वास्तुशास्त्र एवं वास्तुकला की दो प्रधान शैलियों का निर्धारण जिस प्रकार सम्भाव्य है उसी प्रकार प्रतिमा-निर्माण में इन दो प्रमुख शैलियों से काम नहीं चल सकता। भारतीय वास्तु-कला (Architecture) के वर्गीकरण में भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण का अनुगमन किया जा सकता है; अतएव नागर, द्राविड, लाट, वैराट, आन्ध्र, कलिंग, वेसर आदि शैलियाँ संगत होती हैं। परन्तु प्रतिमा-निर्माण की पृष्ठ-भूमि पूजा-परम्परा है और पूजा-परम्परा एवं पूज्य देवों की कल्पना भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में एक-सी नहीं है। तान्त्रिक उपासना एवं तान्त्रिक देवों की उद्भावना, पौराणिक पञ्चायतन-परम्परा से सर्वथा विलक्षण है। इसी प्रकार शैव-धर्म के प्रभाव से भी प्रतिमा-निर्माण कम प्रभावित नहीं हुआ है। बौद्धों एवं जैनों की उपासना-परम्परा में प्रतिमारूपोद्भावना भी समय-समय पर युगान्तकारी परिवर्तनों से प्रभावित रही। अथच अर्चागृहों—तीर्थों और मन्दिरों के निर्माणापेक्ष्य प्रतिमा-प्रतिष्ठा के लिये जो विभिन्न जानपदीय तीर्थस्थानीय एवं कला-केन्द्रीय स्थापत्य-शैलियों का आविर्भाव हुआ वह न तो परस्पर समान है और न सर्वथा एक दूसरे से विलक्षण ही। गान्धार, नालन्दा, अमरावती, सारनाथ मथुरा, आदि के कला-केन्द्रों में विकसित बौद्ध-प्रतिमायें इस उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करती हैं।

अतः प्रश्न यह है कि भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की स्थापत्यात्मक परम्परा की मीमांसा का कौन-सा माप-दण्ड निर्धारित करना चाहिये? भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से स्थापत्य-परम्परा के दो प्रधान विभाग--दक्षिणी एवं उत्तरी Southern and Northern) आगे बढ़ने के लिये भले ही उपकारक हों, परन्तु इस समस्या के आभ्यन्तरिक प्रवेश के लिये राजपथ तो मन्दिर-पीठ-वीथी ही हो सकती है। इस विशाल देश का कौन-सा भूभाग है जहां पर भव्य से भव्य मन्दिर नहीं मिलते एवं उनमें प्रतिष्ठापित प्रतिमायें नहीं मिलतीं? यद्यपि यह सत्य है, बहुत सी प्रतिमा-निधि न केवल स्वतः ही नाश हो गयी हैं वरन् मूर्खतावश

ध्वंस भी कर दी गयी हैं, तथापि इस ओर अनुसन्धान के लिये मन्दिर-पीठों की प्रयोग-शालायें आज भी हमारे सामने विद्यमान हैं। मन्दिर-पीठ इस दृष्टि से हमारे प्रतिमा-संग्रहालय हैं।

अब अन्त में एक तथ्य की ओर ध्यान यह आकर्षित करना है कि प्रतिमा-निर्माण की शास्त्रीय परम्परा के प्रकाशक जिन ग्रन्थों—पुराण, आगम, तन्त्र, शिल्पशास्त्र आदि—का ऊपर निर्देश है उनके ऐतिहासिक महत्त्व का मूल्याङ्कन क्या है? वैसे तो इन ग्रन्थों के तिथि-निर्धारण में पर्याप्त साधनों का अभाव है, परन्तु बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण आदि ग्रन्थों को गुप्तकालीन मानने में किसी का वैमत्य नहीं। हमारी तो धारणा है कि भले ही पुराण, आगम, अपेक्षाकृत अर्वाचीन हों, परन्तु उनकी परम्परा अति पुरातन है जिसको लेख-बद्ध करने में, ग्रन्थरूप देने में बड़ा समय लगा होगा। गुप्तकालीन बृहत्संहिता का प्रतिमा-शास्त्र इतना विकसित है कि उससे यह अनुमान असंगत नहीं कि प्रतिमा-विज्ञान की परम्परा इस देश में ईशवीय शतक से बहुत प्राचीन है—यह हम ऊपर संकेत कर ही चुके हैं।

अथच जहां तक प्रतिमा-स्थापत्य के आविर्भाव का प्रश्न है वह भी ईशवीय शतक से बहुत प्राचीन है। सिक्कों एवं मुद्राओं पर चित्रित प्रतिमायें एवं विभिन्न मृण्मयी प्राचीन प्रतिमायें इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं कि प्रतिमा-स्थापत्य इस देश की एक अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। ईशवीयोत्तर-कालीन विशेषकर गुप्तकालीन प्रतिमा-निदर्शन पुरातत्वान्वेषण में प्राप्त ही हो चुके हैं। अतः प्रतिमा-निर्माण की परम्परा ईशवीयशतक से बहुत प्राचीन है। वह पाँच सौ वर्ष पुरानी है या पांच हजार—इस प्रकार का काल-निर्धारण असंभव है। सत्य तो यह है कि दारूजा एवं मृण्मयी प्रतिमाओं का निर्माण तो सम्भवतः उसी अतीत से प्रारम्भ हो गया था जब से यह उपासना-परम्परा पल्लवित हुई।

३

प्रतिमा-वर्गीकरण

(Classification of Images)

स्वभावतः किसी भी वर्गीकरण के कतिपय मूलाधार होते हैं ? अतः प्रतिमा-वर्गीकरण के कौन-से मूलाधार परिकल्पित होने चाहिये ? भारतीय वास्तु-शास्त्र (प्रतिमा-विज्ञान जिसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है) का उद्गम भारतीय धर्म के महास्रोत से हुआ, अतः जैसा कि पूर्व पृष्ठों से स्पष्ट है, प्रतिमा-विज्ञान का प्रयोजन इसी धर्म की भक्ति-भावना अथवा उपासना-परम्परा के साधन-रूप में परिकल्पित है। अथच, यह उपासना-परम्परा अपने बहुमुखी विकास में नाना धर्मों एवं धर्म-सम्प्रदायों, मतों एवं मतान्तरों के अनुरूप नाना रूपों में दृष्टिगोचर होती है। परिणामतः भारतीय प्रतिमाओं के नाना वर्ग स्वतः सम्भूत हुए। भारतीय स्थापत्य-शास्त्र के ग्रन्थों में ही नहीं भारतीय स्थापत्य कला-केन्द्रों में भी प्रतिमाओं की इस अनेक-वर्गता के दर्शन होते हैं ; अतः भारतीय प्रतिमा-वर्गीकरण बड़ा कष्ट-साध्य है। प्रतिमाओं के वर्गीकरण में एकाध मूलाधार से काम नहीं बनता जैसा कि आगे स्पष्ट है। पहले हम पूर्व-पक्ष के रूप में विद्वानों में प्रचलित प्रतिमा-वर्गीकरणों का निर्देश करेंगे पुनः सिद्धान्त-पक्ष के रूप में इस अध्ययन के प्रतिमा-वर्गीकरण पर संकेत करेंगे।

(अ) प्रतिमा-केन्द्रानुरूपी वर्गीकरण—भारतीय प्रस्तर-कला के आधुनिक ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रतिमा-वर्गीकरण का आधार प्रतिमा-कला-केन्द्र माना गया है, अतएव कला-केन्द्रानुरूपी वर्गीकरण निम्न प्रकार से निर्देश्य है :—

१. गान्धार-प्रतिमायें
२. मगध-प्रतिमायें
३. नैपाली-प्रतिमायें
४. तिब्बती (महाचीनी) प्रतिमायें
५. द्राविडी-प्रतिमायें
६. मथुरा की प्रतिमायें

परन्तु यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं है, यह तो एकमात्र ऊपरी व्याख्यान है क्योंकि इन विभिन्न केन्द्रों की प्रतिमाओं की एक ही शैली हो सकती है अतः इस वर्गीकरण का अतिव्याप्ति-दोष (overlapping) स्पष्ट है।

(ब) धर्मानुरूपी वर्गीकरण—से तात्पर्य वैदिकधर्म में देव-भावना का क्या रूप था, पौराणिक देववाद में कौन से लक्षण एवं लाञ्छन थे, एवं तान्त्रिक भाव एवं आचार से अनुप्राणित होकर देव-वृन्द का कैसा स्वरूप विकसित हुआ—इन प्रश्नों का समाधान करने-वाला वर्गीकरण है—१ वैदिक २ पौराणिक तथा ३ तान्त्रिक. भारतीय प्रतिमाओं के इस वर्गीकरण में अव्याप्ति-दोष निश्चित है—वैदिक, पौराणिक एवं तान्त्रिक धर्मानुरूप देव-प्रतिमाओं के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैनप्रतिमाओं की एक लम्बी सूची है ; सुदीर्घकालीन परम्परा एवं सुविख्यात कला भी। यदि यह कहा जावे, बौद्धों एवं जैनों के भी तो पुराण और

तंत्र हैं सो बात नहीं। बौद्धों एवं जैनों की पौराणिक एवं तान्त्रिक प्रतिमायें ब्राह्मणों की पौराणिक एवं तान्त्रिक प्रतिमाओं से सर्वथा विलक्षण हैं।

(स) धर्म-सम्प्रदायानुरूपी वर्गीकरण – जैसे **शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य** आदि भी ठीक नहीं क्योंकि यह वर्गीकरण भी विशाल नहीं, अव्याप्ति-दोष इसमें भी है। अतः बहुत से विद्वानों ने भारतीय प्रतिमाओं का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया है :—

१. ब्राह्मण प्रतिमायें २ बौद्ध प्रतिमायें ३ जैन प्रतिमायें, परन्तु इस वर्गीकरण में भी कुछ दोष है। ब्राह्मण प्रतिमाओं एवं बौद्ध प्रतिमाओं—दोनों में ही पौराणिक एवं तान्त्रिक प्रतिमाओं की रूपोद्‍भावना में बड़ा वैलक्षण्य है, अतः इस वर्गीकरण को इस प्रकार से विशिष्ट बनाना चाहिये :—

१. **ब्राह्मण-प्रतिमायें** (i) पौराणिक एवं (ii) तान्त्रिक
२. **बौद्ध-प्रतिमायें** ,, ,, ,, ,,
३. **जैन-प्रतिमायें** ,, ,, ,, ,,

प्रतिमाओं के इस व्यापक एवं बाह्य वर्गीकरण के निर्देश के उपरान्त अब सूक्ष्मरूप से कुछ अन्तर्दर्शन करें। राव महाशय ने (See E. H. I) ने ब्राह्मण-प्रतिमाओं के निम्न तीन प्रधान वर्गीकरण परिकल्पित किये हैं :—

१. चल और अचल प्रतिमायें
२. पूर्ण और अपूर्ण ,,
३. शान्त और अशान्त ,,

चलाचल-प्रतिमाओं—के वर्गीकरण का आधार यथानाम प्रतिमाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है कि नहीं - अर्थात् चालनीयत्व या अचालनीयत्व portability or otherwise है। चला प्रतिमाओं के निर्माण में ऐसे द्रव्यों (materials) का प्रयोग किया जाता है जो हल्के हों—धातु—स्वर्ण रजत, ताम्र आदि तथा वे अपेक्षाकृत छोटी होती हैं। अचला प्रतिमाओं के निर्माण में पाषाण-प्रयोग स्वाभाविक है और वे बड़ी, लम्बी, विशाल और गरू होती हैं। भृगुवैखानसागम के अनुसार चला और अचला प्रतिमाओं के पुनः निम्न भेद परिकल्पित किये गये हैं :—

चला प्रतिमायें—टि० 'वेर' शब्द का अर्थ प्रतिमा है।

१. कौतुक वेर — पूजार्थ
२. उत्सव-वेर — उत्सवार्थ—पर्व-विशेष पर बाहर ले जाने के लिये
३. बलि-वेर — दैनिक उपचारात्मक पूजा में उपहारार्थ
४. स्नपन-वेर — स्नानार्थ

अचला-प्रतिमायें—अर्थात् मूल-विग्रह अथवा ध्रुव-वेर प्रासाद-गर्भ-गृह में स्थापित की जाती हैं और ये सदैव यथास्थान स्थापित एवं प्रतिष्ठित रहती हैं, इनके निम्न भेद परिकल्पित हैं :—

१. स्थानक — खड़ी हुई
२. आसन — बैठी हुई
३. शयन — विश्राम करती हुई

टि० १ इस वर्गीकरण का आधार देह-मुद्रा posture है।

टि० २ इस वर्गीकरण की दूसरी विशेषता यह है कि केवल वैष्णव-प्रतिमायें ही इन मुद्राओं में विभाजित की जा सकती हैं अन्य देवों की नहीं। शयन-देहमुद्रा विष्णुको छोड़ कर अन्य किसी देव के लिये परिकल्प्य नहीं। अथच, वैष्णव-प्रतिमाओं के इस वर्गीकरण में निम्नलिखित उपवर्ग भी आपतित होते हैं :—

१. योग २. भोग ३. वीर एवं ४. अभिचार

प्रथम प्रकार अर्थात् **योग-मूर्तियों** की उपासना आध्यात्मिक निःश्रेयस को प्राप्त्यर्थ, **भोग-मूर्तियों** की उपासना ऐहिक अभ्युदय-निष्पादनार्थ, **वीर-मूर्तियों** की अर्चा राजन्यों—शूर-वीर योद्धाओं के लिये प्रभु-शक्ति तथा सैन्य-शक्ति की उपलब्ध्यर्थ एवं **आभिचारिक-मूर्तियों** की उपासना आभिचारिक कृत्यों—जैसे शत्रु-मारण, प्रति द्वन्द्वादी पराजय, आदि के लिये विहित है। आभिचारिक-मूर्तियों के संबंध में शास्त्र का यह भी आदेश है कि इनकी प्रतिष्ठा नगर के अभ्यन्तर नहीं ठीक है, बाहर पर्वतों, अरण्यों तथा इसी प्रकार के निर्जन प्रदेशों पर इनकी स्थापना विहित है। इस प्रकार अचला प्रतिमाओं की निम्न द्वादश श्रेणियाँ संघटित होती हैं:—

१.	योग-स्थानक	५.	योगासन	९.	योग-शयन
२.	भोग-स्थानक	६.	भोगासन	१०.	भोग-शयन
३.	वीर-स्थानक	७.	वीरासन	११.	वीर-शयन
४.	आभिचारिक-स्थानक	८.	आभिचारिकासन	१२.	आभिचारिक-शयन

पूर्णापूर्ण प्रतिमायें—इस वर्ग के भी तीन अवान्तर भेद हैं अर्थात् प्रथम वे मूर्तियाँ जिनकी आकृति के पूर्णावयवों की विरचना की गयी है, दूसरे जिनकी अर्ध-कल्पना ही अभीष्ट है, तीसरे, जिनका आकार क्या है—इसकी व्यक्ति न हो—प्रतीक मात्र। प्रथम को व्यक्त (manifest) कहते हैं—fully sculptured in the round ; दूसरी को व्यक्ताव्यक्त—manifest—and—non-manifest कहते हैं। इसके निदर्शन में मुख-लिङ्ग-प्रतिमाओं एवं त्रिमूर्ति-प्रतिमाओं (दे० एलीफेन्टा की त्रिमूर्ति-प्रतिमा) का समावेश है। लिङ्ग-मूर्तियाँ—बाण-लिङ्ग, शालग्राम आदि तीसरी कोटि अर्थात् अव्यक्त (प्रतीक-मात्र) प्रतिमाओं के निदर्शन हैं।

इसी वर्ग के सदृश प्रतिमाओं का एक दूसरा वर्ग भी द्रष्टव्य है :—

१. चित्र—वे प्रतिमायें जो साङ्गोपाङ्ग व्यक्त हैं
२. चित्रार्ध—वे जो अर्ध-व्यक्त हैं।
३. चित्राभास—से तात्पर्य चित्रजा प्रतिमाओं (Paintings) से है।

शान्ताशान्त प्रतिमायें

इन प्रतिमाओं का आधार भाव है। कुछ प्रतिमायें रौद्र अथवा उग्र चित्रित की जाती हैं और शेष शान्त अथवा सौम्य। शान्ति-पूर्ण उद्देश्यों के लिये शान्त-प्रतिमाओं की पूजा का विधान है; इसके विपरीत आभिचारिक—मारण, उच्चाटन आदि के लिये उग्र प्रतिमाओं की पूजा का विधान है। अशान्त (उग्र) मूर्तियों के चित्रण में उनके रूप भयावह—तीक्ष्ण-नख, दीर्घदन्त, बहु-भुज, अस्त्र-शस्त्र-सुसज्जित, मुण्डमाला-विभूषित, रक्ताभ-स्फुलिंगोज्ज्वल-नेत्र—प्रदर्शित किये जाते हैं।

वैष्णव एवं शैव दोनों प्रकार की मूर्तियों के निम्न स्वरूप अशान्त-प्रभेद के निदर्शन हैं :—

वैष्णव - विश्वरूप, नृसिंह, वटपत्र-शायी, परशुराम आदि।

शैव—कामारि, गजह, त्रिपुरान्तक, यमारि आदि।

विभिन्न विद्वानों के इन विभिन्न प्रतिमा-वर्गीकरणों का उल्लेख करने के उपरान्त अब उनकी सच्चेप में समीक्षा करते हुए अपनी धारणा के अनुसार प्रतिमा-वर्गीकरण देना है। समराङ्गण में प्रतिमा-वर्गीकरण द्रव्य नुरूप ही दिया गया है, अन्य वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी ऐसा ही निर्देश है। इसी व्यापक दृष्टिकोण के अनुरूप पीछे का ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन—यह प्रतिमा-वर्गीकरण वैसा ही है कि कोई यदि किसी भारत निवासी से पूछे कि वह कहाँ रहता है तो वह उत्तर दे—गंगा के किनारे। भगवती भागीरथी का बड़ा विशाल किनारा है। शतशः विशाल नगर, पुर, कानन, आश्रम, विद्यामठ तथा मन्दिर बने हैं। अतः स्थान-विशेष का उत्तर न देकर सामान्य संकेत से जवाब देना कहाँ तक संगत है? ब्राह्मण देवों तथा देवियों की शतशः संख्या है तथा उनकी जो प्रतिमायें बनी हैं, उनकी तो संख्या हज़ारों ही नहीं, लाखों पहुँचती हैं। पुनः विशाल ब्राह्मण-धर्म में बहुसंख्यक अवान्तर सम्प्रदाय प्रस्फुटित हुए; विभिन्न सम्प्रदायों ने विभिन्न देवों को अपना इष्ट-देव परिकल्पित किया। किसी ने विष्णु को, तो किसी ने सूर्य को; पुनः किसी ने शिव को तथा किसी ने देवी को ही अपना इष्ट-देव माना। अतएव शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त तथा गाणपत्य आदि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय इस देश में पल्लवित हुए तथा विकसित होकर वृद्धिगत हुए। पुनः शैवों और वैष्णवों ने जो उपासना-पद्धति परिकल्पित की, उसमें भी नाना मार्ग निकले—तदनुरूप नाना मूर्तियाँ निर्मित हुईं। प्रायः यही गाथा सर्वत्र सभी धार्मिक अथवा उपासना-सम्प्रदायों की है। अतः ब्राह्मण, बौद्ध, जैन—यह विभाजन सत्य होता हुआ भी वर्गीकरण न होकर निर्देश-मात्र है। इसी प्रकार केन्द्रों के अनुरूप प्रतिमाओं का वर्गीकरण जैसे—गान्धार, मगध, नैपाल, तिब्बत, द्राविड़ आदि भी ठीक नहीं क्योंकि इनमें एक दूसरे का अनुगमन है।

यह सत्य है कि प्राचीन भारत में विभिन्न जन-पदों में स्थापत्य-केन्द्र थे। उन केन्द्रों की अपनी-अपनी शैलियाँ थीं। आजकल के ऐसे यातायात तथा ज्ञान-प्रसार के न तो साधन थे न संयोग। ऐसी अवस्था में प्रत्येक केन्द्र ने अपने-अपने विभूतिशाली प्राज्ञ स्थपतियों की असाधारण प्रज्ञा एवं परम्परागत शास्त्र के अनुसार विभिन्न शैलियों को जन्म दिया। कालान्तर में इनका विकास हुआ तथा भारत के प्रमुख जनपदों अथवा भूभागों के अनुरूप इन शैलियों का नाम-संकीर्तन भी हुआ—जैसे द्राविड़, नागर, वैराट, वेसर आन्ध्र तथा कलिंग आदि।

अतः जिस प्रकार से लेखक ने प्राचीन भारत के मन्दिरों की निर्माण-कला में द्राविड़ तथा नागर आदि शैलियों के विकास का उल्लेख किया है—वैसे ही प्रतिमाओं के सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न जानपद-प्रतिमा-निर्माण-केन्द्र के अनुसार प्रतिमाओं का वर्गीकरण किया है। श्रीयुत् वृन्दावन जी ने सम्भवतः इसी दृष्टि-कोण को लेकर प्रतिमाओं के केन्द्रानुपूर्वी-वर्गीकरण को अपूर्ण बताते हुए अपने Indian Images में लिखा है :—

"परन्तु ये विभाग (गान्धार, मागध, नैपालीय, तिब्बतीय, द्राविड़ आदि) न केवल एक दूसरे को overlap ही करते हैं वरन् कला की दृष्टि से भी अपने-अपने वैयक्तिक अस्तित्व के रक्षण में भी समर्थ नहीं। भारत के प्राचीन कलाकारों में शैली-विषयक सम्मिश्रण होता रहा है तथा प्रत्यक्ष निदर्शनों में इसकी सूचक-सामग्री भी विद्यमान है। प्रतिमा-निर्माण की तिब्बती-शैली तथा द्राविड़ी शैली दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित ही नहीं किया, कई दृष्टियों से वे एक हैं। इसी प्रकार मथुरा तथा गान्धार की शैलियों का भी पारस्परिक आदान-प्रदान प्रकट है। स्मिथ महाशय ने लिखा ही है कि जिस कलाकार ने सारनाथ के धमेख स्तूप की रचना की है उसकी कृति में सिंहलद्वीपीय स्थापत्य-परम्परा का संसर्ग विद्यमान हैं।"

इसके अतिरिक्त इस समीक्षा में एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान और आकर्षित करना है। यह बार बार बता चुके हैं कि भारतीय वास्तुकला का जन्म भारतीय धर्म की क्रोड़ से हुआ। भारतीय स्थापत्य (पाषाण-कला—मन्दिर-निर्माण तथा देव-प्रतिमा-निर्माण) धर्माश्रय से ही सनातन से अनुप्राणित रहा। जिस प्रकार वास्तु-कला—भवन-निर्माण-कला में राजाश्रय के योग पर हमने लिखा उसी प्रकार प्रासाद तथा प्रतिमा के विकास में धर्म ने महान् योग-दान दिया है।

अतः भारतीय प्रतिमा वर्गीकरण में र्म के सर्व-प्रमुख घटक का मूल्याङ्कन अवश्य होना चाहिये।

अतः प्रतिमाओं के वर्गीकरण के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों के बिना स्थिर किये कोई भी प्रतिमा-वर्गीकरण पूर्ण अथवा अधिकांशपूर्ण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से हमारी तो धारणा है कि प्रतिमा वर्गीकरण के निम्नलिखित आधार सर्वमान्य होने चाहिये जिनका आश्रय लेकर प्रतिमा-वर्गीकरण पुष्ट हो सकता है :—

१. धर्म २. देव ३. द्रव्य ४. शास्त्र एवं ५. शैली

इस वर्ग-पंचक के आधार पर समस्त प्रतिमा-वर्गीकरण उपकल्पित हो सकता है

१. धर्म—धर्म के अनुरूप ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन

२. देव—ब्राह्म, वैष्णव, शैव, सौर, तथा गाणपत्य

टि०—अन्य देवों की प्रतिमाओं को इन्हीं पञ्च प्रधान देवों में गतार्थ किया जा सकता है।

३. द्रव्य—१—मृण्मयी

२—दारुजा

३—धातुजा या पाकजा (काञ्चनी, राजती, ताम्री, रैतिका, लोहजा आदि)

४—रत्नोद्भवा

५—लेप्या

६—चित्रजा

७—मिश्रजा

टि०—इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा द्रव्य-प्रकरण (दे० आगे का अध्याय) में है।

४. शास्त्र—प्रतिमा-साहित्य ही नहीं समस्त वास्तु-साहित्य की दो विशाल धाराओं का हम निर्देश ही नहीं, विवेचन भी कर चुके हैं। अतः उस दृष्टि-कोण से प्रतिमाओं की शास्त्रीय-परम्परानुरूप पाँच अवान्तर-वर्ग किये जा सकते हैं :—

१. पौराणिक
२. आगमिक
३. तान्त्रिक
४. शिल्पशास्त्रीय तथा
५. मिश्रित

५. शैली—प्रतिमा-निर्माण में प्रासाद-निर्माण के समान दो ही प्रमुख शैलियाँ—द्राविड़ और नागर—नहीं हैं। प्रतिमा-स्थापत्य पर विदेशी प्रभाव भी कम नहीं। बौद्ध-प्रतिमा का जन्म ही गन्धार-कला (जिस पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट है) पर आश्रित है। अतः प्रतिमा-निर्माण की परम्परा का शैलियों के अनुरूप स्वरूप-निर्धारण निर्भ्रान्त नहीं है। इस विषय पर कुछ विशेष संकेत आगे (दे० स्थापत्यात्मक-परम्परा) के अध्याय में किया जावेगा।

४

प्रतिमा-द्रव्य

(Iconoplastic Art)

प्रतिमा-वर्गीकरण में विभिन्न प्रतिमाओं के विभिन्न वर्गों में अचला प्रतिमाओं के सम्बन्ध में हमने देखा—उनकी निर्माण-परम्परा में बहुत काल से पाषाण-द्रव्य का ही प्रयोग होता आया है। वास्तव में आधुनिक स्थापत्य Sculpture का तात्पर्य पाषाण-कला से ही है। हमने अपने इस अध्ययन की नागर आदि शैलियों की समीक्षा में लिखा है कि पाषाण-कला का प्रचार भारत में आर्यों की परम्परा में—उत्तरापथीय नागर-शैली में अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। आर्यों की विशुद्ध एवं प्राचीनतम भवन-निर्माण-कला में—देवभवन, जनभवन, राजभवन—कोई भी रचना हो उसमे प्रायः मृत्तिका, तथा काष्ठ का ही प्रयोग होता था। मृत्तिका तथा काष्ठ या दारू में ही प्राचीनतम भवन-निर्माण के द्रव्य हैं। वास्तव में विकासवाद तथा सृष्टिवाद दोनों की ही दृष्टियों से मानव के प्रथम भवन के सहज एवं प्राकृतिक इष्ट द्रव्य धरा तथा दारू ही हो सकते थे—ये ही उसके विशुद्ध अर्थात् अकृत्रिम द्रव्य हैं। पाषाण का प्रयोग मानव-सभ्यता के विकास का मुखापेक्षी है। बिना तीक्ष्ण हथियारों के पाषाण-तक्षण कैसे सम्भव हो सकता था—अतः मानव की भवन-रचना कहानी में स्वाभाविक, सुलभ एवं सुकर द्रव्य दारू तथा धरा ही थे।

वृक्षों की शाखाओं ने ही मानव के आदिम निवास की रचना की। देवों के भी तो नन्दन-निकेतन—कल्पवृक्ष की क्रोड़ में ही पनपे थे—इस तथ्य पर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं (दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ द्वितीय)।

ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया—मनुष्य के रहन-सहन, विचार-आचार में तथा व्यवहार और व्यापार में बढ़ती होती गयी; त्यों-त्यों उसके जीवन में ऐहिक उन्नति तथा पारमार्थिक उन्नति की विभिन्न भावनाओं का जन्म हुआ, नयी-नयी कल्पनायें, कलायें, विद्यायें, शास्त्र, विज्ञान तथा विचार उत्पन्न हुए, खोजें हुईं, अन्वेषण हुए। अनुसन्धान तथा प्रयोग के परीक्षणों ने वसुन्धरा के असीम भाण्डार के अनुपम रत्नों की जानकारी तथा मूल्याङ्कन हुआ। एक शब्द में उसके जीवन में अतिरंजना, कलात्मकता एवं श्रृङ्गारिकता के जन्म एवं विकास के साधन एवं सिद्धियाँ उपस्थित हुईं। शनैः शनैः उसके प्रत्येक कार्य-व्यापार तथा जीवन व्यापार में आमूल परिवर्तन हुए। इन सभी की कहानी इतिहास की कहानी है—मानव-इतिहास में राजाओं की विजयों एवं पराजयों से कहीं अधिक महत्त्व के वे पृष्ठ हैं जिनमें मानव की सभ्यता की उत्तरोत्तर उन्नति की कहानी लिखी गयी है।

मानव-सभ्यता की उन्नति का स्वर्णाक्षरों से लिखा हुआ वह पृष्ठ है जिसमें उसने दिव्य-चेतना के द्वारा देवों की कल्पना की। देवत्व की कल्पना ने ही उसे बर्बरता से कोसों

दूर हटा दिया —देवोपासक होकर तो उसने देवत्व की ही प्राप्ति कर ली—शिवो भूत्वा शिव यजेत्—इस प्राचीन आर्य-सिद्धान्त का यही मर्म है।

अतः इस उपोद्घात के आधार-भूत सिद्धान्त के मर्म के अनुरूप मानव के रहन-सहन एवं विचार-आचार की उत्तरोत्तर उन्नति के अनुषङ्गतः भवन-निर्माण-कला—वास्तुकला के निर्मापक द्रव्यों में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी, इसी प्रकार जहाँ प्रतिमा-निर्माण के द्रव्य पहले दो ही थे—दारु तथा मृत्तिका वहाँ कालान्तर में चौगुने हो गये। विभिन्न ग्रन्थों में इन द्रव्यों की संख्या का जो उल्लेख है वह प्रायः ७-८ से कम नहीं है।

समराङ्गण-सूत्रधार ने अपने प्रतिमा-लक्षण (दे० परिशिष्ट) में निम्नलिखित प्रतिमा-द्रव्यों का उल्लेख किया है:—

संख्या	द्रव्य	फल	संख्या	द्रव्य	फल
१.	सुवर्ण	पुष्टिकारक	५.	दारु	आयुष्य
२.	रजत	कीर्ति वर्धक	६.	लेप्य (मृत्तिका)	धनावह
३.	ताम्र	सन्तान-वृद्धि-दायक	७.	चित्र	,,
४.	पाषाण	भू-जयावह			

भविष्य आदि पुराणों में भी प्रतिमा के ७ द्रव्य माने गये हैं। अतः समराङ्गण के ये द्रव्य पौराणिक परम्परा के ही अनुसार परिकल्पित हैं, जो स्वाभाविक ही है। भविष्य-पुराण में जिन सात प्रतिमा-द्रव्यों का संकीर्तन है वे हैं:—

१. काञ्चनी २. राजती ३. ताम्री ४. पार्थिवी (स० सू० लेप्या)
५. शैलजा ६. वार्क्षी (स० सू० दारुजा) ७. आलेख्यका (स० सू० चित्रजा)

'शुक्र-नीति-सार' में तो मूर्ति-स्थानों—प्रतिमा-निर्माण-द्रव्यों की संख्या सात से बढ़कर आठ होगयी है। तथाहि:—

प्रतिमा सैकती पैष्टी लेख्या लेप्या च मृण्मयी।
वार्क्षी पाषाणधातूत्था स्थिरा ज्ञेया यथोत्तरा॥

अर्थात् सैकती—सिकता-बालू से विनिर्मिता पैष्टी—पिष्टा द्रव्य (चावल आदि को पीसकर पीठा आदि) से विनिर्मिता, लेख्या (चित्रजा) लेप्या (दे० आगे की एतद्विषयिणी समीक्षा) मृण्मयी—मृत्तिका से बनाई हुई, वार्क्षी अर्थात् काष्ठजा, पाषाण से निर्मित और धातुओं (सोना, चांदी, पीतल, तांबा, लोहा आदि) से बनाई गई अष्टधा-प्रतिमा द्रव्यानुरूप उत्तरोत्तर स्थिर अर्थात् बहुत दिनों तक टिकाऊ समझनी चाहिये।

अस्तु, अब समराङ्गण के प्रतिमा-द्रव्यों की सप्तधा सूची के सम्बन्ध में डा० जितेन्द्रनाथ बेनर्जी ने अपने Development of Hindu Iconography) में लिखा है:—

'This list (i.e. of समराङ्गण—लेखक) is practically the same as that in the Bhavisya Purana, noticed above, with this difference only that it omits reference to clay images while mentioning pictorial representations twice under the heads Lekhya and citra.'

बैनर्जी महोदय का यह प्रवचन समराङ्गण के भ्रष्ट पाठ के अनुसार तो ठीक है परन्तु लेखक की समझ में शास्त्री (टी० गणपति) जी ने जो इसको शुद्ध करके लेख्य पाठ दिया है वह ठीक नहीं—लेख्य के स्थान में लेप्य होना चाहिये। 'लेप्य' में मृत्तिका का ही प्राधान्य होने के कारण उसे हम चित्र से पृथक् दूसरा द्रव्य मान सकते हैं। लेखक की धारणा के निम्नलिखित तथ्यों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

एक तो स० सू० ने अपने 'लेप्य-कर्मादिकर्म' नामक ७३वें अध्याय में लेप्य का द्रव्य मृत्तिका माना है (दे० परिशिष्ट स)

अर्थात् लेप्य-कर्म में जिस मृत्तिका का विधान है वह वापी, कूप, तड़ाग, पद्मिनी, दीर्घिका, वृक्ष-मूल, नदी-तीर, गुल्म-मध्य—इन स्थानों की होनी चाहिये। तदनन्तर इसी अध्याय में प्रतिपादित मृत्तिका-क्वाथ जिसका वर्णन आगे प्राप्तावसर किया जावेगा उसमें विभिन्न रसों एवं द्रव्यों के मिश्रण से यह मृत्तिका प्रतिमा-निर्माणोचित सम्पन्न होती है—अतः 'लेप्यजा' प्रतिमा को हम मृण्मयी प्रतिमा के अन्तर्गत मान सकते हैं। सम्भवतः ११वीं शताब्दी की प्रतिमा-कल्पन-परम्परा में साधारण मृत्तिका के द्वारा निर्माण हेय समझा जाता क्योंकि स्थापत्य-कौशल उस समय तक काफी विकसित हो चुका था। अतः मृण्मयी प्रतिमा के सुविकसित कलेवर को लेप्या प्रतिमा में हम परिलक्षित कर सकते हैं।

समराङ्गण-कालीन प्रोन्नत स्थापत्य-कला में सम्भवतः पाषाण ही स्थापत्य का सर्व-प्रमुख स्थूल-प्रतिमा-प्रकल्पना का द्रव्य हो। लेप्या तथा चित्रजा प्रतिमायें यद्यपि एक ही कोटि में आती हैं परन्तु द्रव्य-भेद से उनमें भेद अवश्य मानना चाहिये—लेप्यजा प्रतिमाओं के द्रव्य मृत्तिका के साथ-साथ चावल का पीठा अथवा इसी कोटि के अन्य द्रव्य तथा चित्रजा प्रतिमाओं के द्रव्य विभिन्न राग—वर्ण—रंग और रस हो सकते हैं।

अथच, समराङ्गण का यह पाठ एक नवीन परम्परा का उद्भावक है—यह नहीं कहा जा सकता। ऊपर उद्धृत 'शुक्रनीति-सार' के प्रतिमा-द्रव्यों में लेख्य, लेप्य—इन दो अलग-अलग द्रव्यों का विवरण हमने देखा ही है। लेख्य अर्थात् चित्र से लेप्य एक विभिन्न प्रकार है—यह शुक्रनीति से स्पष्ट है। डा० बैनर्जी महोदय ने भी इस अवतरण को उद्धृत किया है तथा लेप्य और लेख्य को अलग-अलग द्रव्य माना है।

इसके अतिरिक्त डा० बैनर्जी महोदय ने गोपालभट्ट (देखिये हरिभक्ति-विलास) के द्रव्यानुरूप प्रतिमाओं के निम्नलिखित दो प्रकारों का उल्लेख किया है :—

प्रथम प्रकार—चतुर्विधा प्रतिमा—

१. चित्रजा २. लेप्यजा ३. पाकजा ४. शस्त्रोत्कीर्णा

द्वितीय प्रकार—सप्तधा प्रतिमा—

१. मृण्मयी २, दारुघटिता ३. लोहजा ४. रत्नजा ५. शैलजा

६. गन्धजा ७, कौसुमी

'लेप्यजा' को स्वयं बैनर्जी महोदय ने उसकी व्याख्या में 'made of clay'—मृन्मयी—यह लिखा है। अतः लेप्या प्रतिमा को हमने मृण्मयी माना है वह स्वयं बैनर्जी

महोदय को भी इष्ट है। अतः यदि हम समराङ्गण के पाठ को 'लेख्य' के स्थान पर 'लेप्य' पढ़ें तो यह दोष—जो बैनर्जी ने उपर्युक्त अवतरणके अनुसार देखा है—वह मार्जित हो जाता है। समराङ्गण के इस प्रतिमा-विषयक पाठ की भ्रष्टता के सम्बन्ध में हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं।

मूर्ति-स्थानों की इस सप्तधा वा अष्टधा संख्या में गोपालभट्ट के द्वारा प्रदत्त सप्तधा मूर्ति-स्थानों में लोहजा, रत्नजा, गन्धजा तथा कौसुमी—इन चार प्रकार के ऐसे द्रव्यों का परिगणन है जो भवि० पुरा० अथवा स० सू० के प्रतिमा-द्रव्यों में परिगणित नहीं किये जा सकते। शुक्रनीति की धातुतथा प्रतिमाओं में लोहजा, स्वर्णजा, राजती आदि सभी प्रतिमाओं का परिगणन हो सकता है परन्तु समराङ्गण तथा भविष्य-पुराण के अनुसार तो रत्नजा, लोहजा को सप्तधावर्ग से पृथक् ही रखना पड़ेगा। रही गन्धजा तथा कौसुमी—इनमें से गन्धजा को समराङ्गण तथा शुक्रनीति की लेप्यजा में आंशिक-रूप में परिगणित अवश्य कर सकते हैं परन्तु गन्धजा को कहाँ रक्खें, अतः प्रतिमा-द्रव्यों की 'सप्तधा' संख्या तो टूट ही गयी।

श्री गोपीनाथ राव महाशय ने अपने ग्रन्थ में (See E. H. I. P. 48) आगम-प्रतिपादित प्रतिमा-द्रव्यों में निम्न-लिखित द्रव्यों का उल्लेख किया है :—

१	दारु	४	धातु
२	शिला	५	मृत्तिका तथा
३	रत्न	६	मिश्र द्रव्य

जो अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है क्योंकि काञ्चनी, राजती ताम्री आदि प्रतिमाओं के द्रव्य धातु के अन्तर्गत आ ही जाते हैं उन्हें पृथक् पृथक् द्रव्य के रूप में परिकल्पित करने की अपेक्षा धातु के अन्तर्गत करना चाहिये। रजत, सुवर्ण, लौह, ताम्र, आदि एक ही धातु-वर्ग के विभिन्न अवान्तर उपवर्ग हैं। राव ने रत्नों के सम्बन्ध में आगामिक सूची में निम्न-लिखित रत्नों का परिगणन किया है :—

१. स्फटिक—चन्द्रकान्त एवं सूर्यकान्त मणियाँ

२.	पद्मराग	५.	विद्रुम
३.	वज्र	६.	पुष्य
४.	वैदूर्य	७.	रत्न

उपर्युक्त षड्वर्ग के अतिरिक्त निम्न द्रव्यों का भी राव ने उल्लेख किया है :—

१	इष्टिका	१	कडिशर्करा एवं दन्त (गज)

मानसार में सुवर्ण, रजत, ताम्र, शिला, दारु, सुधा, शर्करा, आभास, मृत्तिका—इन द्रव्यों का जो उल्लेख है वह पीछे की समीक्षा से वैज्ञानिक नहीं परन्तु इस सूची में सुधा और आभास—ये दो द्रव्य और हस्तगत हुए। सुधा को 'कडिशर्करा' के अन्तर्गत निविष्ट किया जा सकता है परन्तु आभास तो द्रव्य न हो कर प्रतिमा-वर्ग है जिसकी मीमांसा हम पीछे (दे० प्रतिमा-वर्ग) कर आये हैं।

टि०—मत्स्य-पुराण, अग्नि-पुराण, महानिर्वाण-तन्त्र आदि के मूर्ति-स्थानों के लक्षण परिशिष्ट में द्रष्टव्य हैं।

अस्तु, प्रतिमा-द्रव्यों की इस औपोद्घातिक समीक्षा के अनन्तर अब प्रत्येक द्रव्य का सविस्तर प्रतिपादन आवश्यक है।

दारू—काष्ठ

कलात्मक दृष्टि से संसार में भवन-निर्माण-कला (जिसका विकास मन्दिर—प्रासाद तथा प्रतिमा आदि के निर्माण में भी प्रसृत हुआ) का सर्व-प्राचीन द्रव्य दारू ही है। वृक्षों की शाखाओं से प्रथम मानव-भवन की परिकल्पना की गयी—यह हम 'भवन-पटल' में शाल-भवनों के जन्म एवं विकास के अध्ययन में प्रतिपादित कर चुके हैं।

हमारे सर्वप्राचीनतम साहित्य—वैदिक साहित्य में दारू के सम्बन्ध में जो व्यापक कल्पना ऋग्वेद के ऋषियों ने की है वह दारू-द्रव्य की गौरव-गाथा का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है:—

"किं स्विद् वनम् क उस वृक्ष आस यतो द्यावा-पृथिवी निष्टतक्षुः" (ऋ० दश०८१'४)
अर्थात् कौन वन के किस वृक्ष से पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष—इन दोनों का निर्माण हुआ?

वैदिक-युग में निर्माण-द्रव्यों में (यज्ञ-पात्रों का निर्माण अथवा वेदि-रचना)दो ही प्रयुक्त होते थे—दारू तथा मृत्तिका (इष्टिका—ईंट, वह कच्ची या पक्की—मृण्मयी ही है)। वैदिकजीवन की सरलता के अनुरूप ये ही दो सामान्य द्रव्य स्वभावतः निर्माण-द्रव्य परिकल्पित हुए। ज्यों-ज्यों जीवन जटिल होता गया त्यों-त्यों द्रव्यों में भी जटिलता आती गयी। निर्माण-द्रव्यों में दारू का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण किस वृक्ष की कौन से भाग की लकड़ी प्रतिमा अथवा स्तम्भ अथवा अन्य भवनांगों के योग्य है, किस तिथि में वन-प्रवेश करना चाहिये, वृक्ष को कैसे काटना चाहिये—क्या क्या अन्य इस सम्बन्ध (दारू-आहरण) में आवश्यक है वह सब विधि एवं विधान प्रायः सभी प्राचीन वास्तु ग्रन्थों में 'वनप्रवेशाध्याय' के नाम से वर्णित है। समराङ्गण-सूत्रधार में भी दारू-आहरण की इसी पुरातन परम्परा के अनुरूप 'वनप्रवेशाध्याय' नामक १६ वें अध्याय में एतद्विषयिणी विपुल सामग्री के दर्शन होते हैं। परन्तु उसके अध्ययन से यह दारू-परीक्षा—वृक्ष-परीक्षा—भवनोचित दारू के लिये है न कि प्रतिमोचित:—

प्रागप्योदगवापि गेहार्थे द्रव्यं विधिवदानयेत्।
गन्तव्यमेव धिष्ण्येषु मृदुक्षिप्रचरेषु च ॥

उसके विपरीत बृहत्संहिता, भविष्य, मत्स्य, विष्णुधर्मोत्तर आदि पुराणों एवं मानसार आदि शिल्पशास्त्रों में वनप्रवेशाध्याय में प्रतिमोचित दारू के संग्रहण के लिये वृक्ष-परीक्षा एवं वृक्ष-चयन आदि पर सविस्तर प्रतिपादन है। इसका क्या रहस्य है? सम्भवतः मध्यकालीन प्रतिमा-निर्माण-परम्परा में काष्ठ का प्रयोग प्रधान न होकर अत्यन्त गौण हो गया था। पाषाण एवं धातु के प्रचुर प्रयोग का वह समय था। अतः भवन-निर्माणार्थ एवं प्रतिमा-निर्माणार्थ दारू-आहरण एकमात्र भवन-निर्माणार्थ दारू-आहरण में प्रत्यवासित हो गया था। अस्तु, दारू-परीक्षा एवं दारू-चयन की समीक्षा में लेखक के 'भवन-वास्तु' (इस अनुसन्धान के द्वितीय ग्रन्थ) में सविस्तर प्रतिपादन है। यहाँ पर इतना ही

सूच्य है कि बृहत्संहिता आदि उपयुक्त ग्रन्थों में प्रतिमोचित दारू-संग्रहण में वर्ज्यावर्ज्य या प्रशस्ताप्रशस्त वृक्षों का वही सिद्धान्त है जो भवनोचित दारू-संग्रहण में। श्मशानोत्थ, मार्गस्थ, देवतायन अथवा चैत्य आदि के निकटस्थ वृक्षों के साथ-साथ आश्रम-वृक्षों, स्थल-वृक्षों (पूरी सूची भवन-वास्तु में देखिये) का दारू प्रतिमा-निर्माण में वर्ज्य है। प्रशस्त वृक्षों में देवदारू, चन्दन, शमी, मधूक आदिवृक्ष ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिष्ठाप्य प्रतिमाओं के निर्माण में; अरिष्ट, अश्वत्थ, खदिर, विल्व क्षत्रियों के द्वारा प्रतिष्ठाप्य प्रतिमाओं में; जीवक, खदिर, सिन्धुक तथा स्यन्दन वैश्यों के द्वारा प्रतिष्ठाप्य प्रतिमाओं में एवं तिन्दुक, केशर, सर्ज, अर्जुन, आम्र एवं शाल शूद्रों के द्वारा प्रतिष्ठाप्य प्रतिमाओं में विहित हैं।

भविष्य-पुराण के नारद-शाम्ब-सम्वाद में (दे० प्रथम, अ० १३१) देवर्षि नारद सप्तधा प्रतिमा-द्रव्यों का संकीर्तन कर कहते हैं :—

"वार्क्षि-विधानं ते वीर वर्णयिष्यामशेषत:"

अतः प्रतिमोचित पुरातन निर्माण-द्रव्यों में दारू के प्राशस्त्य पर दो रायें नहीं हो सकतीं। स्थापत्य-निदर्शनों में वैसे तो प्रासादों एवं विमानों (मन्दिरों) में प्रतिष्ठाप्य अचला प्रतिमाओं का निर्माण पाषाण से ही हुआ है परन्तु कतिपय प्रसिद्ध उदाहरण दारू के भी पक्ष में हैं। पुरी के जगन्नाथ-मन्दिर में जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा की मूर्तियाँ दारूजा ही हैं और प्रति बारह वर्ष के बाद पुनः नवनिर्मित कराकर प्रतिष्ठापित की जाती हैं।

इसी प्रकार तिरुक्कोयिलूर (मद्रास) के विष्णु-मन्दिर में त्रिविक्रम की प्रतिमा भी दारूजा है। प्रतिमा-निर्माण की प्राचीन परम्परा में दारू का ही सर्वाधिक प्रयोग होता था। पाषाण का प्रयोग तो अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। दारूजा प्रतिमाओं के प्राचीनतम निदर्शनों के अभाव में इस द्रव्य के अचिर स्थायित्व से हम सभी परिचित हैं।

मृत्तिका

प्रतिमा-निर्माण एक कला है और विज्ञान भी। अतः जिस प्रकार प्रशस्त वृक्षों की लकड़ी लाकर तक्षक महोदय अपने कौशल एवं कारीगरी का परिचय देते हुए एक मनोरम एवं सुश्लिष्ट तथा सुसंगठित प्रतिमा में उस को परिणत कर देते थे उसी प्रकार मृण्मयी प्रतिमाओं के निर्माण में भी कौशल की आवश्यकता होती थी। वैसे तो स्थपतियों की प्रमुख चार ही कोटियाँ—स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकी एवं तक्षक (काष्ठ-कोविद—बढ़ई carpenter) हैं परन्तु पुराणाख्यान में विश्वकर्मा के शूद्रा भार्या से उत्पन्न नौ कलाकार पुत्रों में कुम्भकार का भी परिसंख्यान है। पूरी सूची है—मालाकार, कर्मकार (लोहार) शंखकार, कुविन्दक, कुम्भकार, कांस्यकार, सूत्रधार, चित्रकार तथा सुवर्णकार (सोनार)। इनमें कुम्भकार को हम मृण्मयी-प्रतिमा-कार परिकल्पित कर सकते हैं।

मृण्मयी प्रतिमाओं को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक तो स्थूल-प्रतिमायें जिनकी पुरातत्त्वान्वेषण में प्रचुर प्राप्ति सुदूर सिन्धु-सभ्यता में भी हुई है तथा दूसरे सूक्ष्म प्रतिमायें जिनका चित्रजा प्रतिमाओं के अन्तर्गत समावेश किया जा सकता है और जिनको समराङ्गण में लेप्यजा प्रतिमा के नाम से पुकारा गया है। इन लेप्या प्रति-

माओं की निर्माण-प्रक्रिया के विषय में हमारे 'यन्त्र एवं चित्र'—Mechanical art and pictorial art—में सविस्तर प्रतिपादन है।

मृण्मयी प्रतिमाओं के प्रथम वर्ग—स्थूल-प्रतिमाओं के भी दो उप-वर्ग किये जा सकते हैं—शुद्धा मृण्मयी एवं मिश्रा मृण्मयी। इनमें मिश्रा मृण्मयी प्रतिमाओं के निर्माण में मृत्तिका के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का संमिश्रण भी आवश्यक है। हरिभक्ति-विलास का इस कोटि की प्रतिमाओं के निर्माण पर बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रवचन है।

अथच शुद्धा मृण्मयी प्रतिमाओं की परम्परा जहाँ अत्यन्त प्राचीन है वहाँ अर्वाचीन भी कम नहीं है। आज भी दीपावली के महोत्सव में उत्तर-प्रदेश आदि जनपदों में स्थान-स्थान पर गणेश और लक्ष्मी की मृण्मयी प्रतिमाओं का अत्यधिक प्रचार है। मृण्मयी प्रतिमायें चला प्रतिमाओं के वर्ग में आयेंगी, तथा उनकी पूजा क्षणिका ही है। बंगाल में महाकाली दुर्गा की मूर्तियों के निर्माण में मृत्तिका का ही विशेष प्रयोग आज भी विद्यमान है।

मिश्रा मृण्मयी प्रतिमाओं की रचना में मृत्तिका की प्रतिमोचित-प्रकल्पना में 'हयशीर्ष-पंचरात्र' का निम्नलिखित अवतरण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है जिस पर स० सू० के लेप्योचित मृत्तिका के आहरण, संस्करण एवं मिश्रण आदि की ही परम्परा परिलक्षित होती है। हयशीर्ष-पंचरात्र का समय भी समराङ्गण के आसपास का ही विद्वानों ने माना है। हयशीर्ष-पंचरात्र का यह प्रवचन हरि-भक्ति-विलास के १८ वें विलास में निम्न प्रकार से उद्धृत है:—

मृत्तिकावर्णपूर्वेण गृह्णीयुस्सर्ववर्णिनः।
नदीतीरेऽथवा क्षेत्रे पुण्यस्थानेऽथवा पुनः॥
पाषाण-कर्करालोहचूर्णानि समभागतः।
मृत्तिकायां प्रयोज्याथ कषायेण प्रपीडयेत्॥
खदिरेणार्जुनेनाथ सर्ज्जश्रीवेण्टकुंकुमैः।
कौटजैरायसैः स्नेहैर्दधि-क्षीर-घृतादिभिः॥
आलोड्य मृत्तिकां तैस्तैः स्थाने स्थाप्य पुनः पुनः।
मासं पर्युषितं कृत्वा प्रतिमां परिकल्पयेत्॥

अर्थात् विभिन्न वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अपने-अपने वर्णानुरूप (दे० मृत्तिका-परीक्षा—भवन-वास्तु) मृत्तिका को नदीतीर शस्य-क्षेत्र अथवा पावन-स्थानों से लाकर, उसमें मृत्तिका के समभागानुरूप—पिष्ट पाषाण, सिकता, तथा लौह का इसमें मिश्रण करे पुनः खदिर, अर्जुन, सर्ज, श्री, वेन्ट (वेतस) तथा कुंकुम, कौटज, आयस आदि वृक्षों के रस के साथ-साथ दधि, दुग्ध, घृत—आदि स्नेहों को उसमें मिलावे, पुनः आलोडन करे—गोला बनावे फिर एक मास तक परिशोषणार्थ रखे तब प्रतिमा बनावे।

इस प्रतिमोचित-मृत्तिका-विधान के सम्बन्ध में डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी ने बड़ी सुन्दर समीक्षा (See D. H. I. P. 227) की है जो नीचे उद्धृत की जाती है:—

'This mode of the preparation of clay however' shows that the material thus prepared was used for making images far more durable than ordinary clay ones, some of its constituents being powdered iron and stone. This compound is similar known as stucco which was so copiously used by the Hellenistic artists of Gandhara from the 3rd to 5th century A.D.; if we are to understand that the lime stone is meant by the word Pasana, then the similarity becomes greater'.

अर्थात् प्रतिमा-निर्माणोचित मृत्तिका की यह विधि साधारण मृण्मयी प्रतिमाओं की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी है, क्योंकि इसका विधान लौह एवं पाषाण के चूर्ण के सम्मिश्रण से सम्पन्न होता है। यह मिश्रण 'स्टुकू' द्रव्य के ही सदृश है जिसको गान्धार के हेलेनेस्टिक कलाकार तीसरी से लेकर पाँचवीं ईशवीय शतक तक प्रयोग में लाते रहे थे। अथच यदि पाषाण से हम सुधा (limestone) तात्पर्य मानें तो इसका स्टुको से सादृश्य और भी दृढ़ एवं स्पष्ट हो जाता है।

प्रतिमा-द्रव्यों में पाँच प्रमुख द्रव्यों—काष्ठ, मृत्तिका, शिला, धातु एवं रत्न—के अतिरिक्त मिश्र-द्रव्य का जो संकेत ऊपर किया गया है, वह इस प्रक्रिया का उदाहरण माना जा सकता है। मृत्तिका, लौह, सुधा आदि के सम्मिश्रण से सम्पन्न इस मिश्र द्रव्य का भारत के प्राचीन स्थापत्य में अत्यधिक प्रयोग किया जाता था।

प्रतिमा-द्रव्य के सामान्य वर्गीकरण (classification) में शस्त्रोत्कीर्ण तथा पाकजा इन दो प्रकार की द्रव्यजा प्रतिमाओं का ऊपर संकेत किया गया था; उनमें शस्त्रोत्कीर्ण से तात्पर्य धातुजा प्रतिमाओं से है उनकी सुविस्तर समीक्षा आगे द्रष्टव्य है। यहाँ पर पाकजा के सम्बन्ध में थोड़ा सा निर्देश और आवश्यक है।

पाकजा प्रतिमाओं (cast images) के अगणित निदर्शन प्राचीन पुरातत्वान्वेषण में उपलब्ध मृण्मयी प्रतिमाओं (terracotta-figurines) तथा भाण्डों, मुद्राओं में विद्यमान हैं जिनसे हिन्दू-प्रतिमा-विज्ञान के अध्ययन की एक बड़ी सुन्दर सामग्री हस्तगत होती है। मुद्राओं पर अङ्कित देवों एवं देवियों के चित्र से तत्कालीन प्रतिमा-निर्माण की समृद्ध परम्परा का विकास दृढ़ होता है। इन मुद्राओं की परम्परा अति प्राचीन है। सिन्धु-सभ्यता में तो ऐसे निदर्शनों की भरमार है ही, बसरा, राजघाट, भीटा आदि प्राचीन स्थानों पर प्राप्त ऐसी मुद्राओं (दे० पीछे का अ० ४) से यह परम्परा उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती रही—यह अनुमान ठीक ही है।

इस प्रकार की पाकजा प्रतिमाओं के निर्माण में जिस मृत्तिका का प्रयोग किया जाता था वह स्टूकू के सदृश होता था—ऐसा हमने इसी स्तम्भ में पीछे संकेत किया है। मध्यकालीन 'मानसोल्लास' में मृत्तिका-क्वाथ के निर्माण पर जो संकेत है वह अति प्राचीन परम्परा का परिचायक है। शिल्परत्न में भी इस विधि का उल्लेख है। 'पक्व-लिङ्ग' के निर्माण में अपेक्षित मृत्तिका में मृत्तिका के अतिरिक्त अन्य कतिपय द्रव्यों का भी सम्मिश्रण किया

जाता था। अतः पाकजा प्रतिमाओं को हम मिश्र-द्रव्या प्रतिमाओं के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं। शस्त्रोत्कीर्णा अथवा धातुजा प्रतिमायें भी पाकजा के व्यापक वर्ग में सन्निविष्ट हो सकती हैं।

शिला—पाषाण

प्रतिमा-निर्माण में पाषाण का प्रयोग सर्वाधिक प्रचलित है। प्रासाद में प्रतिष्ठाप्य अचला प्रतिमाओं के निर्माण में पाषाण का ही प्रयोग विहित है।

दारू-परीक्षा एवं दारू-आहरण के समान शिला-परीक्षा एवं शिला-आहरण भी प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित है। विष्णु-धर्मोत्तर में शिला-परीक्षा की विशद मीमांसा है। शिला-परीक्षा के प्राचीन विवरण कर्म-काण्डी (ritualistic) तो हैं हीं वैज्ञानिक भी कम नहीं हैं। सर्वप्रथम स्थपति किसी प्रख्यात पर्वत पर प्रस्थान करे एवं ब्राह्मणादि-वर्णानुरूप शिला-चयन करे। शुक्ला, रक्ता, पीता, कृष्णा शिला ब्राह्मणादि चार वर्णों के यथाक्रम प्रशस्त मानी गयी हैं। प्रतिमा-प्रकल्पन के लिये जिस शिला का चयन हो वह सब प्रकार से निर्दोष होना चाहिये। निम्न अवतरण में प्रशस्ता शिला के परीक्षण में पूर्ण पथ-प्रदर्शन है:

प्रशस्त-शिला—

एकवर्णां समां स्निग्धां निमग्नां च तथा क्षितौ।
घातातिमात्रस्फुटनां दृढ़ां मृद्वीं मनोहराम्।
कोमलां सिकताहीनां प्रियां दृङ्मनसोरपि।
सरित्सलिलनिर्धूतां पवित्रां तु जलोषिताम्।
द्रुमच्छायोपगूढां च तीर्थाश्रयसमन्विताम्।
आयामपरिणाहाढ्यां ग्राह्यां प्राहुर्मनीषिणः।

वि० ध० तृ० ६०.३-५

अप्रशस्त-शिला—

अग्राह्यां ज्वलनालीढां तप्तां भास्कररश्मिभिः।
अन्यकर्मोपयुक्तां च तथा क्षाराम्बुसंयुताम्।
अत्यन्तोपहतां रूक्षामपुण्यजनसेविताम्।
तिलैः सम्भूषिता या तु विचित्रैर्विन्दुभिश्चिता।
रेखामण्डलसङ्कीर्णां विद्धां विमलसंयुताम्।

इत्यादि (वि० ध० तृ० अ० ६०.६-७½)

शिला-परीक्षण यहीं पर समाप्त नहीं होता। विभिन्न प्रकार के शिला-लेपों से सर्वतो विशुद्धा शिला की पहिचान की जाती थी। विवेक-विलास में लिखा है:—

"निर्मलेनारनालेन पिष्टया श्रीफलत्वचा।
विलिप्तेऽश्मनि काष्ठे वा प्रकटं मण्डलं भवेत्।"

अर्थात् निर्मल कांजी के साथ विल्व-वृक्ष के फल की छाल पीसकर पत्थर या लकड़ी पर लेप करने से मण्डल (दाग) प्रकट हो जाता है। प्रायः सभी शिल्प-ग्रन्थों में मण्डलों

पर विचार है—दे० अपराजित-पृच्छा, सू० २०३·३०-३४। वास्तुसार में एक अवतरण है :—

'मधुभ·मगुडव्योम-कपोतसदृशप्रभैः।
मञ्जिष्ठैरक्तैः पीतैः कपिलैः श्यामलैरपि॥
चित्रैश्च मण्डलैरेभि·रन्तर्ज्ञेया यथाक्रमम्।
खद्योतो वालुकारक्त-भेकोऽम्बुगृहगोधिका॥
दर्दुरः कृकलासश्च गोधाखुसर्पवृश्चिकाः।
सन्तानविभवप्राण राज्योच्छेदश्च तत्फलम्॥"
"कीलिकाछिद्रसुषिर - त्रसजालकसन्धयः।
मण्डलानि च गारश्च महादूषणहेतवे॥
'प्रतिमायां दवरका भवेयुश्च कथञ्चन।
सदृग्वर्णा न दुष्यन्ति वर्णान्यत्वेऽतिदूषिता॥"

अर्थात् जिस पत्थर की प्रतिमा बनाना हो उस पर उपरोक्त लेप से अथवा स्वभावतः ही मधु का जैसा मण्डल (दाग) देखने में आवे तो भीतर खद्योत समझना चाहिये ; इसी प्रकार भस्म के मण्डल में रेत, गुड़ केवर्ण, आकाशवर्ण, कबूतर के वर्ण, मंजीठ की आभावाले, रक्तवर्ण, पीतवर्ण, कपिलवर्ण, कालेवर्ण और चित्रवर्ण के मण्डलों में क्रमशः लाल मेंढक, पानी, छिपकली, मेंढक, शरट (गिरगिट), गोह, उंदर, सर्प, विच्छू भीतर समझना चाहिये पाषाण में कीला, छिद्र, पोलापन, जीवों के जाले, सन्धियां मण्डलाकार रेखा या कीचड़ हो तो बड़ा दोष माना गया है। अथच प्रतिमा-प्रयोज्य पाषाण में किसी भी प्रकार की रेखा (दाग) यदि देखने में आवे और यदि वह मूल वस्तु के रंग की है तो निर्दोष अन्यथा अति दूषित समझनी चाहिये।

शिल्परत्न में सूचित है कि प्रतिमा के पाषाण अथवा काष्ठ में यदि नन्द्यावर्त, शेषनाग, अश्व, श्रीवत्स, कच्छप, शंख, स्वस्तिक, गज, गौ, वृषभ, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, छत्र, माला, ध्वजा, शिवलिंग, तोरण, हरिण, प्रासाद, कमल, वज्र, गरुड या शिव की जटा के सदृश रेखा या रेखायें हैं तो शिला बड़ी ही प्रशस्त समझनी चाहिये।

हयशीर्ष-पञ्च-रात्र (दे० हरिभक्ति-विलास) में भी शिला-परीक्षा के कर्म-काण्ड (Ritual)-पक्ष और विज्ञान-पक्ष—दोनों पर ही सविस्तर प्रतिपादन है। शिला लक्षण के प्रकरण में हयशीर्ष का अप्रशस्ता शिलाओं पर निम्न प्रवचन द्रष्टव्य है :—

क्षाराम्बुसेविता या नदीतीरसमुद्भवा।
पुरमध्ये स्थिता या च तथापि तु वने स्थिता॥
चतुष्पथे स्थिता या च मृच्छिलापकणे च या।
ऊषरे च तथा मध्ये वल्मीके वापि या स्थिता॥
सूर्यरश्मिप्रतप्ता या या च दग्धा दवाग्निना।
अन्यकर्मोपयुक्ता अन्यदेवार्थनिर्मिता॥
क्रव्यादादैरुपहता वर्ज्या यत्नेन वै शिला।
येन केनचिदानीता वर्जनीया तथा शिला॥

शिला-परीक्षण में पाषाण-खण्डों की रेखाओं, मण्डलों (rings) एवं वर्ण तथा आभा (glaze) के द्वारा उनका पुंलिङ्गत्व, स्त्रीलिङ्गत्व, नपुंसकत्व के साथ साथ उनकी आयु का भी ज्ञान कर लिया जाता था। शिलाओं की भूगर्भ-विद्यानुरूप (Geologically) युवा, मध्या, बाला एवं वृद्धा—ये चार अवस्थायें निर्धारित की गयी हैं; तदनुरूप प्रथम दो कोटियों की शिलाओं का ही प्रतिमा-निर्माण में प्रयोग विहित है। प्रासाद में प्रतिष्ठाप्य प्रधान प्रतिमा के प्रमुख कलेवर का निर्माण पुंलिङ्गा शिला से, उसकी पाद-पीठिका स्त्रीलिङ्गा शिला से और पिण्डिका (lowermost base) नपुंसकलिङ्गा शिला से करना चाहिये—ऐसा इस ग्रंथ का निर्देश है :—

"पुल्लिङ्गैः प्रतिमा कार्या स्त्रीलिङ्गैः पादपीठिका।
पिण्डिकार्थं तु सा ग्राह्या दृष्ट्वा या षण्डलक्षणा॥"

परन्तु स्थापत्य में सम्भवतः इस शास्त्रादेश का सम्यक् पालन न होता हो क्योंकि प्रायः एक ही शिला से सम्पूर्ण प्रतिमा का निर्माण किया जाता था।

पाषाण-प्रतिमाओं के प्रकल्पन में वैसे तो देव-विशेष के शास्त्र-प्रतिपादित लाञ्छनों का ही अनुसरण था परन्तु उसकी पीठिका एवं पिण्डिका की रचना में मूर्ति-निर्माता स्थापति को कुछ स्वातन्त्र्य अवश्य था। सम्भवतः इसी दृष्टि से पीठिकाओं एवं पिण्डिकाओं की भेदपुरस्सर नाना रचनायें प्रकल्पित हैं—स्थण्डिली, यात्री, वेदी, मण्डला, पूर्णचन्द्रा, वज्रा पद्मा, अर्धशशी, त्रिकोणा—आदि। प्रतिमाओं की प्रकल्पना में उसका उत्सेध (ऊँचाई) प्रासाद-द्वार के अनुरूप अर्थात् द्वार की ऊँचाई के आठ भागों की ऊँचाई की प्रतिमा बनानी चाहिये और प्रतिमा की ऊँचाई के बराबर तीन भागों में से एक भाग की ऊँचाई से पिण्डका प्रकल्प्य है—**हयशीर्ष** का प्रवचन है :—

द्वारोच्छ्रायस्य यन्मानमष्टधा तत्तु कारयेत।
भागद्वये प्रतिमां त्रिभागीकृत्वा तत्पुनः।
पिण्डिकाभागतः कार्या नातिनीचा न चोच्छ्रिता॥

स्थापत्य-कर्म यज्ञीय कर्म के समान बड़ी ही निष्ठा, ध्यान-मग्नता एवं शान्तिपूर्ण वातावरण की अपेक्षा रखता है। **मत्स्य-पुराण** का आदेश है :—

विविक्ते संवृते स्थाने स्थपतिः संयतेन्द्रियः।
पूर्ववत् कालदेशज्ञः शास्त्रज्ञः शुक्लभूषणः॥
प्रयतो नियताहारो देवताध्यानतत्परः।
यजमानानुकूलेन विद्वान् कर्म समाचरेत्॥

समराङ्गण भी तो यही कहता है (दे० परिशिष्ट—अवतरण)

अस्तु, पाषाण-प्रतिमाओं के जो स्थापत्य-निदर्शन सर्वत्र मन्दिर-पीठों एवं प्राचीन-कला-केन्द्रों में प्राप्त हुए हैं उनमें इन शास्त्रादेशों का पालन पूर्णरूप से परिलक्षित है।

धातु (Metals)

धातुजा प्रतिमाओं को हम पाकजा वर्ग में वर्गीकृत कर सकते हैं। कुछ समय हुआ विद्वानों की धारणा थी कि धातुजा प्रतिमायें विशेषकर ताम्रोद्भवा प्रतिमाओं की परम्परा

का प्रचार दसवीं शताब्दी के प्रथम नहीं हुआ था तथा इस परम्परा पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट है। परन्तु श्री गोपीनाथ राव तथा अन्य विद्वानों ने इस धारणा को भ्रान्त सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है।

ताम्रादि धातुओं से प्रकल्पित प्रतिमाओं के संबन्ध में शतशः संकेत पुराणों तथा आगमों में आये हैं जिनका निर्देश यथास्थान प्रतिमा-द्रव्यों की सूची में किये ही गये हैं। आगम तथा पुराण १० वीं शताब्दी के पूर्व के ही हैं—इसमें किसी का भी विशेष वैमत्य नहीं। मानसार को डा० आचार्य महोदय ५-७ वीं शताब्दी के बीच का सिद्ध करते हैं। उसमें धातुजा प्रतिमाओं के विधान में मधु (मोम की विभिन्नानुपङ्गिक विधियों) आदि का पूर्ण प्रतिपादन होने से प्रतिमा-निर्माण में धातु-प्रयोग की परम्परा कितनी पुरानी है यह स्पष्ट है।

साथ ही साथ विभिन्न शिला-लेखों में इन ताम्रादि द्रव्यों का प्रतिमा-निर्माण में प्रयोग पर संकेत हैं जिनका राव महाशय ने भी उल्लेख किया है—(दे० E H. I. P. 51-52)। अतः इस परम्परा को अपेक्षाकृत अर्वाचीन मानना कहाँ तक संगत है। इसके अतिरिक्त ८ वीं शताब्दी की महिषासुर-मर्दिनी शक्ति, गणेश तथा नन्दी की प्रतिमाओं की प्राप्ति का उल्लेख १६०२ की Annual of the Director Geueral of Archaelogy में द्रष्टव्य है। इसी प्रकार गुप्तकालीन बौद्ध-ताम्र-प्रतिमा की भी उपलब्धि से धातूत्थप्रतिमाओं की प्राचीनता ही नहीं सिद्ध होती है वरन् पाकजा-प्रतिमा-निर्माण-कला की प्रोन्नतावस्था की भी सूचना मिलती है। बैनर्जी महाशय ने इस प्रतिमा के सम्बन्ध में 'one of the best specimens' लिखा है। मञ्जुश्री की काञ्चन-प्लुता ताम्र-प्रतिमा का जो उल्लेख है वह गुप्तकाल के आस पास का ही बताया गया है। इसके अतिरिक्त बैनर्जी महाशय ने अपनी नयी खोजों के द्वारा यह भी सिद्ध किया है कि पौराणिक देव-देवियों के चित्रों से चित्रित बहुसंख्यक धातु-मुद्रायें (coins) प्राप्त हुई हैं जिनमें कुछ ईसा से दो सौ वर्ष प्राचीन हैं। इसी प्रकार मध्यकालीन बहुसंख्यक धातूत्था प्रतिमाओं की उपलब्धि से भारत को यह धातु-तक्षण-कला (metal-caster's art) अति विकसित था निश्चितप्रच है।

धातु-तक्षण-कला के मर्मज्ञों से अविदित नहीं है कि धातु-प्रतिमाओं का निर्माण बहुपरिश्रम तथा बहुद्रव्य से साध्य है। पाषाणादि द्रव्यों से प्रतिमा का निर्माण इतना कष्ट-साध्य नहीं जितना धातु से। आगे के प्रवचन में इसकी निर्माण-विधि के संकेत से यह तथ्य विशेष स्पष्ट होगा। इसी तथ्य को दृष्टिकोण में रख कर राव महाशय ने लिखा है 'Metal is rarely employed in the making of dhruva-beras this material is almost exclusivey used for casting utsava, snapana and bali images' क्योंकि ये प्रतिमायें अपेक्षाकृत छोटी तथा हल्की होनी चाहिये। चला-प्रतिमाओं को पृथुल तथा भारवाही बनाना सुविधा के प्रतिकूल होगा।

ऊपर ताम्रादि धातुओं से प्रतिमा-विधान में मोम के साहचर्य अथवा सांपुट्य का संकेत किया गया है। 'मानसार' में मधूच्छिष्ट-विधान नामक ६८ वें अध्याय में इस विषय

की चर्चा है परन्तु वह डा० आचार्य के शब्दों में ही पूर्ण नहीं है। 'मानसोल्लास' में इस विधि पर पुष्ट प्रकाश डाला गया है। राव महाशय ने कर्णागम, सुप्रभेदागम तथा विष्णु-संहिता के भी एतद्विषयक अवतरणों का उल्लेख किया है। अतः स्पष्ट है कि धातु प्रतिमा-निर्माण-कला इस देश की ही कला है और वह अति प्राचीन है।

धातुजा प्रतिमाओं के निर्माण में मोम का प्रयोग होता था अतएव इस प्रक्रिया की संज्ञा 'मधूच्छिष्ट-विधान' संगत होती है — मधु-शहद-से उच्छिष्ट (निकाल लेने पर) जो रह गया उसके सांपुत्य से धातु-प्रतिमा-निर्मिति। कर्णागम (अ० ११ श्लोक ४१) का कथन है :—

लोहजत्वे मधूच्छिष्टमग्निनार्द्रीकृतं तु यत्।
वस्त्रेण शोधयेत् सर्वं दोषं त्यक्त्वा तु शिल्पिना।

अर्थात् धातुओं से प्रतिमा-विरचना में धातु-मोल्ड पर मोम को अग्नि से आर्द्र (melt) करना चाहिये और उसके द्वारा परिशोधनानन्तर वस्त्र से प्रतिमा को साफ कर देना चाहिये। विष्णु-संहिता का निम्न प्रवचन इस दृष्टि से विशेष स्पष्ट है :—

लोहे सिक्थामयीमर्चां कारयित्वा मृदावृतां
सुवर्णादीनि संशोध्य विद्राव्याङ्गारवपुन:कुशलैः कारयेद् यत्नात् सम्पूर्णं सर्वतो घनम्। अर्थात् धातुओं से प्रतिमा-निर्मिति में तो प्रतिमा को पहिले मोम में ढाले पुनः उस पर मिट्टी चढ़ा देवे। जिस धातु की प्रतिमा अभीष्ट है उस धातु (सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि) को आर्द्र (melt) कर उस मोल्ड पर चढ़ा देवे—इस प्रकार प्रतिमा संपन्न हो जाती है।

ऊपर मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) की धातुजा (पाकजा) प्रतिमाओं की निर्माण-प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण प्रवचन का संकेत किया गया है; तदनुरूप उसकी सामग्री का यहाँ पर कुछ निर्देश आवश्यक है। मानसोल्लास की इस महत्त्वपूर्ण सामग्री पर सर्वप्रथम श्री सरस्वती जी (cf S. K. Saraswati—'An ancient text on the Casting of metal images'— J. I. S O. A. vol; IV. No. 2 p. 139 ff.) ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। धातु-प्रतिमाओं के निर्माण में आगमों की परम्परा एवं मानसार के निर्देश के अनुसार मानसोल्लास में भी मोम के मॉडेल के ढालने की प्रक्रिया प्रतिपादित है। प्रतिमा के मोम के ढाञ्चे पर संस्कृता मृत्तिका के तीन लेप प्रतिपादित हैं। मृत्तिका के ये लेप अवकाश (intervals) देकर दिये जाते हैं—एक के सूखने पर दूसरा लेप। मोम के ढाञ्चे को प्रथम ठीक तरह से तौल लेना चाहिये। पुनः मृत्तिका-लेपानन्तर, जिस धातु की प्रतिमा प्रकल्प्य है, उसको भी भाग-विशेष से ही प्रयोग में लाना चाहिये। अर्थात् यदि प्रतिमा पीतल या ताम्बे की बनानी है तो मोम से उसका परिमाण दसगुना (अथवा अठगुना) होगा। चांदी की प्रतिमा में यह भाग बारहगुना, और सोने की प्रतिमा में सोलहगुना होगा। पुनः निर्मापणीय प्रतिमा-धातु को एक नारिकेलाकृति मृण्मयी मूषा (crucible—दे० लेखक का 'भवन-वास्तु'—मूषा-व्याख्या) में रखना चाहिये। प्रथम प्रतिमा के ढाञ्चे के मोम को तपाना चाहिये पुनः इस

मूषा-स्थित धातु को इतना तपाना चाहिये कि वह द्रव-रूप धारण कर ले फिर उस ढाञ्चे पर इस द्रव को इस प्रकार लौह-शलाका से छिद्रित कर गिराना चाहिये कि सर्वत्र व्याप्त हो जावे। जब प्रतिमा पूरी तरह ठण्डी पड़जावे तो उसके ढाञ्चे की मृत्तिका को साफ कर देना चाहिये—**पश्चादुज्ज्वलतां नयेत्।**

अब एक प्रश्न यहां पर यह उठता है कि मोम का ढाञ्चा खोखला बनाया जाता था या ठोस। जहां तक लम्बी प्रतिमाओं की प्रकल्पना की बात है उसमें तो ठोस ढाञ्चे की ही परम्परा थी। बड़ी मूर्तियों में खोखला ढाञ्चा ही अभिप्रेत हो सकता है, अन्यथा मूल्य एवं भार बढ़ जाने से इस प्रक्रिया का सामान्य अनुकरण कठिन ही नहीं असंभव भी था। प्राचीन स्मारक-निदर्शनों में जैसे महास्थान की मञ्जुश्री और सुलतानगंज की बुद्ध की बड़ी धातु-प्रतिमायें इसी दूसरी कोटि का निदर्शन प्रस्तुत करती हैं। इन स्थापत्य-निदर्शनों का समर्थन ईशवीय षोडश-शतक-कालीन श्री कुमार के 'शिल्प-रत्न' नामक वास्तु-शास्त्र (दे० अ० २.३२.५३) से प्राप्त होता है। इसमें धातु-प्रतिमा-विरचना की खोखली प्रक्रिया (hollow casting) पर सुन्दर प्रतिपादन है। निम्न अवतरणों को देखिये :—

मधूच्छिष्टेन निर्माय सकलं निष्कलं तु वा।
बद्ध्वा मृदा दृढं शुष्कमधूच्छिष्टं वहिस्र्जेत॥

इस प्रकरण के अन्त में श्रीकुमार ने ठोस ढाञ्चे वाली प्रतिमा की विरचना पर भी निर्देश दिया है। इस कोटि की प्रतिमा की संज्ञा 'घन-बिम्ब' से दी गयी है :—

घनं चेल्लोहजं बिम्बं मधूच्छिष्टेन केवलः
कृत्वा मृल्लेपनादीनि पूर्ववत् क्रमतश्चरेत्

अन्त में इस स्तम्भ में यह निर्देश आवश्यक है कि भारतीय स्थापत्य में पाकजा प्रतिमाओं की खोखली-प्रक्रिया (Hollw Casting) की परम्परा अति प्राचीन है। पीछे प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता पर ऋग्वेद के नाना सन्दर्भों में 'शूर्मयं सुषिरामिव' भी एक सन्दर्भ है जिससे खोखली प्रतिमा (Perforated image) के संकेत पर ध्यान आकर्षित किया गया है। मन्वादि स्मृतिकारों के ग्रन्थों में भी इस कोटि की धातुजा प्रतिमाओं पर पूर्ण निर्देश हैं—अपराधी (परस्त्री-गामी) को दण्डस्वरूप प्रायश्चित्त में इसी प्रकार की तप्त प्रतिमा का आलिङ्गन करना पड़ता था।

धातुजा-प्रतिमाओं के इन शास्त्रीय निर्देशों के अतिरिक्त स्थापत्य में इन प्रतिमाओं के निदर्शनों का हम ऊपर संकेत कर ही चुके हैं। नालन्दा, कुर्किहर, झवेरी (चिट्टगांव) तथा पूर्वीय भारत के अन्य बहुसंख्यक स्थानों में प्राप्त ताम्र-प्रतिमाओं bronze statues & statuttes) के ऐतिहासिक स्मारक-निदर्शनों से धातुजा-प्रतिमा की अत्यन्त विकसित परम्परा प्रतीत होती है।

रत्न

वैसे तो रत्नजा प्रतिमाओं का सभी शास्त्रों में—पुराणों, आगमों, शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में—सर्वत्र ही संकीर्तन है परन्तु उनकी निर्माण की क्या विधि है इस पर प्रायः सर्वत्र ही मौन ही मौन है। सम्भवतः प्राचीन भारत के जौहरी तथा दन्तनकारों—हस्तिदन्त-

तद्वत् इस कला में इतने निष्णात थे कि उनके सम्बन्ध में स्थापत्य-शास्त्रों के आचार्यों ने इस के प्रतिपादन की विशेष आवश्यकता ही न समझी हो या यह कला इतनी सूक्ष्म है कि साधारणतया इसका विधान शास्त्र मे कष्टसाध्य हो। अनेक प्राचीन भारतीय कलाओं—जैसे यंत्र-कला (दे० स० सू० का 'यन्त्राध्याय'—३१ वां) के शास्त्रीय निर्देशों में रूप-रेखा तथा तात्त्विक सिद्धान्त का ही एक मात्र उल्लेख है—कौशल तो गुरु-शिष्य की परम्परा में निहित था। शास्त्रोपदेश से स्थूल सिद्धान्तों के अवगमन के उपरान्त एतद्विषयक चातुर्य, कौशल, दाक्ष्य तो 'पारम्पर्य' कौशल के नाम से भोज ने पुकारा है :—

> **पारम्पर्यं कौशलं सोपदेशं शास्त्राभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धीः।**
> **सामाग्रीयं निर्मला यस्य सोऽस्मिँश्चित्राण्येवं वेत्ति यन्त्राणि कर्तुम् ॥**
>
> (स० सू० ३१.८७)

इसके अतिरिक्त एक बात और है। रत्नों की प्रतिमा-प्रकल्पना सर्वसाधारण जनों की शक्ति के परे होने के कारण अथच इने गिने धनिकों एवं राजाओं को ही इन प्रतिमाओं को अपने संग्रहालय में अथवा अपने भावन-मन्दिर (family chapel) में शोभार्थ अथवा प्रतिष्ठार्थ रखने की अभिलाषा होती थी। वह तत्तकालीन दक्ष जौहरियों आदि के वैचक्षण्य से यह निर्मिति सुतरां सम्पन्न हो जाती थी।

आगमों की प्रतिमा-निर्माणीय रत्न-द्रव्य-सूची का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। रत्नों में स्फटिक, पद्मराग, वज्र, वैदूर्य, विद्रुम, पुष्य आदि रत्नों की भी प्रतिमायें निष्पन्न की जाती थी—ऐसी प्राचीन परम्परा थी। श्री गोपीनाथ राव लिखते हैं (see E. H. I. p. 50) "ऐसे बहुत से निदर्शन हैं जिनसे रत्नों का प्रतिमा-निर्माण में प्रयोग जाना जा सकता है। बर्मा के महाराज थीवा के राजमहल में भगवान् बुद्ध की एक बड़ी वैद्रुम-प्रतिमा थी—ऐसा उल्लिखित है। चिदम्बरम् के मन्दिर में स्फटिक लिङ्ग की स्थापना से सभी परिचित हैं। इसकी प्रतिमा (स्फटिक-लिङ्ग) की ऊंचाई ६ इञ्च तथा पिण्डिका की भी पृथुलता उसी प्रमाण में है।"

डा० बैनर्जी (see D. H. I. p. 242) ने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि स्फटिक-प्रतिमा-विरचन बड़ा सुगम था। पिपरावा के बृहदाकारस्तम्भाभ्यन्तर-बौद्ध-प्रतीकों में एक बड़ा ही मनोरम स्फटिक चषक (the excellently carved crystal bowl) उपलब्ध हुआ है। इसका हैन्डल मत्स्याकार है।

चित्र

चित्र भी वास्तु-कला का विषय है। समराङ्गण तो चित्र को सब कलाओं का मुख मानता है :—

> **'चित्रं हि सर्व-शिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्'**

'हयशीर्ष-पञ्चरात्र' की निम्न चित्रजा-प्रतिमा-प्रशंसा से भी चित्र सर्व-शिल्पों का मुख ही नहीं भारतीय कला की भौतिक, दैविक एवं आध्यात्मिक भावना—'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' की सम्मिलित एवं समन्वित महाभावना की पुष्टि होती है :—

यावन्ति विष्णुरूपाणि सुरूपाणीह लेखयेत् ।
तावद्युगसहस्राणि विष्णु-लोके महीयते ॥
लेप्यचित्रे हरिर्नित्यं सन्निधानमुपैति हि ।
तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन लेप्यचित्रगतं यजेत् ।
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्रे यस्मात् स्फुटं स्थितः ॥
अतः सान्निध्यमायाति चित्रजासु जनार्दनः ।
तस्माच्चित्रार्चने पुण्यं स्मृतं शतगुणं बुधैः ॥
चित्रस्थं पुण्डरीकाक्षं सविलासं सविभ्रमम् ।
दृष्ट्वा विमुच्यते पापैर्ज्जन्मकोटिसुसञ्चितैः ॥
तस्माच्छुभार्थिभिर्धीरैर्महापुण्यजिगीषया ।
पटस्थः पूजनीयस्तु देवो नारायणो प्रभुः ॥

इस प्रकार समराङ्गणीय एवं हयशीर्षीय इन दोनों प्रवचनों से चित्रकला एकमात्र भौतिक चक्षुस्तृप्ति की ही विधायिका नहीं उसमें अध्यात्मिक एवं दैविक तृप्तियां भी अन्तर्हित हैं। यदि काव्य-कला ब्रह्मानन्द-सहोदर रसास्वाद की विधायिका है तो चित्रकला उससे कम नहीं।

चित्र को 'षडङ्गक' कहा गया है।

रूपभेदाः प्रमाणानि लावण्यं भावयोजनम्
सादृश्यं वर्तिकाभङ्गः इति चित्रं षडङ्गकम्

रूप-भेद से तात्पर्य चित्रोद्देशों से है। 'लावण्य' की योजना ललित-कला—Fine art (चित्रकला जिसका परम निदर्शन है)—का प्राण है। भावयोजना से चित्र-कला, काव्य-कला की भांति रसास्वाद कराती है। 'सादृश्यम्' में निष्णात कलाकार के कौशल का मर्म छिपा है। वर्तिका-भंग में चित्रकार की रचना-चातुर्य पर संकेत है।

प्राचीन भारत में चित्रजा प्रतिमाओं के अधिष्ठान पट, कुड्य और पात्र ही विशेष प्रसिद्ध थे—**पटे कुड्ये च पात्रे च चित्रजा प्रतिमा स्मृता**—अर्थात् चित्रों के पट-चित्र (paintings on cloth) कुड्य-चित्र (Mural paintings) और पात्र-चित्र (दे० मृण्मयी प्रतिमाओं के पाकजा प्रकरण में) ही विशेष उल्लेख्य हैं। 'घटे पटे पूजा' की परम्परा आज भी सर्वत्र विद्यमान है। गौरी-गणेश की वन्दन से कलश-पात्रों पर आज भी हम पूजा-विशेष के अवसर चित्र-प्रतिमा बना लेते हैं।

चित्रजा प्रतिमाओं के शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ बहुत स्वल्प हैं। सम्भवतः इसी कमी को दृष्टि में रखकर डा० आचार्य पुराणों की वास्तु-विद्या का विहंगावलोकन करते हुए लिखते हैं:—Sculpture is associated with Architecture; but painting is hardly mentioned in these works'—अर्थात् वास्तु-विद्या के दोनों प्रकार के ग्रन्थों (वास्तु-शास्त्रीय जैसे मानसार, मयमत, विश्वकर्म-प्रकाश आदि तथा अ—वास्तु-शास्त्रीय जैसे पुराण, आगम, बृहत्संहिता, शुक्रनीति, अर्थ-शास्त्र आदि) में पाषाण-कला का वास्तु-कला (भवन-निर्माण-कला) के साथ अवश्य

प्रतिपादन है; परन्तु चित्रकला का प्रतिपादन इन ग्रन्थों में बड़ी कठिनता से मिलेगा। किसी अंश तक डा० आचार्य का यह कथन ठीक भी है। परन्तु समराङ्गण की व्यापक वास्तु-विद्या (दे० भा० वा० शा० अ० ३, ६) में चित्र-कला का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। यंत्र-कला एवं चित्र-कला का वास्तु-शास्त्र के व्यापक विस्तार में सन्निवेश समराङ्गण की एक महती एवं अद्वितीय देन (Unique contribution) है। समराङ्गण को छोड़कर किसी अन्य वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थ में 'यंत्र' एवं 'चित्र' पर प्रवचन नहीं। विभिन्न-वर्गीय द्रव्यजा प्रतिमाओं में चित्रजा का संकेतमात्र मिलता है—शास्त्रीय प्रतिपादन तो शिल्प-शास्त्रों में समराङ्गण, पुराणों में विष्णु-धर्मोत्तर (स्कन्द-पुराण में भी कुछ संकेत हैं) तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों में नग्नजित का चित्र-लक्षण (मूल अप्राप्य—तिब्वती अनुवाद ही प्राप्य है)—ये ही तीन ग्रन्थ चित्र शास्त्र के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं।

अस्तु, समराङ्गण की इसी देन की सविस्तर समीक्षा के लिये हमने इस विषय को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ (इस अध्ययन के पंचम ग्रन्थ—'यन्त्र-कला एवं चित्र-कला') में संरक्षण प्रदान किया है। यहां पर इतना ही सूच्य है कि 'चित्र' पर समराङ्गण में ६ अध्याय हैं—चित्रोद्देश, भूमिबन्धन, लेप्यकर्मादिक, अण्डक-प्रमाण, मानोत्पत्ति एवं रस-दृष्टि-लक्षण। सर्वप्रथम चित्रोद्देश नामक ७१वें अध्याय में चित्र की प्रशंसा (देखिये पीछे) करते हुए चित्र के आधार (background)—पट, पट्ट, कुड्य आदि पर संकेत करने के उपरान्त चित्र के 'उद्देश्य' अर्थात् चित्रणीय पदार्थों पर प्रकाश डाला गया है। पुनः इस अध्याय के अन्त में चित्र-कर्म के उपयोगी अंगों—वर्तिका, भूमि बन्धन, लेख्य, रेखा, वर्ण-कर्म, वर्तना आदि अष्टाङ्ग—का वर्णन है।

'भूमि-बन्ध' नामक ७२वें अध्याय में चित्राधार के प्रभेदों की विस्तृत विवेचना की सुन्दर सामग्री मिलेगी। 'लेप्यकर्मादिक' ७३वें अध्याय में यथानाम प्रतिमाओं के चित्रण में उपयोगी लेप्य रङ्ग आदि तथा कूर्चन (ब्रुश) आदि की प्रक्रिया एवं प्रभेद क्रमशः प्रस्तुत किये गये हैं। 'अण्डक-प्रमाण' (७४) 'मानोत्पत्ति' (७५)—इन दो अध्यायों में चित्र-कला के माडेल्स की मान-व्यवस्था में विभिन्न-वर्गीय उद्देश—चित्रणीय पदार्थ - देव, मानुष, पशु, पक्षी आदि के कौन-कौन रूप हैं, कौन-कौन मान—इन सब पर विवरण देखने को मिलते हैं। इन सबकी विस्तृत समीक्षा 'यंत्र एवं चित्र' में द्रष्टव्य है।

अन्त में इस विषय का एक अध्याय और शेष रह जाता है—'रस-दृष्टि-लक्षण' जो चित्र-कला में काव्य-कला के समान अभिनय-योजना एवं रस-परिपाक कराता है। 'प्रतिमा-विधान में रस-दृष्टि' नामक आगे के अन्तिम अध्याय में इस विषय की कुछ चर्चा अभीष्ट है। अत: प्रतिमा-निर्माण में मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण, धातु, रत्न एवं चित्र—इन नाना द्रव्यों की संयोजना से भारतीय प्रतिमा-स्थापत्य के विपुल विकास का ही आभास नहीं प्रतीत होता है वरन् प्रतिमा-पूजा के अत्यन्त व्यापक प्रसार के भी पूर्ण दर्शन होते हैं, और साथ ही साथ भारत के विभिन्न व्यवसायों में प्रतिमा-निर्माण के व्यवसाय के महत् विकास का भी यह परिचायक है जिसमें न केवल काष्ठकार (तक्षक) मूर्ति-निर्माता

पाषाण-कार (स्थपति) का ही व्यवसाय दैनंदिन विकास को प्राप्त हो रहा था वरन् पात्र-कार कुम्भ-कार एवं कांस्य-कार तथा लौह-कार और स्वर्ण-कार के साथ-साथ चित्र-कार एवं दन्त-नक्कास और रत्न-कार (जौहरी) के व्यवसायों को भी प्रतिमा-निर्माण की अत्यधिक मांग से अनायास महान् प्रोत्साहन प्राप्त हुआ ।

प्रतिमा-निर्माण के इस महाप्रसार के अन्तर्तम में पौराणिक धर्म में प्रतिपादित देव-पूजा एवं देव-भक्ति के व्यापक अनुगमन का रहस्य छिपा है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों—वैष्णव, शैव, शाक्त आदि—के विकास से स्वतः यह स्थापत्य-विकास प्रादुर्भूत हुआ। पौराणिक देव-वाद के मौलिक स्वरूप में इन सम्प्रदायों की विशिष्ट कल्पनाओं ने नाना नये देवों की रचना की। अतः प्रतिमा-निर्माण भी नानारूपोद्भावनाओं से अनुषङ्गतः प्रभावित हुआ। विभिन्न कला-केन्द्रों में प्रतिमा-निर्माण-शालाओं की इतनी उन्नति हुई कि उनकी अपनी अपनी नयी-नयी शैलियां विकसित हुईं। राज्यकुलों की वदान्यता, भक्ति एवं धर्माश्रय एवं मन्दिर-निर्माण आदि ने भी प्रतिमा-निर्माण के बहुमुखी विजृम्भण में सबसे अधिक सहायता प्रदान की।

५

प्रतिमा-विधान

[मान-योजना अङ्गोपाङ्ग एवं गुण-दोष निरूपण]

भारतीय प्रतिमा-विधान में मान-सिद्धांत (Canons of proportions) मूलाधार हैं। अतएव इस अध्याय में—देवों एवं देवियों की प्रतिमा के अंग-प्रत्यंग की प्रकल्पना के सामान्य नियमों के समुद्घाटन में मान-योजना (Standards of measurement) का अनिवार्य अनुगमन होने के कारण प्रतिमा-विधान एवं मान-योजना—दोनों का एक साथ प्रतिपादन अभिप्रेत है। वास्तव में भारतीय धारणा के अनुसार कोई भी वास्तु-कृति, वह भवन है या मंदिर, पुर अथवा ग्राम, सभी को 'मेय' होना अनिवार्य है। समराङ्गण साफ-साफ़ कहता है :—

"यच्च येन भवेद् द्रव्यं मेयं तदपि कथ्यते।"

अथच देव-प्रतिमा-विरचना में तो मानाधार अनिवार्य है। शास्त्र में प्रतिपादित प्रमाणों के अनुसार ही विरचित देव-प्रतिमायें पूजा के योग्य बनती हैं। स० सू० (४०, १३½) का प्रवचन है :—

'प्रमाणे स्थापिताः देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति हि'

अतः निर्विवाद है कि प्रतिमा-विधान विना प्रतिमा-मान के पङ्गु है।

प्रतिमा विधान में मान-योजना के इस अनिवार्य अनुगमन पर इस समान्य उपोद्घात के अनन्तर दूसरा सामान्य तथ्य यह है कि भारतीय स्थापत्य-कर्म धार्मिक-कार्य—यज्ञीय-कर्म के समान पावन एवं दीक्षा और तपस्या की साधना से अनुप्राणित है। अतः प्रतिमा-विधान के लिये उद्यत स्थपति के लिये अपने शरीर एवं मन, प्रज्ञा एवं शील को प्रतिमा-विरचन के योग्य बनाने के लिये कतिपय साधना-नियमों का पालन विहित है। संयम एवं नियम के बिना जब देवाराधन दुष्कर है तो देव-प्रतिमा-विरचना कैसे सम्भव हो सकती है? शास्त्रज्ञ, प्राज्ञ, शीलवान एवं कर्म-दक्ष मूर्ति-निर्माता स्थपति के लिये निर्माण-काल में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। वह पूरा भोजन नहीं कर सकता, देव-यज्ञ करता हुआ यज्ञीय-शेष हविष्यान्न से ही उसे अपनी शरीर-यात्रा सम्पादन करनी चाहिये। शय्या का शयन वर्ज्य है। धरणी-पृष्ठ पर ही वह सो सकता है—प्रारभेद विधिना प्राज्ञो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः। हविष्यनियताहारो जपहोमपरायणः शयानो धरणीपृष्ठे.......स० सू० ७६, ३-४। इस प्रकार की दैहिक शुद्धि, दैवी साधना एवं अध्यात्मिक उपासना के द्वारा ही कर्ता स्थपति अपने हस्तों को अपने शुद्ध मन एवं निर्मल आत्मा के साथ संयोजित कर अपने हस्त-लाघव का परिचय दे सकता है। प्रतिमा-विधान में स्थपति की बौद्धिक योग्यता (दे० भा० वा० शा—'स्थपति एवं स्थापत्य') के साथ-साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक योग्यता भी परमावश्यक है।

अस्तु, कोई भी कला-कृति हो उसमें सौष्ठव-सम्पादन के लिये किन्हीं आधारभूत सिद्धांतों का सहारा आवश्यक है। काव्य को ही लीजिये। बिना छन्द-बन्ध के काव्य-प्रबन्ध का न तो सुन्दर स्वरूप ही निखरता है और न उससे सहज एवं स्वाभाविक रस-निष्यन्द ही सम्पन्न होता है। लयाभाव से पाठक अथवा श्रोता की हृत्तन्त्री एवं रागात्मिका प्रवृत्ति में भी न तो स्फुरण ही उदय होता है और न प्रोल्लास। अतः चिरन्तन से प्रत्येक कला की कृति में कोई न कोई आधारभूत सिद्धांत कलाकारों के द्वारा अवश्य अपनाया गया है। आदि कवि का प्रथम कविता में इसी छन्दोमयी वाणी ने भू-तल पर काव्य की सृष्टि की। प्रतिमा-प्रकल्पन में ये आधार भूत सिद्धांत मान-सिद्धांत हैं। अतः प्रतिमा-कल्पन में मान-योजना सर्वाधिक महत्त्व रखती है। प्रश्न यह है कि मान का आधार क्या है? देव-प्रतिमा की कृति के लिये कर्ता स्वयं आधार हैं। मूर्ति-निर्माता स्थपति के सम्मुख जो आधार-भूत भावना सतत जागरूक रही वह यह कि मानव के देव भी मानव के सदृश ही आकार रखते हैं। ऋग्वेद में देवों को 'दिवोनरः' 'नृपेशः' कहा गया है। अतः देवों को मानवाकृति प्रदान करने में वैदिक ऋषियों ने ही पथ-प्रदर्शन किया। 'रसो वै सः' की वेद-वाणी ने जिस प्रकार काव्य में रसास्वाद को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' परिकल्पित किया उसी प्रकार 'दिवोनरः' आदि वैदिक संकेतों से प्रतिमा-कारों ने देव-प्रतिमाकृति को मानवाकृति से विभूषित किया तथा मानव-मान को ही देव-मान के निर्धारण में आधार माना। वराहमिहिर ने देव-प्रतिमा के आभूषण एवं वस्त्र आदि के लिये जो 'देशानुरूप' व्यवस्था की अर्थात् प्रतिमा में देवों एवं देवियों के वस्त्र और आभूषण आदि की संयोजना में तत्तद्देशीय स्त्री पुरुषों के वस्त्राभूषण ही निमायक हैं। उसी व्यवस्था को थोड़ा सा यदि आगे ले जावें तो प्रतिमा में प्रकल्प्य देवों एवं देवियों के रूप आकार एवं प्रमाण आदि भी मानवाकार एवं मानव-प्रमाण से ही निर्धारित होंगे।

देवों की मानवाकृति-कल्पना में इस बहिरङ्गाधार के अतिरिक्त एक अत्यन्त अन्तरङ्ग रहस्य भी अन्तर्हित है। देव देव तभी बनते हैं जब वे मानवरूप धारण करते हैं (अवतार वाद) अन्यथा देव तो निगु ण एवं निराकार हैं। इसी दार्शनिक दृष्टि के मर्म को समझने वाले प्राचीनाचार्यों ने देवों की रूप-कल्पना में उनको मानवों का रूप ही प्रदान नहीं किया—मानवों की भूषा-विन्यास से ही उनको विन्यस्त नहीं किया वरन् मानवों की मनो-भावनाओं एवं राग द्वेषों से भी उन्हें आक्रान्त दिखाया। भगवान विष्णु के प्रमुख अवतार—राम-कृष्ण की मानव-लीला (या देव-लीला) से कौन परिचित नहीं? गोपी-वल्लभ कृष्ण की प्रेम-लीलाओं एवं मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के सीता-विलापों में मानव-मनोभाव के ही तो प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। लोक-शंकर भगवान् शंकर भी तो सती-दाह से विह्वल होकर भगवती की मृत देह को कंधे पर रखकर कहां-कहां नहीं भटके? इस प्रकार देव-प्रतिमा का माडेल स्वयं मानव है—यह सिद्ध हुआ।

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय कलाकारों की जहां यह धारणा रही कि देव-मूर्तियों की निर्माण-परम्परा का आविर्भाव 'ध्यान-योग' की संसिद्धि के लिये हुआ—ध्यानयोगस्य संसिद्धयै प्रतिमा-लक्षणं स्मृतं' वहां प्रतिमा कारक प्रतिमा-विरचना में स्वयं ध्यान-मग्न होकर ही यह कार्य सम्पादन करे—'प्रतिमाकारको मर्त्यो यथा ध्यानरतो भवेत्'। अथच परिपूर्ण

सौन्दर्य का सन्निवेश बहुत कम कलाकारों के बूते की बात है। उक्ति भी है—सर्वाङ्गैस्सर्वरम्यो हि कश्चिल्लक्ष्ये प्रजायते—लक्ष्य से तात्पर्य यहां 'प्रतिमा-विरचना' से है। अतः कला-विज्ञान के आचार्यों ने शास्त्र प्रतिपादित प्रमाण को हो प्रतिमा-कला का प्राण माना—'शास्त्र-मानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि'। भारतेतर प्राचीन देशों में भी प्रतिमा मान के शास्त्रीय-करण की पद्धति प्रचलित थी। मिश्रदेश (Egypt) इस पद्धति का प्रथम प्रतिष्ठापक हुआ। कालान्तर पाकर यूनान और रोम आदि देशों ने भी इसी पद्धति को अपनाया।

अस्तु, देवों के प्रतिमा-विधान (प्रतिमा-लक्षण) में मान सिद्धान्तों की अनिवार्य-योजना पर इस संकेत के उपरान्त हमें सर्वप्रथम यह देखना है कि इस मान-योजना का मानव-रूप-कल्पना के अनुरूप कैसे संगति स्थिर होती है? वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' के अनुसार प्राचीन कलाविदों की यह धारणा सिद्ध होती है कि मान के अनुरूप पुरुषों के पांच वर्ग हैं। इनकी संज्ञा है—हंस, शश, रूचक, भद्र तथा मालव्य और इन पांचों पुरुषों के मान, आयाम (height) तथा परिणाह (girth) के अनुरूप, क्रमशः ९६, ९९, १०२, १०५, १०८ अंगुल माना गया है। इस वर्गीकरण का आधार जातीय (ethnic) था या अन्य था—निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः इस विशाल देश के विशाल भूभाग में जल-वायु, रहन-सहन, आहार विहार, ऊंचाई-लम्बाई आदि को दृष्टि में रखकर मनीषियों ने एक सामान्य मान प्रस्तुत किया। वराहमिहिर ने तो इस वर्गीकरण का आधार नक्षत्र विशेष में उत्पत्ति प्रकल्पित की है (दे० बृ० सं० अ० ६८.१-२) :—

> ताराग्रहैर्बलयुतैः स्वक्षेत्रस्वोच्चगैश्चतुष्टयगैः।
> पञ्चपुरुषाः प्रशस्ता जायन्ते तानहं वक्ष्ये॥
> जीवेन भवति हंसः सौरेण शशः कुजेन रूचकश्च।
> भद्रो बुधेन बलिना मालव्यो दैत्य-पूज्येन॥

टि० १ जीव—बृहस्पति (jupiter), सौर-शनि (saturn), कुज-मंगल (mars), बुध-बुध (mercury) तथा बलि-शुक्र (venus)

टि० २—यहाँ पर एक प्रश्न यह है कि इन पांचों पुरुषों की ऊंचाई और परिणाह समान कैसे प्रतिपादित हैं? उत्पल (बृ० सं० के प्रसिद्ध टीकाकार) ने व्यायाम अथवा पृथुता की व्याख्या में—'प्रसारितभुजद्वयस्य प्रमाणम्' लिखा है। अतः डा० बैनर्जी ने (Cf. D. H. I. p. 341) यह समीक्षा की है कि मान के ये प्रमाण—आयाम एवं परिणाह वास्तव में न्यग्रोध-परिमण्डल के प्रकार हैं जो महापुरुष का विशिष्ट लक्षण है। उत्पल के द्वारा उद्धृत पराशर का निम्न प्रवचन इस व्याख्या का प्रमाण हैः—

> उच्छ्रायः परिणाहस्तु यस्य तुल्यं शरीरिणः।
> स नरो पार्थिवो ज्ञेयो न्यग्रोधपरिमण्डलः॥

समराङ्गण-सूत्रधार में हंसादि पञ्च-पुरुष-लक्षणों के साथ-साथ पञ्च-स्त्री-लक्षण (दे० अ० ८१ 'पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षणाध्याय') भी प्रतिपादित है। ग्रन्थ भ्रष्ट होने के कारण पांच स्त्रियों में वृत्ता, पौरुषी, बलाका और दण्डा ही उल्लेख्य है—पांचवी की संज्ञा लुप्त है। अथच समराङ्गण के हंसादि पञ्च-पुरुष-प्रमाण में क्रमशः ८८, ९०, ९२, ९४ और ९६ अङ्गुलों का

प्रमाण निर्दिष्ट हैं जो परम्परा-प्रसिद्ध वाराही बृहत्संहिता से सानुगात्य नहीं रखता। इसका क्या कारण है—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हां हमारा आकूत यह है कि सम्भवतः यह मान चित्रजा प्रतिमाओं के लिये निर्धारित हैं क्योंकि चित्र-वर्णन करने वाले अध्यायों में ही इस अध्याय का समावेश है और चित्रजा प्रतिमायें पाषाण, मृत्तिका, काष्ठ आदि सामान्या द्रव्यजा प्रतिमाओं की अपेक्षा छोटी होनीं चाहिये। दूसरा आकूत यह है कि वराहमिहिर का यह मान-दण्ड महापुरुष-लक्षण से प्रभावित है। साधारण पुरुषों को दृष्टि में रखकर जन-वास्तु का प्रथम प्रतिष्ठापक समराङ्गण-सूत्रधार वास्तु शास्त्र जनता-जनार्दन के ही मान-प्रकार से सम्भवतः विशेष प्रभावित हुआ।

अस्तु, विभिन्न देवों एवं देवियों की प्रतिमा-विरचना में बृहत्संहिता के पञ्च-पुरुष लक्षणों में हंस और मालव्य के मानों का ही विशेष रूप से अनुगमन देखा गया है। इनमें प्रथम हंस का मान मध्यम अथवा समपरिमाण वाली प्रतिमाओं का मान है। अष्ट-ताल देवी-प्रतिमायें भी हंसमान से परिकल्प्य हैं। मालव्य का प्रमाण नव-तालमान से संगति रखता हैं। यह प्रवर-वर्ग की प्रतिमाओं का मान है। मत्स्य-पुराण भी इसका समर्थन करता है—'आपादतलमस्तको नवतालो भवेत्तु यः। संहताजानुबाहुश्च दैवतैरभि पूज्यते'—इससे स्पष्ट है कि यह महापुरुष-लक्षण है। बृहत्संहिता स्वयं कहती हैः—

> मालव्यो नागनाससमभुजयुगलो जानुसंप्राप्तहस्तो।
> मांसैः पूर्णाङ्गसन्धिः समरुचिरतनुः मध्यभागे कृशश्च॥
> पञ्चाष्टौ चोर्ध्वमास्यं श्रुतिविवरमपि त्र्यङ्गुलोनं।
> च तिर्यग् दीप्ताक्षं सत्कपोलं समसितदशनं नातिमांसाधरोष्ठम्॥

बुद्ध आदि महापुरुष एवं विष्णु एवं दिग्पाल आदि देवों की प्रतिमा-कल्पना में ऐसे ही लक्षण विभाव्य हैं।

प्रतिमा-विधान में मान-प्रक्रिया को पूर्ण रूप से समझने के लिये कतिपय मान-योजनाओं का हृदङ्गम आवश्यक है। मान के दो प्रकार हैं—अङ्गुल-मान तथा ताल-मान। इनमें भी दो उपवर्ग है—स्वाश्रय (absolute) तथा सहायक (relative)। प्रथम का आधार कतिपय प्राकृतिक पदार्थों (natural objects) की लम्बाई है। और दूसरा मेय प्रतिमा के अङ्ग-विशेष अथवा अवयव-विशेष की लम्बाई पर आधारित रहता है। समराङ्गण (दे० 'मानोत्पत्ति' नामक ७५ वां अ०) में स्वाश्रय-मान पद्धति (absolute system) की निम्न तालिका द्रष्टव्य हैः—

८	परमाणुओं से	१	रज निर्मित होता है।
८	रज से	१	रोम ,, ,,
८	रोमों से	१	लिक्षा ,, ,,
८	लिक्षाओं से	१	यूका ,, ,,
८	यूकाओं से	१	यव ,, ,,
८	यवों से	१	अंगुल ,, ,,

टि०—दो अंगुल को 'मात्रा' की भी संज्ञा दी गयी है - स० सू० ६ वां 'हस्तलक्षण'। अथच आगमों में मध्यम और अधम अंगुलों के प्रमाण में क्रमशः ७ यवों और ६ यवों का उल्लेख है।

२ अंगुलों से — १ गोलक या कला निर्मित होती है।

२ गोलकों (कलाओं) से — १ भाग बनता है।

इसे 'मानांगुल' कहा जाता है जिसका प्रयोग प्रतिमा-कला में विहित है। स्वाश्रय मान-पद्धति (Absolute system) का दूसरा वर्ग भवन-कला, पुरनिवेश एवं प्रासाद-विरचना से सम्बन्धित है जिसका पूर्ण समुद्घाटन. लेखक के 'भवन-वास्तु' में किया गया है। हां बड़ी प्रतिमाओं की विरचना में लम्बे मान-प्रकार में २४ अंगुलों की एक किष्कु, २५ की प्राजापत्य, २६ की धनुर्मह, २७ धनुर्मुष्टि और चार धनुर्मुष्टि का दण्ड आदि (पूरी सूची 'भवन-वास्तु' में प्रतिपादित है) परिकल्पित हैं। यह दण्डमान यथोपरिनिर्देशतः भवन-कला एवं पुर-निवेश में प्रयोज्य होता है।

सहायक मान-पद्धति (relative systen) में मात्राङ्गुल एवं देहाङ्गुल की परम्परा प्रचलित है।

मात्राङ्गुल में अङ्गुल की नाप प्रतिमाकार स्थपति अथवा प्रतिमाकारक यजमान की मध्यमा अङ्गुलि का मध्य पर्व है। देहाङ्गुल की प्राप्ति मेय प्रतिमा के सम्पूर्ण कलेवर को १२४, १२० अथवा ११६ सम भागों में विभाजन से होती है। प्रत्येक भाग को देह-लब्ध-अङ्गुल अथवा संक्षेप में देहाङ्गुल कहा जाता है।

इन देहाङ्गुलों की २४ संज्ञायें—परिशिष्ट (ब) समराङ्गण-वास्तु-कोष में द्रष्टव्य हैं।

शिल्प-शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में मान-प्रक्रिया की बड़ी ही सूक्ष्म मीमांसा है। प्रतिमा-मान के विभिन्न माप-दण्ड हैं। मानसार इन माप-दण्डों को मान, प्रमाण, उन्मान, परिमाण, उपमान एवं लम्बमान के षड्वर्ग में विभाजित करता है। मान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की लम्बाई की नाप से है और प्रमाण उसकी चौड़ाई का निर्देश करता है। उन्मान मोटाई (thickness), परिमाण परीणाह (girth), उपमान दो अवयवों (जैसे प्रतिमा के पैरों) के अन्तरावकाश (inter-spaces) तथा लम्बमान प्रलम्ब-रेखाओं (plumb-lines) की नापों के क्रमशः प्रतिपादक हैं। इन षड्वर्गों को विभिन्न संज्ञाओं से संकीर्तित किया गया है जिनका ज्ञान शास्त्रीय प्रतिमा-लक्षण को समझने के लिये आवश्यक है। अतः इनके पर्यायों का पर्यालोचन परिशिष्ट (ब) में अभीष्ट है।

देहाङ्गुल (जो अपेक्षाकृत लम्बी मान-योजना है) के अतिरिक्त अन्य सहायक बृहद् मान-दण्डों में प्रादेश, ताल, वितस्ति और गोकर्ण विशेष उल्लेख्य हैं। प्रादेश अंगूठे और तर्जनी (forefinger), को खूब फैलाकर जो फासला आता है उसे कहते हैं। उसी प्रकार अंगूठे और मध्यमा के अवकाश को ताल, अंगूठे और अनामिका (ring-finger) के अवकाश को वितस्ति तथा अंगूठे और कनिष्ठा (little finger) के अवकाश को गोकर्ण कहते हैं।

तालमान—आगमों एवं मानसार आदि शिल्प-शास्त्रों में प्रतिमा-मान का ताल-मान से प्रतिपादन है। अतः विभिन्न देवों एवं देवियों में जो ताल-मान विहित है उनका थोड़ा

सा परिचय यहां पर आवश्यक है। श्री गोपीनाथ राव ने आगमों के आधार पर जो देव-देवी-तालमन निकला है वह सर्वथा सर्वत्र एक सा नहीं है; परन्तु प्रतिमा-स्थापत्य की हस्त-पुस्तकें एवं निर्देश-शास्त्र आगम ही प्रधान रूप से हैं। अतः आगमों के निम्नलिखित तालमान यहां पर उद्धृत किये जाते हैं:—

ताल	देव
उत्तम दशताल	ब्रह्मा, विष्णु, शिव की मूर्तियाँ
अधम दशता०	श्रीदेवी, भू-देवी, उमा, सरस्वती, दुर्गा, सप्त-मातृका, उषा
मध्यम दशता०	इन्द्रादिलोकपाल, चन्द्र-सूर्य, द्वादश-आदित्य, एकादश-रूद्र, अष्ट-वसु-गण, अश्विनौ, भृगु तथा मार्कण्डेय, गरुड़, शेष, दुर्गा, गुह (सुब्रह्मण्य), सप्तर्षि, गुरू (बृहस्पति) आर्य, चण्डेश तथा क्षेत्रपाल
नवाध ताल	कुबेर तथा नव ग्रह आदि
उत्तम नवता०	दैत्य, यक्षेश, उरगेश, सिद्ध, गन्धर्व, चारण, विद्येश तथा शिव की अष्ट-मूर्तियाँ
सत्र्यङ्गुल नवता०	पूतमहापुरुष (देवकल्प मनुज)
नवताल	राक्षस, असुर, यक्ष, अप्सरायें, अस्त्र-मूर्तियाँ और मरुद्-गण
अष्टताल	मानव
सप्तताल	वेताल और प्रेत
षट्ताल	प्रेत
पञ्चताल	कुब्ज और विघ्नेश्वर
चतुष्ताल	वामन और बच्चे
त्रिताल	भूत और किन्नर
द्विताल	कूष्माण्ड
एकताल	कबन्ध

टि०—तालमान में प्रयुक्त विभिन्न सूत्रों का संकेत वास्तु-कोष में द्रष्टव्य है।

तालमान का आधार सशीर्ष मुखमान है। ऊपर हमने देखा तालमान के दश वर्ग हैं—१ से लगाकर दश तक। पुनः उनके उत्तम, मध्य एवं अधम प्रभेद से यह पद्धति और भी दीर्घ हो जाती है। उत्तम दशताल में सम्पूर्ण प्रतिमा को १२४ सम-भागों में, मध्यम में १२० सम-भागों और अधम में ११६ सम-भागों में विभाजित किया जाता है। दशताल की प्रतिमा का मान उसके मुख-मान का दसगुना, नवताल की प्रतिमा का नौगुना और अष्टताल की प्रतिमा का अठगुना होता है।

आगमों की प्रोल्लसित ताल-मान की परम्परा कब से पल्लवित हुई—ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता और न 'ताल' इस शब्द का प्राचीनतम प्रतिमा-शास्त्रों में ही उल्लेख है। इस आकूत पर डा० बैनर्जी ने भी जिज्ञासा प्रकट की है परन्तु समाधान नहीं हो पाया। ताल-मान सम्भवतः दाक्षिणात्य परम्परा है। समराङ्गण आदि उत्तरी ग्रन्थों में ताल-मान का निर्देश बिलकुल नहीं मिलता है। बृहत्संहिता और कतिपय पुराणों में भी ताल-मान के पुष्ट

निर्देश है--अतः यह मिश्रित-परम्परा का परिचायक हो सकता है क्योंकि पुराण और बृ० संहिता तो उत्तरी वास्तु-परम्परा के ही प्रतिपादक ग्रन्थ हैं।

अब अन्त में प्रतिमा-विधान में आवश्यक अंग-प्रत्यंग के मान-सिद्धान्तों (Canons of proportions) का प्रवन्ध में विस्तार न कर तालिका-बद्ध प्रस्तावन ही विशेष अभीष्ट है। अतः आगम, विष्णु-धर्मोत्तर, बृहत्संहिता, शुक्रनीति-सार, चित्र-लक्षण, उत्तम नवताल मानसार आदि ग्रन्थों की तालिकायें परिशिष्ट (अ) में अवलोक्य हैं। यहां पर समराङ्गण का ही प्रतिमा-मान-प्रक्रिया उल्लेख्य है। विभिन्न विद्वानों (सर्वश्री गोपीनाथ राव, डा० कुमारी स्टेलाक्रामरिश, डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी आदि महाशयों) ने इस मान-प्रक्रिया का अपने-अपने ग्रन्थों में विभिन्न रूप में प्रतिपादन किया है। अतः समराङ्गण की इस सामग्री से तुलनात्मक समीक्षा के लिये आगे के अनुसन्धान कर्ताओं को कुछ विशेष ज्ञातव्य हस्तगत हो सकेगा। वैसे तो समराङ्गण का, जैसा कि बार-बार हमने संकेत किया है, प्रतिमा-शास्त्र न केवल अपूर्ण ही है वरन् भ्रष्ट भी है तथापि कुछ न कुछ तो अवश्य हाथ लगेगा ही। उपयुक्त विद्वानों की ताल-मान-तालिकायें इस ग्रन्थ के परिशिष्ट (अ) में द्रष्टव्य होंगी।

समराङ्गण की प्रतिमा-मान-पद्धति (अ० ७६)

टि० इस अध्याय का पाठ भ्रष्ट होने से सांगोपांग प्रमाण नहीं प्राप्त होते।

अंग	उपाङ्ग-प्रत्यङ्ग	प्रमाण
(i) श्रवण	—नेत्र-श्रवण-मध्य	५ अंगु०
	नेत्र और श्रवण—सम	उत्सेध से द्विगुणायत
	कर्ण-पिप्पली	१ अं० ४ य०
	पिप्पली और आघात के बीच का लकार आया०	½ अं० विस्तार १ अं०
	....	मध्य की गहराई ४ यव
	पिप्पली के मूल पर श्रोत्र-छिद्र	— ४ य०
	स्तूतिका	½ अं० आय०, २ य० विस्तृ०
	पीयूषी (लक रावेर्त-मध्या)	२ अं० ,, ½ अं० वि०
	आवर्त (कर्ण-वाह्य रेखा)	६ अं० (वक्र और वृत्तायत)
	मूलांश (श्रोत्र-मूल वकाश)	½ अं० परिणाह (girth)
	,, , मध्यावकाश	२ य० ,, ,,
	,, ,, तदग्रे	१ य० ,, ,,
	उद्घात (लकारावर्तमध्य ?)	
	(पीयूषी के अधोभाग पर)	३ य० ,, ,,
	कर्ण का ऊपरी विस्तार	१ गोलक २ य०
	,, ,, मध्य ,,	नाल का दुगुना
	,, ,, मूल ,,	६ मात्रा
	पूरा का पूरा	२ गोल का परिणाह
	नाल (पश्चिम)	१ अ० ,, ,,

	नाल (पूर्व)	१/२ अं० का परि०
	२ कोमल नाल	१ कला ,, ,,
(ii) चिबुक		२ अगु० लम्बा
	अधरोष्ठ	१ अं० ,,
	उत्तरोष्ठ	१/२ अं० ,,
	भाजी	१/२ अं० (ऊंचाई)
(iii) नासिका		४ अं० लम्बाई
	२ नासिकापुट-प्रान्त	२ अं० ,,
	२ नासा-पुट	ओष्ठ के प्रमाण का चौथा०
	नासा-पुट-प्रान्त	करवीरसम ?
(iv) ललाट		८ अं० विस्तृत, ४अं० आयत

टि० १ इस प्रकार चिबुक से केशान्त मान ३२ अंगुल होता है। स०सू० ७६ २६-२७

टि० २ आगे का पाठ भ्रष्ट होने से १८ अंगुल किसका प्रमाण है—पता नहीं। ग्रीवा का परीणाह २४ अंगुल प्रतिपादित है। जहाँ तक वक्ष एवं नाभि के प्रमाण का प्रश्न है वह ग्रीवा-प्रमाण से अनुगत है। इसी प्रकार मेढ्र का मान नाभि के मान के दो भागों से परिकल्पित है और ऊरू और जङ्घाओं का मान समान माना गया है। दोनों जानुओं का मान ४ अंगुल बताया गया है—स० सू० ७६.२७-२६।

(v) पाद		१४ अं०लम्बे, ६ अं० चौड़े और ४ अं० ऊंचे
	पादांगुष्ठ	५ अं० परीणाह, ३ अं० लम्बे और १ अं०३ य० ऊँचे।
	पाद-प्रदेशिनी	५ अं० परी०, ३ अं०आयत
	,, मध्यमांगुलि	
	,, अनामिका	मध्यमा के प्रमाण में १/२ कम
	,, कनिष्ठा	अनामिका ,, ,, ,,
	अंगुष्ठ-नख	३/४ अं०
	अंगुलि-नख	३/८ अं०
(vi)	जङ्घा-मध्य परीणाह	१८ अं०
(vii)	जानु-मध्य परीणाह	२१ अं०
	जानु-कपाल	जानु का १/३ परीणाह
(viii)	उरू-मध्य-परीणाह	३२ अं०
(ix)	वृषण (scrotums)	?
	मेढ्र (वृषण संस्थित)	६ अं० परीणाह
	कोश	४ अं०
(x)	कटि	१८ अं०
(xi)	नाभि मध्य-परीणाह	४६ अं०

(xii)	२ स्तनों का अन्तर	१२ अं०
(xiii)	२ कक्ष-प्रान्त	६ अं० लम्बे
(xiv)	पृष्ठ-विस्तार	२४ अं०
	पृष्ठ-परीणाह	वक्ष-सम
(xv)	ग्रीवा	६ अं०
(xvi)	भुजायाम	४६ अं०
	दोनों का पर्वोपरितन (wrist)	१८ अं०
	दूसरा पर्व	१६ अं०
	दोनों बाहुओं का मध्य-परीणाह	१८ अं०
	दोनों प्रबाहुओं का ,, ,,	१२ अं०
	(अर्थात् चतुर्भुजी प्रतिमायें)	
	भुज-तल (सांगुलि)	१२ अं०
	,, ,, (निरंगुलि)	७ अं०
	मध्यमांगुलि	५ अं०
	प्रदेशिनी और अनामिका	दोनों बराबर (परन्तु मध्यमा से एक पर्व हीन)
	कनिष्ठिका	प्रदेशिनी से एक पर्व हीन
	हस्तनख (अंगुलि) सब पर्व के आधे	
	उनका परीणाह	?
	हस्त-अंगुष्ठ-लम्बाई	४ अंगुल
	,, परीणाह	५ अ.
	अंगुष्ठ-नख	

टि० स्त्री-प्रतिमाओं के प्रमाण पर भी समराङ्गण में संकेत है कि पुरुष-प्रतिमाओं के ही मान स्त्री-प्रतिमाओं में विहित हैं—केवल उनका वक्ष और कटि विशिष्ट प्रमाणों पर आधारित हैं। उनका वक्ष १८ अंगुल और कटि २४ अंगुल बतायी गयी है। स्त्री-प्रतिमा-मान की उत्तममध्यमाधमप्रभेद से तीन मान-पद्धतियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं।

प्रतिमा का दोष-गुण-निरूपण

केवल समराङ्गण ही ऐसा वास्तु-शास्त्र का ग्रंथ है जिसमें प्रतिमा के दोष-गुण-निरूपण की अवतारणा में इतना साङ्गोपांग वैज्ञानिक विवेचन है। कितनी ही कोई प्रतिमा सुन्दर क्यों न हो परन्तु यदि वह शास्त्रानुसार निर्मित नहीं है तो वह अग्राह्य है—अपूज्य है—एक शब्द में वह देव-प्रतिमा ही नहीं है। शास्त्र-सिद्धांतों का यह अनुगमन भारतीय स्थापत्य का परम रहस्य है जिस पर हम पीछे भी संकेत कर आये हैं। अस्तु, सर्वप्रथम प्रतिमा-दोषों की सूची देखें; उन दोषों का अभाव ही प्रतिमा-गुण हैं।

प्रतिमा दोष

सं०	दोष	फल	सं०	दोष	फल
१.	अश्लिष्ट-सन्धि	मरण	११.	उद्बद्ध-पिण्डिका	दुःख
२.	विभ्रान्ता	स्थान-विभ्रम	१२.	अधोमुखी	शिरोरोग
३.	वक्र	कलह	१३.	कुक्षिष्ठा ?	दुर्भिक्ष
४.	अवनता	वयसःक्षय	१४.	कुब्जा	रोग
५.	अस्थिता	अर्थक्षय	१५.	पार्श्व-हीना	राज्याशुभ
६.	उन्नता	हृद्रोग	१६.	आसन-हीना	बन्धन और स्थानच्युति
७.	काकजङ्घा	देशान्तर-गमन	१७.	आलय-हीना	,, ,, ,,
८.	प्रत्यङ्गहीना	अनपत्यता	१८.	आयम-पिण्डिता	अनर्थदा
९.	विकटाकारा	दारुण भय	१९.	नाना-काष्ठ-समायुक्ता	,,
१०.	मध्य-ग्रन्थि-नता	अनर्थका	२०.	—	—

टि०—इन दोषों का अभाव ही गुण हैं तथापि निम्न तालिका द्रष्टव्य है:—

प्रतिमा-गुण

१. सुश्लिष्टसन्धि
२. ताम्र-लोह-सुवर्ण-रजत बद्धा
३. प्रमाण-सुविभक्ता
४. अक्षता
५. अपदिगा
६. अप्रत्यङ्ग-हीना
७. प्रमाण-गुण-संयुता
८. अविवर्जिता
९. सुविभक्ता
१०. यथोत्सेधा
११. प्रसन्न-वदना
१२. शुभा
१३. निगूढ़-सन्धि-करणा
१४. समायती
१५. ऋजु-स्थिता

६

प्रतिमा-रूप-संयोग

[आसन, वाहन, आयुध, आभूषण एवं वस्त्र]

प्रतिमा-कलेवर की पूर्णता के लिये प्रतिमा में नानारूपों एवं मुद्राओं का सन्निवेश भी आवश्यक है। प्रतिमा-मुद्रा भारतीय प्रतिमा-निर्माण-विज्ञान (Indian Iconography) का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। वैसे तो मुद्राओं का सम्बन्ध हस्त, पाद एवं शरीर से ही है जो कि प्रतिमा की मनोभावना के अनुरूप प्रकल्प्य हैं; परन्तु मुद्रा-विनियोजन ब्राह्मण देव-प्रतिमाओं की अपेक्षा बौद्ध-प्रतिमाओं की विशिष्टता है। शैवी प्रतिमाओं में यद्यपि वरद, ज्ञान, व्याख्यान आदि मुद्राओं के सन्निवेश से ब्राह्मण-प्रतिमाओं में भी मुद्रा-विनियोग है—परन्तु अन्य देवों की प्रतिमाओं में मुद्राओं की अपेक्षा नाना-रूप-संयोग ही प्रमुख-रूप से प्रकल्प्य हैं एवं स्थापत्य-निदर्शन में उनका समन्वय भी। मुद्राओं की सविस्तर चर्चा हम आगे करेंगे; परन्तु एक विशेष गवेषणा की ओर पाठकों का ध्यान यहाँ आकर्षित करना है। मुद्राओं के द्वारा प्रायः मानव एवं देव दोनों ही मौन-व्याख्यान अथवा भाव-प्रकाशन करते हैं। अतः हस्तादि-मुद्रायें एक प्रकार से भाव-प्रतीक हैं। इसी प्रकार हिन्दू-प्रतिमाओं के रूप-संयोग भी मुद्राओं के सदृश देव-विशेष की जानकारी के लिये खुली पुस्तकें हैं। ऐरावत देव-प्रतिमा से तुरन्त देवराज इन्द्र की ओर हमारा ध्यान जाता है। हंस-वाहन, कमण्डलु-हस्त, ब्रह्मचारि-वेष की प्रतिमा को देखकर ब्रह्मा की झटित स्मृति आ जाती है। वृषभ-वाहन, यतिवेष, त्रिशूल-धारी, व्याल-माल-त्रिनेत्र से शिव का किसे बोध नहीं होता है? सिंहवाहिनी देवी-मूर्ति से भगवती दुर्गा के चरणों में कौन नतमस्तक नहीं होता है? इसी प्रकार अन्य देवों की गौरव-गाथा है। अतः एक शब्द में हिन्दू-प्रतिमाओं के नाना-रूप-संयोग भी एक प्रकार से भाव-प्रतीक हैं। जहाँ मुद्रायें प्रतिमाओं के भाव-प्रतीक है, वहाँ रूप-संयोग भगवान् और भक्त दोनों के ही भाव-प्रतीक हैं। देवराज इन्द्र का ऐरावत-साहचर्य उनकी राजसत्ता का प्रकाशक है—गजराज राज्यश्री (Royalty) का उपलक्षण (symbol) है। इसी प्रकार अन्य देवों के अपने-अपने— आसन, वाहन, आयुध, आभूषण एवं वस्त्र आदि—नानारूप-संयोगों की कहानी है। अतः रूप संयोग भी एक प्रकार से मुद्रा के व्यापक अर्थ में गतार्थ है। परन्तु परम्परानुरूप हमने भी देव-मुद्राओं के इस द्विविध संयोग का दो पृथक् पृथक् अध्यायों में प्रतिपादन करना अभीष्ट समझा। सर्वप्रथम हम रूप-संयोग पर विचार करेंगे।

प्रतिमाओं के रूप में पाँच प्रधान संयोग हैं—आसन, वाहन, आयुध, अभूषण एवं वस्त्र।

आसन

प्रतिमाओं के आसन-परिकल्पन में दो रहस्य छिपे हैं। प्रथम देवों की मानवाकृति के अनुरूप उनके बैठने की भी तो कोई वस्तु परिकल्प्य है। जैसा मैंने पैसा आसन' और

वैसा ही उसका वाहन भी। दूसरे प्रतिमा-पूजा का उदय ध्यान-योग की सिद्धि के लिये हुआ—यह हम पहले ही कह आये हैं—'ध्यान-योगस्य संसिद्ध्यै प्रतिमाः परिकल्पिताः'—अतः उपास्य एवं उपासक दोनों में एकात्मकता स्थापित करने के लिये न केवल उपास्य देव का आसन ही योगानुकूल हो वरन् उपासक का भी आसन देव-चिन्तन में एकाग्रता अर्थात् चित्त-वृत्ति का निरोध (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) लाने के लिये परमोपादेय हो। इस दृष्टि से आसन का अर्थ पाद-मुद्रा एवं बैठक (seat) दोनों ही हैं।

आसनों के सम्बन्ध में एक दूसरा तथ्य यह स्मरणीय है कि विभिन्न आसनों का जो उल्लेख शास्त्रों में मिलता है—उनमें बहुसंख्यक पशुओं के नाम संकीर्तित किये गये हैं—उदाहरणार्थ सिंहासन, कूर्मासन, आदि-आदि। इस दृष्टि से आसन न केवल पाद-मुद्रा एवं बैठक ही हैं वरन् आसन-योग्य वाहन भी। हिन्दू-प्रतिमाओं के बहुसंख्यक निदर्शनों में (विशेष कर चित्रजा प्रतिमाओं में) आसन के स्थान पर वाहन का ही चित्रण है।

ऊपर हमने आसन को पाद-मुद्रा माना है, उसका सम्बन्ध बैठक अर्थात् आसन (Sitting), खड़े रहना अर्थात् स्थानक (Standing) तथा पड़े रहना अर्थात् शयन (Reclining) से ही है न कि आगे मुद्राध्याय में प्रतिपादित नाना पाद-मुद्रायें जिनका सम्बन्ध भौतिक आसनों (objective postures) से न हो कर भावात्मक मनोगतियों (subjective attitudes) से है। आसन में वाहनों की गतार्थता का श्रीयुत बृन्दावन भट्टाचार्य भी समर्थन करते हैं—"The Brahmanic images are to be seen mainly in four postures—namely, the standing, sitting, riding on either a vehicle or an animal and reclining. Strictly speaking the Asana ought to have reference to sitting only; but in point of fact, so far as Iconography is concerned, it has come to have an extended meaning and includes the two other postures mentioned above (i. e. वाहन and शयन—ले०)".

आसन के 'पीठ' अर्थ में पशुओं के अतिरिक्त, पक्षियों (हंस, गरुड़, मयूर आदि) पुष्पों (कमल आदि) आयुधों (वज्र एवं चक्र आदि) प्रतीकों (स्वस्तिक एवं भद्र आदि) तथा अन्य नाना उपलक्षणों (symbols—वीर आदि) की भी प्रकल्पना है जो 'प्रतिमा में प्रतीकत्व'—Symbolism in Images—के सिद्धान्त की दर्पणवत् प्रकाशिका है।

आसनों के उपोद्घात में एक दूसरा निदेश यह है कि योग-शास्त्र में बहुसंख्यक एवं विभिन्न आसनों का जो प्रतिपादन है उससे यद्यपि प्रतिमा-शास्त्र एवं प्रतिमा-स्थापत्य भी कम प्रभावित नहीं हुआ है और सत्य तो यह है कि आधार योगासन ही हैं परन्तु स्थापत्य की दृष्टि से उनमें आकारादि-सन्निवेश एवं मानादि-योजना विशुद्ध स्थापत्यात्मक (sculptural) है। अस्तु, आगमों एवं शिल्पशास्त्रों के अनुरूप निम्नलिखित आसन प्रतिमा-स्थापत्य में विशेष प्रसिद्ध हैं:—

यौगिक आसन—यौगिकासनों की संख्या संख्यातीत है। निरुक्त-तन्त्र (दे० शब्द-कल्पद्रुम) के अनुसार तो इन आसनों की संख्या ८४ लक्ष है। अहिर्बुध्न्य-संहिता के अनुसार निम्नलिखित एकादश आसन विशेष प्रसिद्ध हैं जिनमें बहुसंख्यक प्रतिमा-स्थापत्य में भी चित्रित किये गये हैं :—

१. चक्रासन	५. कौक्कुटासन	९. सिंहासन
२. पद्मासन	६. वीरासन	१०. मुक्तासन
३. कूर्मासन	७. स्वस्तिकासन	तथा
४. मयूरासन	८. भद्रासन	११ गोमुखासन

टि० इन ११ यौगिकासनों के अतिरिक्त कतिपय अन्य यौगिकासन भी प्रसिद्ध हैं जिनका पतञ्जलि के योग-दर्शन में संकीर्तन है—**दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, समसंस्थानासन आदि। ज्ञानासन, वज्रासन, योगासन, आलीढासन और सुखासन**—इन पाँच अन्य यौगिकासनों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें कतिपय उन आसनों की विशेष समीक्षा अभीष्ट है जिनका प्रतिमा-स्थापत्य में विशेष चित्रण देखा गया है।

पद्मासन— **ऊरुमूले वामपादं पुनस्तद्दक्षिणं पदम्।**
वामोरौ स्थापयित्वा तु पद्मासनमिदं स्मृतम्॥

अर्थात् दोनों ऊरुओं के मूल पर दोनों पादतलों को क्रमशः वाम को दक्षिण एवं दक्षिण को वाम पर—स्थापित करने से यह आसन बनता है। पद्मासन का यह लक्षण पाद-मुद्रा के अनुरूप है अन्यथा पद्म-पुष्प पर समासीना प्रतिमायें भी तो चित्र्य हैं—उदाहरण—ब्रह्मा पद्मासनः।

कौक्कुटासन—अथवा कुक्कुटासन पद्मासन का ही प्रभेद है जिसमें शरीर का सम्पूर्ण भार दोनों जानुओं के बीच से नीचे की ओर निकाल कर भू पर सन्निविष्ट दोनों हाथों पर रखकर व्योमस्थ बनना पड़ता है :—

पद्मासनमधिस्थाय जान्वन्तरविनिसृतौ।
करौ भूमौ निवेश्यैतद् व्योमस्थः कुक्कुटासनम्॥

वीरासन— **एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरौ च संस्थितः।**
इतरस्मिंस्तथा पादं वीरासनमुदाहृतम्॥

निगद-व्याख्यात। नागपुरीय शैवी प्रतिमा इसका निदर्शन है।

योगासन—में बहुसंख्यक प्रतिमायें प्रदर्शित की गयीं। यह एक प्रकार की cross-legged position है जिस तरह हम सब पलथी बाँध कर बैठते हैं—विशेषता यह है कि दोनों हाथों को गोद में रखना पड़ता है :—

अथ योगासनं वक्ष्ये यत् कृत्वा योगिवद् भवेत्।
ऊर्वोः पादतलद्वन्द्वं स्वाङ्के बद्ध्वा करद्वयम्॥

आलीढासन एवं प्रत्यालीढासन—यह एक प्रकार की धनुर्धर की पाद-मुद्रा है जिसमें दायाँ पैर आगे और बायाँ पीछे फैलाया जाता है। वाराही, महालक्ष्मी की स्थापत्य-

निर्दिष्ट-प्रतिमाओं का इसी आसन में चित्रण है। इसका उलटा प्रत्यालीढासन है जिसमें महिष-मर्दिनी और कात्यायनी दुर्गा-मूर्तियाँ चित्रित की गयीं हैं। अग्नि-पुराण में इन आसनों का निम्न लक्षण दिया गया है :—

भुग्नवामपदं पश्चात् स्तब्धजानूरुदक्षिणम्।
वितस्त्यः पञ्चविस्तारे तदालीढं प्रकीर्तितम् ॥
एतदेव विपर्यस्तं प्रत्यालीढं प्रकीर्तितम्।

कूर्मासन—में पैरों को इस तरह मोड़े कि उनकी एड़ियाँ (गुल्फ) नितम्ब के नीचे व्युत्क्रम से (बायें की दक्षिण और दक्षिण की बायें) आ जावें :—

गूढं निपीड्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः।
एतत्कूर्मासनं प्रोक्तं योगसिद्धिकरं परम् ॥

डा० बैनर्जी (see D. H. I, p. 295) ने इस आसन का प्राचीनतम निदर्शन मोहेन्जदाड़ो और हरप्पा की कतिपय मुद्राओं (seals) पर चित्रित शिव-पशु-पति में प्रस्तुत किया है। पाद-मुद्रा के अनुरूप कूर्मासन की यह व्याख्या है अन्यथा पशु-वाहनानुरूप नदी — देवी यमुना कूर्मासना (अर्थात् कच्छप पर आसीना) चित्रित की गयीं हैं।

सिंहासन —

सीविन्याः पार्श्वयोर्गुल्फौ व्युत्क्रमेण निवेश्य च।
करौ जान्वोर्निधायोभौ प्रसार्य निखिलांगुलीन् ॥
नासाग्रन्यस्तनयनो व्यात्तवक्त्रऋजुस्सुधीः।
एतत्सिंहासनं प्रोक्तं सर्वदेवाभिपूजितम् ॥

यह आसन एक प्रकार से कूर्मासन का ही प्रभेद है - विशेषता यह है, हस्ततल (जिनकी सभी अंगुलिया प्रसारित हैं) जानु-विन्यस्त विहित हैं; मुख खुला रहता है और आँखों का नासिका के अग्रभाग पर न्यास आवश्यक है।

पर्यङ्कासन एवं अर्धपर्यङ्कासन—प्रतिमा-स्थापत्य में पर्यङ्कासन का निदर्शन अनन्तशायी विष्णु हैं। अर्धपर्यङ्कासन में हरगौरी, सरस्वती, कृशोदरी के निदर्शन द्रष्टव्य हैं। अर्धपर्यङ्क को ललितासन भी कहते हैं। वशिष्ठ (दे० योगसार) के मत में यह वीरासन का ही प्रभेद है। इस आसन के अभ्यास में रानों (hams) पर बैठना होता है।

वज्र-पर्यङ्क, बद्धपद्मासन और वज्रासन—ये सभी आसन **कमलासन** के प्रभेद हैं। वज्रासन हिन्दू प्रतिमा-स्थापत्य में नगण्य है; परन्तु बौद्ध-प्रतिमा-स्थापत्य में इसके बहुल निदर्शन पाये जाते हैं।

यौगिकासनों में **उत्कूटिकासन** भी प्रतिमा-स्थापत्य में चित्रित हुआ है। इसको सोपाश्रयासन भी कहते हैं। इसमें यथानाम एक आश्रय-विशेष (अर्थात् योगपट्ट) का सहारा लेना पड़ता है जो उठे हुए घुटनों को बाँधे रखता है।

शयनासन

आसनों की विभिन्न मुद्राओं (postures) के व्यापक अर्थ में शयन-मुद्रा का भी ऊपर संकेत किया गया था। तदनुरूप प्राचीन स्थापत्य में वैष्णवी मूर्तियों को छोड़ कर अन्य

देवों की प्रतिमा में यह आसन अप्राप्य है। अपेक्षाकृत अर्वाचीन शाक्त-प्रतिमाओं में यद्यपि सहायक-देवों में शयन-मुद्रा प्रदर्शित है जैसे काली, अपस्मार-पुरुष आदि, तथापि प्राचीन प्रतिमाओं में विष्णु की शेष-शयन-प्रतिमा तथा बुद्ध की महापरिनिर्वाण-मूर्ति ही प्रधान निदर्शन हैं। जल-शायी तथा वट-पत्र-शायी वैष्णव-मूर्तियाँ शेष-शयन-मूर्ति के ही सदृश हैं। अनन्त-शायी प्रसिद्ध वैष्णवी मूर्ति का अप्रतिम एवं प्राचीन निदर्शन श्रीरङ्गम के रङ्गनाथ-मन्दिर में द्रष्टव्य है।

अस्तु, 'आसन' के उपोद्घात में हमने आसन को पाद-मुद्रा के साथ-साथ वाहन एवं पीठ (detached seat) के अर्थ में भी गतार्थ किया है। वाहन पर कुछ संकेत आगे होगा। पीठ के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही सूच्य है कि **'सुप्रभेदागम'** में इस प्रकार की पाँच पीठों का वर्णन है जो आकार (जो चन्द्रज्ञान की व्याख्या है) एवं प्रयोजन के अनुरूप निम्न-तालिका से स्पष्ट हैं :—

सं०	पीठ	आकार	प्रयोजन
१.	अनन्तासन	त्र्यश्र (triangular)—	कौतुक-दर्शनार्थ
२.	सिंहासन	आयताकार (rectangular)	स्नानार्थ
३.	योगासन	अष्टाश्रि (octagonal)	प्रार्थनार्थ
४.	पद्मासन तथा	वर्तुल (circular)	पूजार्थ
५.	विमलासन	षडश्रि (hexagonal)	बल्यर्थ

टि० इसी प्रकार के द्रव्यीय-आसन (material seats) के उदाहरण में राव महाशय (see H. I. vol. 1 p, 20) ने चार अन्य पीठों का भी निर्देश किया है जिनकी निर्माण-प्रक्रिया का भी शास्त्रों में निर्देश है—**भद्र-पीठ** (भद्रासन), **कूर्मासन, प्रेतासन** एवं **सिंहासन**। यह स्मरण रहे, ये पाद-मुद्रीय आसन नहीं; ये द्रव्यीय-पीठ हैं।

वाहन एवं यान

आसन एवं वाहन (या यान) हिन्दू प्रतिमा-विज्ञान का एक मित्रवर्गीय विषय (allied topic) है। पूर्व उपोद्घात में कतिपय देवों एवं देवियों के वाहनों पर निर्देश कर चुके हैं। निम्न तालिका कुछ विशेष निदर्शन प्रस्तुत करेगी :—

	देव			देवियाँ		
१.	हंसवाहन	ब्रह्मा	१.	सिंहवाहिनी	दुर्गा	टि० यान में देवों के
२.	गरुडारूढ़	विष्णु	२.	हंसवाहिनी	सरस्वती	विमान ही विशेष प्रसिद्ध
३.	वृषभासीन	शिव	३.	वृषभवाहिनी	गौरी	हैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश के
४.	गजारूढ़	रुद्र	४.	गर्दभासना	शीतला	विमानों का क्रमशः वैराज
५.	मयूरासन	कार्तिकेय	५.	उलूकवहिनी	लक्ष्मी	त्रिविष्टप और कैलाश-
६.	मूषिकासन	गणेश	६.	नक्रवाहिनी	गंगा	नाम है।

आयुधादि

देवों की मानवाकृति में आयुधों का संयोग भी 'प्रतीकत्व' symbolism का निदर्शक है। देव-प्रतिमाओं की दैहिक पाद-मुद्राओं के समान हस्त में निहित पदार्थ वे आयुध हैं अथवा पात्र या वाद्य-यंत्र या फिर पशु और पक्षी—सभी एक प्रकार से हस्त-

मुद्रायें ही हैं। अभय, वरद, ज्ञान, व्याख्यान, आदि नाना हस्त-मुद्राओं की चर्चा हम आगे करेंगे। प्रथम प्रतिमा-कल्पन में साङ्गोपाङ्ग रूप-संयोग का विवेचन प्राप्त है; तदनन्तर उसकी भावाभिव्यञ्जना—हस्त मुद्राओं से बढ़कर भावाभिव्यञ्जन का अन्य कौन साधन है!

आयुधादि में आयुधों के अतिरिक्त पात्रों, वाद्य-यंत्रों, पशुओं और पक्षियों का भी ऊपर संकेत है। तदनुरूप प्रथम आयुधों की निम्न तालिका निभालनीय है :

सं०	आयुध	देव-संयोग	सं०	आयुध	देव-संयोग
१.	चक्र (सुदर्शन)	विष्णु	१४.	मुसल	बलराम
२.	गदा (कौमोदकी)	,,	१५.	हल	,,
३.	शारङ्ग धनुष	,,	१६.	शर	कार्तिकेय
४.	त्रिशूल	शिव	१७.	खड्ग	,,
५.	पिनाक धनुष	,,	१८.	मुसृण्ठि	,,
६.	खट्वाङ्ग	,,	१९.	मुद्गर	,,
७.	अग्नि	,,	२०.	खेट	,,
८.	परशु	,,	२१.	धनु	,,
९.	अंकुश	गणेश	२२.	पताका	,,
१०.	पाश	,,	२३.	परिघ	दुर्गा
११.	शक्ति	सुब्रह्मण्य	२४.	पट्टिश	,,
१२.	वज्र	,, (इन्द्र भी)	२५.	चर्म	,,
१३	टङ्क	,,			

इन आयुधों में कतिपय विशेष आयुधों पर कुछ समीक्षा आवश्यक है।

शंख—युद्ध-क्षेत्र में शंख बजाने की प्राचीन प्रथा का सब से बड़ा प्रमाण महाभारत तथा गीता में प्रतिष्ठित है। धर्म-क्षेत्र कुरु-क्षेत्र में समवेत युद्धार्थी किन-किन महावीरों ने किन-किन शंखों को बजाया था—यह भगवद्गीता हमें बताती है। वहीं पर हृषीकेश भगवान कृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया था "पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः"। अतः भगवान जब साधुओं के परित्राण तथा दुष्टों के दमन के लिये भूतल पर अवतीर्ण होकर समाज एवं धर्म की विलुप्त मर्यादाओं को पुनः प्रतिष्ठित करने आते हैं तो उसकी घोषणा का प्रतीक शंख है। विष्णु भगवान के इस शंख की जो 'पांचजन्य' की संज्ञा है उसमें पंचजन नामक असुर के वध तथा उसकी अस्थि से निर्मिति की गाथा छिपी है।

शंखों की पाषाण-मूर्ति-प्रकल्पना तथा अन्य-द्रव्यीय-प्रकल्पना हुई है उसमें दो प्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं। राव महाशय इनका उल्लेख इस प्रकार लिखते हैं।

"The conch represented in sculptures is either a plain conch held in the hand with all the five fingers by its open end, or an ornamental one having its head or spiral top covered with a decorative metal cap, surmounted by the head of a mystical lion, and having a cloth

tied round it so that portions of it may hang on either side :"

चक्र—चक्र जैसा हम लिख चुके हैं, वैष्णव-आयुध है। विष्णु तथा वैष्णवी दुर्गा दोनों के हाथों में इस आयुध की परिकल्पना हुई है। इसको भी स्थापत्य में दो तीन रूपों में प्रदर्शित किया गया है। एक तो रथाङ्ग (पहिया) के रूप में अथवा अलंकृत चक्र (disc) के रूप में अथवा प्रस्फुटित कमल के रूप में जिसके दल आर (spokes) के स्वरूप को व्यक्त करते हैं। इसकी दूसरी संज्ञा सुदर्शन से हम परिचित ही हैं। वामन-पुराण (देखिये अ० ७६ वाँ) में लिखा है कि इस तैजस चक्र को भगवान् शंकर ने विष्णु को दिया था—

ततः प्रीतः प्रभुः प्रादात् विष्णवे प्रवरं वरम्।
प्रत्यक्षं तैजसं श्रीमान् दिव्यं चक्रं सुदर्शनम्॥

गदा—हस्त तथा गदा का सतत सान्निध्य अपेक्षित है। यह एक प्रकार का हिन्दुस्तानी मोटा सोंटा है और पूरी पाँचों अंगुलियों से पकड़ा जाता है। विष्णु की गदा का नाम कौमोदकी (दे० शिशुपालवधम्—तृ० स०) है। डा० बैनर्जी के विचारानुसार प्राचीन प्राप्त प्रतिमाओं में गदा तथा दण्ड में कोई विभेद नहीं परिलक्षित होता है। अतः प्राचीन स्थापत्य में इसकी आकृति सीधी-साधी है। बाद में कलाओं में जब अतिरंजना का युग आया तो फिर इसे भी अन्य आयुधों के समान अलंकृत-रूप में प्रदर्शित किया जाने लगा।

खड्ग—लम्बी या छोटी तलवार के रूप में इसे चित्रित किया गया है। खड्ग तथा खेटक का साहचर्य है। खेटक काष्ठमय अथवा चर्ममय—दोनों प्रकार का होता है। यह वर्तुल अथवा चतुरस्र दोनों प्रकार की आकृति का होता है। इसके पीछे हैंडिल भी होता है। इसी हैंडिल को पकड़ा जाता है। विभिन्न देवों के खड्ग विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं। विष्णु के खड्ग का नाम नन्दक है।

मुसल—जिसे हम लोग मूसर कहते हैं और जिसको ग्रामीण स्त्रियाँ अन्न कूटने में प्रयोग करती हैं, वह पृथुनाकृति दण्ड-विशेष है। संकर्षण बलराम का यह आयुध है। राव ने इसमें प्रहार-योग्यता का निर्देश करते हुए लिखा है—"an ordinary cylindrical rod of wood capable of being used as an offensive weapon."

धनुष—शिव के धनुष का नाम पिनाक है। अतएव उनका एक नाम पिनाकी भी है। विष्णु के धनुष का नाम शारङ्ग है। प्रद्युम्न (मन्मथ, काम तथा बौद्ध मार) के पुष्प-विनिर्मित (पौष्प) धनुष से हम परिचित ही हैं। धनुष की स्थापत्य में प्रदर्शन करने की तीन आकृतियों का राव महाशय ने उल्लेख किया है—The first is like an arch of a circle, with the ends joined by a sting or thong taking the place of the chord. In the second variety, it has three bends .... the third variety has five bends and belongs to a much later period in the evolution of this weapon.

परशु—यह एक कुल्हाड़ी के आकार का होता है। कुल्हाड़ी का प्रयोग लकड़ी चीरने में और इसका प्रयोग दुशमनों की खोपड़ी चीरने में। यह आयुध गणेश का विशेष माना गया है। राव के विचार में स्थापत्य में जो प्राचीनतम निदर्शन हैं वे हलके और सुश्लिष्ट तथा मनोरम हैं। बाद के परशुओं का गदाकार विजृम्भित हुआ।

हल—किसान लोग हल को जोतने के काम में लाते हैं। राव ने इसे "probably extemporised as a weapon of war" लिखा है। अर्थात् युद्ध की आकस्मिकता में इससे काम लिया जाता होगा। हल के नामों पर हली, शीरी, लाङ्गली आदि संज्ञाओं से हलायुध बलराम के विभिन्न नामों को हम जानते ही हैं।

खट्वांग—के सम्बन्ध में राव गोपीनाथ के एतद्विषयक वर्णन का विवरण देते हुए डा० बैनर्जी अपने ग्रंथ (330-31) में लिखते हैं—

Khatvanga is "a curious sort of club, made up of the bone of the forearm or the leg, to the end of which a human skull is attached through its fore arm." Rao) "This description shows how hideous the weapon was, though in some of its late mediaeval representations this character is somewhat subdued by the replacement of the osseous shaft by a well-carved and ornamented wooden handle."

यह आयुध देवी की भयावह मूर्तियों में, जैसे चामुण्डा तथा भैरवी के हाथों में, प्रदर्शित किया गया है।

टंक—यह एक प्रकार की छोटी छेनी है जिसका प्रयोग पाषाण-तक्षक पत्थर काटने के काम में लाते थे। 'टंक' शिव के आयुध में संकीर्तित है।

अग्नि—के दो रूप पाये जाते हैं—यज्ञ-प्रतीक तथा युद्धायुध-प्रतीक। अग्नि का पुरातनतम प्रदर्शन (representation) यज्ञीय अग्नि के रूप में ज्वाला-जाल-स्फुटित-पात्र के रूप में सांची के पूर्वीय गोपुर-द्वार पर प्राप्त होता है जहाँ पर गौतम बुद्ध काश्यप को बौद्ध-धर्म में दीक्षित करते समय एक चमत्कार दिखा रहे हैं। डा० बैनर्जी महाशय के मत में मध्यकालीन कला में यह शिव-पार्वती के विवाह में प्रदर्शित है। शिव की कल्याण-सुन्दर-मूर्ति में भी यह निदर्शन द्रष्टव्य है।

दूसरे रूप में अग्नि को अग्नि-गोलक-रूप में नटराज-शिव के हाथ में प्रदर्शित किया गया है। डा० बैनर्जी महाशय लिखते हैं—'It may also be depicted as a torch serving the purpose of an incendiary weapon.'

पात्रादि

सं०	संज्ञा	देव-संसर्ग	विशेष
१.	स्रुक	ब्रह्मा	यज्ञीय पात्र (leddles)
२.	स्रुवा	,,	,, ,,

३.	कमण्डलु	ब्रह्मा	जल-पात्र—शिव, पार्वती तथा अन्य देवों का भी संयोग
४.	पुस्तक	,,(सरस्वती भी)	वाङ्मय-प्रतीक, पिता-पुत्री दोनों ही वाङ्मय के अधिष्ठात
५.	अक्षमाला या अक्षसूत्र	,,	रुद्राक्ष, कमलाक्ष, वैदूर्यादि-विनिर्मित—सरस्वती और शिव का भी संयोग।
६.	कपाल	शिव	शिव के विभिन्न नामों में—कपालभृत—तान्त्रिक साधना में मानव-कपाल-पात्र में पान की परम्परा।
७.	दण्ड	यम	प्रभुता, शासन एवं दमन का प्रतीक।
८.	दर्पण	देवी	
९.	पद्म	लक्ष्मी	
१०.	श्रीफल	,,	
११.	अमृतघट	,,	
१२.	मोदक	गणेश	

पशु-पक्षी—प्रतिमा के अन्य हस्त-संयोगों में कतिपय पशुओं एवं पक्षियों का भी निवेश देखा गया है, परन्तु यह परम्परा अत्यन्त न्यून है। पशुओं में छाग, हरिण तथा मेंढा-शिव की अद्भुत प्रतिमा के लाञ्छन हैं और पक्षियों में कुक्कुट स्कन्द कार्तिकेय का।

वाद्य—यन्त्र

सं०	संज्ञा	देव-संसर्ग	सं०	संज्ञा	देव-संसर्ग
१.	वीणा	सरस्वती	५.	घण्टा	दुर्गा तथा कार्तिकेय
२.	वेणु	कृष्ण	६.	मृदङ्ग	,, ,,
३.	डमरू	शिव	७.	करताल	—
४.	शंख (पाञ्चजन्य)	विष्णु			

आभूषण तथा वस्त्र (Ornaments and Dress)

हिन्दू स्थापत्य में प्रतिमाओं को विविध आभूषणों एवं वस्त्रों से भी सुशोभित करने की परम्परा पल्लवित हुई तथा अत्यन्त विकसित तथा फलित भी हुई। वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (५८.२९) में लिखा है :—

"देशानुरूपभूषणवेशालंकारमूर्तिभिः कार्या"

अथच भरत (दे० नाट्यशास्त्र) का भी ऐसा ही प्रवचन है :—

भूषणानां विकल्पं च पुरुषस्त्रीसमाश्रयम्।
नानाविधं प्रवक्ष्यामि देशजातिसमुद्भवम्॥

अतः सिद्ध है कि देशकालानुसार समाज में आभूषणों एवं वसनों की जो मनुष्यों एवं स्त्रियों में भूषा-पद्धतियाँ प्रचलित थीं उन्हीं के अनुरूप देवों की मूर्तियों में भी उनकी परिकल्पना परिकल्पित की गयी। अथच समाज के विभिन्न स्तर सनातन से चले आये हैं—कोई राजा है तो कोई योद्धा, कोई यती-सन्यासी है तो कोई ब्रह्मचारी। मानव-समाज की विभाजन-प्रणाली का जो सर्वश्रेष्ठ विभाजन प्राचीन आर्यों ने वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार सम्पादित किया; उसी के आधारभूत सिद्धान्तों ने समस्त हिन्दू-संस्कृति के कलेवर को

अनुप्राणित किया। देववाद में भी तो वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धांतों के मर्म छिपे हैं—ब्रह्मा ब्रह्मचारी के रूप में शिव यती—सन्यासी के रूप में, विष्णु राजा के रूप में, स्कन्द सेनानी के रूप में परिकल्पित किये गये हैं।

एक शब्द में भूषा भूष्य के अनुरूप हो। अतएव वैष्णवी प्रतिमाओं (नारायण अथवा वासुदेव) के साथ-साथ इन्द्र, कुबेर आदि देव-प्रतिमायें राजसी भूषा में, शिव, ब्रह्मा, अग्नि आदि देवों की प्रतिमायें अपने तपश्चरणानुरूप (त्याग तपस्या एवं तपोवन) यति-भूषा अथवा योगि-रूप में, सूर्य, स्कन्द आदि अपने सैनिक कार्य-कलापों के अनुरूप सेनानी को उर्दी (uniform) एवं अस्त्र-शस्त्रों की भूषा में तथा दुर्गा, लक्ष्मी, श्री, काली आदि महादेवियां उच्चवर्णीय मान्य महिलाओं की भूषानुरूप बहुविध अलंकारों, रत्नों आदि की भूषा में विन्यस्त की गयीं हैं।

इसी प्रकार परिधान का वर्ण देव-वर्णानुरूप परिकल्पित हुआ। मेघश्याम विष्णु पीताम्बर, गौरवर्ण रौहिणेय हलधर-बलराम नीलाम्बर, सूर्य ब्रह्मा, लक्ष्मी, दुर्गा, रक्ताम्बर चित्रित किये गये हैं। परिधान की संघटना (matching) परिधाता के वर्ण की मुखापेक्षी है।

मानव-समाज के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि पुरातन से पुरातन समयों में आभूषणों का बड़ा भारी रिवाज था। ज्यों-ज्यों सभ्यता का रूप बदलता गया तथा ज्यों-ज्यों कोरे विज्ञान की ओर मानव अग्रसर होने लगा त्यों-त्यों उसमें अतिरंजना के भाव कम होते गये। प्राचीनयुग की अतिरंजना में विस्मय तथा काव्य का प्राधान्य था। अतएव सरसता, रसिकता, शोभा-सुषुमा-अलंकृति आदि की भावनायें मनुष्य के सभी कार्यों में विशेष जागरुक थीं। वही कविता श्रेष्ठ मानी जाती थी, जिसमें रस हो, अलंकार हों, वही कला अच्छी मानी जाती थी, जो मधुरा हो, हृद्या हो। वही भूषा रुचिकरा थी जो मोहक विशेष हो।

स्थापत्य में प्रतिमाओं को अलंकृत करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। डा० बैनर्जी (see D. H. I. p. 311) लिखते हैं—"साधारण देव-प्रतिमाओं की तो बात ही क्या ध्यान-योग देव प्रतिमाओं में भी (उदा० शिव की योग-दक्षिणा मूर्तियों तथा विष्णु की भी योगासन-मूर्तियों में—लेखक) भूषण संयोग है। विन्यास की परम्परा सिन्धु-सभ्यता तक में पाई जाती है। शिव-पशुपति की मूर्ति जो तत्कालीन मुद्राओं में पाई गयी है वह केयूर, कंकण, वलय आदि नाना आभूषणों से अलंकृत है।"

यद्यपि यह सत्य है कि विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से देखा जाय तो प्रतिमाओं में अलंकार-नियोजन की यह परम्परा स्थापत्य के लिये क्षतिदायक भी सिद्ध हुई है। प्रतिमा के विभिन्न शरीरावयवों पर—नीचे से ऊपर तक - आभूषणों के लादने की जो उत्सुकता कलाकार में सनातन से चली आई उसने विभिन्न शरीरावयवों की कला में सुन्दर अभिव्यक्ति अथवा मानव-आकार के सम्यक् रचना-विकास को अवश्य व्याघात पहुँचाया। ऐसे बहुत से कला-समीक्षकों की समीक्षा है। परन्तु यहाँ पर विना पक्षपात के हम कह सकते हैं कि भारतीय कलाकारों का ध्येय मानव-आकार रचना human anatomy के सम्यक

परिपाक की ओर विशेष सीमित नहीं रहा। यहां के कलाकारों की दृष्टि भारतीय धर्म एवं दर्शन की प्रतीक भावना से विशेष प्रभावित एवं अनुप्राणित होने के कारण उन्होंने "कला कला के लिये—ऐसा सिद्धान्त कभी नहीं माना। प्रतिमा तो एक प्रकार की प्रतीक है। अतः स्थापत्य में भी वह तदनुरूप प्रस्फुटित हुई। भारत का 'सुन्दर' भौतिक सौन्दर्य की भित्ति पर नहीं चित्रित है। यहां 'सुन्दर' में पार मार्थिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक परम सौन्दर्य का रहस्य छिपा है। अतः एक मात्र भौतिक सौन्दर्य के चश्मे से जो लोग भारतीय प्रतिमाओं को देखेंगे वे मूलतः (fundamentally) गलती करेंगे।

देव-प्रतिमा के भूषा-विन्यास को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं: **परिधान, अलंकार, एवं शिरोभूषण**

(अ) परिधान—में वस्त्र के अतिरिक्त बन्ध भी विशेष उल्लेख्य हैं वस्त्रों में सर्व प्राचीन वस्त्र धोती का—जो उत्तरीय और अधरोत्तरीय दोनों का काम देती थी—विशेष निदर्शन है। देव-मूर्तियों एवं देवी-मूर्तियों दोनों में इस वस्त्र का स्थापत्य-चित्रण बड़े कौशल से सम्पन्न हुआ है। बन्धादि अन्य परिधानों में :—

१. हार	५. कटिबन्ध	९. पीताम्बर (वि०)	१३. शुक्लाम्बर (ब्र०)
२. केयूर	६. कुचबन्ध	१०. उदीच्यवेष (सूर्य)	१४. मेखला (श्री)
३. कंकण	७. भुजङ्गवलय	११. चोलक (सूर्य)	१५. कञ्चुक (लक्ष्मी)
४. उदर-बन्ध	८. वनमाला (वासु०)	१२. कृत्तिवास (शिव)	

टि० इनमें से प्रथम पांच सभी देवों एवं देवियों के सामान्य परिधान हैं, कुचबन्ध तथा चोलक स्त्री-परिधान होने के कारण देवी-प्रतिमाओं की विशिष्टता हैं।

(ब) **अलंकार-आभूषण**—अलंकारों अथवा आभूषणों को अङ्गानुरूप सात-आठ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(i) **कर्णाभूषण—कुण्डल**

१. पत्र-कुण्डल (उमा)
२. नक्र-कुण्डल (सामान्य)
३. शंख-पत्र-कुण्डल (उमा)
४. रत्न-कुण्डल (सामा०)
५. सर्प-कुण्डल (शिव)

टि० कर्णाभूषणों में कर्ण-पूर (सरस्वती) कर्णिका (काली) मणि-कुण्डल (लक्ष्मी) **कर्णावली** (पार्वती) आदि भी उल्लेख्य हैं।

(ii) **नासा भूषण**—वेसर (कृष्ण और राधा)

(iii) **गल-भूषण**—१. **निष्क**, २. हार, ३. ग्रैवेयक, ४. कौस्तुभ तथा ५. वैजयन्ती।

टि० कौस्तुभ एवं वैजयन्ती वैष्णव-आभूषण हैं। 'कौस्तुभ' मणि है जो समुद्र-मन्थन में प्राप्त १४ रत्नों में एक है। इसे भगवान् विष्णु वक्षस्थल पर धारण करते हैं।

भागवत-पुराण कौस्तुभ को सहस्र-सूर्य-समप्रभ एक लाल मणि संकीर्तित करता है। **वैजयन्ती** के विषय में यह प्रतिपाद्य है कि इसकी रचना पांच प्रकार के रत्न-पङ्क्तिका से निष्पन्न होती है। विष्णु-पुराण में इन पंच-विध रत्नों को पञ्च तत्वों का प्रतीक माना गया है—नीलम (नीलमणि) पार्थिव तत्व, मौक्तिक जलीय तत्व, कौस्तुभ तैजस तत्व, वैदूर्य वायव्य तत्व एवं पुष्यराग आकाशीय तत्व के प्रतीक है—अतएव वैजन्ती विराट विष्णु की रूपोद्भावना का कैसा वराज्य समुपस्थित करती है।

(iv) **वक्ष-आभूषणों** में श्रीवत्स, चन्नवीर कुचवन्ध (परिधान और अलंकार दोनों ही) विशेषोल्लेख्य हैं।

(v) **कटि-आभूषणों** में कटिवन्ध, मेखला तथा काञ्चीदाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

(vi) पाद-आभूषणों में मञ्जीर ही विशेष उल्लेख्य है।

(vii) **बाहु एवं भुजा के आभूषणों**—में कंकण, वलय केयूर, अङ्गद विशेष विख्यात हैं।

टि० 'श्रीवत्स' वैष्णव-लाञ्छन है जो विष्णु के वक्षस्थल पर 'कुञ्चित रोमावालि' की संज्ञा है। वैष्णवी प्रतिमाओं में वासुदेव-विष्णु एवं दशावतारों में भी यह सर्वत्र प्रदर्श्य है।

(स) **शिरोभूषण**—मानसार में लगभग द्वादश शिरोभूषण (अलङ्करण एवं प्रसाधन दोनों ही) वर्णित है जिनको हम निम्न तालिका में देवपुरस्सर देख सकते हैं :--

संज्ञा	देव	संज्ञा	देव
जटा मु०	ब्रह्मा, शिव	**केशबन्ध**	सरस्वती, सावित्री
मौलि मु०	मानोन्मानिनी	**धम्मिल्ल**	अन्य देवियां
किरीट मु०	विष्णु वासुदेव, नारायण	**चूड**	अन्य देवियां
करण्ड मु०	अन्य देव और देवियां	**मुकुट**	ब्रह्मा, विष्णु, शिव
शिरस्त्रक	यक्ष, नाग, विद्याधर	**पट्ट**	राजे महाराजे, रानियां
कुन्तल	लक्ष्मी, सरस्वती सावित्री	(अ) पत्र-पट्ट, (ब) रत्न-पट्ट, (स) पुष्प-पट्ट	

टि० १—'काकपक्ष' भी एक शिरोभूषण संकीर्तित है। यह बाल-कृष्ण का शिरोभूषण अथवा 'केशबन्ध' है—'मस्तकपार्श्वद्वये केशरचनाविशेषः'

टि० २—मानसार की इस शिरोभूषण-मालिका की कुछ समीक्षा आवश्यक है। राव महाशय (श्री गोपीनाथ) तथा उनके अनुयायी डा० बैनर्जी ने मानसारीय 'मौलिलक्षण' से केवल आठ प्रकार के शिरोभूषणों का निर्देश माना है—जटामुकुट, किरीटमुकुट करण्डमुकुट, शिरस्त्रक, कुन्तल, केशबन्ध, धम्मिल्ल तथा अलकचूड। शिव और ब्रह्मा के लिये विहित शिरोभूषण जटामुकुट से जटा और मुकुट (द्वन्द्व) नहीं ग्राह्य है, जटा ही है मुकुट—ऐसा विशेष संगत है। मौलि या मुकुट एक प्रकार से सामान्य संज्ञा generic name है और अन्य प्रभेद (species)। इसी प्रकार 'धम्मिल्लालकचूड में तीन के स्थान पर दो ही शिरोभूषण अभिप्रेत हैं—धम्मिल्ल तथा अलकचूड (न कि अलक अलग और चूड अलग)।

राव महाशय ने मौलि अर्थात् शिरोभूषण के केवल तीन ही प्रधान भेद माने हैं—जटा मु०, किरीट मु० तथा करण्ड मु०। शेष क्षुद्र आभूषण हैं। पट्ट के सम्बन्ध में राव महाशय की धारणा सम्भवतः निर्भ्रान्त नहीं है। पट्ट को राव महाशय केशवन्ध का ही प्रभेद मानते हैं वह ठीक नहीं। पट्ट एक प्रकार का साफा है जो उष्णीष (शिरोभूषण) के रूप में स्थापत्य में प्रकल्पित है।

टि० ३ किरीट-मुकुट वैष्णव मूर्तियों के अतिरिक्त सूर्य तथा कुबेर के लिये भी विहित है। (बृ० स०) गान्धार-कला-निदर्शनों में शक्र-इन्द्र का भी यह शिरोभूषण है।

७

प्रतिमा-मुद्रा

[हस्त-मुद्रा, मुख-मुद्रा, पाद-मुद्रा एवं शरीर-मुद्रा]

मुद्रा शब्द से अभिप्राय है विभिन्न अंगों विशेषकर हस्त, पाद तथा मुख की आकृति विशेष। भावाभिव्यञ्जन में चिरन्तन से मानव ने मुद्राओं का सहारा लिया है। यद्यपि भाव प्रकाशन का सर्वोत्तम साधन भाषा माना गया है तथापि मानव-मनोविज्ञान-वेत्ताओं से यह अविदित नहीं, कभी-कभी उत्कट-भावाभिव्यञ्जन में भाषा असफल हो जाती है; उस समय हस्त अथवा मुख या अन्य शरीरावयव की मुद्रा-विशेष से काम लिया जाता है। भाषा पर पूर्ण पाण्डित्य रखने वाला व्याख्याता बिना हस्तादि मुद्राओं के सम्भवतः ही कभी अपने उत्कट भावों को प्रकाशित करने में समर्थ हो पाता हो। इसी प्रकार क्या व्याख्यान में, क्या आशीर्वाद में, क्या रक्षा तथा शान्ति में सनातन से सभ्य से सभ्य मानव मुद्राओं का प्रयोग करता आया है।

आधुनिक मनोविज्ञान में इस सिद्धान्त को अब प्रायः सभी मानने लगे हैं कि मन एवं तन का एक प्रकार से ऐसा नैसर्गिक सद्यः सम्बन्ध है, जो प्रत्येक भावावेश में दोनों की समान एवं समकालिक प्रतिक्रिया प्रादुर्भूत होती है; इसी को रिफलेक्स ऐक्शन (reflex action) कहते हैं। अतः स्पष्ट है हमारे प्राचीन कला-कारों ने मानव-मनोविज्ञान के अनुरूप ही कला को जीवन की ज्योति से अनुप्राणित किया। अथच जिस प्रकार काव्य-में अभिधेयार्थ निम्न कोटि का अर्थ है—लक्ष्यार्थ उससे बढ़कर और व्यंग्यार्थ ही काव्य जीवित माना गया है उसी प्रकार प्रतिमा-कला में मुद्रा-विनियोग एवं उसके द्वारा भावा-भिव्यञ्जन एक प्रकार से काव्य-कला की ध्वनि-प्रतीति के ही समकक्ष है।

अस्तु, मुद्रा के व्यापक अर्थ में (दे० पीछे का अ० रूप-संयोग) न केवल भाव-मुद्रायें (जो हस्तपदमुखादिकों की स्थिति, गति एवं आकृति के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं) गतार्थ हैं वरन् नाना रूप-संयोगों को भी हमने मुद्रा ही माना है। परन्तु सीमित अर्थ में मुद्राओं का साहचर्य हिन्दू-प्रतिमाओं में बहुत ही कम है। शैवी योग-मूर्तियों को छोड़कर ब्राह्मण प्रतिमा-लक्षण में मुद्राओं का विनियोग नगण्य है। बौद्ध-प्रतिमाओं में इन मुद्राओं का विपुल विनियोग है। प्रतिमा-स्थापत्य में मुद्रा देव-विशेष के मनोभावों को ही नहीं अभिव्यक्त करती है वरन् उसके महान् कार्य—दैवी कार्य को भी इंगित करती है। बुद्ध की 'भूमि-स्पर्श' मुद्रा इस तथ्य का उदाहरण है। इस दृष्टि से मुद्रा एक प्रतीक (Symbol) है जो प्रतिमा और प्रतिमा के स्वरूप (Idea) का परिचायक (Conductor) है।

प्रश्न यह है कि ब्राह्मण-प्रतिमाओं में मुद्राओं की यह न्यूनता क्यों जब कि बौद्ध एवं जैन प्रतिमाओं की यह सर्वातिशायिनी विशेषता है। हम बार-बार संकेत कर चुके हैं; हिन्दू दर्शन, धर्म, विज्ञान एवं कला सभी प्रतीकवाद (Symbolism) की परा ज्योति से प्रकाशित

है। नाना रूप-संयोग से बौद्ध-प्रतिमायें एक प्रकार से शून्य हैं। अतः प्रतिमा-कला की इन दो मौलिक प्रेरणाओं में दोनों की अपनी वैयक्तिकता की छाप है। सत्य तो यह है कि ब्राह्मण-प्रतिमा-रूपोद्भावना में देव-विशेष के नाना रूप-संयोग नाना मुद्राओं के रूप में ही परिकल्पित हैं। तन्त्र-सार का निम्न प्रवचन इसका प्रमाण है:—

एकोनविंशतिर्मुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभिः।
शङ्खचक्रगदापद्मवेणुश्रीवत्सकौस्तुभाः॥
..............................शिवस्य दशमुद्रिकाः।
लिङ्गयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वयाः॥
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितुः।
.... ॥
लक्ष्मीमुद्रार्चने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या पुस्तकमुद्रिकाः॥
सप्तजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्निपूजने॥

अर्थात् विष्णु की १६ मुद्राओं में शंख-चक्रादि का परिगणन है। शिव की दस मुद्राओं में लिङ्ग, योनि, त्रिशूल, रुद्राक्ष-माला आदि का समाहार है। सूर्य की केवल पद्म ही एक मुद्रा है। गजदन्त, अंकुश, मोदक आदि सात मुद्रायें विनायक गणेश की हैं। अग्नि की मुद्रा सप्त ज्वालाओं में निहित है। सरस्वती की मुद्रा में अक्ष-माला, वीणा, व्याख्या-पुस्तक आदि विशेषोल्लेख्य हैं। इस प्रकार हिन्दू प्रतिमाओं के रूप-संयोग ही मुद्रा-संयोग हैं। मुद्राओं की जो नाना विकल्पनायें प्रादुर्भूत हुईं उनकी पूज्य की अपेक्षा पूजक में विशेष चरितार्थता हुई। तान्त्रिक-मुद्राओं की परम्परा में हस्तादि मुद्राओं के अतिरिक्त भस्मावलेप, तिलकादि-धारण भी तो मुद्रा ही है।

भारतीय वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में सम्भवतः इसी उपर्युक्त तथ्य के कारण समराङ्गण-सूत्रधार को छोड़कर अन्यत्र किसी ग्रन्थ में मुद्रा-प्रविवेचन अप्राप्य है। समराङ्गण की इस विशिष्टता का क्या मर्म है—इस आकूत की मीमांसा आवश्यक है। समराङ्गण के तीन मुद्राध्याय हैं जिनका हमारी दृष्टि में प्रतिमा-कला (Sculpture) की अपेक्षा चित्र-कला (Painting) से विशेष सम्बन्ध है। पाषाणादि द्रव्यों से विनिर्मिता प्रतिमाओं की अपेक्षा चित्रजा प्रतिमाओं में रसों एवं दृष्टियों की विशेष अभिव्यक्ति प्रदर्शित की जा सकती—चित्र-कर्म में वर्ण-विन्यास (colouring) इसके लिये अत्यन्त सहायक होता है। अथच चित्र-कला-कार बिना नाट्य-कला के सम्यक् ज्ञान के अपनी कला में परिपाक नहीं प्रस्तुत कर सकता है। विष्णु-धर्मोत्तर का दृढ़ विश्वास है, चित्र-कला का आधार नृत्य-कला है। नृत्य-कला का प्राण भावाभिव्यक्ति है। इस भावाभिव्यक्ति में (जैसे भाव-नृत्य, ताण्डव-नृत्य आदि) में मुद्राओं का प्रदर्शन अनिवार्य है। अतएव नाट्य-शास्त्र का मुद्रा-शास्त्र एक प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। नाट्य-शास्त्र में हस्तादि मुद्राओं का बड़ा ही गम्भीर एवं सविस्तर प्रविवेचन है। इसी दृष्टि से नाट्य-कला की जीवितभूता अवस्थानुकृति (अवस्थानुकृति-नाट्यम्) चित्र-कला में भी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। चित्र-कर्म के आवश्यक विभिन्न अङ्गों में दक्ष होते हुए भी चित्रकार, कल्पना (Imagination) और अनुकृति

(Imitation) का जब तक सहारा नहीं लेता तब तक मनोरम एवं अभिव्यञ्जक चित्र का निर्माण नहीं कर सकता।

अस्तु, इस उपोद्घात से यद्यपि मुद्राओं का महत्त्व चित्रजा प्रतिमाओं में ही विशेष विहित है तथापि यदि यह मुद्रा-विनियोग अन्य-द्रव्यीय प्रतिमाओं (विशेष कर पाषाण-मूर्तियों—Sculptures) में भी प्रदर्शित किया जा सके तो प्रतिमा-निर्माता का वह परम कौशल होगा और प्रतिमा-विज्ञान का परमोपजीव्य विषय। इसी दृष्टि से यद्यपि इस अध्ययन के अन्तिम ग्रन्थ—(भा० वा० शा० ग्रन्थ पंचम—यंत्र-कला एवं चित्र-कला) —में हम इस मुद्रा-शास्त्र की विशेष मीमांसा करेंगे तथापि यहाँ पर प्रतिमा-विज्ञान के सिद्धान्तों (canons) के समुद्घाटन में भी मुद्राओं की मीमांसा आवश्यक है।

आगमों, पुराणों, तंत्रों एवं शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी कतिपय मुद्राओं के संयोग पर संकेत मिलते हैं (यद्यपि पृथक् रूप से प्रतिपादन नहीं है) जैसे वरद-हस्त (वरद-मुद्रा), अभय-हस्त (अभय-मुद्रा), ज्ञान-मुद्रा व्याख्यान-मुद्रा आदि-आदि। इनसे हस्त, पाद, मुख एवं शरीर की आकृति-विशेष जिससे प्रतिमा की चेष्टा प्रतीत होती है वही मुद्राओं का मर्म है। इस आधारभूत सिद्धान्त से मुद्राध्ययन को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं और यह विभाजन समराङ्गण-सूत्रधार के तीन मुद्राध्यायों ('ऋज्वागतादिस्थानलक्षणाध्याय' ७९वाँ, 'वैष्णवादिस्थानकलक्षणाध्याय' ८०वाँ तथा 'पताकादिचतुष्षष्टि-हस्त-लक्षणाध्याय' ८३वाँ) पर अवलम्बित है:—

१. ६४ हस्त-मुद्रायें (दे० स० सू० पताकादि ८३वाँ अ०)

२. ६ पाद-मुद्रायें (दे० वैष्णवादि-स्थानक ८०वाँ अ०)

३. ९ शरीर-मुद्रायें (दे० ऋज्वागतादिस्थान ७९वाँ अ०)

हस्त-मुद्रायें—हस्त और मुद्रा इन दोनों शब्दों को सम्बन्ध-कारक (हस्त की मुद्रा) में ही नहीं समझना चाहिये वरन् दोनों का एक ही अर्थ में भी प्रयोग पाया जाता है—दण्ड-हस्त, कटि-हस्त, गज-हस्त, वरद-हस्त, अभय-हस्त—को वरद-मुद्रा, अभय-मुद्रा आदि के नाम से भी पुकारा गया है। समराङ्गण की ये हस्त-मुद्रायें भरत के नाट्य-शास्त्र में प्रतिपादित हस्त-मुद्राओं की ही अवतारणा है और प्रतिमा-शास्त्र में उनके विनियोग की उद्भावना भी।

R. K. Poduval (cf. his 'Mudras in Art') ने मुद्राओं के तीन बृहद् विभाग किये हैं:—१. वैदिक, २. तान्त्रिक तथा ३. लौकिक। उनका दावा है कि उन्होंने कला में ६४ मुद्राओं और तन्त्र में १०८ मुद्राओं का अनुसन्धान एवं अभिज्ञा कर चुके हैं। वैदिकी मुद्राओं से हम परिचित ही हैं—वेदपाठ में आवश्यक हस्त-मुद्राओं की परम्परा का आज भी प्रचार है। श्री पोदुवल महाशय ने जिन मुद्राओं का कला प्रदर्शन प्रस्तुत किया है, उनमें बहुसंख्यक मुद्राओं का सम्बन्ध पूज्य की मुद्राओं से तो है ही साथ ही साथ पूजक एवं पूजोपचारों से भी सम्बन्ध है। अतः इनकी सविस्तर समीक्षा यहाँ अभिप्रेत नहीं—डा० बैनर्जी का ग्रन्थ इसके लिये द्रष्टव्य है। अस्तु, हम प्रथम समराङ्गण के त्रिविध (असंयुत, संयुत एवं नृत्य) हस्तों की सूची देते हैं जो निम्न तालिका में द्रष्टव्य है;—

असंयुत हस्त

१. पताक
२. त्रिपताक
३. कर्तरीमुख
४. अर्धचन्द्र
५. अराल
६. शुक-तुण्ड
७. मुष्टि
८. शिखर
९. कपित्थ
१०. खटकामुख
११. सूची-मुख
१२. पद्मकोश
१३. सर्पशिर
१४. मृगशीर्ष
१५. कांगूल
१६. अलपद्म
१७. चतुर
१८. भ्रमर
१९. हंसवक्त्र
२०. हंसपक्ष
२१. सन्दंश
२२. मुकुल
२३. ऊर्णनाभ
२४. ताम्रचूड

संयुत हस्त

१. अञ्जलि
२. कपोत
३. कर्कट
४. स्वस्तिक
५. खटक
६. उत्सङ्ग
७. दोल
८. पुष्पपुट
९. मकर
१०. गजदन्त
११. अवहित्थ
१२. वर्धमान
१३. —

नृत्यहस्त

१. चतुरश्र
२. विप्रकीर्ण
३. पद्मकोष
४. अरालखटकामुख
५. आविद्धवक्रक
६. सूचीमुख
७. रेचितहस्त
८. उत्तानवञ्चित
९. अर्धरेचित
१०. पल्लव
११. केशबन्ध
१२. लता-हस्त
१३. कटि-हस्त
१४. पक्ष-वञ्चितक
१५. पक्ष-प्रद्योतक
१६. गरुड़-पक्ष
१७. दण्ड-पक्ष
१८. ऊर्ध्व-मण्डलि
१९. पार्श्व-मण्डलि
२०. उरो-मण्डलि
२१. उरःपार्श्वार्ध-मण्डलि

टि० १—इस प्रकार प्रतिज्ञात ६४ हस्तों की व्यख्यात ६८ संख्या हुई।

टि० २—इनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या एवं स्थापत्य-समन्वय हमारे 'यन्त्र एवं चित्र' में द्रष्टव्य होगा। यह शीघ्र ही प्रकाश्य है।

ब्राह्मण-प्रतिमाओं में दो मुद्रायें—अभय-हस्त एवं वरद-हस्त विशेष प्रसिद्ध है। सम्भवतः इसी दृष्टि से श्रीयुत बृन्दावन भट्टाचार्य (cf. I. I. p. 47) ने केवल इन्हीं दो

मुद्राओं का वर्णन किया है। राव महाशय (cf. E. H. I. p. 14) ने कुछ आगे बढ़ उपर्युक्त दो मुद्राओं के अतिरिक्त कटक, सूची, तर्जनी, कट्यवलम्बित, दण्ड, विस्मय (दे० पीछे स० सू० की सूची) के साथ-साथ चिन्मुद्रा (व्याख्यान-मुद्रा), ज्ञान-मुद्रा और योग-मुद्रा का भी वर्णन किया है। डा० बैनर्जी (cf. D. H. I.) ने इस विषय की विस्तृत विवेचना की है। परन्तु डा० बैनर्जी का यह कथन—'It should be noted here that the fully developed and highly technical mudras, that are described in the Indian works on dramaturgy such as Natyasastra, Abhinaya Darpana etc., have not much application in our present study.'—सर्वांश में सत्य नहीं। हमने इस मुद्राध्याय के उपोद्घात में समराङ्गण के मुद्राविवेचन का चित्रजा प्रतिमाओं का विशेष विषय बताते हुए स्थापत्य में भी उसके विनियोग की जो मीमांसा की है उससे यह स्पष्ट है कि यह कथन सर्वथा सत्य नहीं। अथच दाक्षिणात्य शिव-पीठ चिदम्बरम् में भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में प्रसिद्ध ६४ हस्तमुद्राओं का स्थापत्य-विन्यास गोपुरद्वार की भित्तियों पर चित्रित है, उससे इन हस्त-मुद्राओं की स्थापत्य-परम्परा भी पल्लवित हो चुकी थी, यह प्रकट है; विशेष विकास इसलिये नहीं हो पाया कि रूप-संयोग से आक्रान्त ब्राह्मण-प्रतिमाओं में मुद्रा-विनियोग का अवसर ही कहाँ था ? अतएव यह परम्परा बौद्ध-प्रतिमाओं की विशिष्टता बन गयी।

यह नहीं कहा जा सकता, इन मुद्राओं का स्थापत्य में अत्यन्त विरल प्रदर्शन है। ऊपर पोडुवल के एतद्विषयक अनुसन्धान की ओर संकेत किया ही जा चुका है। डा० बैनर्जी की भी एतद्विषयिणी गवेषणा (see D. H. I. ch. vii) अध्ययनीय है। उपरिनिर्दिष्ट हस्त-मुद्राओं के अतिरिक्त भी कतिपय अति प्रसिद्ध हस्त-मुद्रायें हैं जिनका स्थापत्य में अविरल चित्रण द्रष्टव्य है—भगवान् बुद्ध की धर्म-चक्र-मुद्रा एवं भूमि-स्पर्श-मुद्रा, अर्हत जिनों की कायोत्सर्ग-मुद्रा, योगियों की ध्यान-योग-मुद्रा, नटराज शिव की वैनायकी मुद्रा एवं अनुग्रह-मुद्रा।

पाद-मुद्रा—वैष्णव ध्रुव-बेराओं के योग, भोग, वीर एवं आभिचारिक वर्गीकरण की चतुर्विधा में स्थानक, आसन, शयन प्रभेद से द्वादश-वर्ग का ऊपर उल्लेख हो चुका है। तदनुरूप स्थानक (standing) आकृति (posture) से सम्बन्धित पाद-मुद्राओं के समराङ्गण की दिशा से निम्नलिखित ६ प्रभेद परिगणित किये गये हैं:—

१. वैष्णवम्	३. वैशाखम्	५. प्रत्यालीढम्
२. समपादम्	४. मण्डलम्	६. आलीढम्

टि० स० सू० (अ० ८०) स्त्री-स्थानक-मूर्तियों की भी पाद-मुद्राओं का संकेत करता है।

१. **वैष्णवम्**—स्थानक-चेष्टा के इस नाम में भगवान् विष्णु के आधिदैवत्व का संकेत है—विष्णुरत्राधिदैवतम्—स० सू० ८०.५। इस स्थानक चेष्टा में दोनों पैरों का एक दूसरे से फासला २½ ताल होना चाहिये। अथच एक पैर सम (poised)

और दूसरा त्र्यश्र (a bit bent in triangular position) तथा दोनों जङ्घायें थोड़ी सी झुकी हुई।

२. **समपादम्**—की अधिदेवता ब्रह्मा हैं। इसका दूसरा नाम समभङ्ग है। अतएव यथानाम इस चेष्टा में सावधान सैनिक के दर्शन कीजिये। सीधा शरीर—शरीर-भार दोनों पैरों पर समान।

३. **वैशाखम्**—विशाखो भगवानस्य स्थानकस्याधिदैवतम्। इस चेष्टा में दोनों पैरों का फासला ३½ ताल—एक पैर त्र्यश्र और दूसरा पक्षस्थित।

४. **मण्डलम्**—ऐन्द्रं स्यान्मण्डलम्—अतः इन्द्र इसकी अधिदेवता हैं। इसमें पादावकाश ४ ताल तथा एक पाद त्र्यश्र दूसरा पक्षस्थित।

५. **आलीढम्**-रुद्रश्चात्राधिदैवतम्। रुद्र भगवान् की इस स्थानक चेष्टा में आगे फैलाए हुए दक्षिण पैर से पीछे वाले वाम में ५ ताल का फासला बताया गया है।

६. प्रत्यालीढम्—आलीढ का उलटा प्रत्यालीढ—अर्थात् इसमें आगे फलाया हुआ बायाँ, पीछे वाला दायाँ दोनों का फासला ५ ताल।

टि० १ इन अन्तिम दोनों स्थानक-चेष्टाओं की अनुकृति धनुर्धर की बाणमोक्षण-मुद्रा में विशेष प्रदर्श्य है।

टि० २ जैनों के तीर्थङ्करों की स्थानक-चेष्टा में समभंग-चेष्टा स्थापत्य-निदर्शन है। स्थानक-चेष्टाओं की निर्दिष्ट संज्ञाओं के अतिरिक्त दूसरी संज्ञाओं में इनको समभङ्ग, आभङ्ग, त्रिभङ्ग तथा अतिभङ्ग के नाम से भी संकीर्तित किया गया है। आभङ्ग-चेष्टा में मुद्रस्था-प्रतिमाओं (Images on the coins) के बहुसंख्यक निदर्शन प्रस्तुत किये जा सकते हैं। त्रिभङ्ग-चेष्टा देवियों में विशेष द्रष्टव्य है। अतिभङ्ग का सम्बन्ध शैव एवं शाक्त उग्र-मूर्तियों के अतिरिक्त वज्रयान (बौद्ध-धर्म का तृतीय यान) के क्रोध-देवताओं में भी है।

शरीर-मुद्रा (चेष्टा)

शरीर के स्थान-विशेष, उनके परावृत्त और उनके व्यन्तरों के त्रिभेद से स० सू० का इन चेष्टाओं का निम्न वर्गीकरण द्रष्टव्य है :—

(अ) १. ऋज्वागत, २. अर्धर्ज्वागत, ३. साचीकृत, ४. अध्यर्धाक्ष ५. पार्श्वागत।

(ब) ६-९. चतुर्विध परावृत्त।

(स) २०. विंशति अन्तर (या व्यन्तर)

विष्णुधर्मोत्तर (vide Dr. Kramrish's translation) के अनुसार निम्नलिखित नौ प्रधान शरीर-चेष्टायें हैं :—

१. **ऋज्वागत**—आभिमुखीनम् the front view
२. **अनृजु**—पराचीनम् back view
३. **साचीकृत शरीर**—यथा नाम a bent position in profile view
४. **अर्धविलोचन**—the face in profile, the body in three-quarter profile view.

५. पार्श्वागत—the side view proper

६. परिवित्त—with head and shoulder bent, turned backwards.

७. पृष्ठागत—back view with upper part of the body partly visible in profile view.

८. परिवृत्त—with the body sharply turned back from the waist and upwards; and lastly,

९. समनत—the back view, in squatting position with body bent.

टि० १ इन स्थानों का इन संज्ञाओं में डा० (कुमारी) क्रामरिश ने उल्लेख किया है। कतिपय चेष्टाओं की सज्ञान्तरों के साथ वि० ध० की पूरी सूची है— ऋष्ठागत, ऋज्वागत, मध्यार्ध, अर्धार्ध, साचीकृतमुख, नत, गरुडपरावृत्त, पृष्ठागत (?), पार्श्वागत, उल्लेप, चलित, उत्तान और वलित।

टि० २ इन चेष्टाओं में स्थानक-मुद्राओं के सन्निवेश से जो आकृति निर्मित होती है वह चित्र के अतिरिक्त अन्यत्र (अर्थात् चित्रजा प्रतिमाओं को छोड़ कर अन्य-द्रव्यजा प्रतिमाओं में) प्रदर्शन बड़ा दुष्कर है। क्षय और वृद्धि (the science of fore-shortening) के द्वारा ही यह कौशल संपन्न होता है। तूलिका और वर्णों के विनियोग एवं विन्यास से विभिन्न चेष्टाओं का प्रदर्शन चित्रकार के परम पाटव का प्रमाण है।

८

प्रतिमा-लक्षण

ब्राह्मण

इस उत्तर-पीठिका के विषय-प्रवेश में संकेत है—ब्राह्मण-प्रतिमा-लक्षण की पृष्ठ-भूमि में उसके नाना रूप संयोगों एवं मुद्राओं तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग-मानादि-विनियोजना का प्रथम प्रतिपादन आवश्यक है—तदनुरूप देव-प्रतिमाओं की इस मौलिक भित्ति के निर्माण के उपरान्त अब क्रमप्राप्त प्रतिमा-लक्षण के बहुभूमिक एवं नाना-पीठक-प्रासाद का निर्माण करना है। अतः इस प्रासाद के नाना स्तम्भों में त्रिमूर्ति के मौलिक-स्तम्भ के साथ-साथ वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर आदि—पूर्वनिर्दिष्ट 'पञ्चायतन परम्परा'—के अनुरूप विभिन्न वर्ग प्रकल्पित करने हैं।

त्रिमूर्ति-लक्षण

त्रिमूर्ति की कल्पना में हिन्दू संस्कृति, धर्म एवं दर्शन का सर्वस्व अन्तर्हित है। सत्य तो यह है कि विश्व की सत्ता, उसका व्यापकत्व एवं पूर्ण तत्व भी इसी में निहित है। त्रिमूर्ति से तात्पर्य ब्रह्मा, विष्णु और महेश से है। पौराणिक त्रिमूर्ति की यह कल्पना वैदिक त्रिमूर्ति—अग्नि, सूर्य और वायु के विकसित स्वरूप पर आधारित है। ब्रह्मा को स० सू० ने 'अनलार्चि' कहा है; इस दृष्टि से ब्रह्मा का अग्नि-सादृश्य स्पष्ट है। विष्णु को सौर-देव वेदों में माना ही गया है। वायु (मरूत्) में रूद्र-साहचर्य के हम दर्शन कर ही चुके हैं (दे० शैवधर्म)। गंगेश (दे० शब्द-तत्व-चिन्तमणि) ने एक प्रवचन का उद्धरण दिया है—एकमूर्तिरपि भिन्नरूपिणी, या जगज्जननपालनक्षये—उसमें त्रिमूर्ति वास्तव में एक ही मूर्ति—एक ही तत्व पर इंगित करती है जो जगत के उत्पादन (ब्रह्मा का कार्य), पालन (विष्णु का कार्य) तथा क्षय (रुद्र-शिव का कार्य)—इस त्रिविध कार्य के लिये क्रमशः तीन स्वरूप धारण कर सम्पादन करती है। त्रिमूर्ति की यह एक व्याख्या हुई। दूसरी में जीवन-दर्शन का इससे बढ़कर निदर्शन अन्यत्र दर्शन करने को नहीं मिलेगा। मानव-जीवन की तीन अवस्थाओं कैशोर, यौवन एवं वार्धक्य एवं तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य एवं सन्यास का इसमें मर्म छिपा है। ब्रह्मा ब्रह्मचारी, विष्णु ऐश्वर्य-शाली गृहस्थ और शिव दिगम्बर सन्यासी। ब्रह्मचारि-वेषानुकूल ब्रह्मा के हाथों में कमण्डलु और वेद, परिधान काषाय-वस्त्र। विष्णु की भूषा, अलङ्कार एवं परिवार आदि सभी लाञ्छनों से उनका भोग एवं ऐश्वर्य गृहस्थ का है अतएव राजाओं के इष्टदेवता विष्णु को छोड़कर कौन हो सकता था? सन्यासी का दण्ड शिव का त्रिशूल और परिधान मृगचर्म, वार्धक्योपलक्षण जटा—महा योगी अतएव नग्न एवं सतत ध्यान-मग्न। तात्विक-दृष्टि से (metaphysically) ब्रह्मा-विष्णु-महेश की त्रिमूर्ति में सत्वरजतमामूला त्रिगुणात्मिका प्रकृति का तत्व निहित है। सृष्टि-स्थिति-प्रलय (संहार) की पौराणिक कल्पना पर इन तीनों देवों के अपने-अपने आधिराज्य हैं जो वास्तव में दार्शनिक दृष्टि से एक ही परम सत्ता के त्रिविध कार्य-कलाप।

ब्राह्म-प्रतिमा-लक्षण

ब्रह्मा की पूजा की अति विरलता पर हम पूजा-परम्परा (पूर्व-पीठिका) में पाठकों का ध्यान आकर्षित कर चुके हैं। अतएव ब्राह्म मूर्तियों की प्राप्ति भी अपेक्षाकृत अत्यन्त न्यून मात्रा में है। ब्रह्मा की मूर्तियों के विभिन्न प्रकार एवं अवान्तर भेदों का भी वह न तो विकास ही हुआ और न प्रोल्लास, जैसा कि विष्णु तथा शिव की मूर्तियों का। ब्रह्मा की पूजा जो इस देश में नहीं पनप पाई उसके अन्तरतम में लेखक की समझ में एक बड़ा रहस्य छिपा है जिसकी ओर विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया। ब्रह्मा प्रजापति के रूप में—सत्व-गुण-प्रधान देव के रूप में—हाथ में चतुर्वेदों को लिये हुए, कमण्डलु आदि ब्राह्मण ब्रह्मचारी अथवा यति के उपकरणों से युक्त कमलासन परिकल्पित किये गये हैं—जिससे साफ प्रकट है कि यह देवता राजस प्रकृति के अथवा तामस प्रकृति के व्यक्ति अथवा समाज को कभी भी रुचिकर अथवा उसका इष्टदेव नहीं परिकल्पित हो सकता था। समाज में राजस प्रकृति के लोगों के हाथ में ही ऐश्वर्य, धन-संपत्ति एवं अन्यान्य भौतिक साधन थे—अतः द्रव्या-पेक्ष्य प्रतिमा-निर्माण-कार्य एक प्रकार का भले ही वैसा व्यवसाय न हो जैसा गल्ला और कपड़े का; तथापि उन्हीं प्रतिमाओं का निर्माण अथवा प्रचार विशेष सम्भाव्य था जिनकी माँग—जिनके प्रति आस्था एवं भक्ति—समाज के बहुसंख्यक मनुष्यों की थी।

वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार वैसे तो मध्यकालीन ब्राह्मणों ने शिव तथा विष्णु आदि सभी देवों की पूजा की; परन्तु वास्तव में ब्राह्मणों के अध्ययनाध्यापन, यजन-याजनादि कर्म-षट्क—के अनुरूप इष्टदेवत्व के लिए सर्वगुण-सम्पन्न ब्रह्मा ही थे—परन्तु ब्राह्मणों को अपनी ज्ञान-गरिमा का गर्व था—अतः ब्रह्मज्ञानी वेदविद् ब्राह्मणों के लिए सम्भवतः प्राचीन समय में प्रतिमा-पूजा कोई अर्थ नहीं रखती थी। यही नहीं उन्होंने उसे अज्ञों की वस्तु अथवा हेय समझा। अथच हिन्दू प्रतिमा-विकास की परम्परा में जहाँ धर्म के आश्रय ने बड़ा योग-दान दिया—जैसा हमने ऊपर संकेत किया है—वहाँ राजाश्रय ने भी कम योग नहीं दिया। अतः ब्राह्मणेतर क्षत्रिय-राजन्यों तथा धन-सम्पन्न वैश्यों ने, जो प्रतिमा-पूजा के विशेष उपयुक्त अधिकारी थे—वे न तो ब्राह्मणों के समान ब्रह्म-ज्ञानी और न तत्व-ज्ञानी ही थे। अतः इन लोगों के इष्टदेव भगवान् विष्णु को छोड़ कर जो प्रताप एवं ऐश्वर्य के प्रतिमूर्ति प्रकल्पित हुए—और कौन हो सकता था। अब रहे बाबा भोलानाथ—उनके भोलेपन में बड़ी अद्भुत गरिमा छिपी थी। आशुतोष शंकर तो थे ही, महायोगी भी थे। अस्तु, उन्होंने अपने द्राविड़ी प्राणायाम में सारे द्राविड़ देश को ही नहीं विजय कर लिया वरन् ज्ञानधन एवं तपोधन ब्राह्मण तथा बड़े-बड़े राजाओं एवं महाराजाओं को भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया। क्या उत्तरापथ, क्या दक्षिणापथ—सर्वत्र ही शैव-धर्म की वैजयन्ती फहराने लगी।

प्रायः सभी शिल्प-शास्त्रों में ब्राह्म-प्रसादों तथा ब्राह्म-मूर्तियों के विवरण बराबर हैं। देव-भेद से प्रासाद-भेद के दृष्टिकोण से हम ब्राह्म-प्रासादों की समीक्षा भी कर चुके हैं (दे० भारतीय वास्तु शास्त्र—ग्रन्थ तृतीय) तथापि ब्रह्मा की प्रतिमाओं का प्राचीन स्मारकों में जो वैरल्य है उसमें कोई पौराणिक रहस्य अवश्य होना चाहिये। पीछे हम

अर्चा-पद्धति में सरस्वती के शाप पर संकेत कर चुके हैं। समराङ्गण में भी ब्राह्म-प्रासादों एवं ब्राह्म-मूर्तियों का सुन्दर वर्णन है। तथापि प्राचीन स्मारकों में इनके इस वैरल्य में क्या सरस्वती शाप का ही विधिविलास है? अतएव शिव तथा विष्णु के सदृश शैव एवं वैष्णव सम्प्रदाय के समान कोई ब्राह्म धार्मिक सम्प्रदाय नहीं बना और सम्प्रदायाभाव से ब्राह्म-पूजा—ब्राह्म-मन्दिर-प्रतिष्ठा कैसे सम्भाव्य थी। हाँ, त्रिमूर्ति के प्रमुख देव ब्रह्मा की मूर्तियों की गौणरूप से शिव-मन्दिर एवं विष्णु-मन्दिर दोनों में ही परिवार-देवों के रूप में सर्वसाधारण प्रतिष्ठा है।

समराङ्गण में ब्राह्म-मूर्ति लक्षण (दे० परिशिष्ट स) के अनुसार ब्रह्मा की मूर्ति-प्रोज्ज्वल अनल-संकाश विनिर्मित होनी चाहिए। अत्यन्त तेजस्वी स्थूलाङ्ग श्वेतपुष्प (कमलादि) लिए हुए (तथा कमल पर ही विराजमान), श्वेत वस्त्र धारण किये हुए अर्थात् (अधोवस्त्र कौपीन भी श्वेत ही होनी चाहिए), कृष्ण मृगचर्म के उत्तरीय से आच्छादित, चार मुखों से सुशोभित ब्रह्मा की मूर्ति बनानी चाहिए। ब्रह्मा के दोनों बायें हाथों में से एक में दण्ड तथा दूसरे में कमण्डलु। दाहिने हाथों में से एक में अक्ष-माला तथा दूसरे में वरद-मुद्रा—दिखानी चाहिए। मूंज की मेखला भी धारण किये हुए होना चाहिए।

इस प्रकार की लोकेश्वर ब्रह्मा की मूर्ति की विनिर्मिति से सर्वत्र कल्याण होता है। ब्राह्मणों की वृद्धि होती है तथा उनकी सब कामनायें सिद्ध होती हैं। अथच इसके विपरीत यदि ब्रह्मा की प्रतिमा विरूपा, दीना, कृशा, रौद्रा अथवा कृशोदरी हो तो अनिष्टदायिनी होती है। क्यों कि—

रौद्रा—कारक यजमान को मार डालती है।

दीनरूपा—स्थपति-शिल्पी को ही खतम कर देती है।

कृशा—कारक यजमान के लिए व्याधि एवं विनाश का कारण बनती है।

कृशोदरी—दश में दुर्भिक्ष का कारण बनती है।

विरूपा—अनपत्यता का हेतु होती है।

अतः इन दोषों को बचाकर ब्रह्मा की मूर्ति सुशोभना विनिर्मित करनी चाहिए तथा उस प्रतिमा में 'प्रथम-यौवन-स्थिति' प्रदर्श्य है।

ब्राह्म-मूर्ति पर समराङ्गण का यह प्रवचन बड़ा ही मार्मिक है। यद्यपि अन्य शास्त्रों के विपरीत यह वर्णन आपूर्ण नहीं है तथापि सांस्कृतिक दृष्टि से ऐसा वर्णन अन्यत्र अप्राप्य है। अतः संस्कृति के मर्म के जिज्ञासु पाठक के लिए तो इस प्रवचन में ही सार छिपा हुआ मिलेगा। इस प्रवचन के दो विशेषण विशेष द्रष्टव्य है :—**(अ) अनलार्चिः प्रतिम. (ब्रह्मा) (ब) प्रथमे यौवने स्थिता (ब्रह्मणोऽर्चा)।**

वास्तव में ब्राह्मण-प्रतिमा-वर्गीकरण का आधार 'त्रिमूर्ति' भावना है। त्रिमूर्ति में ब्रह्मा के वैदिक अग्निस्वरूप का ऊपर हम संकेत कर चुके हैं अतः समराङ्गण का ब्राह्मी मूर्ति का यह प्रवचन 'अनलार्चिः प्रतिमः' पाठकों की समझ में आ गया होगा। वैदिक अग्नि देव के विकसित रूप ब्रह्मा तपस्या तथा पवित्रता, इज्या तथा होम के प्रतीक बने। अग्नि से बढ़कर पावक एवं तेजस्वी कौन? अथच ब्रह्मा के रजोगुण के अनुरूप उनका रंग—रक्त भी

है अतः दोनों विशेषण 'अनलार्चिप्रतिमः—अनलार्चि-सुमहाद्युतिः'—ठीक ही हैं। अतः समराङ्गण के इसी प्राचीन मर्म के द्योतक हैं। अथच मानव-जीवन की तीन अवस्थाओं एवं आश्रमों (stages of life) के अनुरूप ब्रह्मा की त्रिमूर्ति में ब्रह्मचारी के रूप में कल्पना है। ब्रह्मा के चार हाथ चारों दिशाओं पर उनके आधिराज्य (सृष्टि) के सूचक हैं। सरस्वती के सान्निध्य में रचना-शक्ति (Creative power) का संकेत है। चतुर्मुख में चारों वेदों के आविर्भाव का संकेत हैं।

अतः 'प्रथमे यौवने स्थिता' का भी वही भाव है—ब्रह्मा का वेष ब्रह्मचारि-वेष, ब्रह्मचारी के उपलक्षण वेद और कमण्डलुपात्र हाथों में विद्यमान हैं।

समराङ्गण के ब्राह्म-मूर्ति लक्षण के इस निर्वचन उपरान्त इस मूर्ति के अन्य अवशेष लक्षणों पर ध्यान देना है। मत्स्य-पुराण में ब्रह्मा को हंस वाहन एवं पद्मासन कहा गया है और उनके दोनों दक्षिण हाथों में समराङ्गण की अक्षमाला और वर्धमान-मुद्रा के स्थान पर श्रुवा और श्रुक (दो यज्ञीय पात्र) का निर्देश है। इसके अतिरिक्त म० पु० के अनुसार ब्रह्मा के दोनों पार्श्वों पर चारों वेद और आज्य-स्थाली का प्रदर्शन विहित है और 'दक्षिणे सावित्री' और 'वामे सरस्वती' का भी चित्रण आवश्यक है। अग्नि-पुराण का ब्राह्म-चित्रण समराङ्गण से विशेष सानुगत्य रखता है। केवल दक्षिण हाथ में श्रुवा का विशेष निर्देश है। समराङ्गण, मत्स्य एवं अग्नि की इस ब्राह्मी मूर्ति-विरचना में जो एक लक्षण और शेष रह जाता है वह विष्णु-पुराण पूरा करता है—"सप्तहंसरथस्थितः" सात हंसों से वाहित रथ पर आरूढ़।

"अपराजित-पृच्छा" में ब्रह्मा की चतुर्विधा मूर्तियाँ निर्दिष्ट लाञ्छनों के स्थिति-प्रभेद से युगानुरूप वर्णन है—कमलासन (कलि), विरञ्चि (द्वापर), पितामह (त्रेता), ब्रह्मा (सत्य)। अपराजित के लक्षण (२१४·८-६) में एक विशेषता यह है कि इसमें ब्रह्मा को आभूषणों से भी आभूषित कर दिया गया:—

> **ब्रह्मा सुवक्त्रः सुभावः कर्णसंस्थितकुण्डलः किरीटमालाशोभाढ्यः रुमांसगलकेशकः।**
> **तप्तकाञ्चनवर्णाभो मणिरत्नहारोज्ज्वलः मुक्ताकटककेयूरसर्वाभरणभूषितः ॥**

ब्राह्म-मूर्ति-लक्षण में 'रूप मण्डन' का बड़ा ही सांगोपांग वर्णन है। उसमें ब्रह्मा का शिरोभूषण जटा-मुकुट, वक्ष पर यज्ञोपवीत, मुख पर श्मश्रु भी। शिल्प-रत्न ब्रह्मा को कूर्चासन कहता है—कूर्च का अर्थ लम्बी घास; अतः कुर्चासन कुशासन पर संकेत करता है, जो ब्रह्मचारी ब्रह्मा के लिए उचित ही है। ब्राह्म-मंदिर के परिवार-देवों एवं प्रतीहारों (द्वारपालों) का संकेत आवश्यक है।

परिवार देवताः—आदि शेष, गणेश, मातृकायें, इन्द्र, जलशायी, पार्वती और रुद्र, नवग्रह तथा लक्ष्मी क्रमशः आठों दिशाओं में प्रतिष्ठाप्य हैं प्रतीहारों—में (दे० अ० पृ० २२०·१–५) सत्य, धर्मक, प्रियोद्भव, यज्ञ, भद्रक, भव और विभव—ये आठ प्रतिष्ठाप्य हैं। राव महाशय ने ब्राह्म-मंदिर में ऋषि-वृन्द की भी प्रतिष्ठा पर संकेत किया है।

स्मारक-निदर्शन—राव ने ब्राह्म-मूर्ति के निदर्शन में नव फोटो के चित्र प्रस्तुत किया हैं। उनमें आयहोल के शिवमंदिर की, थाना जिला में सोंपारा की कुम्भकोणम् के नागेश्वर स्वामि-मन्दिर की तथा तिरवडी के शिवमन्दिर की ब्राह्म-मूर्तियाँ विशेष उल्लेख्य हैं।

वैष्णव-प्रतिमा-लक्षण

वैष्णव प्रतिमाओं के प्रवचन के पूर्व पाठकों का ध्यान विष्णु भगवान् की उत्पत्ति एवं उनके विकास पर पुनः आकर्षित करना चाहते हैं। विष्णु की सौर निष्पत्ति (Solar origin) पर विद्वानों का ऐकमत्य है :

ध्येयस्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती ।
नारायणस्सरसिजासनसन्निविष्टः ॥
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी ।
हारी हिरण्मयवपुः धृतशंखचक्रः ॥

त्रिमूर्ति में विष्णु का स्थान पौराणिक अवश्य है, परन्तु वैदिक ऋचाओं में—(दे० ऋ० वैष्णव-सूक्त) विष्णु को 'सखिवान' मित्रों के साथ मजा करते हुए—'घृतासुति' घृत (ऐहिक सुख-भोग एवं ऐश्वर्य का प्रतीक) का आनन्द लेते हुए तथा 'सुमजनि'— सुन्दर पत्नी-वाला कहा गया है। अतः इन विशेषणों से विष्णु की पूर्वोद्दिष्ट प्रकल्पना समर्थित होती है।

ऋग्वेद की वैष्णवी ऋचाओं में विष्णु के त्रिपाद-क्रमण में सौर-निष्पति के पुष्ट प्रमाण निहित हैं। इन तीनो क्रमों में, प्रकाश के तीन स्वरूपों:—आग्नेय, वैद्युत एवं सौर अथवा सूर्य के ही कालत्रयात्मक—प्रातःकालीन प्रभविष्णु, मध्याह्नकालीन परमोत्कर्ष तथा सायंकालीन अस्तमन—प्रकाश का प्रतीक निहित है। अथच वेदों तथा ब्राह्मणों में जहाँ अदिति-सूनु आदित्यों का वर्णन है (दे० शतपथ-ब्राह्मण) उनमें विष्णु की भी परि-गणना है। इसी प्रकार महाभारत में भी द्वादश आदित्यों के मूर्धन्य अन्तिम आदित्य विष्णु ही माने गए हैं।

विष्णु की इस सौर-निष्पति पर साधारण संकेत करने के उपरान्त अब हमें देखना है कि पौराणिक विष्णु की महामहिमा, दशावतार, द्वाविंशावतार वा तथा अन्य गौरव-गाथाओं का प्रारम्भ कैसे और कहाँ हुआ ? विष्णु की इस महामहिमा का क्या रहस्य है ?

विष्णु के गृहस्थ, राजस एवं सांसारिक स्वरूपों के प्रतीक प्रतिमा-लक्षणों की ओर संकेत किया जा चुका है। विष्णु की विभिन्न नाम-संज्ञाओं में भी उनके विभुत्व, प्रभुत्व एवं व्यापकत्व आदि की परिनिष्ठा है।

वैष्णव-मूर्तियों को हम सात वर्गों (groups) में विभाजित कर सकते हैं: १—साधारण-मूर्तियाँ २—विशिष्ट मूर्तियाँ ३—ध्रुवबेर ४—दशावतार मूर्तियाँ ५—चतुर्विन्शति मूर्तियाँ ६—क्षुद्र मूर्तियाँ तथा ७—गारुड़ एवं आयुध पुरुष मूर्तियाँ।

साधारण मूर्तियाँ—में शंख, चक्र, गदा, पद्म के लाञ्छनों से युक्त चतुर्भुज मेघश्याम श्रीवत्साङ्कित वक्ष, कौस्तुभ मणिविभूषितोरस्क, कुण्डल-कीरीटधारी सौम्येन्दुवन विष्णु-मूर्ति साधारण कोटि का निदर्शन है। इस में देवी-साहचर्य नहीं। वाराणसेय वैष्णव-बिम्ब (दे० बृन्दावन पृ० ८) इसका परम निदर्शन है।

असाधारण (विशिष्ट मूर्तियाँ)—में अनन्तशायी नारायण, वासुदेव, त्रैलोक्य-मोहन आदि की गणना है। इनमें विष्णु के वैराज्य का ही निर्देशन नहीं है, उनकी महाविभुता एवं परम सत्ता की भी खुली व्याख्या है।

समराङ्गण-सूत्र के विष्णु-लक्षण (दे० परिशिष्ट म) में असाधारण एवं दशावतर दोनों मूर्तियों का संकेत है। सुरासुर-नमस्कृत विष्णु वैदूर्य (नील मणि) संकाश, पीतवास, श्रियावृत के साथ साथ यहाँ पर त्रिभुज, चतुर्भुज अथवा अष्टभुज, अरिंदम, शंख-चक्र-गदापाणि, ओजस्वी कान्तिसंयुक्त कहे गये हैं। अवतारों में वराह, वामन, नृसिंह, दाशरथि राम और जामदग्न्य का ही उल्लेख करके—नानारूपस्तु कर्तव्यो ज्ञात्वा कार्यान्तरं विभुः—ऐसा निर्देश किया है।

अतः स्पष्ट है कि विष्णु के चतुर्भुज विशेषण में वासुदेव, त्रैलोक्यमोहन आदि विशिष्ट मूर्तियों का संकेत है। वासुदेव-मूर्ति का वर्णन हम आगे करेंगे। अग्निपुराण में त्रैलोक्यमोहन विष्णु की अष्टभुजायें निर्दिष्ट हैं। कनिंघम साहब ने एक द्वादशभुजी विष्णु की मूर्ति की प्राप्ति की सूचना दी है (cf. Arch. Sur. Repts Vol. xxi p. 8)। विशिष्ट मूर्तियों में अनन्तशायी नारायण विष्णु-प्रतिमा को भी हम परिगणित करते हैं। यद्यपि आगे वैष्णव ध्रुव-बेरों में शयन-वर्ग में इसका सन्निवेश उचित था परन्तु ध्रुव-बेरों की शयन-मूर्ति एक प्रकार से उपवर्ग है जो इस महामूर्ति—अत्यन्त अद्भुत मूर्ति के लिए उचित नहीं। पहले हम इसी मूर्ति का वर्णन करेंगे।

अनन्तशायी नारायण—विष्णु के अनेक नामों में अनन्त तथा नारायण (भी) दो नाम हैं। अनन्तशायी नारायण मिश्रित (composite Image) प्रतिमा है। इसमें विष्णु नागराज अनन्त (शेष) की शैया पर शयन-मुद्रा में चित्रित हैं तथा अनन्त (नाग) के सप्तभोग (seven hoods) ऊपर से छतरी (canopy) ताने हैं। नारायण का एक पैर लक्ष्म्युत्संगगत, दूसरा शेषभागाङ्कगत, एक हाथ अपने जानु पर प्रसारित, दूसरा मूर्ध-देशस्थ चित्रित है। नाभिसम्भूत कमल पर सुखासीन पितामह और कमलनाल पर लग्न मधु और कैटभ दो असुर, शंख, चक्र आदि लाञ्छन पार्श्व में प्रदर्श्य हैं। इस प्रतिमा की तीन दृष्टियों से व्याख्या की गयी है। पहली का सम्बन्ध आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक संसार से, दूसरी का आधिभौतिक संसार से तथा तीसरी का आधिदैविक-पौराणिक संसार से है। है। पहली दृष्टि से इस प्रतिमा की अनन्तशैया को हम सृष्टि का प्रतीक मान सकते हैं। अनन्त अथवा शेष संसार का मूल-तत्व है (अनन्त, व्योम, आकाश विष्णुपद) विष्णु बुद्धि-तत्व तथा ब्रह्मा पुरुष अथवा जीव। सांख्य दर्शन की भाषा में अनन्त प्रकृति, विष्णु महत्तत्त्व और ब्रह्मा अहंकार। सृष्टि के आदि में सर्वत्र तमोमयी सत्ता, पुनः उससे चिन्मय का प्रादुर्भाव, तत्पश्चात् उससे संसार तथा मनुष्य की उत्पत्ति।

दूसरी दृष्टि से (अर्थात् भौतिक दृष्टि से) यह सम्पूर्ण सृष्टि एक प्रकार का शनैः शनैः विकास है जो सूर्य के आदिम परमाणुओं से प्रादूर्भूत हुआ और पुनः जिसने सौरमंडल की रचना की। इस Proto Atomic matter का प्रतीक है अनन्त, सूर्य का विष्णु, संसार का ब्रह्मा (कमलासन—कमलम्)।

पौराणिक अथवा आधिदैविक दृष्टिकोण से नारायण, जो जलनिवासी है (दे० महा० तथा० मनु०):—

नराज्जातानि तत्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।
तान्येवायनं यस्य तेन नारायणः स्मृतः ॥ महा० ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ताः यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥मनु०॥

उनको सृष्टि के आदि में अनन्त सर्प पर शायी बताया गया है। उनके नाभि से एक विशाल कमल उत्पन्न हुआ—सप्तद्वीपा पृथ्वी, वन तथा सागर। इसी कमल के बीच से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई (दे० वराह, वामन तथा मत्स्य पुराण)। विष्णु के शस्त्रास्त्र आदि लाञ्छनों का अर्थ तथा प्रयोजन वराह-पुराण में स्पष्ट प्रतिपादित है। शंख का प्रयोजन अज्ञान तथा अविद्या के नाशार्थ, खड्ग भी अज्ञान (Ignorance) के विनाशार्थ, चक्र, काल-चक्र का प्रतीक, गदा दुष्टों के दमनार्थ। मधुकैटभ का चित्रण उस पौराणिक आख्यान का संकेत करते हैं जिसमें सृष्टि के बाद ब्रह्मा पर जब इनका आक्रमण हुआ तो विष्णु ने इन्हें मार कर मधुसूदन उपाधि प्राप्त की। अथच विष्णु दैत्य-दमन के लिए ही तो संसार में अवतार लेते हैं। क्षीराब्धिशयन-वैष्णवी-मुद्रा उनके सृष्टि-कार्य पर भी इङ्गित करती है :—

येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाश्च देवताः ।
स एष भगवान् विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः ॥

स्थापत्य-निदर्शनों में—इस प्रतिमा की प्राप्ति देवगढ़ (झांसी) तथा दक्षिणात्य वैष्णव-पीठ श्रीरङ्गम में रङ्गनाथ मन्दिर में तो है ही कनिघम ने और बहुत-सी बड़ी प्रतिमाओं का भी निर्देश किया है।

अतः प्रकट है कि भगवान् विष्णु ही संसार तथा उसकी रचना के प्रथम आधार हैं। विष्णु की अनन्तशायी-नारायण-प्रतिमा के रहस्य के इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब विष्णु की वासुदेव-प्रतिमा के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टिकोण से कुछ संकेत करना है।

वासुदेव—विष्णु के नारायण-रूप की अनादि भावना का निर्देश किया जा चुका है। विष्णु के विभिन्न रूपों का आगे उद्घाटन होगा। यहाँ पर विष्णु के दैविक एवं मानव दोनों स्वरूपों पर कुछ विवक्षा है। वासुदेव रूप भी नारायण के समान ही परम्परा में अधिक प्रसिद्ध है। महाभारत लिखता है—

यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद्वासुदेवः प्रतापवान् ॥

परन्तु वासुदेव की जितनी भी प्रतिमायें इस देश के एक कोने से दूसरे कोने तक मिली हैं उनमें प्रायः मानव की अपेक्षा दैवी विभूति विशेष उल्लेख्य है—चतुर्भुज, ईश-ब्रह्मादिदेवपरिवृत, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी, रुक्मिणी-सत्यभामा-महिषी-सेवित अथवा श्री-पुष्टि-सेवित, किरीटी, वनमाली, आदि। गदा तथा चक्रादि आयुध देव-रूप में प्रतिष्ठित हैं। अथच कूर्म-पुराण में वासुदेव के सम्बन्ध में एक बड़ा ही सुन्दर प्रवचन है।

एका भागवती मूर्तिर्ज्ञानरूपा शिवामला ।
वासुदेवाभिधाना सा गुणातीता सुनिष्कला ॥

इसी प्रकार का एक प्रवचन विष्णु-पुराण में देखिए :—

सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्र वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

अतः इन सन्दर्भों से वासुदेव को तात्विक दृष्टि से हम एक सनातन सर्वव्यापक भागवती सत्ता के रूप में देखते हैं। वासुदेव की प्रतिमाओं में आयुध-प्रतीकों Emblems से भी हम इन्हीं तथ्यों पर पहुँचते हैं चक्र—सनातन, अनादि-काल, नक्षत्र-मण्डल, युग आदि सभी मण्डलों का प्रतीक है। शंख (पावनध्वनि) शब्द का प्रतीक जो आकाश का स्वरूप और जो विष्णुपद (विष्णु-लोक) कहलाता है।

कमल निर्माण-शक्ति रचना—का प्रतीक है। गदा संहारकारिणी शक्ति का प्रतीक है।

मानुष वासुदेव (वसुदेव के पुत्र) वासुदेव कृष्ण की प्रतिमा भी बड़ी ही ओजस्वी चित्रित है। इस प्रकार वैष्णव-प्रतिमाओं में ये दो प्रतिमायें विष्णु की महागौरव-गाथा गाती हैं और उन्हें देवाधिदेव की भावना से मण्डित करती हैं।

जो देव सभी गुणों से—सभी शक्तियों से विभूषित एवं विकल्पित किया गया हो, जो इस सम्पूर्ण जगत का रक्षक हो, रक्षा का भार ही जिसकी ऐहिक एवं पारलौकिक लीलाओं का सर्वस्व हो, जिसकी प्रतिमा में राजस गुण पूर्ण हों, राजसी ठाटबाट भी हों, बड़े-बड़े सम्राटों के किरीट से जिनकी चरण-रज सदा सेवित हो उसी प्रतिमा पर विशेष अभिनिवेश यदि शिल्पियों ने दिखाया तो आश्चर्य की क्या बात ?

'अपराजित-पृच्छा' में वासुदेव-मूर्ति-व्यूह प्रवचन में युगानुरूप वासुदेव (कृत), कृष्ण (त्रेता), प्रद्युम्न (द्वापर) तथा अनिरुद्ध (कलियुग) एवं वर्णानुरूप क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—वर्णन है। पुनः चारों के त्रिकों के अनुरूप द्वादश वासुदेवजा प्रतिमाओं क्रमशः सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध से आविर्भूत— अधोक्षज, कृष्ण-कार्तिकेय, पुरुषोत्तम, तार्क्ष्यध्वज, अच्युत, उपेन्द्र, जयन्त, नारसिंहक, जनार्दन, गोवर्धन, हरि और कृष्ण—का उल्लेख है।

अन्य विशिष्ट मूर्तियों में वैकुण्ठ, विश्वरूप, अनन्त एवं त्रैलोक्यमोहन विशेष उल्लेख्य हैं। स्थापत्य निदर्शनों के अनेक चित्र प्रायः सभी संग्रहालयों—मथुरा, नागपुर, कलकत्ता आदि में सुरक्षित हैं। अन्त में रावमहाशय की मानव-वासुदेव कृष्ण की निम्न श्लाघा का अवतरण देकर दशावतारों की अवतारणा करना है :—As king and statesman, as warrior and hero, as friend and supporter, as guide and philosopher, and as teacher and religious reformer—particularly as the expounder of all comprehensively monotheistic religion of love and devotion to god, conceived as Vasudeva, his achievements have been so great and glorious that among the Incarnations of Visnu none receives more cordial or more widespread worship than Krisna—हमने भी अपनी Thesis में लिखा है—All the characteristics of grand Vaisnava image are the characteristics of Vasudeva. Vasudeva Image is, in a way, the consummation of the metaphysical development of the All-powerful Visnu into Supreme Brahma.

ध्रुव-बेराओं—के निम्न द्वादश-वर्ग पर संकेत हो चुका है—दे०प्र०त्र० । ये प्रतिमायें दाक्षिणात्य मन्दिरों की विशिष्टता हैं । बहुसंख्यक मन्दिर त्रिभौमिक विमान है अतः स्थानक, आसन एवं शयन मूर्तियां क्रमशः प्रथम द्वितीय तथा तृतीय भूमियो Storeys में स्थाप्य है ।

वैष्णव ध्रुव-बेर की द्वादश मूर्तियाँ

१. **योग-स्थानक**—(i) कृष्ण-वर्ण, चतुर्भुज—द० अभय-वरद, वा० कट्य-वलम्बित, द० प्रबाहु चक्र, वा० वा० शंख, (ii) भृगु, मार्कण्डेय भू और लक्ष्मी का परिवार (iii) महाबलिपुरम में इस प्रतिमा का मध्यमवर्गी चित्रण द्रष्टव्य है ।

२. **भोगस्थानक**—शेष योग पूर्ववत्, विशेष वा० कटक-हस्त, परिवार में ऋषियों एवं कृष्णा भूदेवी के साथ स्वर्णवर्णा श्रीदेवी । मद्रास-संग्रहालय एवं तिरयूट्टीयूर के शिवमन्दिर की पराचीन भित्ति पर इसका प्रतिमा-निदर्शन द्रष्टव्य हैं ।

३. **वीर-स्थानक**—(i) शेष पूर्ववत् (ii) परिवार में ब्रह्मा, शिव, मा० भृ० सनक, सनत्कुमार, सूर्य और चन्द्र के साथ-साथ किष्किन्धु और सुन्दर—ये दो नाम भी उल्लिखित हैं । परिवार देवों के हेर फेर से उत्तम, मध्यम तथा अधम वर्ग परिकल्पित किये गये हैं ।

४. **आभिचारिक-स्थानक**—(i) कृष्णवर्ण, उग्रस्वरूप, म्लान-मुख, द्विभुज, चतुर्भुज वा (ii) परिवार नहीं विहित है । ऐसी मूर्ति की पूजा के लिये पैशाच-भागीय-मन्दिर-प्रतिष्ठा विहित है ।

५. **योगासन**—(i) श्वेतवर्ण पीताम्बर, चतुर्भुज, पद्मासन, जटामुकुट, बाहुएँ, योग-मुद्रा, शंख-चक्र अप्रदर्श्य अक्षिनिमीलित, शरीर पर यज्ञोपवीत, कर्ण में कुण्डल, बाहु पर केयूर, गले हार, (ii) बागली के कालेश्वर मन्दिर में प्राप्य है ।

६. **भोगासन**—i) कृष्णवर्ण, चतुर्भुज (शंख, चक्र, वरद, सिंहकर्ण मुद्रा) सिंहासन, (ii) पद्महस्ता लक्ष्मी दक्षिणे, नीलोत्पलहस्ता भूदेवी वामे । (iii) बादामी के गुहा-मन्दिर (३), कञ्जीवरम् के कैलाशनाथस्वामिमन्दिर, इलौरा के गुहामन्दिर—१४ (रावण की खाई) दाडीकोम्बू के वरदराज मन्दिर आदि में निदर्शित है ।

७. **वीरासन**—(i) रक्तवर्ण, कृष्ण-वसन, शेष पूर्ववत्, मुद्रा सिंहकर्णी (ii) लक्ष्मी और भूदेवी घुटने टेके हुए दायें और बायें, ब्रह्मा, मार्कण्डेय, शिव, भृगु, कामिनी और व्याजिनी चामर-धारिणी, अन्य परिवार देवों में सनक, सनत्कुमार, तुम्बुरु, नारद, सूर्य और चन्द्र भी प्रदर्श्य है iii) आयहोल के पाषाण चित्रणों में यह प्रतिमा द्रष्टव्य है ।

८. **आभिचारिकासन**—इसका वेदिकासन विहित है अन्य शेष यथा आभिचारिकास्थानक ।

९. **योगशयन**—द्विभुज, पूर्ण प्रतिमा का ⅔ भाग कुछ उठा हुआ भूषण-मण्डित शेष-शय्या, दक्षिण-हस्त मूर्धस्थ, वाम कटक-मुद्रा में । दक्षिण-पाद उत्थित, वाम नत, पाद-तले—मधुकैटभौ परिवारे च मा० भृ० । इस प्रतिमा के स्थापत्य-चित्र सुन्दर एवं बहुल हैं—महाबलिपुरम, श्रीरंगम, आयहोल आदि स्थान विशेष प्रसिद्ध हैं ।

१० **भोगशयन**—योगशयनवत् । विशेष—स्कन्धनिकटे लक्ष्मी, पादनिकटे भूदेवी । भोगशयनम् का सर्वोत्तम निदर्शन झाँसी जिले के देवगढ़ में स्थित विष्णु-मन्दिर में द्रष्टव्य हैं ।

११. वीरशयन—इस प्रतिमा में मधु-कैटभ दोनों दानवों का करधृत-पाद-मुद्रा में चित्रण विहित है।

१२. आभिचारिक-शयन—यह प्रतिमा आदि शेष पर पूरे पैर फैलाए हुए गाढ़ निद्रा में प्रदर्श्य है।

वैष्णव दशावतार—विष्णु के अवतारों के तीन प्रभेद हैं—पूर्णावतार, आवेशावतार एवं अंशावतार। प्रथम कोटि के अवतार—पूर्णावतार (lifelong endowment) का प्रतिनिधित्व राम और कृष्ण करते हैं जिनका सम्पूर्ण ऐहिक जीवन भगवल्लीला ही रही। दूसरी कोटि का अवतार आवेशावतार (Partial or Temporary one) के निदर्शन परशुराम हैं जिन्होंने अपनी भागवती शक्ति (Divine power) राम के अवतीर्ण होने पर उन्हें समर्पित कर तत्कालीन महेन्द्र पर्वत पर तपश्चरणार्थ चले गये। उनका कार्य भी थोड़ा ही था—मदोन्मत्त क्षत्रियों के मद का विनाश। अतः सिद्ध है, परशुराम के अवतार में दैवी शक्ति परिमितकालिक थी और परिमितकार्मिक भी। तीसरी कोटि के अवतारों में शंख, चक्र आदि आयुध-पुरुषों का निदर्शन है, जो विष्णु के लाञ्छनों में परिगणित है; परन्तु भगवान् के आदेश से मानुष-जन्म लेकर सन्त-साधु के रूप में अपने दैविक कार्य (Divine Mission) को पूरा करते हैं। विष्णु के निम्नलिखित दशावतार प्रायः सर्वमान्य हैं। इनमें बहुसंख्यक अवतारों के प्राचीनतम निर्देश शतपथ-ब्राह्मण (दे० प्रजापति का कूर्मरूप-धारण) तथा तैत्तरीयआरण्यक (दे० शतबाहु कृष्णवराह के द्वारा जल से ऊपर पृथ्वी का उठाया जाना) में आये हैं:

१. मत्स्य	३. वराह	५. वामन	७. रघु-राम	९. बुद्ध तथा
२. कूर्म	४. नृसिंह	६. परशुराम	८. कृष्ण	१०. कलकी

टि० १—भागवत-पुराण में दशावतारों के स्थान पर निम्नलिखित २१ अवतारों का उल्लेख है: पुरुष, वराह, नारद, नर नारायण, कपिल, दत्तात्रेय यज्ञ (दे० यज्ञनारायण), ऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध तथा कलकी। विष्णुधर्मोत्तर में इनके अतिरिक्त दो नाम और हैं—हंस और त्रिविक्रम। आगे हम देखेंगे (दे० विष्णु की क्षुद्र-मूर्तियाँ)। भागवत पुराण की इस लम्बी सूची में बहुसंख्यक नाम विष्णु की क्षुद्र-मूर्तियों में परिसंख्यात हैं।

टि० २—राव महाशय का कथन है कि बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में विष्णु के दशावतारों में बुद्ध की गणना नहीं और उनके स्थान पर बलराम का विनियोग है। बलराम जैसा हम सभी जानते हैं। कृष्ण के बड़े भाई थे और उन्हें शेषावतार (राम के छोटे भाई लक्ष्मण की भी तो शेषावतार-कल्पना है) माना गया है।

विष्णु के इन दशावतारों की महामहिमा की इसी एकमात्र तथ्य से सूचना मिलती है कि इसमें बहुसंख्यक अवतारों के इतिहास पर अलग-अलग विशालकाय महापुराणों एवं उप-पुराणों की रचना की गयी। अतः प्रत्येक की लीला एवं दैविक-कार्यों के सम्बन्ध में यहाँ पर विवरण प्रस्तुत करना अभिप्रेत नहीं। परन्तु पौराणिक आख्यानों का महा मर्म यह है कि व्यापक विष्णु की सर्वव्यापिनी सत्ता का यह गुणगान है। म्योर

(cf. original Sanskrit Texts) ने ठीक ही लिखा है—But the incarnations of Visnu are innumerable, like the rivulets flowing from an inexhaustible lake. Risis, manus, gods, sons of manus, Prajapatis are all portions of him". अवतार-वाद की दार्शनिक व्याख्या में भगवद्गीता के इस परम प्रसिद्ध श्लोक—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे—से हम परिचित ही हैं।

इन अवतारों की वैज्ञानिक व्याख्या में इतना ही स्मरणीय है कि इन अवतारों में विश्व के विकास का रहस्य छिपा है। पुराण शब्द का अर्थ ही पुराणमाख्यानम् - पुराना इतिहास है। अतः इन पुराण-प्रतिपादत अवतारों में विकास-वाद का क्रम व्याख्यात है। इन दशावतारों में प्रथम चार में जगद्-रचना की सूचना मिलती है। अतएव इनको (cosmogenic in character) कह सकते हैं। मनुस्मृति के इस प्रवचन से हम परिचित ही हैं—अप एवस ससर्जादौ····। अतः सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वत्र जल ही जल था। अतः जगत् के विकास में मत्स्य ही प्रथम जीव (या जन्तु) था जिसने प्राणियों की रचना का प्रतिनिधित्व किया। मत्स्यावतार सृष्टि के इसी विकास का प्रतीक है। जल के बाद पर्वतों का उदय प्रारम्भ हुआ। इसका प्रतीक कूर्म है। पार्वत्य-प्रदेश की कूर्म-स्थान की संज्ञा से हम परिचित ही हैं। अतः सृष्टि के विकास का यह द्वितीय सोपान कूर्मावतार में निहित है। समुद्र-मन्थन का पौराणिक आख्यान जगत् के उस विकास का सूचक है जब जल से भूमि का उदय हो रहा था। जल से भूमि के इस उदय में सृष्टि के विकास के तृतीय सोपान का मर्म छिपा है, जो वराहावतार ने सम्पन्न किया। नृसिंहावतार में मानव एवं पशु—दोनों के विकास के इतिहास की कहानी छिपी है।

अस्तु, दशावतारों के इस उपोद्घात के अनन्तर अब इनमें से कुछ के विशेष विवरण अति संक्षेप में उपस्थाप्य हैं।

वराहावतार—की वाराही विष्णु-मूर्तियों के तीन कोटियाँ है—१. **भू-वराह** (आदि वराह अथवा नृवराह) २. **यज्ञवराह** तथा ३. **प्रलय-वराह**। इनके स्थापत्य-निदर्शनों में महाबलिपुरम् की वाराह-पाषाण-पट्टिका (Varaha Panel), बादामी की भू-वराह-मूर्ति तथा मद्रास संग्रहालय की वाराही ताम्र-प्रतिमा विशेष उल्लेख्य हैं।

नृसिंहावतार—की नारसिंही वैष्णव-प्रतिमाओं की प्रधान दो कोटियाँ है :—१. **गिरिज-नृसिंह** तथा २. **स्थाणु नृसिंह**। बादामी और हलेबीड़ की केवल-नृसिंह-पाषाण-प्रतिमाओं से एवं आगमों के सन्दर्भों से स्थापत्य में इन दो प्रधान कोटियों के अतिरिक्त कतिपय अन्य-वर्गीय नारसिंही प्रतिमाओं की सूचना मिलती है जिनमें **यानक-नृसिंह** (जिसमें नृसिंह गरुड़ के कंधों अथवा आदिशेष के भोगों पर प्रतिष्ठित प्रदर्श्य हैं) **केवल-नृसिंह** (योग-नृसिंह) तथा **लक्ष्मी-नृसिंह** विशेष उल्लेख्य हैं जिनका उपलब्ध शास्त्रों में तो वर्णन नहीं मिलता परन्तु स्थापत्य-निदर्शन प्राप्त हैं। स्थाणु नरसिंह की सर्वप्रसिद्ध प्रतिमा इलौरा के पाषाण पट्टों पर चित्रित है। मद्रास-संग्रहालय की इसकी ताम्रजा-प्रतिमा भी अति प्रसिद्ध है।

त्रिविक्रमावतार (वामनावतार)—की वैष्णवी प्रतिमाओं के स्थापत्य में विपुल चित्रण है—बादामी, इलौरा, महाबलिपुरम् के स्मारक-पीठों पर इनके ओजस्वी चित्र द्रष्टव्य हैं। मध्यभारत के रायपुर जिले में रजिमस्थ त्रैविक्रमी पाषाण-प्रतिमा भी बड़ी प्रख्यात है।

कृष्णावतार—की कृष्ण मूर्तियों में नवनीत-नृत्य-मूर्ति, गण-गोपाल (या वेणु गोपाल), पार्थसारथी, कालिय-मर्दक, गोवर्धन-धर विशेष उल्लेख्य हैं और इनके दाक्षिणात्य स्थापत्य में विपुल चित्रण हैं।

बुद्धावतार—विष्णु की बौद्ध-प्रतिमा का निम्न लक्षण बृहत् संहिता, अग्निपुराण और विष्णु-धर्मोत्तर के अनुसार अति संक्षेप में इसलिये आवश्यक है जिससे आगे वज्र यान की पृष्ठ-भूमि पर पल्लवित बौद्ध-प्रतिमाओं के लक्षणों से इसकी तुलनात्मक समीक्षा पाठक कर सकें।

बौद्ध-प्रतिमा के हस्त एवं पाद पद्माङ्कित होने चाहिये। प्रसन्न-मूर्ति, सुनीचकेश, पद्मा-सनोपविष्ट भगवान बुद्ध जगत के पिता के सदृश सन्दर्श्य हैं। अथच (अग्नि० के अनुसार) वह लम्बकर्ण एवं वरदायभयदायक भी चित्र्य हैं। वि० ध० ध्यायी बुद्ध को कषायवस्त्र-संवीत, स्कन्धसंसक्तचीवर चित्रित करता है। अन्य लक्षणों में वह रक्तवर्ण, त्यक्ताभरण-मूर्धज, कषायवस्त्र एवं ध्यानस्थ प्रतिपादित हैं।

बलराम—विष्णु के दशावतारों में ही बलराम की गणना है; परन्तु समराङ्गण में बलराम पर स्वतन्त्ररूप से लक्षण हैं; अतः यहाँ पर बलराम-प्रतिमा का कुछ विस्तार से समीक्षण अभीष्ट है। बलराम भागवत के अनुसार विष्णु के १८वें अवतार हैं और इनका सम्बन्ध मानुष वासुदेव-कृष्ण-परिवार से है—कृष्ण के सौतेले बड़े भाई। दार्शनिक दृष्टि से बलराम काल की संहार-कारिणी शक्ति के प्रतीक हैं और पुराणों ने इन्हें शेष का अवतार कहा है।

स० सू० (दे० **परिशिष्ट** 'ग') में इनके प्रतिमालक्षण में इन्हें 'सुभुज' श्रीमान्, तालकेतु (ताल वृक्ष की ध्वजा लिये हुए) महाद्युति, वक्ष में वनमाला से विभूषित, निशाकरसमप्रभ (चन्द्रकान्ति), एक हाथ में सीर (हल) दूसरे में मुसल लिये हुए, दिव्या सुरा के पान से उत्कट मद में चूर, चतुर्भुज, सौम्यवदन, नीलाम्बर-समावृत कहा गया है। अथच इनका शिर मुकुट-विभूषित एवं शरीर अलङ्कारों से अलंकृत चित्रणीय है। प्रताप एव शक्ति की आभा से प्रोज्ज्वल, रेवती देवी (अपनी पत्नी) के साथ इन्हें राग-विभूपित दिखाना चाहिये। इस लक्षण में बलराम का लोकोत्तर लक्षण यह है कि यद्यपि मद पिये हैं तब भी सौम्य-वदन हैं।

यद्यपि बलराम की प्रतिमा पर ग्रन्थों में स्वतन्त्र लक्षण है तथापि स्थापत्य में इनका बहुत कम स्वाधीन चित्रण द्रष्टव्य है। ये सदैव अपने भाई कृष्ण के साथ प्रदर्शित किये गये हैं। राव ने ठीक ही लिखा है—'The glory of the younger brother has thrown the elder brother into the shade... ...'

चतुर्विंशति-मूर्तियाँ—विष्णु के सहस्र नाम (दे० महा० अनु० प०) हैं। इनमें २४ नाम विशेष पावन हैं जिनका विष्णु-पूजा में दैनिक संकीर्तन होता है। अतएव स्थापत्य में भी इन २४ विष्णु-रूपों का चित्रण हुआ है। इन स्थापत्य निदर्शनों का सर्व-प्रसिद्ध पीठ

होसयल-देश है। इन चौबीसों की प्रतिमायें प्रायः समान चित्रित हैं—केवल वैष्णव-लाञ्छनों के हेर-फेर से इनकी अभिज्ञा होती है। निम्न तालिका से इनके लाञ्छन एवं इनकी शक्तियों का निर्देश द्रष्टव्य है :

चतुर्विंशति मूर्तयः।

	संज्ञा	दक्षिणबाहु	वामबाहु	दक्षिण प्रबाहु	वाम प्रबाहु	शक्ति
१	केशव	पद्म	गदा	शंख	चक्र	कीर्ति
२	नारायण	शंख	चक्र	पद्म	गदा	कान्ति
३	माधव	गदा	पद्म	चक्र	शंख	तुष्टि
४	गोविन्द	चक्र	शंख	गदा	पद्म	—
५	विष्णु	गदा	चक्र	पद्म	शंख	—
६	मधुसूदन	चक्र	गदा	शंख	पद्म	—
७	त्रिविक्रम	पद्म	शंख	गदा	चक्र	शान्ति
८	वामन	शंख	पद्म	चक्र	गदा	क्रिया
९	श्रीधर	पद्म	शंख	चक्र	गदा	मेधा
१०	हृषीकेश	गदा	शंख	चक्र	पद्म	हर्षा
११	पद्मनाभ	शंख	गदा	पद्म	चक्र	श्रद्धा
१२	दामोदर	पद्म	चक्र	शंख	गदा	लज्जा, सरस्वती
१३	संकर्षण	गदा	चक्र	शंख	पद्म	लक्ष्मी
१४	वासुदेव	गदा	पद्म	शंख	चक्र	प्रीति
१५	प्रद्युम्न	चक्र	पद्म	शंख	गदा	रति
१६	अनिरुद्ध	चक्र	पद्म	गदा	शंख	—
१७	पुरुषोत्तम	चक्र	गदा	पद्म	शंख	—
१८	अधोक्षज	पद्म	चक्र	गदा	शंख	—
१९	नृसिंह	चक्र	शंख	पद्म	गदा	—
२०	अच्युत	गदा	शंख	पद्म	चक्र	दया
२१	जनार्दन	पद्म	गदा	चक्र	शंख	—
२२	उपेन्द्र	शंख	पद्म	गदा	चक्र	—
२३	हरि	शंख	गदा	चक्र	पद्म	—
२४	श्रीकृष्ण	शंख	चक्र	गदा	पद्म	—

विष्णु के अंशावतार एवं अन्य स्वरूप-मूर्तियाँ—इन मूर्तियों में निम्नलिखित की परिगणना है :

१ पुरुष	७ हरिहर-पितामह	१३ हयग्रीव	१९ वेङ्कटेश
२ कपिल	८ वैकुण्ठ	१४ आदिमूर्ति	२० विठोबा
३ यज्ञ-मूर्ति	९ त्रैलोक्य-मोहन	१५ जलशायी	२१ जगन्नाथ
४ व्यास	१० अनन्त	१६ धर्म	२२ नरनारायण
५ धन्वन्तरि	११ विश्वरूप	१७ वरदराज	तथा
६ दत्तात्रेय	१२ लक्ष्मी-नारायण	१८ रंगनाथ	२३ मन्मथ

टि०—इनमें से अनन्तशायी एवं रंगनाथ की विशिष्ट वैष्णव-प्रतिमाओं का हम निर्देश कर चुके हैं। पुरी के जगन्नाथ की महिमा से कौन अपरिचित है? अन्य मूर्तियों के भी बहुसंख्यक स्थापत्य में निदर्शन प्राप्त हैं। अजमेर की हरिहर-पितामह (पाषाण-मूर्ति) बादामी की दत्तात्रेय-मूर्ति और वैकुण्ठनाथ-मूर्ति तथा वेलूर (द० भारत) की लक्ष्मी-नारायण मूर्ति विशेष उल्लेख्य हैं।

गारुड़ एवं आयुध-पौरुषी वैष्णव-मूर्तियों—में इतना ही निर्देश आवश्यक है कि गरुड़ की मूर्ति (दे० बादामी) में अमृत-घट तथा सर्प-लाञ्छन आवश्यक है। आयुध-पुरुषों में विभिन्न वैष्णव आयुधों में कुछ तो पुरुष-प्रतिमा तथा अन्य स्त्री-प्रतिमा में चित्र्य हैं। शक्ति और गदा का चित्रण स्त्री-प्रतिमा में विहित है। अंकुश, पाश, शूल, वज्र, खड्ग तथा दण्ड पुरुष-प्रतिमा में। चक्रावतार विष्णु की ताम्र प्रतिमा (दे० सुदर्शन-चक्र) दाडीक्कुम्बू के स्थापत्य में प्रसिद्ध है। सुदर्शन चक्र की वैष्णवी प्रतिमा उग्र मूर्ति का निदर्शन है जिसमें षोडश हस्त प्रदर्श्य हैं और जिनमें चक्र, शंख, धनु, परशु, असि, बाण, शूल, पाश, अंकुश, अग्नि, खड्ग, खेटक, हल, मुसल, गदा और कुन्त—ये १६ आयुध चित्रणीय हैं। सुदर्शन की पुराणों में बड़ी महिमा गायी गयी है—वह 'रिपु-जन-प्राण-संहार-चक्र' की संज्ञा से संकीर्तित किया गया है। इसी प्रकार अन्य आयुध भी विभिन्न दर्शन दृष्टियों के प्रतीक हैं। विष्णु-पुराण में गदा सांख्य-दर्शन की बुद्धि, शंख अहंकार एवं बाण कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों, असि विद्या तथा असि-आवरण अविद्या के प्रतीक हैं और इन्द्रियों के पति महाप्रभु हृषीकेश इन्हीं प्रतीकों के उपलक्षण प्राणियों के कल्याणार्थ निराकार होते हुए भी भूतल पर अवतार लेते हैं। कामिकागम में शैव-आयुधों की भी इसी प्रतीक-कल्पना पर दार्शनिक व्याख्या दी गयी है। भास्कराचार्य (दे० 'ललित-सहस्रनाम' की टीका) ने भी ऐसी ही दार्शनिक व्याख्या की है जो विस्ताराभाव से संकोच्य है।

शैव-प्रतिमा-लक्षण

ब्रह्म का जीवन, ब्रह्मचारी की निष्ठा, समाज के कतिपय लोग ही वहन कर सकते हैं। गायत्री एवं सरस्वती के प्रोज्ज्वल स्वरूप एवं वैभव के अधिकारी अत्यल्पसंख्यक विद्वान् ब्राह्मण ही हो सकते हैं। सम्राटों एवं महासामन्तों के आदर्श उपास्य देव विष्णु का वैभव साधारण जनता के लिये अलभ्य है। भगवती लक्ष्मी का वरेण्य वरदान इने-गिने लोगों के भाग्य में होता है। परन्तु भगवान् शंकर की जटाजूट से प्रादुर्भूता पुण्यसलिला भागीरथी के पावन जल में पुण्यस्नान के भागी सभी हो सकते हैं। भगवती गौरी की कृपादृष्टि सदैव सनातन से सब पर पड़ी है—निर्धन, दरिद्र तथा दीन विशेष कृपा के पात्र के निदर्शन रहे। भारत के भौगोलिक एवं भौतिक प्रतीकों में शंकर का हिमाद्रि के उत्तुंग शिखर पर्वतराज कैलाश गौरीशंकर आदि से रहा है। अतः यदि हम शैवधर्म को, शैव जीवन एवं दर्शन को भारत का राष्ट्रीय धर्म, जीवन एवं दर्शन कहें तो अत्युक्ति न होगी। शैव-धर्म, शैव दर्शन एवं उसके विभिन्न संप्रदायों एवं शाखाओं पर हम पूर्व-पीठिका में सविस्तर लिख चुके हैं।

प्रतिमा-स्थापत्य की दृष्टि से एवं पौराणिक एवं दार्शनिक दृष्टि से भी शिव का सर्वातिशायी आधिराज्य है जिसको देखकर, सुनकर एवं मनन कर मानव-बुद्धि मग्न होकर हतप्रभ हो जाती है। शिव की लिङ्ग-प्रतिमा तो भारत की सर्वसाधारण प्रतिमा है—क्या गाँव में, क्या मार्ग में, क्या जंगल में और क्या झाड़ी में—सर्वत्र ही शिव-लिङ्ग विराजमान है। पर्वतों के शिखर और उपत्यकायें भी, सरिताओं और तड़ागों के तट या किसी भी जलाशय को लीजिये कोई भी स्थान शिव-लिङ्ग से रिक्त नहीं। यही कारण है, शिव भारत का सर्वप्रसिद्ध देव, शैव भारत के बहुसंख्य वासी, शिव-प्रतिमायें स्थापत्य की सर्वाधिक रचनायें, शिव-मन्दिर वास्तुकला की सर्वव्यापिनी एवं सर्वप्रचुर कृतियाँ हैं।

प्रतिमा-शास्त्रों (दे० आगम और तन्त्र, पुराण और शिल्पशास्त्र) ने शिव-प्रतिमाओं के सर्वाधिक विवरण दिये हैं। प्रतिमा-स्थापत्य में शिव-प्रतिमाओं के दो विभिन्न वर्ग प्राप्त होते हैं—लिङ्ग-प्रतिमा और रूप-प्रतिमा (Phallic and Human forms)। अतः तदनुरूप शास्त्रों के प्रतिमा-लक्षण में भी लिङ्ग-लक्षण तथा रूप-लक्षण (दे० स० सू० ७० वाँ तथा ७७ वाँ अ०) पृथक्-पृथक् प्रस्तुत हैं। यद्यपि शिव मंदिर की प्रधान देवता-मूर्ति लिङ्ग-मूर्ति ही सर्वत्र प्रतिष्ठाप्य है तथापि प्रथम हम रूप-प्रतिमा-लक्षण पर वर्णन करेंगे। आध्यात्मिक दृष्टि से यह ठीक भी है। रूप-प्रतिमा में सगुणोपासना के ही बीज हैं, परन्तु लिङ्ग तो निराकार है; अतएव निराकार ब्राह्म-प्रतीक लिङ्ग की मीमांसा अन्त में ही होनी चाहिये।

रूप-प्रतिमा

रूप-प्रतिमा के प्रथम प्रधानतया दो वर्ग हैं—शान्त (या सौम्य) तथा अशान्त (या उग्र)। सौम्य तथा उग्र के भी नाना प्रभेद हैं जिन पर हम आगे संकेत करेंगे।

रूप-प्रतिमा के दोनों प्रकार—शांत तथा उग्र रूप पर स० सू० (दे० परिशिष्ट 'स०') का यह लक्षण पूर्ण प्रकाश डालता है। लोकेश्वर महेश्वर का प्रतिमा-प्रकल्पन में उन्हें श्रीमान् चन्द्राङ्कितजट, नीलकण्ठ, संयमी, विचित्र-मुकुट (जटा-मुकुट), निशाकर (चन्द्रमा) के सदृश कांतिमान् प्रदर्शित करना चाहिये। पन्नगों तथा मृगचर्म को धारण किये हुए होना चाहिये। हस्त-संयोग के सम्बन्ध में इस प्रतिमा को द्विभुजी, चतुर्भुजी या अष्टभुजी बना सकते हैं—यह सौम्य रूप की हस्त-योजना है। सर्वलक्षण-सम्पूर्ण उपर्युक्त लांछनों से युक्त इस प्रकार की शैवी-प्रतिमा जहाँ होती है उस देश तथा उसके राजा की परा वृद्धि होती है।

अथच अरण्य में अथवा श्मशान में शिवप्रतिमा की प्रतिष्ठा करनी हो तो उनका निम्न रूप प्रकल्पित करना चाहिये; जिससे बनवाने वाले के लिये शुभकारक हो— भुजायें १८ या बीस विहित हैं —कहीं-कहीं सौ बाहु वाली अथवा सहस्र बाहु वाली प्रतिमा भी रौद्र-रूपाकृति में विहित है—उन्हें इस प्रतिमा में गणों से घिरे हुए तथा सिंहचर्म धारण किये हुए बनाना चाहिये। इस रौद्र रूप के आगे के दाँत पैनी दाढ़ के अग्र भाग के समान निकले हों और वह मुण्डमाला विभूषित, पृथुल-वक्ष, उग्र-दर्शन—चन्द्राङ्कितशिर (दोनों रूपों में समान)। इस प्रकार की श्मशान में प्रतिष्ठाप्य-प्रतिमा बनाना चाहिये जो

कल्याणदायिनी होती है। भुजाओं के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि राजधानी में प्रतिष्ठाप्या शिवप्रतिमा के दो ही हाथ शुभदायी हैं। पत्तन (नगर आदि) में चार भुजायें इष्ट हैं। परन्तु श्मशान अथवा वन में प्रतिष्ठाप्य प्रतिमा के बीस हाथ हो सकते हैं।

भगवान् रुद्र यद्यपि एक हैं परन्तु स्थान-भेद से विद्वानों ने उन्हें विविध रूपों से विभूषित किया है। उनके दोनों रूपों, सौम्य तथा उग्र, के अनुरूप ये प्रभेद-प्रकल्पन ठीक ही हैं। जिस प्रकार भगवान् सूर्य उदयकाल में बड़े ही सौम्य-दर्शन होते हैं, परन्तु मध्याह्न में उग्र-रूप-धारी प्रचण्ड प्रचण्डांशु के रूप में बदल जाते हैं उसी प्रकार शांत एवं सौम्य मूर्ति शंकर अरण्य में स्थित हो रौद्र रूप-धारी विकल्पित होते हैं। अर्थात् रौद्र-स्थान में रौद्र तथा सौम्य-स्थान में सौम्य। इस प्रकार इस स्थान-प्रभेद का पूर्ण ज्ञान रखते हुए शिल्पी को लोककल्याणकारक शिव की प्रतिमा विनिर्मित करनी चाहिये। किंपुरुषादि प्रथम-गणों का भी शैवी प्रतिमा में चित्रण आवश्यक है।

त्रिपुर-द्रुह शंकर का यह समराङ्गणीय संस्थान यद्यपि एक प्रकार से परिपूर्ण है तथापि यहाँ पर यह निर्देश्य है कि शैव-प्रतिमा-लक्षण की दो परम्परायें हैं—पौराणिक एवं आगमिक। समराङ्गण पौराणिक परम्परा का अनुगामी है; अतएव आगम-प्रतिपादित नाना शैव-प्रातमाओं पर इसमें निर्देश कहाँ से मिलेगा ?

अथच पौराणिक लक्षणों (एवं उनसे प्रभावित अन्य एतत्सम्बन्धी ग्रन्थों—हेमाद्रि-चतुवर्ग-चिन्तामणि—व्रतखण्ड, आदि आदि) में निर्दिष्ट कतिपय लक्षण यहाँ पर निर्दिष्ट नहीं हुए जैसे शिव का वाहन वृषभ तथा शिव के पञ्च आनन। पुराणों के नाना शिव-रूपों में **अर्धनारीश्वर, हर-गौरी, उमा-महेश्वर, ताण्डव-शिव, हरि-हर एवं भैरव** (अग्निपुराण के अनुसार पूर्णरूप) विशेष उल्लेख्य हैं। समराङ्गण के ही समान पौराणिक परम्परा—उत्तरी वास्तु-शैली के प्रौढ़ एवं प्रतिनिधि ग्रन्थ 'अपराजित-पृच्छा' के शाम्भव-मूर्ति-लक्षण (दे० इस पीठिका का अ० २ पृ० १८६) पर हम संकेत कर ही चुके हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से शिवोपासना को हम दो ऐतिहासिक सोपानों में विकसित देख सकते हैं—एक है लिङ्गप्रर्तकत्व तथा दूसरा महेशत्व। महेशत्व का सुन्दर परिपाक उमा-महेश्वर-मूर्ति में और हरिहर-मूर्ति में है। प्रथम में महेश-भाग जटिल, बालेन्दु-कला-मण्डित, त्रिशूल-धारी प्रकल्प्य है तथा उमा भाग में सीमन्ततिलकमन्डिता, सर्पकुञ्चित-दक्षिण-कर्णा, दर्पणधृता, बलकलम्बृता, पीनस्तनी आकृति प्रकल्प्या विहित है।

इसी प्रकार हरिहर-मूर्ति है—उसके सम्बन्ध में मत्स्यपुराण का यह प्रवचन देखिये:—

वामार्धे माधवं कुर्याद्दक्षिणे शूलपाणिनम्।
शंखचक्रधरं शान्तमारक्तांगुलिविभ्रमम्॥
दक्षिणार्धे जटाभारमर्द्धेन्दुकृतलक्षणम्।
भुजंगहारवलयं वरदं दक्षिणं करम्॥
द्वितीयं चापि कुर्वीत त्रिशूलवरधारिणम्।

अर्थात् इस प्रतिमा के दक्षिणार्ध भाग में शिव प्रतिमा तथा वामार्ध में विष्णु चक्र एवं शंख धारण किये हुए होने चाहिये।

ऊपर शिवमूर्तियों में भारतीय दार्शनिक बृहती भावना का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत वृन्दावन भट्टाचार्य ने अपने Indian Images में (देखिये पृष्ठ २३) बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है: —

तत्वतः (Metaphysically) शिव-आकृति 'सुन्दरम्' का प्रतीक है—साथ ही इसमें गुणातीत के प्रतीकत्व का भी बोध होता है। [देखिये शंकराचार्य के शिवोऽहं पद्य—लेखक] शिव का वृषभ धर्म का प्रतीक है। रुद्र में विश्व की संहारकारिणी शक्ति का प्रतीकत्व छिपा है। काल सर्वनाशक है। शिव का काल से तादात्म्य है जिसका प्रतीक सर्प है जो अपने मुख से अपनी पूँछ दबाकर चक्र-निर्माण करता है जिसका न तो आदि है न अन्त। रुद्र—रुदन करनेवाला—शोक करनेवाला है उसकी प्रकृति के प्रतीक सर्प एवं वृषभ है जो अपने अजगरीपन के लिये बदनाम है। हिन्दी कहावत है 'अजगर करै न चाकरी'। शिव का ताण्डव-नृत्य दिशाओं का नृत्य है—इस नृत्य में विश्व का प्रलय निहित है। शिव के नामों में एक नाम व्योमकेश है—आकाश-केश वाला। अतः चन्द्रांकित होना ठीक ही है। त्रिशूल, मुण्डमाला, सर्वविनाश के प्रतीक हैं।

उमामहेश्वर में शक्ति तथा शक्तिमान् की व्याख्या है एवं सत्ता-तथा शक्ति का सुन्दर निदर्शन। अर्धनारीश्वर में विकास की अपरिपक्वता निहित है। हरिहर-आकृति में Time समय और Space का चरम मिलन अथवा ऐक्य का सुन्दर प्रतीक। शिव—महाकाल। विष्णु—व्यापक space।

उनका त्रिनेत्र—ज्ञाननेत्र अतः महायोगी। काम का भस्मीकरण—इच्छाओं की विजय है जो योगी की परम साधना एवं सिद्धि के परिचायक हैं।

महादेव की इन महिमामयी विभिन्न मूर्तियों के इस अत्यन्त स्थूल समीक्षण के उपरान्त अन्य बहुसंख्यक लक्षण जो विशेषकर दक्षिणापथ निदर्शन में प्राप्त हैं तथा जिनकी स्थापत्य में रचना, द्राविड-परम्परा के अनुगामी शास्त्रों – आगमों में प्रतिपादित नियमों के अनुरूप हुई है, उनका भी थोड़ा-सा संक्षेप में निर्देश कर देना ठीक ही है। विस्तृत विवरणों के लिये राव महाशय का प्रामाणिक ग्रन्थ द्रष्टव्य है। यहाँ शिवार्चा के विभिन्न प्रतिमा-विषयक प्रवचनों में प्रधानतः पौराणिक परम्परा या उसके प्रौढ़ एवं प्रतिनिधि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ—समराङ्गण की ही विशेष चर्चा प्रमुख है। अनुषङ्गतः दूसरी परम्पराओं पर दृष्टिपात मात्र अभीष्ट है।

पीछे शिव की रूप-प्रतिमाओं के नाना उप-वर्गों का संकेत किया गया था। तदनुरूप उन पर थोड़ी सी यहां पर संक्षेप में प्रस्तावना अभीष्ट है। निम्नलिखित ७ उपवर्ग विशेष उल्लेख्य हैं जिनमें प्रथम एवं पंचम को उग्र मूर्तियों में परिकल्पित कर सकते हैं और शेष शान्त मूर्तियों में :—

१. संहार-मूर्तियाँ
२. अनुग्रह-मूर्तियाँ
३. नृत्य-मूर्तियाँ
४. दक्षिणा मूर्तियाँ (यौगिक, सांगीतिक एवं दार्शनिक स्वरूप)
५. कंकाल तथा भिक्षाटन मूर्तियाँ—
६. अन्य विशिष्ट मूर्तियाँ
७. लिङ्ग-मूर्तियाँ

संहार-मूर्तियां —हिन्दू-त्रिमूर्ति—ब्रह्मा-विष्णु-महेश में शिव का कार्य संहार है। उत्पत्ति की मूलभित्ति संहार है। ब्रह्मा उत्पादक, विष्णु पालक एवं महेश (शिव) संहार-कारक। इस वर्ग के भी नाना स्वरूप हैं जिनकी कथा में विशाल पौराणिक एवं आगमिक साहित्य संदर्भ हैं। स्थापत्य में इनका चित्रण भी प्रचुररूप में द्रष्टव्य है। अतः संक्षेप में निम्न स्वरूपों का संकीर्तन किया जाता है :—

१. कामान्तक-मूर्ति—मन्मथ-दाह की पौराणिक एवं काव्यमयी (दे० कालिदास का कुमार-संभव) कथा से हम सभी परिचित हैं। इस मूर्ति में शिव का चित्रण योग-दक्षिणामूर्ति में विहित है जिसके सम्मुख मन्मथ को दृष्टिमात्र से पतित प्रदर्श्य है। साथ में सर्वालङ्कारालंकृत, पीताम्, लम्बिनी-तापिनी-द्राविड़ी-मारिणी-वेदिनी नामक पांच पुष्पों को लिये हुए, इक्षुधनु, वसन्त-सहायक मन्मथ प्रदर्श्य है। मन्मथ की प्रतिमा शिव-प्रतिमा से आधी हो या पौनी से बड़ी न होना चाहिये।

२. **गजासुर-संहार मूर्ति**—कू० पु० के अनुसार गजरूप धारण कर जब एक असुर शिवभक्त ब्राह्मणों को पीड़ित करने आया तो भगवान् ने अपनी लिङ्ग-मूर्ति से प्रकट होकर उसका वध किया और उसके चर्म से अपना उत्तरीय बनाया अत एव इस लिङ्ग (काशी) का नाम कृत्तिवासेश्वर पड़ा। शिव के विभिन्न नामों में एक नाम कृत्तिवास से हम परिचित ही हैं। इस प्रतिमा के चित्रण में शिव के हाथों में त्रिशूल-पाशादि आयुध प्रदर्श्य है तथा गज-मर्दन-मुद्रा में गजदन्तग्राह प्रदर्श्य है। अमृतेश्वर अमृतपुर मैसूर की षोडश-भुजी पाषाण-मूर्ति, तथा वलूवूर (आगमों के अनुसार गजासुर-संहार-स्थान) की ताम्रजा (bronze) प्रतिमा विशेष प्रसिद्ध हैं।

३ कालारि-मूर्ति—में काल और कालारि शिव के साथ ऋषि मृकण्ड के पुत्र मार्कण्डेय का भी चित्रण आवश्यक है (शिव ने पिता को पुत्र-जन्म का वरदान दिया था परन्तु काल-यम मारने आये अतः उनका दमन)। इलौरा के दशावतार-गुहा-मन्दिर में यह प्रतिमा द्रष्टव्य है। वहीं पर कैलाश-मंदिर में यह चित्रण सुन्दर है। इसके ताम्रज चित्रण भी उपलब्ध है।

४ त्रिपुरान्तक मूर्ति—त्रिपुरान्तक-कथा का पुराणों एवं आगमों में बड़ा विस्तार है। उसमें परस्पर विषमता भी है। त्रिपुर अर्थात् तीन नगर के विनाशक शिव की कथा है : तारकासुर के तीन पुत्र—विद्युन्माली, तारकाक्ष, और कमलाक्ष—मयासुर-विनिर्मित, स्वर्ग में स्वर्णिम, अन्तरिक्ष में राजत और भूपर लौह—इन तीनों नगरों में रहने लगे। बड़ी तपस्या की। ब्रह्मा से वरदान मांगा—इन दुर्गों का नाश केवल एक ही तीर से हो तो हो अन्यथा ये अनाश्य रहें और एक हजार वर्ष बाद तीनों एक में मिल जावें। तीनों लोकों पर अपनी प्रभुता जमा कर इन असुरों ने सुरों को सताना शुरू कर दिया। इन्द्र की भी न चली। तब सब देवगण ब्रह्मा के पास पुनः पधारे तो उन्होंने शिव के पास भेज दिया कि ऐसा बाण तो भगवान् शिव के पास ही हो सकता है। तब शिव ने सब देवों की आधी-आधी शक्ति मांग ली—शिव महादेव बने। पुनः विष्णु को बाण बनाया, अग्नि को इसकी नोंक, यम को इसका पंख, वेदों का धनुष, और सावित्री की प्रत्यञ्चा। ब्रह्मा स्वयं सारथि बने फिर क्या

था, महादेव ने इन तीनों पुरों का एक क्षण में अन्त कर दिया। इस प्रतिमा का भी स्थापत्य-चित्रण इलौरा के दशावतार और कैलाश में विशेष सुन्दर है। अन्य स्थानों में मदुरा के सुन्दरेश्वर-मन्दिर और कञ्जीवरम् के पाषाण-चित्रण भी प्रसिद्ध हैं।

५ शरभेश-मूर्ति—विष्णु के नृसिंहावतार एवं उनके द्वारा हिरण्यकशिपु के वध की कथा सभी जानते हैं। असुर के वधोपरान्त भी विष्णु ने अपना यह उग्र रूप शान्त नहीं किया जिससे जगत के निवासियों को पीड़ा पहुँच रही थी। इस पर मानवों के कल्याण-कामी देव लोग शिव के पास पहुँचे। आशुतोष ने तत्क्षण शरभ रूप धारण किया। शरभ एक पौराणिक पशु या पक्षी या दोनों है। शरभेश शिव के स्वरूप में दो शिर, दो पङ्ख, आठ सैंहिक पाद और एक लम्बी पूँछ का वर्णन है। शिव का यह भयानक रूप महानाद करता हुआ नृसिंह के पास पहुँचा और उसको अपने पञ्जों में डालकर चीड़-फाड़ कर खतम कर दिया। अब विष्णु के होश ठिकाने आये और शिव की प्रशंसा कर अपने वैकुण्ठ सिधारे।

कामिकागम के अनुसार शरभेश-मूर्ति-प्रकल्पन में शरीराकृति स्वर्णाभ खग, उठे हुए दो पङ्ख, सिंह के ऐसे चार पैर भूमिस्थ, दूसरे चार उठे हुए, पशु-पुच्छ, कूल के ऊपर का शरीर मानव-सदृश जिसका मुख सिंह-सदृश, शिर पर किरीट-मुकुट, पार्श्व में दो लम्बे दाँत भी। शरभेश नृसिंह को दो पैरों से ले जाता हुआ चित्र्य है। श्रीतत्त्वनिधि में शरभेश के सायुध ३२ हाथों का वर्णन है। उत्तरकर्णागम में इस शैवी मूर्ति की बड़ी श्लाघा है। इसकी प्रतिष्ठा से सब कल्याण पूर्ण होते हैं। यहाँ इस मूर्ति के विभिन्न लाञ्छनों की प्रतीक कल्पना है—चन्द्र, सूर्य, अग्नि त्रिनेत्र, जिह्वा वाड़वाग्नि, पंख काली और दुर्गा, नख इन्द्र, लम्बोदर कालाग्नि, दो जानु काल और यम, शरभेश की महाशक्ति महावायु। वास्तव में शरभेश की इस अवतार-कल्पना में मानव, पशु एवं पक्षी तीनों का अद्‌भुत संमिश्रण हुआ है। तन्जौर (दक्षिण) जिले के त्रिभुवनम् के शिव-मंदिर में इस स्वरूप की ताम्र-मूर्ति द्रष्टव्य है।

६. ब्रह्म-शिरश्छेदक-मूर्ति—वराह-पुराण की कथा है ब्रह्मा ने रूद्र की रचना की और उसको कपालि के नाम से सम्बोधित किया। इस पर शिव जी बिगड़ गये और पञ्चानन ब्रह्मा का एक शिर काट दिया और वे चतुरानन ही रह गये। शिव ने शिर तो काट डाला परन्तु वह शिर शिव के हाथ में ही चिपका रहा तब वह घबड़ाये, क्या करें। इससे छुटकारा पाने के लिये ब्रह्मा को ही समझाकर गुरू बनाया। ब्रह्मा ने द्वादशवर्ष तक तपश्चरणार्थ उपदेश दिया। शिव ने वैसा ही किया और व्रतोपरान्त तीर्थ यात्रा करते हुए वाराणसी पहुँचे जहां कपाल-मोचन हुआ। आज भी यह स्थान वाराणसी का पवित्र स्थान है।

७ भैरव-मूर्तियां—हम पहले ही संकेत कर चुके हैं, शिव पुराण में भैरव शिव का पूर्णरूप माना गया है। जगत् का भरण भैरव करते हैं। शिव को काल-भैरव भी कहा गया। शिव के सम्मुख मृत्यु-देवता काल के भी पैर लड़खड़ाते हैं। भैरव आमर्दक हैं और पाप-भक्षक भी हैं। पुण्य-नगरी काशी के पति भैरव ही हैं। भैरव के भी नानारूप हैं और नाना भेद।

अ भैरव—(सामान्य)—विष्णु-धर्मोत्तर में भैरव की प्रतिमा लम्बोदर, वर्तुल पीताभ-नेत्र, पार्श्वदन्त, पृथुल-नास, गले मुण्डमाल, सर्पालंकृत चित्रणीय है। वर्ण मेघश्याम, वास कृत्ति (गजाजिन)।

(ब) बटुक-भैरव—अष्ट-भुज—सायुध षड्भुज तथा शेष दो में से एक में मांस खण्ड दूसरे में अभय-मुद्रा। पट्टीश्वर की भैरव-प्रतिमा एवं कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के संग्रहालयों के चित्र निदर्शन हैं।

(स) स्वर्णाकर्षण भैरव—में पीतवर्ण, अलंकृतकलेवर एक हाथ में मणि-स्वर्णापूरित पात्र विशेष उल्लेख्य है।

(य) चतुष्षष्टि-भैरव—भैरव के आठ प्रधान स्वरूप हैं :—असिताङ्ग, रुरु, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त-भैरव, कापाल, भीषण तथा संहार। इनके आठों के आठ प्रभेद हैं—अतः सब मिलकर ६४ हुए जो निम्न तालिका से स्पष्ट हैं :—

असिताङ्ग प्रभेद	चण्ड-प्रभेद	उ० भैरव प्रभेद	भीषण-प्रभेद
असि०	च०	उ० भै०	भी०
विशालाक्ष	प्रलयान्तक	बटुक-नायक	भयहर
मार्तण्ड	भूमिकम्प	शङ्कर	सर्वज्ञ
मोदक-प्रिय	नीलकण्ठ	भूत-वेताल	कालाग्नि
स्वच्छन्द	विष्णु	त्रिनेत्र	दक्षिण
विघ्न-सन्तुष्ट	कुलपालक	त्रिपुरान्तक	मुखर
खेचर	मुण्डमाल	वरद	अस्थिर
सचराचर	कामपाल	पर्वतावास	महारुद्र
रुरु प्रभेद	**क्रोध-प्रभेद**	**कापाल-प्रभेद**	**संहार-प्रभेद**
रु०	क्रो०	का०	सं०
क्राड-दंष्ट्र	पिङ्गलेक्षण	शशिभूषण	अतिरिक्ताङ्ग
जटाधर	अभ्ररूप	हस्तचर्माम्बरधर	कालाग्नि
विश्व-रूप	धरापाल	योगीश	प्रियङ्कर
विरूपाक्ष	कुटिल	ब्रह्मराक्षस	घोरनद
नानारूप-धर	मन्त्रनायक	सर्वज्ञ	विशालाक्ष
वज्र-हस्त	रुद्र	सर्वदेवेश	योगीश
महाकाय	पितामह	सर्वभूतहृदि-स्थित	दक्षसंस्थित

=६४। टि० १ कुछ नाम—विशालाक्ष, सर्वज्ञ योगीश, कालाग्नि दो बार आये हैं।

टि० २. प्रथम प्रभेद स्वर्णाभ, सुन्दरमूर्ति, त्रिशूल-पाश-डमरू-खड्गधर; द्वितीय धवलवर्ण, अलंकृत, अक्षमाला-अंकुश-पुस्तक-वीणाधर; तृतीय नीलवर्ण, अग्नि-शक्ति-गदा-कुण्ड-धर; चतुर्थ धूम्रवर्ण एवं खड्गादिधर; पञ्चम धवलवर्ण, कुण्ड खेटक-परिघ-भिण्डि-पाल-धर; षष्ठ पीतवर्ण (आयु० यथापूर्व); सप्तम रक्तवर्ण तथा अष्टम वैदूर्य—चित्रणीय हैं।

टि० ३ इलौरा की अतिरिक्ताङ्ग-भैरव-प्रतिमा प्रसिद्ध है।

८. **वीरभद्र-मूर्ति**—दक्ष प्रजापति के यज्ञ-ध्वंसक शिवरूप का नाम वीर-भद्र है। इस यज्ञध्वंस की कथा के विभिन्न एवं विषम विवरण विभिन्न ग्रन्थों—कूर्म, वराह, भागवत आदि पुराणों में संग्रहीत हैं। इस स्वरूप के प्रतिमा-लक्षण में, चतुर्भुज, त्रिनेत्र, भीषण, पार्श्वदन्त, सायुध के साथ-साथ, वामे भद्रकाली-प्रतिमा, दक्षिणे सश्रृङ्गछागशिरदक्ष की प्रतिमा भी चित्रणीय हैं। स्थापत्य में मद्रास-संग्रहालय की ताम्रजा तथा तेङ्काशी के शिवालय के मण्डप-स्तम्भ में चित्रिता द्रष्टव्य हैं।

६. **जलन्धर-हर-मूर्ति**—शिव-पुराण में जलन्धर असुर का वर्णन है। त्रिपुरासुरों के वध-समय त्रिपुरान्तक शिव के मस्तक से जो ज्वालानल उद्भुत हुआ वह समुद्र में सिराया गया इस ज्वाला और समुद्र के संगम से उत्पन्न शिशु का नाम जलन्धर पड़ा। जब वह बड़ा हुआ तो उसने कालनेमि की सुता वृन्दा से विवाह किया और पृथ्वी पर सर्वशक्तिमान राजा प्रख्यात हुआ। उसकी पीड़ा से पीड़ित देवों ने षड्यन्त्र कर उसका वध कराया। इस स्वरूप की प्रतिमा में दो ही हस्त चित्र्य हैं—एक में छत्र दूसरे में कमण्डलु। जटाभार असंयत चन्द्राङ्कित एवं सगङ्ग, शरीर कुण्डलहारादिभूषणालंकृत प्रदर्श्य है। जलन्धर और सुदर्शनचक्र (जिसके द्वारा शिव ने जलन्धर का वध किया था) भी चित्रणीय हैं।

१०. **अन्धकासुर-वध**—अन्धकासुर-वध में शिव की योगेश्वरी महाशक्ति के साथ साथ ब्रह्माणी आदि सप्तमातृकाओं के योग एवं साहाय्य की भी कथा है। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दोनों दैत्यों के वधोपरान्त (विष्णु के वराहावतार में हिरण्याक्ष तथा नृसिंहावतार में हिरण्यकशिपु) हिरण्यकशिपु के पुत्र परम भागवत प्रह्लाद पिता के राज्य को त्याग कर विष्णु-भक्ति में ही तल्लीन हो गये। वैरागी प्रह्लाद के बाद अन्धकासुर का आसुर-राज्य प्रारम्भ हुआ। अपनी तपश्चर्या से ब्रह्मा को प्रसन्न कर बड़े-बड़े बरदान ले लिये। उसकी पीड़ाओं से पीड़ित देवेन्द्र शिव के पास पहुँचे ही थे कि अन्धकासुर भी पार्वती को लेने के लिये पहुँच गया। तुरन्त ही शिव ने उस से मोर्चा लेने के लिये वासुकि, तक्षक और धनञ्जय नामक नागों की रचना की। उसी समय नील नामक असुर गजरूप में शिव-वध के लिये आ धमका। नन्दी को पता लग गया। उसने वीरभद्र को इसकी सूचना दे दी और स्वयं सिंह रूप में बदल गया। वीरभद्र ने नीलासुर का वध करके उसकी कृत्ति (हस्ति-चर्म) शिव को उपहृत की। इस चर्म को धारण कर पूर्वोक्त सर्पों से अलंकृत, त्रिशूल को हाथ में लेकर शिव ने अन्धक के वध के लिये प्रस्थान किया। अन्धक ने अपनी माया से अगणित अन्धकों की रचना की। वधजन्म प्रत्येक रक्त-बिन्दु से एक असुर खड़ा हो जाता था। तब शिव ने मूल अन्धकासुर के वक्ष में त्रिशूल मारा और उसके रक्त को धरती पर न गिरने देने के लिये अपने आनन से निकलती हुई महाज्वाला से योगेश्वरी शक्ति की रचना की। अन्य देवों (जो इस महायुद्ध में शिव की सहायता कर रहे थे) ने भी अपनी-अपनी शक्तियाँ रचीं तब कहीं अन्धकासुर को मार पाये।

अन्धकासुर-वध-मूर्ति का सुन्दर स्थापत्य-निदर्शन एलीफेन्टा और इलौरा के गुहा मन्दिरों में द्रष्टव्य है।

११. अघोर-मूर्ति—**(अ) सामान्य** अघोर-मूर्तियों का सम्बन्ध तान्त्रिक उपासना तथा वामाचार से है। आभिचारिक कृत्यों जैसे शत्रु-विजय आदि में अघोर-मूर्ति की उपासना विहित है।

अघोर-मूर्ति में सायुध अष्ट-भुज, नीलकण्ठ, कृष्ण-वर्ण, नग्न अथवा गजचर्मावृत या सिंहचर्मावृत, सर्पवृश्चिकादिभूषित, मृतभस्मभृत, सपार्श्वदन्त, उग्ररूप एवं गणादिसेवित शिव प्रदर्श्य हैं। कर्णागम का अघोर-मूर्ति-लक्षण कुछ भिन्न है—इसके इस रूप की संज्ञा अघोरास्त्र-मूर्ति है। इसमें रक्त-भूषा विशेष है—रक्ताम्बर, रक्त-पुष्पमालशोभित, मुण्डमाल-विभूषित, मण्यादिभूषणालंकृत आदि। शिवतत्त्वरत्नाकर का लक्षण इन दोनों से विभिन्न हैं। इसमें अघोर-प्रतिमा के ३२ हस्त विहित हैं।

(ब) दशभुज अ० मू०—यथा नाम इसमें दश भुजायें आवश्यक हैं। नीलवर्ण, रक्ताम्बर, सर्पालङ्कार, लाञ्छन हैं। सात भुजाओं के आयुध हैं—परशु, डमरु, खड्ग खेटक, बाण, धनु, शूल और कपाल, तीन शेष हाथों में वरद और अभय मुद्रायें। इस रूप का चित्रण दक्षिण के तिरुक्कलुक्कुरनूम और पट्टीश्वरम् शिवालयों में हुआ है।

टि०—मल्लारि-शिव तथा महाकाल-महाकाली-शिव—प्रतिमाओं का सम्बन्ध उज्जयिनी से है तथा वे अपेक्षाकृत अर्वाचीन इतिहास से संबंधित है। अतः उनका यहाँ पर संकेतमात्र अभीष्ट है।

अनुग्रह-मूर्तियाँ—शिव के उपर्युक्त सप्त-कोटिक-प्रतिमा-वर्ग में द्वितीय कोटि का नाम अनुग्रह-मूर्तियाँ है। शैव-धर्म की समीक्षा में शिव के शंकर (कल्याण-कारक) एवं रुद्र (संहारक) दोनों स्वरूपों का संकेत किया गया है। अतएव आशुतोष शंकर की अनुग्रह (वरदान-दायिनी) कतिपय मूर्तियों का स्थापत्य-चित्रण देखने को मिलता है। तदनुरूप निम्न मूर्तियाँ विशेष उल्लेख्य हैं :—

१. विष्ण्वनुग्रह-मूर्ति
२. नंदीशानुग्रह-मूर्ति
३. किरातार्जुन-मूर्ति
४. विघ्नेश्वरानुग्रह-मूर्ति
५. रावणानुग्रह-मूर्ति
६. चण्डेशानुग्रह-मूर्ति

प्रथम में शिव की अनुग्रह से विष्णु ने चक्र (जो पहले शिव की निधि थी) प्राप्त किया। कथा है इस चक्र-प्राप्ति के लिये विष्णु प्रतिदिन एक सहस्र कमलों से शिव-प्रीत्यर्थ पूजा करने लगे। विष्णु की भक्ति की परीक्षार्थ शिव ने एक दिन एक फूल चुरा लिया तो उस फूल की कमी विष्णु ने अपने कमल-लोचन से की। अत्यन्त प्रीत शिव ने विष्णु को चक्र प्रदान किया। इस प्रतिमा का निदर्शन कञ्जीवरम् और मदुरा में प्राप्य है। **द्वितीय** में नंदीश पर शिव की अनुग्रह का संकेत है। बूढ़े नन्दी ने अपने जीवन-विस्तार के लिये शिव-स्तुति की और अनुग्रहीत हो शिव के गणों का चिरंतन नायकत्व एवं भगवती का पुत्र-वात्सल्य प्राप्त किया। **तृतीय** में किरातार्जुनीय महाकाव्य की कथा से कौन अपरिचित है। अर्जुन ने पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के लिये जो उत्कट तपस्या की तथा किरातवेष शिव को प्रसन्न किया उसी की यह अनुग्रह-मूर्ति है। इस प्रतिमा के दक्षिण में तिरुच्चेङ्गाट्टङ्गुडी और श्रीशैल—इन दो स्थानों पर निदर्शन हैं। **चतुर्थ** में सर्वविदित गणेशानु-ग्रह है। **पञ्चम** की कथा है—कुबेर-विजय से प्रसन्न रावण जब लङ्का लौट रहा था तो रास्ते में उसका

विमान-रथ शरवण (कार्तिकेय-जन्म-स्थान) के पास जब पहुँचा तो उसके सर्वोन्नत शिखर पर उसने एक बड़ा मनोज्ञ उद्यान देखा। वह वहाँ पर विहार करने के लये ललचा उठा, परन्तु ज्यों ही निकट पहुँचा तो उसका विमान टस से मस न हुआ—वहीं रुक गया। यहाँ पर रावण को मर्कटानन वामन नन्दिकेश्वर मिले। विमानावरोध-कारण-पृच्छा पर नन्दिकेश्वर ने बताया इस समय महादेव और उमा पर्वत पर विहार कर रहे हैं और किसी भी को वहाँ से निकलने की इजाजत नहीं। यह सुन रावण स्वयं हंसा और महादेव की भी हंसी उड़ाई - इस पर नन्दिकेश्वर ने शाप दिया कि उसका उसी की आकृति एवं शक्ति वाले मर्कटों से नाश होगा। अब रावण ने अपनी दशों भुजायें फैलाकर पूरे के पूरे पर्वत को ही उखाड़ फेंकनी की सोची। उसने उसे उठा ही तो लिया। उस पर सभी लड़खड़ाने लगे, भगवती उमा अनायास एवं अननुनय भगवान से लिपट गयीं (दे० शि० व० स० १.५०)। शिव ने सब हाल जान लिया और अपने पादाङ्गुष्ठ से उसे दबाकर स्थिर ही नहीं कर दिया रावण को उसके नीचे दबा डाला। रावण की आखें खुलीं—शिवाराधना की १००० वर्ष रोकर। अतएव उसकी संज्ञा रावण (रोनेवाला) हुई। शिव ने अन्त में अनुग्रह की और लंका लौटने की मुक्ति दी। इस स्वरूप के बड़े ही सुन्दर अनेक चित्रण इलौरा में तथा वेलूर में भी द्रष्टव्य है। षष्ठ का सम्बन्ध चण्डेश नामक भक्त की अर्वाचीन अनुग्रह से है।

नृत्त-मूर्तियाँ—शिव की एक महा उपाधि नटराज है। नटराज शिव के ताण्डव नृत्य की कथा कौन नहीं जानता? शिव नाट्य-शास्त्र (नृत्यकला एवं नृत-कौशल जिसका अभिन्न अंग है) के प्रथम प्रतिष्ठापक एवं मूलाचार्य हैं। नाट्य-कला संगीत-कला की मुखापेक्षिणी है अथवा नाट्य और संगीत एक दूसरे के पूरक हैं। अतः शिव का ससंगीत चिता-स्थलों पर नर्तन प्रसिद्ध है। ताण्डव-नृत्य सामान्य नृत्य नहीं वह तो प्रलयङ्कर है। भरत-नाट्य-शास्त्र में १०८ प्रकार के नृत्यों का वर्णन है। आगमों का कथन है नटराज शिव इन सभी नृत्यों के अद्वितीय नट हैं। नाट्य-शास्त्र में प्रतिपादित १०८ नृत्य आगम-प्रसिद्ध १०८ नृत्य एक ही हैं। शिव की नृत्त-मूर्तियों के स्थापत्य में तो थोड़े ही रूप है परन्तु यह कम विस्मय की बात नहीं चिदम्बरम् (दाक्षिणात्य प्रसिद्ध शिव-पीठ) के नटराज-मन्दिर के एक गोपुर की दोनों भित्तियों पर नाट्य-शास्त्र में प्रतिपादित लक्षणों सहित १०८ प्रकार के नृत्यों का स्थापत्य-चित्रण दर्शनीय है।

नट-राज शिव की नृत्त-मूर्तियों के निम्नलिखित प्रकार विशेष उल्लेख्य हैं :—

१. कटिसम नृत्य	३. ललाट-तिलकम्।
२. ललित नृत्य	४. चतुरम्।

शैवागम यद्यपि १०८ प्रकार के नृत्यों का संकीर्तन करते हैं परन्तु ९ से अधिक का लक्षण नहीं लिख पाये—स्थापत्य में नृत्य-लक्षण बड़ा कठिन है। दाक्षिणात्य शिव-मन्दिरों में प्रायः सर्वत्र नटराज-मूर्तियाँ पाई जाती हैं। सत्य तो यह है कि मन्दिर के नाना निवेशों में एक निवेश नट-मण्डप या नटन-सभा के नाम से सुरक्षित रहता है। इनमें सर्वप्रसिद्ध सभा चिदम्बरम् में है। वर्णानुरूप यह सभा कनकसभा तथा इसके नटराज कनक-सभापति के नाम से संकीर्तित किये जाते हैं।

नृत्य-मूर्ति की विरचना में उत्तमदशताल-मान का विनियोग विहित है। चतुर्हस्तों में वाम बाहु दण्ड-मुद्रा या गज-मुद्रा में, वा० प्रबाहु अग्नि-सनाथ, दक्षिण बा० अभय-मुद्रा में और इसके कण्ठ पर भुजङ्गवलय, दक्षिण प्रबा० में डमरू; दक्षिणपाद कुछ झुका हुआ एवं अपस्मार-पुरुषस्थ तथा वाम पाद उठा हुआ चित्र्य है। शिर पर पुष्पमाल्यालंकृत, चन्द्राङ्कित, मुण्डबद्ध, जटामुकुट चित्र्य है जिससे ५,६ या ७ जटायें निकल रही हो और उत्थित हों चक्राकार में परिणत हो रही हों। शरीर पर यज्ञोपवीत तथा अक्ष सूत्र भी प्रकल्प्य है। अस्तु। नटराज शिव का यह सामान्य लक्षण है और इसी रूप में प्रायः सभी प्रतिमायें दक्षिण में दर्शनीय हैं। नटराज शिव की नृत्त-मूर्तियों का एक प्रकार से उत्तर में अभाव है। चिदम्बरम् की नटराज-मूर्ति सर्वप्रसिद्ध है। इस कृति के स्थापत्य-कौशल में अध्यात्म के उन्मेष की समीक्षा में राव की निम्न मीमांसा द्रष्टव्य है—The essential significance of Shiva's Dance is threefold: Fisrt, it is the image of his Rhythmic Activity as the Source of all Movement with in the Cosmos, which is represented by the Arch: Secondly the Purpose of his Dance is to Release the Countless souls of men from the snare of Illusion: Thirdly the Place of the Dance, Chidambaram, the Centre of the Universe, is within the Heart.

शिव के नृत्य में सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा एवं संहार—सभी निहित हैं। यह घोर आध्यात्मिक तत्व-निष्यन्द है जिसका ज्ञान इने गिने लागों को है। दिव्य-नृत्य, ताण्डव-नृत्य, नादान्त नृत्य आदि में यही अध्यात्म भरा है।

चिदम्बरम् के नटराज के अतिरिक्त अन्य स्थापत्य-निदर्शनों में मद्रास-संग्रहालय की और कोट्टपाड़ी तथा रामेश्वरम् तथा पट्टीश्वरम् की ताम्रजा, त्रिवन्द्रम् की गजदन्तमयी (Ivory) और तेन्काशी, तिरुचेन्गाट्टंगुडी की पाषाणी प्रतिमायें प्रख्यात हैं। उपर्युक्त नृत्त-मूर्ति-भेद-चतुष्टय में इलौरा का ललित-सम, कञ्जीवरम् का ललाट-तिलक, नाल्लूर (तंजौर) का चतुरम् आदि भी दार्शनीय हैं। इस प्रकार सामान्य तथा विशिष्ट दोनों प्रकार की नृत्त-मूर्तियाँ दक्षिण भारत में भरी पड़ी हैं।

दक्षिणा-मूर्तियां—योग, संगीत तथा अन्य ज्ञान, विज्ञान और कलाओं के उपदेशक के रूप में शिव को दक्षिणा-मूर्ति के स्वरूप में विभावित किया गया है। शब्दार्थतः यह संज्ञा (दक्षिण की ओर मुख किये हुए) उस समय का स्मरण दिलाती है जब शिव ने ऋषियों का योग और ज्ञान की प्रथम शिक्षा दी थी। ज्ञान-विज्ञान और कला के जिज्ञासुओं के लिये, शिवोपासना में यही मूर्ति विहित है। राव का कथन है कि परमशैव माहेश्वर शिवावतार शङ्कराचार्य भी इसी रूप के समुपासक थे। जिस प्रकार नृत्त-मूर्ति में आनन्द ही आनन्द का आधिराज्य है वहां इसमें शान्ति के विपुल वातावरण की अपेक्षा। दक्षिणा-मूर्ति के निम्न प्रभेद विशेष उल्लेख्य हैं:—

१ व्याख्यान-दक्षिणा-मूर्ति
२ ज्ञान ,, ,,
३ योग-दक्षिणा-मूर्ति
४ वीणाधर ,, ,,

टि० व्याख्यान और ज्ञान से तात्पर्य शास्त्रोपदेश है। इसी मूर्ति में प्रायः दक्षिणा-मूर्तियों की शिवमन्दिरों में चित्रणा देखी जाती हैं। इस मूर्ति के लाञ्छनों में हिमाद्रि का वातावरण, वट-वृक्ष-तल, शार्दूल-चर्म, अक्षमाला, वीरासन आदि के साथ जिज्ञासु ऋषियों का चित्रण भी अभीष्ट है। देवगढ़ और तिरुवोर्रीयूर, आबूर (तन्जौर) सुचीन्द्रम, कावेरी पाक्कम् आदि स्थानों की ज्ञान-दक्षिणा-मूर्तियां दर्शनीय है। कञ्जीवरम् की योग-दक्षिणा-मूर्तियां तथा वडरङ्गम और मद्र० संग्र० की वीणाधर-मूर्तियां भी अवलोक्य हैं।

कंकाल-भिक्षाटन-मूर्तियां—इन मूर्तियों के उदय में कूर्म-पुराण की कथा है: ऋषि लोग विश्व के सच्चे विधाता की जिज्ञासा से जगद्विधाता ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने अपने को विश्व का विधाता बताया। तुरन्त शिव आविर्भूत हुए और उन्होंने अपने को विश्व का सच्चा विधाता उद्घोषित किया। वेदों ने भी समर्थन किया परन्तु ब्रह्मा नहीं माने। अन्त में शिव की इच्छा-मात्र से एका ज्वाल-स्तम्भ प्रादुर्भूत हुआ। उसने भी शिव की प्रतिष्ठा समर्थित की तब भी ब्रह्मा न माने। तब क्रुद्ध शिव ने भैरव को ब्रह्मा के शिरश्छेद करने की आज्ञा दी। ब्रह्मा के अब होश ठिकाने आये और उन्होंने शिव की महत्ता स्वीकार कर ली। परन्तु शिवरूप भैरव की हत्या कैसे जाये? अतः भैरव ने ब्रह्मा से ही इस हत्या के मोक्ष की जिज्ञासा की। तब ब्रह्मा ने आदेश दिया इसी शिरःकपाल में भिक्षा मांगते फिरिये विष्णु से भेंट होने पर वे तुम्हें पाप-मोचन का उपाय बतायेंगे। जब तक विष्णु नहीं मिलते तब तक यह हत्या स्त्रीरूप में तुम्हारे पीछे पीछे चलेगी। भैरव ने वैसा ही किया—विष्णु के पास पहुँचे तो वहां दूसरी हत्या—द्वारपालिका विष्वक्सेना का वध – कर डाली। विष्वक्सेना के कपाल को त्रिशूल पर रख विष्णु से भिक्षा माँगी तो उन्हों ने भैरव के मस्तक की एक नस चीर कर कहा यह रुधिर ही तुम्हारी सर्वोत्तम भिक्षा है। विष्णु ने ब्रह्म-हत्या को समझाया अब भैरव को छोड़ दो परन्तु उसने नहीं माना। तब विष्णु को एक सूझ आई और भैरव से कहा शिवधाम वाराणसी जाओ। वहीं पर तुम्हारी हत्या छूटेगी। भरव ने वैसा ही किया और हत्या से छुटकारा पाया। विष्वक्सेना भी जी उठी। ब्रह्म का शिर भी जुड़ गया।

कंकाल-मूर्ति और भिक्षाटन-मूर्ति—दोनों के ही सुन्दर एवं प्रचुर स्थापत्य-निदर्शन मिलते हैं। दक्षिण भारत ही इन सभी प्रकार की शैवी मूर्तियों का केन्द्र हैं। दारासुरम् तेन्काशी, सुचीन्द्रम, कुम्भकोणम् की कंकाल-मूर्तियां एवं पन्दणरल्लूर, वलुवूर और कञ्जीवरम् की भिक्षाटन मूर्तियां निदर्शन हैं।

अब अन्त में लिङ्ग-मूर्तियों की चर्चा के प्रथम शिव की विशिष्ट मूर्तियों का निर्देश-मात्र अभीष्ट है।

विशिष्ट-मूर्तियां—विशिष्ट मूर्तियों को हम दो कोटियों में कवलित कर सकते हैं—पौराणिक एवं दार्शनिक।

अ पौराणिक में निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं:—

१. **गंगाधर-मूर्ति**—यथा नाम भूतल पर गंगा का आगमन।

२. **अर्धनारीश्वर**—ब्रह्मा की पुरुष-मात्र सृष्टि की त्रुटि को समझाने के लिये:

३. कल्याण सुन्दर-मूर्ति—अपने विवाह के समय सुन्दर-रूप-धारण।

४. हर्यर्ध-मूर्ति या हरिहर-मूर्ति—शिव एवं विष्णु दोनों की एकात्मक सत्ता (वा० पु०)

५—वृषभ-वाहन-मूर्ति—वृषभारूढ़ शिव प्रतिमा बड़ी ही प्रशस्त मानी गयी है।

६—विषापहरण-मूर्ति (समु०-म० का पौ० आ०; अतः यह एक प्रकार से अनु० मू०)।

७—हर-गौरी-उमामहेश्वर—हेमा० के अनुसार इस मूर्ति में शिव अष्ट-भुज हैं।

८—लिङ्गोद्भव-मूर्ति—ब्रह्मा और विष्णु के सृष्टि-विधातृत्व का पारस्परिक झगड़ा चल रहा था कि सहस्र-ज्वाल-मालोज्ज्वल एक अमेय स्तम्भ प्रकट हुआ। दोनों क्रमशः हंस और कच्छप के रूप को धारण कर पता लगाने लगे कि इसका आदि और अन्त कहाँ? हताश हो इस स्तम्भ-लिङ्ग की प्रार्थना करने लगे। महेश्वर का आविर्भाव हुआ और उन्होंने कहा, "तुम दोनों मुझसे पैदा हुए हो और इस प्रकार हम तीनों एक ही हैं।"

९—चन्द्रशेखर-मूर्ति—की कथा है नग्न शिव को देखकर ऋषि-पत्नियाँ मोहित हो गयीं और अपना सतीत्व खो बैठीं। ऋषि-वृन्द क्रुद्ध होकर आभिचारिक मन्त्रेष्टि (incantations) की जिसमें यज्ञीय-भूमि से सर्प, कृष्ण मृग, अपस्मार-पुरुष, परशु, वृषभ, शार्दूल आदि का जन्म हुआ। इन्हीं से ऋषियों ने शिव को मारने की सोची। शिव ने इनमें से परशु, कृष्ण मृग तथा सर्पों को अपने लीला-लाञ्छन बनाये, सिंह और शार्दूल को मार कर अपना परिधान बनाया। अपस्मार को पैर से रौंद सदा के लिये अपना स्टूल बनाया। कपाल और चन्द्र को अपनी जटा-मुकुट में शोभार्थ स्थान दिया। इस मूर्ति के दो और भेद हैं—उमासहित-मूर्ति तथा आलिङ्गन-मूर्ति।

१०—पशुपति-मूर्ति, रौद्र-पशुपति-मूर्ति भी चन्द्रशेषर मूर्ति के सदृश ही चित्र्य हैं।

११—सुखासन-मूर्ति के तीन प्रकार हैं—केवल शिव, शिव तथ उमा तथा दोनों के साथ स्कन्द। अतएव पहली की सुखा० मू० दूसरी की उमासहित-मूर्ति तीसरी की सोमा-स्कन्द-मूर्ति—संज्ञा है।

टि०—स्थापत्य-निदर्शनों में एलीफेन्टा, इलौरा, तारमंगल, त्रिचनापल्ली की गंगाधर-मूर्तियाँ; बादामी, महाबलिपुरम्, कुम्भकोणम् और मद्रास-सं०, काञ्जीवरम् तथा मदुरा की अर्धनारीश्वर-मूर्तियाँ; बादामी के हर्यर्ध-मूर्ति (हरिहर, शंकर-नारायण) का पाषाण (Stone panel) और पूना की पाषाणी, विशेष निर्देश्य है। तिरुवरीयूर की ताम्रजा तथा रत्नापूरीया (विलास-पुरस्था) एवं मदुरा की पाषाणी कल्याण-सुन्दर-मूर्तियाँ तथा इलौरा और एलीफेन्टा के इस स्वरूप के पूरे चित्रण एवं मूर्तियाँ; वेदारण्यम् की ताम्रजा तथा तारमंगलम्, महाबलिपुरम्, हलेबिड्ड और मदुरा की पाषाणी मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर चित्रित हैं। लिङ्गोद्भव का स्था० निदर्शन कैलाशनाथस्वामिशिव-मंदिर काञ्चीवरम् में, आलिङ्गन-चन्द्रशेखर का मवावरम् में, उमामहेश्वर का आयहौल, हवेरी और इलौरा में द्रष्टव्य है। अन्य मूर्तियों की ताम्रजा आदि प्रतिमाओं के नाना निदर्शन हैं (cf. E. H. I. Vol. II. I.)

व दार्शनिक—विशिष्ट मूर्तियों में अपराजित-पृच्छा के अनुसार (दे० सू० २१२. ३३-३४) द्वादश-कला-सम्पूर्ण-सदाशिव विशेष निर्देश्य हैं। निम्न लक्षण निभालनीय है:—

पद्मासनेन संस्थाप्य योगासनकरद्वयम्।
पञ्चवक्त्रं भयं शक्तिशूलखट्वाङ्गधृक्करम्॥
भुजङ्गसूत्रडमरुबीजपूरधरं शुभम्।
इच्छाज्ञानक्रियं चैव त्रिनेत्रं ज्ञानसागरम्॥

परन्तु राव गोपीनाथ जी ने (दे० E. H. I. p. 361 on words) इस रूप के दो भेदों का उल्लेख किया है—सदाशिव तथा महासदाशिव तथा इनके स्वरूप में शाम्भव-दर्शन की ज्योति (दे० पीछे का अ० शैव-धर्म) के महा प्रकाश पर थोड़ा सा आलोक बिखेरा है। सदा शिव की परादि शक्ति-पञ्चिका से ही सभी आधिभौति आधिदैविक एवं आध्यात्मिक कार्य-कलापों की सृष्टि हुई है। सदाशिव एवं महासदाशिव की मूर्तियों में शुद्ध-शैव-दर्शन का अविकल अङ्कन निहित है। सदाशिव की पञ्चानना प्रतिमा विहित है। महासदाशिव की मूर्ति पञ्चविंशति मुख एवं पञ्चाशत हस्त में चित्र्य है। महासदाशिव के ये २५ मुख सांख्य के २५ तत्वों के उपलक्षण हैं। राव की इन मूर्तियों की यह समीक्षा पठनीय है : "The idea implied in the positing of the two gods, the Sadasivamurti and the Mahasadasivamurti contains within it the whole philosophy of Suddha—Saiva school of Saivism" "Sadasiva is the highest and the Supreme Being, formless, beyond the comprehension of any one, subtle, luminous and all pervading, not contaminated by any qualities (gunas) and above all actions". "Mahasadasiva is concieved as having twenty five heads and fifty arms bearing as many objects in their hands. The five heads of Sadasiva representing five aspects of Siva (Panca-brahmas) are each substituted by five heads making on the whole twenty five, which stand for tweuty five tatvas of philosophy".

इस कोटि की अन्य विशिष्ट मूर्तियों में पञ्च-ब्रह्मा अर्थात् निष्कल-शिव के पञ्चस्वरूप—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव तथा सद्योजात—पर आधारित मूर्तियां भी संकीर्त्य हैं। महेश-मूर्ति को भी राव ने इसी कोटि की विशिष्ट मूर्ति माना है।

शिवकी विद्येश्वर-मूर्तियां एवं अष्ट-मूर्तियां भी इसी कोटि की विशिष्ट मूर्तियां मानी गयी हैं। विद्येश्वरों की ८ संज्ञायें हैं—अनन्तेश, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डि। अष्टमूर्तियों अथवा मूर्त्यष्टक के नाम हैं : भव, शर्व, ईशान, पशुपति, उग्र, रुद्र, भीम और महादेव (दे० पू० पी० शैवधर्म)।

टि०—स्थापत्य में एलीफेन्टा की सदाशिव-मूर्ति और एलीफेन्टा तथा कावेरीपक्कम की महेश-मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। महासदाशिव-मूर्ति की इष्टका-प्रतिमा (Brick in mortar) तन्जौर के विथीश्वरक्कोयिल में निदर्शन है।

अन्त में एकादश रुद्रों को नहीं भूलना चाहिये

एकादश रुद्र—विभिन्न ग्रन्थों में इनकी विभिन्न संज्ञायें हैं। अंशुमद्भेद, विश्वकर्म-प्रकाश, रूप-मण्डन तथा अपराजितपृच्छा के अनुसार इनकी निम्न तालिका द्रष्टव्य है:—

एकादश-रुद्र

अंशु०	वि० प्र०	रू० मं०	अपरा० पृ०
महादेव	अज	तत्पुरुष	सद्योजात
शिव	एकपाद	अघोर	वामदेव
शङ्कर	अहिर्बुध्न्य	ईशान	अघोर
नीललोहित	विरूपाक्ष	वामदेव	तत्पुरुष
ईशान	रैवत	मृत्युञ्जय	ईशान
विजय	हर	किरणाक्ष	मृत्युञ्जय
भीम	बहुरूप	श्रीकण्ठ	विजय
देव-देव	त्र्यम्बक	अहिर्बुध्न्य	किरणाक्ष
भवोद्भव	सुरेश्वर	विरूपाक्ष	अघोरास्त्र
रुद्र	जयन्त	बहुरूप	श्रीकण्ठ
कपालीश	अपराजित	त्र्यम्बक	महादेव

टि०—रूप-मण्डन एवं अपराजित की तालिका सर्वाधिक सम है।

लिङ्ग-मूर्तियां—वैसे तो प्रतीक मात्र (symbolic) है, परन्तु शास्त्रों ने उन्हें प्रतिमा भी बना दिया।

लिङ्ग-लक्षण—शिव-पूजा में विशेष स्थान लिंग-पूजा का है। तदनुरूप शिव-मन्दिर में लिङ्ग-प्रतिमा ही प्रधान प्रतिमा (Central Image) का स्थान ग्रहण करती है। अथच, लिङ्गार्चा के दो भेद हैं—प्रासाद में प्रतिष्ठापित अचल लिङ्ग की पूजा और बिना प्रासाद के चल लिङ्ग की क्षणिकार्चा। शिवार्चा में लिङ्ग की प्रतीकोपासना का मर्म उपासना की सुगमता एवं सर्वसाधारणप्रियता तथा बहुसंभारविरहितता है। मृत्तिका एवं सिकता से भी उपासक तत्क्षण लिङ्ग-रचना करके अपनी शैवपूजा सम्पादन कर सकता है। सम्भवतः प्रारम्भ में सिकतामय एवं मृण्मय लिङ्ग की परम्परा पल्लवित हुई पुनः कलात्मक जीवन में सभ्यता के विशेष प्रसार से, संस्कृति की विशेष उपचेतना से इन लिङ्गों के निर्माण की परम्परा भी अधिक विकसित हुई। वैसे तो शिवार्चा में ही प्रथम इन लिङ्गों का प्रचार था परन्तु एकेश्वरवाद की बृहद् भावना ने पूजा परम्परा में किसी भी प्रतीक को एक ही देव के लिए सीमित नहीं रक्खा। प्रजापति ब्रह्मा, भगवान विष्णु तथा लोकपाल आदि सभी के लिङ्गों की प्रतीकोपासना पल्लवित हुई। समराङ्गण-सूत्रधार के लिङ्ग-विषयक प्रवचन में इसी तथ्य की पोषक सामग्री पर संकेत प्राप्त होता है।

'लिङ्ग-पीठ-प्रतिमा-लक्षण, ७२ वें अध्याय में विविध लिंगों की प्रतिमा एवं तदाधार पीठिका की विविध रचना पर जो प्रवचन मिलता है उसको हम निम्नलिखित विषय-विभागों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

१—उत्तम मध्यम तथा कनिष्ठ—त्रिविध लिङ्गों के प्रमाण, द्रव्य तथा लक्षण ।

२—लिङ्गों की उद्धारादि-व्यवस्था ।

३—लोकपालों, ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं इन्द्रादि देवों के द्वारा प्रतिष्ठापित विभिन्न लिङ्गों के लक्षण और उनकी प्रशंसा ।

४—द्रव्यभेद से लिङ्गों की रचना एवं अर्चा के फल ।

५—लिङ्गों पर प्रलेप तथा उसके चिन्हादि की अभिव्यक्ति ।

६—लिंग-पीठ—बहुविधा, बहुलाकारा ।

७—पीठ-भाग-कल्पन—मेखला, प्रणाल एवं ब्रह्म-शिला ।

८—लिङ्ग प्रतिमा के समीप ब्रह्मा-विष्णु आदि देवों की निवेशन-प्रक्रिया ।

९—उत्तमादि-लिङ्गों के प्रासाद-द्वारानुरूप प्रमाण के आधार ।

१०—प्रासाद के अभ्यन्तर पिशाच-भाग ।

मानसार में लिङ्गो का वर्गीकरण निम्नलिखित विभिन्न कोटियों में किया गया है ।

लिङ्ग

(i) शैवसम्प्रदायानुरूप
१. शैव
२. पाशुपत
३. कालमुख
४. महाव्रत
५. वाम
६. भैरव

(ii) वर्णानुरूप
१. समकर्ण—ब्रा०
२. वर्धमान—क्ष०
३. शिवांक—वै०
४. स्वस्तिक शू०

(iii) लिङ्गोत्सेधानुरू ।
१. जाति
२. छन्द
३. विकल्प
४. आभास

(iv) लिङ्गविस्तानुरूप
वा० शैलियां
१. नागर
२. द्राविड़
३. वेसर

(v) प्रकृत्यनुरूप
१. दैविक
२. मानुष
३. गाणप
४. आर्ष

(vi) प्रयोजनानुरूप
१. आत्मार्थ
२. परार्थ

(vii) प्रतिष्ठानुरूप
१. एकलिङ्ग
२. बहुलिंग

(viii) द्रव्यानुरूप
१. वज्र-सुवर्णादि

(ix) कालानुरूप
१. क्षणिक
२. सर्वकालिक

लिङ्ग-प्रमाण—लिङ्गों के प्रमाण के विषय में प्रत्येक के विभिन्न प्रमाण-प्रभेद प्रतिपादित हैं । कुछ के सम्बन्ध में ३६ प्रकार के प्रमाण-प्रभेद निर्दिष्ट हैं । परन्तु बहुसंख्यक लिङ्गों के प्रमाण के प्रकार ९ तक सीमित हैं ।

उपासक के विभिन्न अङ्गो के अनुरूप ही लिंगों की उचाई का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है लिंग की उचाई उपासक के लिंग, नाभि, हृद, वक्ष, बाहुसीमा, ओष्ठ, चिबुक, नासिका, अक्षि अथवा उसके पूर्ण शरीर की उचाई के अनुरूप । दूसरी तुलनात्मक प्रक्रिया में उचाई का प्रमाण प्रासाद-गर्भ के अनुकूल प्रतिपादित है ।

लिङ्ग-भाग—लिङ्ग को आकारानुरूप तीन भागों में विभाजित किया गया है :—

१—मूलभाग को ब्रह्म-भाग कहते हैं—चतुरश्र (चौकोर)

२—मध्य को विष्णु-भाग कहते हैं—अष्टाश्रि (अष्टकोण)।

३—ऊर्ध्व को शिव-भाग कहते हैं—वर्तुल (गोल)।

लिङ्ग-पीठ—लिंग भगवान शिव का प्रतीक है वैसे ही पीठिका माता पार्वती का। ५१ पीठ-स्थानों की कथा हम जानते हैं जहाँ भगवती के, विष्णु के चक्र से कवलित, विभिन्न शरीरावयव गिरे थे।

पीठिका की रचना नारी-गुह्यांग के अविकलानुरूप होती है। उसके—१ प्रणाल (योनिद्वार), २ जलधारा, ३ घृतवारि, ४ निम्न तथा ५ पट्टिका—ये पाँच भाग होते हैं।

अस्तु इस स्थूल निर्देश के पश्चात समराङ्गण तथा मानसार आदि की एतद्विषयक तुलनात्मक समीक्षा के प्रथम हम इन विवरणों में लिङ्ग के विभिन्न वर्गीकरणों में निर्दिष्ट दैविक, मानुषिक, पाशुपत आदि भेद-प्रभेदों के मर्म की समीक्षा कर लें जिससे पाठकों की जिज्ञासा तथा कौतूहल विशेष बढ़ने न पावें।

शिवार्चा के प्रतीक शिव-लिङ्गों को शास्त्रों ने दो वर्गों में बाँट रक्खा ? चललिङ्ग तथा अचल लिङ्ग।

चललिङ्ग—इनका वर्गीकरण द्रव्यानुरूप ही किया गया है। प्रतिमा के द्रव्य लिङ्ग-द्रव्य हैं—दे० प्रतिमा-द्रव्य अ० ४ उ० पी०—यथा:

१—मृण्मय	३—रत्नज	५—शैलज
२—लोहज	४—दारुज	६—क्षणिक

मृण्मय-लिङ्गों—की रचना कच्ची तथा पक्की दोनों प्रकार की मृत्तिका से हो सकती है। पक्की मिट्टी से बने लिङ्गों की पूजा आभिचारिक प्रयोजनों के लिए विहित है। कच्ची मिट्टी के लिङ्गों के सम्बन्ध में शास्त्रों का (स० सू० भी) निर्देश है कि पवित्र स्थानों—पर्वत-शिखर, सरितातट आदि से लाकर दुग्ध, दधि, घृत, यवागू (व्रीह तथा यव), क्षीर वृक्षों की छाल, चन्दन-पिष्ट आदि नाना द्रव्यों को मिला कर एक पक्ष अथवा एक मास तक गोलक बनाकर रखना फिर शास्त्रानुरूप निर्माण करना।

लोहज-लिङ्गों—से यहाँ पर लोहज शब्द विभिन्न धातुओं का उपलक्षण है। अतः लोहज लिंग आठ धातुओं से निर्मित किए जा सकते हैं (दे०—'प्रतिमाद्रव्य')

रत्नज-लिङ्गों—में इसी प्रकार ७ प्रकार के लिङ्ग निर्माण्य रत्नों का उल्लेख है (दे० प्रतिमा-द्रव्य)

४—दारुज-लिंग—इन लिङ्गों की रचना में शमी, मधूक कर्णिकार, तिन्दुक, अर्जुन, पिप्पल तथा उदुम्बर विशेष उल्लेख्य हैं (दे० पीछे स० सू० की सूची)। कामिकागम के अनुसार खदिर, विल्व, वदर और देवदारू विशेष प्रशस्त हैं।

५—(चल) शैलज—से तात्पर्य सम्भवतः छोटे-छोटे बाण लिङ्गों की गुरियों से होगा।

६—क्षणिक—लिङ्गों की रचना में उन्हीं द्रव्यों का विधान है जो सर्वत्र मिल सकें। पूजोपरान्त उनका तत्काल विसर्जन कर दिया जाता है। सिकता, अपक्व धान्य अथवा पक्व धान्य, पौलिन मृत्तिका, गोपुरीष, नवनीत, रूद्राक्ष-बीज, चन्दनद्रव, कूर्चशष्प, पुष्प आदि इन विभिन्न द्रव्यों का उल्लेख है। इनके द्वारा निर्मित लिङ्गों के फल भी विभिन्न होते हैं·······(दे० स० सू० परिशिष्ट स)

लिङ्गार्चा-फल—स्वर्णिम-लिङ्गो का उपासक सार्वभौम साम्राज्य तक पा सकता है (रावण स्वर्णिम लिङ्ग की ही पूजा करता था)। इसी प्रकार: —

अपक्व-शालि-समुद्भव	—	विभव का विधायक है	
पक्व ,, ,,	—	धान्यबाहुल्य	,, ,,
पौलिनमृत्तिका ,,	—	अतिप्रशस्त	,, ,,
गोपुरीष ,,	—	व्याधिहरण	,, ,,
रूद्राक्ष ,,	—	ज्ञान	,, ,,
चन्दन ,,	—	सौभाग्य	,, ,,
कूर्चशष्प ,,	—	मोक्ष	,, ,,

अचललिङ्ग - सुप्रभेदागम के अनुसार अचल-लिङ्गों की संख्या ६ है:—

१—स्वायम्भुव	४—गाणपत्य	७—आर्ष
२—पूर्व (पुराण)	५—असुर	८—राक्षस
३—दैवत	६—सुर	६—मानुष

मानसार के षड्वर्ग पर हम दृष्टि डाल ही चुके है। समराङ्गण के अनुसार भी ६ वर्ग हैं। मुकुटागम केवल दैविक आर्ष गाणपत्य एवं मानुष को ही अचल लिङ्ग मानता है। इसी प्रकार कामिकागम ४ के वजाय स्थावर लिङ्गों की संख्या ६ मानता है:—

१—स्वायम्भुव	३—आर्षक	५—मानुष
२—दैविक	४—गाणपत्य	६—वाणलिङ्ग

टि०—इनमें से कुछ पर विशेष विचार करना है।

१—स्वायम्भुव—स्वायम्भुव लिङ्गों के लिए शास्त्रों में अन्य लिङ्गों की जीर्णोद्धार व्यवस्था की सी व्यवस्था नहीं है। स्वायम्भुव-लिङ्ग भारत के ६६ स्थानों में पाए जाते हैं, जिनकी गणना राव महाशय के ग्रन्थानुरूप(Vol. II. pt. I. pp. 83) निम्न रूप से अंकित है:—

स्थान	संज्ञा	स्थान	संज्ञा	स्थान	संज्ञा
वाराणसी	महादेव	विमलेश्वर	विश्व	रूद्रकोटी	महायोगी
प्रयाग	महेश्वर	अट्टहास	महानाद	महालिङ्गस्थाल	ईश्वर
निमिष	देवदेवेश	महेन्द्र	महाव्रत	हषक	हर्षक
गया	प्रपितामह	उज्जैनी	महाकाल	विश्वमध्य	महेश्वर
कुरुक्षेत्र	स्थाणु	महाकोट	महोत्कट	केदार	ईशान
प्रभास	शशिभूषण	शंकुकर्ण	महातेजस	हिमालय	रूद्ररूद्र
पुष्कर	अजोगन्ध	गोकर्ण	महाबल	स्वर्णाक्ष	सहस्राक्ष

स्थान	संज्ञा	स्थान	संज्ञा	स्थान	संज्ञा
विश्वेश	वृषभध्वज	काश्मीर	विजय	महेश्वर	ओंकार
भद्रवट	भद्र	मकुटेश्वर	जयन्त	कुरुचन्द्र	शंकर
भैरव	भैरव	कृतेश्वर	भष्मकाय	वामेश्वर	जटिल
कंखाल	रुद्र	कैलाशाचल	किरात	मकुटेश्वर (२)	सौश्रुति
भद्रकर्ण	सदाशिव	वृषस्थान	यमलिङ्ग	सप्तगोदावर	भीम
देवदारूवन	द्रविड	करवीर	कृतलिङ्ग	नगरेश्वर	स्वयम्भू
कुरुजाङ्गल	चण्डेश	त्रिसन्धि (२)	त्र्यम्बक	जलेश्वर	त्रिशूलि
त्रिसंधि	ऊर्ध्वरेतस	विरजा	त्रिलोचन	कैलाश	त्रिपुरान्तक
जांगल	कपर्दी	दीप्त	माहेश्वर	कर्णिकार	गजाध्यक्ष
ऐकग्राम	कृत्तिवास	नेपाल	पशुपति	कैलाश (२)	गजाधिप
मृतकेश्वर	सूक्ष्म	काराहेण	लकुली	हेमकूट	विरूपाक्ष
कालञ्जर	नीलकण्ठ	अम्बिका	उमापति	गन्धमादन	भूर्भुवः
विमलेश्वर	श्रीकण्ठ	गंगासागर	अमर	हिमस्थान	गंगाधर
सिद्धेश्वर	ध्वनि	हरिश्चंद्र	हर	वडवामुख	अनल
—	—	—	—	—	—
विन्ध्यपर्वत	वराह	कोटितीर्थ	उग्र	इष्टिकापुर (लंका)	वरिष्ठ
पाताल	हाटकेश्वर	लिङ्गेश्वर	वरद	गजप्रिय	जललिङ्ग

२. **दैविक-लिङ्गों**—के सम्बन्ध में इतना ही सूच्य है कि उनकी आकृति ज्वाला के सदृश अन्यथा अञ्जलिमुद्रा-संपुट-हस्त के स्वरूप में निर्मेय है। इनका ऊपरी आकार भी भोंड़ा (Rough) होना चाहिए जिसमें टंक की शूल-सन्निम गहरी रेखाएँ स्पष्ट दीख पड़े। ब्रह्म अथवा पार्श्व-सूत्र का प्रदर्शन दैविक-लिङ्गों में अविहित है।

३-४ **गाणप तथा आर्षलिङ्ग**—यथा नाम ये गणों तथा ऋषियों के द्वारा स्थापित हुए। आर्ष-लिङ्गों का न तो कोई रूप (आकृति) और न कोई मान ही विहित है, और हो भी कैसे—आकृति एवं मान आदि मानव-व्यवस्था है न। इनकी आकृति सजट नारिकेल अथवा ककड़ी, खरबूजा या खजूर के फल के सदृश होती है और इन्हीं आकृतियों से इनकी अभिज्ञा भी होती है।

५. **मानुष-लिङ्ग**—यथानाम ये मनुष्यों द्वारा प्रतिष्ठापित लिङ्ग हैं। अचल लिङ्गों में इन्हीं की संख्या सर्वविदित है। मानुष लिङ्गों के मान एवं विभिन्न भागों का संकेत ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर इतना ही विशेष ज्ञातव्य है इन मानुष लिङ्गों की ऊँचाई आदि के विनियोग-व्यवस्थानुरूप निम्नलिखित उपवर्ग भी हैं :—

मानुष-लिङ्ग-प्रभेद—१—सार्वदेशिक
२—सर्वतोभद्र (सर्वसम)
३—वर्धमान (सुरेड्य)
४—शैवाधिक
५—स्वस्तिक (अनाढ्य)
६—त्रैराशिक (त्रैभागिक)
७—आढ्यलिंग

अथच प्रासाद-निर्माण-शैली के अनुरूप मानुष-लिङ्ग (अचल) **नागर**, **द्राविड़** तथा **वेसर** के नाम से विख्यात हैं तथा अपने विस्तारानुरूप पुनः तीन कोटियों में विभाजित हैं—**जयद**, **पौष्टिक** तथा **सार्वकामिक**। इनके उर्ध्व-भाग (tops) की पाँच कोटियाँ हैं जो आकारनुरूप संज्ञापित की गयीं हैं—**छत्राकार**, **त्रिपुषाकार**, **कुक्कुटाण्डाकार**, **अर्ध-चन्द्राकार** तथा **बुद्बुदसदृश**। मानुषलिङ्गों के कतिपय अन्य प्रभेद भी हैं जिनको **अष्टोत्तर-शत-लिङ्ग**, **सहस्र-लिङ्ग**, **धार-लिङ्ग**, **शैवेष्टय-लिङ्ग** तथा **मुखलिङ्ग** के नाम से पुकारा गया है। इनका रूप लिङ्ग-कलेवर (पूजा भाग) पर क्षुद्र-लिङ्गों की रचना है जैसे अष्ट० पर १०८ तथा सहस्र पर १०००। धार-लिङ्ग में ५ से ६४ लम्बी रेखाएँ बनाई जाती हैं। मुख-लिङ्ग (यथा नाम) पर मानव-मुख-विरचना आवश्यक है।

सर्व-सम लिङ्ग—के पूजा भाग पर पञ्चानन शिव के प्रसिद्ध पञ्चरूपों—वामदेव, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात तथा ईशान में एक या दो या तीन या पाँच भी विकल्प्य हैं।

लिङ्ग-पीठ—लिङ्ग एवं पीठ का स्थापत्य में आधाराधेय भाव है। लिङ्ग है आधेय तथा आधार है पीठिका। इसको पिण्डिका भी कहते हैं। इनकी विभिन्नाकृति शास्त्रों में प्रतिपादित है—चतुरश्रा, आयता, वर्तुला, **अष्ट-कोणा**, **षोडश-कोणा** आदि सभी प्रसिद्ध एवं अनुमेय आकृतियों में पीठ प्रकल्प्य हैं।

पीठ-प्रभेद—पीठों के, अनेक पाषाण-पट्टिकाओं के प्रयोग एवं शोभा-विच्छित्तियों के आधार पर निम्नलिखित पीठ-प्रभेद एवं विच्छित्ति-प्रकार द्रष्टव्य हैं—

पीठ-प्रभेद	५. महावज्र	**विच्छित्ति प्रकार**	५. कम्प
१. भद्र	६. सौम्यक	१. उपान	६. कण्ठ
२. महाम्बुज	७. श्रीकाम्य	२. जगती	७. पट्टिका
३. श्रीकर	८. चन्द्र	३. कुमुद	८. निम्न
४. विकर	९. वज्र	४. पद्म	९. घृतवारि

लिङ्ग की रचना पुं-शिला से तथा पीठ की रचना स्त्री-शिला से विहित है। शास्त्रों में पाषाण आदि निर्माण्य-द्रव्यों की परीक्षा बड़ी ही विशद एवं विकट है—पीछे—'प्रतिमा-द्रव्य' में इसकी समीक्षा की जा चुकी है।

लिङ्गों की प्राचीनतम पाषाण-प्रतिमाओं के स्मारक-निदर्शन में सर्वोत्तम निदर्शन भीटा और गुडीमल्लाम् के लिङ्ग हैं। दक्षिणात्य स्थापत्य में तिरुयोरींयूर का अष्टोत्तर-शत एवं सहस्र-लिङ्ग प्रसिद्ध हैं। मुख-लिङ्गों का पाषाणीय निदर्शन मारवाड़ के चकोड़ी (जोधपुर) चरचोमा (कोटला) और नासिक (संग मरमर) में प्राप्य हैं।

गाणपत्य प्रतिमा-लक्षण

त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हिन्दुओं के महादेवों की गौरव-गाथा में बिना शक्ति-संयोग उनकी महिमा अधूरी है—उसी प्रकार बिना गणपति भगवान गणेश उनकी गरिमा का प्रसार कैसे ? सनातन से क्या देव क्या मानव सभी को अपनी लीला में, विभिन्न कार्य-कलाप एवं जीवन-व्यापार में शक्ति और सेना दोनों की आवश्यकता रही। वास्तव में

सम्यक् नियंत्रण के लिए चाहे वह नियंत्रण सम्पूर्ण जगत का हो अथवा एक राष्ट्र या देश-विशेष या किसी समाज-विशेष या फिर व्यक्ति-विशेष का ही क्यों न हो उसमें शक्ति तथा सेना दोनों की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता भी रही।

मानव-संस्कृति में दैवी एवं आसुरी दोनों संस्कृतियों का सम्मिश्रण है--शक्ति एवं सैन्य के द्वारा सदैव आसुरी संस्कृति को दबाये रखना यही भारतीय संस्कृति का मर्म है। मानव-संस्कृति के इस सन्तुलन-व्यापार (Balance of power) में जब-जब आसुरी संस्कृति ने आ दबाया तब-तब इस विश्व में अशान्ति-असन्तोष एवं असुख का साम्राज्य छाया। भारतीय-संस्कृति की सबसे बड़ी देन विश्व-संस्कृति को यह है कि मानव को दानव पर सदैव विजय पाते रहना चाहिए। मानव यदि दानव पर विजय कर लेता है—दानव को दबाये रखता है तो देवत्व की क्रोड में किलोलें करता हुआ—योग-क्षेम, वैभव एवं समृद्धि, इष्ट तथा अपूर्त सभी सम्पादन कर सकता है अन्यथा नहीं। आज की विश्व-संस्कृति में इस सन्तुलन के अभाव के विषम एवं दारुण परिणाम प्रत्यक्ष दर्शनीय हैं।

अतः हिन्दुओं ने अपने देवों एवं देवियों में इस आधार-भूत सिद्धान्त का प्रतीक कल्पनाओं के द्वारा अपनी मानवीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न किया है।

अस्तु, दानव पर विजय पाने के लिए जिस प्रकार नैतिक शक्ति—आत्मिक अथवा आध्यात्मिक या बौद्धिक शक्ति की अपेक्षा है उसी प्रकार आधिदैविक एवं आधिभौतिक शक्ति की सम्पादना में दो राये नहीं हो सकतीं। इन दोनों शक्तियों की प्रतीक-कल्पना हिन्दुओं ने शक्ति तथा गणेश में की है। इन्हीं दोनों के संयोग से सत्यं शिवं सुन्दरं की त्रिपथगा इस देश में बही तथा ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति होती रही।

आज किसी भी हिन्दू उत्सव को लीजिए—कोई भी धार्मिक संस्कार—यज्ञ, होम, पूजन, कथा, पुराण, सभी में प्राथमिक-पूजा में शक्ति तथा गणेश दोनों की पूजा होती है। इस प्रकार शक्ति की प्रतिमाओं के निर्देश के उपरान्त अब गणेश की प्रतिमाओं की व्याख्या करनी है।

महाराज भोज के समराङ्गण-सूत्रधार में जहां अन्य प्रतिमाओं के उल्लेख हैं वहां गणाधिप गणेश के सम्बन्ध में मौन समझ में नहीं आता। पुराणों में गणेश के आख्यान एवं उनके प्रतिमा-विषयक प्रवचन प्रचुर प्रमाण में प्राप्त होते हैं। पुनः पौराणिक-परम्परा के अनुगामी इस ग्रन्थ में गणेश पर मौन समझ में नहीं आता। यही नहीं मानसार में भी गणेश की प्रतिमा-प्रकल्पन पर कोई निर्देश नहीं है। मानसार का समय आचार्य महोदय ने ५-७ वीं शताब्दी के बीच में माना है। बृहत्संहिता तथा मत्स्य-पुराण की तिथि गुप्त-कालीन है। अग्नि-पुराण की विद्वान् लोग ६वीं शताब्दी से बाद की तिथि नहीं मानते। इन दोनों पुराणों में तथा अन्य विभिन्न पुराणों, आगमों एवं तन्त्रों में गणेश की प्रतिमा-प्रकल्पना में नाना निर्देश एवं लक्षण मिलते हैं। अथच समराङ्गण के निम्न प्रवचन से यह संकेत अवश्य मिलता है कि उस समय भी स्थापत्य में विभिन्न देवों की प्रतिमायें परिकल्पित की जाती थीं परन्तु प्राधान्य त्रिदेव तथा लक्ष्मी, दुर्गा-आदि देवियों का ही था। सौर-प्रतिमाओं का भी उल्लेख इसमें नहीं है और न मानसार में। परन्तु सौर प्रासादों तथा भगवान् गणेश के प्रिय प्रासादों के सविस्तर

वर्णन समराङ्गण में मिलते हैं। अतः एक शब्द में यही कहना पड़ेगा सम्भवतः ग्रन्थ के विस्तार-भय से अथवा लेखनी संकुचित हो जाने से लेखक ने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में प्रतिपाद्य विषय को संकुचित एवं कुंचित कर दिया। हमारा यह आकूत इन पंक्तियों से समर्थित होता है:—

"येऽपि नोक्ता विधातव्यास्तेऽपि कार्यानुरूपतः।
यस्य यस्य च यच्चिह्नमसुरस्य सुरस्य च॥
यक्षराक्षसयोर्वापि नागगन्धर्वयोरपि।
तेन चिह्नेन कार्यः स यथा साधु विजानता॥"

अर्थात् इन देवों एवं देवियों, दिग्पालों तथा राक्षसों आदि के इस संक्षेपात्मक प्रवचन के उपरान्त हमारा यह कहना है कि और भी बहुत से देव यथा, राक्षस, गन्धर्व तथा नाग आदि हैं जिन पर हमने प्रवचन नहीं किया उनकी भी प्रतिमाओं की प्रकल्पना उनके कार्यानुसार उनके अपने-अपने लक्षणों—चिह्नों के अनुसार समझ कर शिल्पी को बनानी चाहिए।

अस्तु, अब प्रतिमा-पीठिका की अपेक्षित पूर्णता के लिए विघ्नेश्वर गणेश के तुन्दिल-मह: का स्मरण कर उनकी तुन्दिल-प्रतिमाओं के स्वरूपों एवं विभिन्न वर्गों का थोड़ा सा संकेत आवश्यक है।

गणपतिः गणेशः—गणेश के विभिन्न नामों में ही उनके प्रतिमा-लक्षण विद्यमान हैं। गणपति, एकदन्त, लम्बोदर, शूर्पकर्ण आदि इस तथ्य के उद्भावक हैं। ब्रह्म-वैवर्त-पुराण में इन नामों की दर्शन परक व्याख्या है: गणपति में 'ग' 'ज्ञान' 'ण' 'मोक्ष' पति परब्रह्म; एकदन्त' में 'एक' एक ब्रह्म, 'दन्त' शक्ति—इत्यादि के बोधक हैं।

अतएव गणेश की जितनी प्रतिमायें प्राप्त हैं अथवा शास्त्र में जो उनके लक्षण उल्लिखित है उनके अनुसार विनायक की प्रतिमायें गजानन, लम्बोदर, समोदक तथा पाश-सर्प-सनाथ प्रकल्प्य प्रतिपादित है। तन्त्रों की परम्परा में गणेश के आठ अथवा अष्टाधिक हस्तो का उल्लेख है। पुराणों में गणेश का वाहन मूषिक है। शारदा-तिलक तथा मेरु-तन्त्र के अनुसार श्रीयुत वृन्दावन जी ने गणेश के निम्न दश स्वरूपों का संकेत किया है:—

	संज्ञा	हस्त	हस्त-लाञ्छन
१.	विघ्नराज	चतुर्हस्त	पाश, अंकुश, चक्र, अभय
२.	लक्ष्मीगणपति	"	शंख, अन्य पूर्ववत्, वाम जानु पर लक्ष्मी एवं शुण्डोधृत-स्वर्णपात्र
३.	शक्ति-गणेश	"	अंकुश, पाश, गजदन्त, बिजोराफल
४.	क्षितिप्रसादन-गणेश	"	शेष पूर्व, विशेष दिव्यलता
५.	वक्र-तुण्ड	"	शेष प्रथमवत विशेष अनुग्रह
६.	हेरम्ब	अष्टहस्त	इष्टदान, अभीति, मोदक, रद, टंक, मुद्गर, अंकुश, त्रिशिखा
७.	पीतगणेश	चतुर्हस्त	पाश, अंकुश, मोदक, रद (दन्त)

८.	महागणपति	द्वादशहस्त	विजोरा, मुद्गर, धनु, त्रिशूल, चक्र, पद्म, पाश, कुमुद, तण्डुल, रद, मणिपात्र, घट,
९.	विरञ्चि-गणपति	दशहस्त	विजोरा, मुद्गर, धनु, चक्र, माला, कमल, पाश, बाण, रद, मणिपात्र
१०.	उच्छिष्ट-गणपति	चतुर्हस्त	अनुग्रह, अभीति, पाश, अंकुश, (द्विदन्त)

इसी प्रकार राव महाशय ने अपनी Hindu Iconography में निम्नलिखित गणेश-प्रतिमाओं का वर्णन किया है।

१. बालगणपति	६. हेरम्ब (पंचगजानन)
२. तरुण गणपति	७. प्रसन्न-गणपति
३. भक्ति-विघ्नेश्वर	८. ध्वज-गणपति
४. वीर-विघ्नेश्वर	९. उन्मत्त-उच्छिष्ट गणपति
५. शक्ति-गणेश	१०. विघ्नराज-गणपति
अ. लक्ष्मी-गणपति	११. भुवनेश-गणपति
ब. उच्छिष्ट-गणपति	१२. नृत्त-गणपति
स. महागणपति	१३. हरिद्रा-गणपति (रात्रि-गणपति)
य. उर्ध्व-गणपति तथा	१४. भालचन्द्र
र. पिङ्गल-गणपति	१५. शूर्पकर्ण
	१६. एकदन्त

स्थापत्य-निदर्शनों—में कालाडी के शारदादेवी-मंदिर में उन्मत्त-उच्छिष्ट-गणपति, तेङ्काशी के विश्वनाथस्वामि-मंदिर में लक्ष्मी-गणपति, कुम्भकोणम के नागेश्वरस्वामि-मंदिर में उच्छिष्ट-गणपति, नेगपटम के नीलायताक्षियमम् में हेरम्बगणपति (ताम्रजा), त्रिविंद्रम की (गजदन्तमयी) और पट्टीश्वरम् की प्रसन्न-गणपति और हलेबिड्ड और होसलयेश्वर की नृत्त-गणपति—प्रतिमायें विशेष प्राख्यात हैं।

अब अन्त में गणेश के सम्बन्ध में थोड़ी सी समीक्षा के उपरांत इस स्तम्भ से अग्रसर होना है। जिस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था के विभिन्न-वर्णानुषङ्गिक गुण एवं रूप के प्रतीकों का संकेत त्रिमूर्ति में हमने किया था उसी प्रकार गणाधिप गणेश को हम भारतीय राजत्व का प्रतीक मान सकते हैं। राजत्व के चिह्न में सनातन से गज एक प्रमुख लक्षण रहा है। देवराज इन्द्र का चिह्न एवं यान भी तो ऐरावत गज ही है। गणेश की मुखाकृति में गज शुण्डा के आख्यान में यही मर्म छिपा है। श्री वृन्दावन जी ने भी इसी मर्म की पुष्टि की है (cf. I. I. p. 25)। तात्विक दृष्टि से विनायक की प्रतिमा राजत्व के गौरव की भावना का प्रतीक है क्योंकि उसका गजाननत्व राजत्व का चिह्न है तथा उसका सम्बन्ध प्रत्येक कार्य की सिद्धि, सफलता एवं विजय से है। एक शब्द में गणेश अपने सब लक्षणों में भारतीय राजत्व के प्रतीक हैं। महाभारत का भी प्रवचन है—"राजैव कर्त्ता भूतानां राजा चैव विनायकः"। हमारे देश में विघ्नेश्वर (सिद्धदायक, विजयदायक, विनायक) की पूजा आज भी प्रत्येक अवसर पर प्रचलित है। हम लोग प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में गणेश का स्मरण करते हैं।

गणेश पर इस प्रवचन के उपरांत शिव-परिवार में गणेश के भाई कार्तिकेय की चर्चा अवशेष है। अतः उनका भी वर्णन यहीं पर कर देना ठीक होगा। गणेश तथा कुमार दोनों ही शंकर के पुत्र हैं। अतएव जिस प्रकार पुत्र आत्मा कही गयी है उसी प्रकार गणेश अष्टमूर्ति व्योमकेश भगवान् भर्ग के आकाशिक रूप हैं। गणेश की लम्बोदरता तथा उनकी वर्तुलाकृति, बहुमोदकता व्यापक ब्रह्माण्ड के अभ्यन्तर विभिन्न जीवों अथवा लोकों की सन्निविष्टि का प्रतीक है।

सेनापतिः कार्तिकेयः— महाराज भोज ने जिस प्रकार भगवान् शंकर पर सुन्दर प्रवचन किया है उसी प्रकार कार्तिकेय पर भी स्पष्ट एवं सुन्दर तथा पूर्ण वर्णन किया है। इस वर्णन के बीच-बीच प्रतिमादिनिवेशोचितस्थानों—नगरों, ग्रामों तथा खेटों—के निर्देश से ऐसा पता चलता है कि उस समय सम्भवतः प्रत्येक पुर-निवेश में स्कन्द की प्रतिमा के निवेश की परम्परा सर्वसामान्य रूप से प्रचलित थी। परन्तु यह परम्परा पौराणिक नहीं, किंतु आगमिक है। आगमों का ही ऐसा निर्देश है। अतः आगमों की छाया इस प्रवचन पर परिलक्षित होती है। यद्यपि यह सत्य है कि रोहतक आदि उत्तरी स्थानों पर स्कन्द कार्तिकेय की पूजा एवं पूजानुरूप प्रतिमाओं का प्रचुर प्रचार था और पुरातत्वान्वेषण इस तथ्य का समर्थक भी है तथापि स्कन्दोपासना का इस प्रदेश में प्रचार विरल ही था।

स्कन्द कार्तिकेय के दो प्रमुख लक्षणों में सभी शास्त्रों का मतैक्य है—षडानन और शक्तिधर। स्कन्द का एक नाम कुमार है। अतः उनकी प्रतिमा की कुमाराकृति विहित है। स्कन्द शिखिवाहन हैं। कुक्कुट की सनाथता भी स्वामिकार्तिकेय में उल्लिखित है (दे० अग्नि० दत्ते शक्तिः कुक्कुटोऽथ······)।

अस्तु अब समराङ्गण के कार्तिकेय-लक्षण (दे० परिशिष्ट स) की अवतारणा आवश्यक है। 'तरुण अर्क' (सूर्य) के समान तेजस्वी, रक्ताम्बर, अग्नि की प्रभा के समान कांतिमान्, ईषद्बालाकृति (कुमार), मनोज्ञ, मङ्गल्य, प्रियदर्शन (कुमार हैं न), प्रसन्नवदन, चित्र-मुकुट-मण्डित (अर्थात् मण्यादिजटित), मुक्ता-मणि-हाराङ्गोज्ज्वल, षडानन अथवा एकानन प्रदर्श्य हैं। षण्मुख कार्तिकेय की नागरी (pertaining to a town) प्रतिमा में १२ भुजायें, खेटक में ६ भुजायें, ग्राम में (एकानन) २ भुजायें चित्र्य हैं। हस्तायुधों में रोचिष्मती शक्ति प्रधान है। अन्य आयुध हैं-- शर, खड्ग, मुसुण्ठी, मुदगर (शक्ति दाहिने हाथ में होगी ही);—रहा छठा हाथ वह प्रसारित-मुद्रा में। बायें ६ हाथों में धनु, पताका, घण्टा, खेट, कुक्कुट के साथ छठा संवर्धन-मुद्रा में। इन आयुधों का संयोग सेनापति स्वामिकार्तिक में तभी उचित है जब संग्रामस्थ हैं। अन्यथा क्रीडालीलान्वित विधातव्य हैं। तदनुरूप छाग, कुक्कुट, शिखि का संयोग विहित है। नगर में लीलामूर्ति, खेटक में उग्रमूर्ति तथा ग्राम में शांत-मूर्ति जिस के दायें हाथ में शक्ति और बायें में कुक्कुट विहत है। अतः स्थानानुरूप प्रतिमा-प्रकल्पन उचित है। कार्तिकेय भगवान् स्कन्द की प्रतिमा यौवन तथा शक्ति (Energy) का प्रोज्ज्वल प्रतीक है। कुमार इस शब्द में उनकी ओजस्विता एवं कान्तिमत्ता तथा ब्रह्मचर्य की उद्दाम शक्ति निहित है। उनके वाहन शिखि तथा कुक्कुट चिन्ह भी इसी मर्म के द्योतक हैं। देवसेना के साहचर्य का भी यही तात्पर्य है। पुराणों में स्कन्द की युद्ध सेनानी परिकल्पना है।

कुमार के विभिन्न नाम हैं। उन नामों में उनके विभिन्न उत्पत्ति-आख्यान के रहस्य निहित हैं। अथच जिन नामों के अनुरूप स्थापत्य में इनकी प्रतिमा-प्रकल्पना हुई है उनमें मुख्य हैं।

१. कार्तिकेय
२. षण्मुख-षडानन
३. शरवणभव (शरजन्म)
४. सेनानी
५. तारकजित
६. क्रौञ्च-भेत्ता
७. गंगापुत्र
८. गुह
९. अनलभू
१०. स्कन्द तथा स्वामिनाथ

गोपीनाथ राव महाशय ने अपने ग्रन्थ में इन्हीं नामों के आनुषङ्गिक निम्नलिखित प्रतिमाओं का उल्लेख किया जिनका आधार उन्होंने 'कुमार-तंत्र' बताया है :—

१. शक्तिधर
२. स्कन्द
३. सेनापति
४. सुब्रह्मण्य
५. गजवाहन
६. शारवणभव
७. कार्तिकेय
८. कुमार
९. षण्मुख
१०. तारकारि
११. सेनानी
१२. ब्रह्मशास्त
१३. वल्लि-कल्याणसुन्दरमूर्ति
१४. बालस्वामी
१५. क्रौञ्चभेत्ता
१६. शिखिवाहन

टि० १ श्रीतत्व-निधि के अनुसार इन कुमार-तन्त्री प्रतिमाओं के अतिरिक्त भी कुछ प्रतिमाएँ चिन्त्य हैं जैसे १७ अग्निजात १८. सौरभेय १९ गांगेय २०. गुह २१. ब्रह्मचारि तथा २२. देशिक।

कार्तिकेय का सुब्रह्मण्य रूप जैसा ऊपर संकेत है दक्षिणात्य पूजा एवं स्थापत्य की विशिष्टता है तदनुरूप सुब्रह्मण्य-प्रतिमाओं की प्राप्ति भी वहीं प्रचुर हैं। कुम्भकोणम की देवसेना और वल्लीसहिता सुब्रह्मण्य-पाषाणी तथा शिखि-वाहना विशेष दर्शनीया हैं। इलौरा की पाषाणी तथा पट्टीश्वरम् की षण्मुखी भी प्रसिद्ध हैं।

टि० २ गाणपत्य-प्रतिमाओं में नन्दिकेश्वर को भी नहीं भुलाया जा सकता। वैसे तो नन्दी (वृषभ) सभी शिवालयों में स्थापित है, परन्तु दाक्षिणात्य शिवालयों में नन्दि-केश्वर अथवा अधिकार-नन्दी की पुरुष-प्रतिमा चित्रित है। वलूउर की प्रतिमा सुन्दर निदर्शन हैं।

सौर-प्रतिमा-लक्षण

यद्यपि स० सू० में सौर-प्रतिमाओं के लक्षणों पर प्रवचन नहीं—परन्तु हिन्दू पंचायतन में सूर्य का भी स्थान होने के कारण तथा इस अध्ययन की पूर्व-पीठिका में सौर-पूजा पर भी संकेत होने के कारण यहाँ इस स्थल पर सौर-प्रतिमाओं को छोड़ा नहीं जा सकता। सविता, मित्र, विष्णु आदि वैदिक देवों के विषय में हम जानते ही हैं कि वे सब सौर-मण्डलीय देव हैं। आदित्य नाम के देवों का भी वर्णन वेदों में मिलता है। आदित्य वास्तव में अत्यन्त प्राचीन देव-वर्ग है। शतपथ-ब्राह्मण में उनकी संख्या ८ तथा

१२ दी गई है। ज्योतिषशास्त्र में आदित्यों तथा नवग्रहों के सम्बन्ध में जो विवेचन है उसमें ये १२ आदित्य वर्ष के १२ महीनों से सम्बन्धित हैं। पुराणों में भी आदित्यों को सौर देवों के रूप में परिकल्पित किया गया है।

आदित्य—आदित्यों की द्वादश संख्या पर संकेत किया गया है। इन बारहों आदित्यों की प्रतिमा के लक्षणों पर विश्वकर्मीय-शिल्प में पूर्ण प्रवचन मिलते हैं। निम्नलिखित १२ आदित्यों के राव-महाशय-प्रदत्त-तालिकानुरूप प्रतिमा-लक्षण का आभास पा सकते हैं:—

संख्या	आदित्य	दक्षिण प्रवाहु	वाम प्रवाहु	दक्षिण वाहु	वाम वाहु
१	धाता	कमल-माला	कमण्डलु	कमल	कमल
२	मित्र	सोम	शूल	,,	,,
३	अर्यमा	चक्र	कौमोदकी	,,	,,
४	रुद्र	अक्षमाला	चक्र	,,	,,
५	वरुण	चक्र	पाश	,,	,,
६	सूर्य	कमण्डलु	अक्षमाला	,,	,,
७	भग	शूल	चक्र	,,	,,
८	विवस्वान्	,,	माला	,,	,,
९	पूषन	कमल	कमल	,,	,,
१०	सविता	गदा	चक्र	,,	,,
११	त्वष्टा	स्रुक	होमजकलिका ?	,,	,,
१२	विष्णु	चक्र	कमल	,,	,,

सौर-प्रतिमा-लक्षण—इन आदित्यों पर इस सामान्य संकेत के अनन्तर यह सूच्य है कि सूर्योपासना एवं सूर्य-प्रतिमा-निर्माण भी पञ्चायतन-परम्परानुरूप एक प्रमुख संस्था है। प्रतिमा-चित्रण में सूर्य-प्रतिमा वासुदेव-विष्णु के बहुत सन्निकट है। सत्य तो यह है कि जिस प्रकार व्यापक विष्णु की सात्त्विकी प्रतिमा वासुदेव में और तामसी अनन्तशायी और शेषावतार बलराम में निदर्शित है, उसी प्रकार उनकी राजसी प्रतिमा सूर्य में निहित है। गतिमान रथ, सैनिक-भूषा, रश्मिजाल-स्फुरण आदि इसी राजस (energetic activity) के परिचायक हैं। श्री वृन्दावनभट्टाचार्य (cf. I. I. p. 18) ने वासुदेव एवं सूर्यदेव के इस साम्योद्‌घाटन में निम्नलिखित समताओं का उदाहरण दिया है:—

वासुदेव	सूर्यदेव	वासुदेव	सूर्यदेव
सरस्वती या सत्यभामा	प्रभा	ईश	दण्ड
लक्ष्मी या रुक्मिणी	छाया	चतुर्हस्त	चतुर्हस्त
ब्रह्मा	कुण्डी	पद्मासन	पद्मासन

सौर प्रतिमा के दो रूप प्राप्त होते हैं। (i) पद्मासन, पद्मकर, सप्ताश्व-रथ-संस्थित (ii) पद्मधर, चतुर्हस्त (द्विहस्तो वा), सप्ताश्व-रथ-संस्थित (सामान्य लाञ्छन)

अरुण-सारथि, क्रमशः दक्षिण एवं वाम पार्श्व में निक्षुभा (छाया) और राज्ञी (प्रभा या सुवर्चसा) नामक अपनी दोनों रानियों की प्रतिमाओं से सनाथ एवं उसी क्रम से खड्गधर अथवा मसी-भाजन-लेखनी-धर पिङ्गल (कुण्डी) और शूलधर दण्ड नामक दो द्वारपालों की पुरुष-प्रतिमाओं से युक्त। सूर्य के प्रतिमा-कलेवर में कंचुक-चर्म का वस्त्र-परिधान आवश्यक है। स्थापत्य में मथुरा संग्रहालय की सूर्य-प्रतिमा तथा कोनार्क के सूर्य-मन्दिर की प्रतिमा एवं गढ़वाल की महापाषाणी निदर्शन हैं जिनमें इन लक्षणों की अनुगति है।

नवग्रह—नवग्रहों का सौर प्रतिमा के स्तम्भ में वर्णन ठीक ही है। शास्त्रों का निर्देश है कि सूर्य-मन्दिर में नवग्रहों की प्रतिमाओं की भी प्रतिष्ठा आवश्यक है। नवग्रहों में सूर्य का भी समावेश है। अस्तु इनका विस्तार न कर निम्न तालिका से इन नवग्रहों के लाञ्छन का पूर्ण आभास प्राप्त हो जायेगा :—

संख्या	नवग्रह	वर्ण	आयुधादि		आसन-वाहन
			दक्षिण	वाम	
१	सूर्य	शुक्ल	पद्म	पद्म	सप्ताश्व-रथ
२	सोम	,,	कुमुद	कुमुद	दशाश्व-रथ
३	भौम	रक्त	दण्ड	कमंडलु	छाग-वाहन
४	बुध	पीत	योगमुद्रा में		सर्पासन
५	गुरु	,,	अक्षमाला	कमंडलु	हंसवाहन
६	शुक्र	शुक्ल	,,	,,	मण्डूक-वाहन
७	शनि	कृष्ण	दण्ड	,,	—
८	राहु	धूम्र	—	—	कुण्ड-सनाथ राहु का अधरङ्ग सर्पाकार
९	केतु	,,	अंजलि मुद्रा में		

टि० १—ये सभी नवग्रह देवता किरीट एवं रत्न-कुण्डलों से भूष्य हैं। स्थापत्य में तञ्जौर के सूर्य-मन्दिर में नवग्रहों की ताम्रजा प्रतिमायें दर्शनीय हैं।

टि० २—मौलिक दृष्टि से इन नवग्रहों की प्रतिमा-विकास परम्परा में प्रधान देवों (जो इनके अधि-दैवत भी हैं) की रूपोद्भावना ही परिलक्षित होती है।

सूर्य में वैष्णवी रूपोद्भावना पर हम इङ्गित कर ही चुके हैं। उसी प्रकार चन्द्र में वरुण, मंगल में कार्तिकेय (स्कन्दाधि दैवतं भौमम्) बुध में विष्णु (नारायणाधिदैवं विष्णुप्रत्यधिदैवतम्) बृहस्पति में ब्रह्मा, शुक्र में शक्र (शक्राधिदैवतम्) शनि में यम (यमाधिदैवतम्) राहु में सर्प (सर्पप्रत्यधिदैवतम्) शनि में यम (यमाधिदैवतम्) राहु में सर्प (सर्पप्रत्यधिदैवतम् और केतु में मंगलाधिदेवता—(दे० हेमाद्रि—भौमवच्च तथा रूपं केतोः कार्यं विजानता)।

अथ च उपर्युक्त लाञ्छनों के प्रतीकों से इन ग्रहों के आधिराज्य पर भी संकेत है—शनि के दण्ड में ध्वंस, बृहस्पति की अक्षमाला में वैराग्य एवं तपः। इसी प्रकार अन्य ग्रहों की भी कथा है।

टि० ३—प्रायः हिन्दुओं के प्रत्येक संस्कार में पूजा, अर्चा, यज्ञ, पाठ, जप, तप, दान आदि तथा उपनयन, विवाहादि सभी धार्मिक कर्मों में गणेश-लक्ष्मी के समान ही इन नवग्रहों की पूजा की प्राथमिकता सनातन से चली आ रही है। सत्य तो यह है कि हिन्दू जीवन में नवग्रहों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। ज्योतिःशास्त्र इन्हीं ग्रहों की छानबीन है। प्रत्येक मानव इन ग्रहों का गुलाम है। ये ही उसके जन्म-मरण एवं विभिन्न कार्य—उत्थान, पतन, सुख, दुःख, ऐश्वर्य एवं भोग, रोग एवं योग के विधायक एवं वरदायक हैं।

टि० ४—सौर-प्रतिमा के स्थापत्य-निदर्शनों में राव महाशय ने दक्षिणी एवं उत्तरी द्विविधा सूर्य-प्रतिमा पर संकेत किया है। उत्तरी प्रतिमाओं की विशिष्टताओं पर हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं। दक्षिणी प्रतिमाओं में सूय के हाथ स्कन्ध-पर्यन्त उत्थित रहते हैं कलेवर उदरबन्ध से बंधा रहता है और पैर नग्न। इसके विपरीत उत्तरी प्रतिमाओं के हाथ स्वभाविक कटिपर्यन्तस्थ, एवं पाद नग्न होकर सदैव अव्यङ्ग-मण्डित रहते हैं। परिवार में देवियों एवं द्वारपालों का भी दक्षिणी प्रतिमाओं में अभाव है। दोनों के सामान्य लक्षणों में किरीट-मुकुट एवं प्रभा-मण्डल विशेष प्रसिद्ध हैं। दक्षिणी सूर्य-प्रतिमाओं के निदर्शन गुडीमल्लम के परशुरामेश्वर मन्दिर और मेलचेरी के शिव-मन्दिर तथा नग्गोहल्ली और बेलूर में भो दर्शनीय हैं। इलौरा के गुहा-मन्दिरों में सूर्य-प्रतिमा-चित्रण बड़ा सुन्दर है। अन्य स्थानों में अजमेर, हवेरी (धारवार) तथा चित्तौरगढ़ मारवाड़ विशेष प्रख्यात हैं।

अष्ट दिग्पाल

दिग्पाल और लोक-पाल एक ही हैं। इन की संख्या आठ है जो विश्व की अष्ट-संख्यक दिशाओं के संरक्षक (guardian) हैं:

१.	इन्द्र	पूर्व	५.	वरुण	पश्चि०
२.	अग्नि	दक्षिण-पूर्व	६.	वायु	उत्तर-पश्चिम
३.	यम	दक्षिण	७.	कुबेर	उत्तर
४.	निऋृति	दक्षिण-पश्चिम	८.	ईशान	उत्तर-पूर्व

इन्द्रादि-देवों की जो पुरातन प्रभुता (अर्थात् वैदिक युग में) थी वह दिग्पालों की क्षुद्र-मर्यादा में परिणत हुई—देवों के उत्थान-पतन की यह रोचक कहानी है। समराङ्गण का दिग्पाल-लक्षण अपूर्ण है। स्वर्गराज इन्द्र और नरकराज यम—वैवस्वत के लक्षणों के साथ अग्नि का संकेतमात्र मिलता है, अन्य अप्राप्य हैं—सम्भवतः पाठ अनुपलब्ध।

इन्द्र—त्रिदशेश इन्द्र की प्रतिमा में हजार आँखें (सहस्राक्ष) एक हाथ में वज्र, दूसरे में गदा, पुष्टाङ्ग शरीर, विशाल भुजायें, शिर पर किरीट-मुकुट, शरीर पर दिव्य आभरणों एवं अलंकारों के साथ-साथ यज्ञोपवीत भो प्रदर्श्य है। इन्द्र श्वेताम्बर चित्र्य हैं। समराङ्गण ने इन्द्र-लक्षण में एक बड़ा ही मार्मिक लक्षण जो लिखा है वह है 'कार्यो राजश्रिया युक्तः पुरोहितसहायवान्' अर्थात् इन्द्र राजा के रूप में प्रकल्प्य है तथा उनकी प्रतिमा में उनका पुरोहित—प्रधानामात्य भी प्रदर्शनीय है। इन्द्र के राज्याधिदैवत्व एवं उनके वाहन ऐरावत गज की राज्यश्री-प्रतीकता पर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं।

यम—विवस्वान् सूर्य के पुत्र बलवान् वैवस्वत—यम, तेज में सूर्य सदृश, स्वर्णाभरणों

से विभूषित, वराङ्गद-मण्डित, सम्पूर्ण-चन्द्र-वदन, पीताम्बर, सुनेत्र, विचित्र-मुकुट (?) प्रदर्श्य हैं।

अग्नि—आगमों में आग्नेय प्रतिमा चतुर्भुजी, त्रिनेत्रा, जटामुकुटा एवं प्रभा-मण्डला प्रदर्श्य बतायी गयी है।

निऋ ति—में निऋ ति नीलवर्ण, पीताम्बर, लम्बशरीर, नरवाहन, (भद्रपीठासन या सिंहवाहन) चित्र्य हैं।

वरुण—शुक्लवर्ण, पीताम्बर, शान्तमूर्ति, करण्ड मुकुट, उपवीती, मकरासन, पाशायुध, वरदहस्त विहित है। वि० ध० के अनुसार वरुण सात हंसों के रथ पर आरूढ़ प्रदर्श्य हैं तथा अन्य लञ्छनों से वैदूर्य-वर्ण, शुक्लछत्रसनाथ, मत्स्यध्वज, पद्म शङ्ख-रत्नपात्र-पाश-हस्त प्रतीत होते है। इसमें वरुण के दायें-बायें गङ्गा यमुना भी हैं।

वायु—नीलवर्ण, रक्तनेत्र, प्रसारितमुख प्रदश्य है।

कुबेर—यक्षाधिप कुबेर का प्रतिमाओं पर बड़ा आधिराज्य है। बौद्ध प्रतिमाओं में भी उनके बहुल चित्रण है। वर्ण स्वर्णपीत तथा कुण्डलादि आभूषणों से मण्डित लम्बोदर चित्र्य हैं।

ईशान—तो स्वयं महादेव भगवान् शंकर-स्वरूप ही हैं।

देव-वर्ग के इस दिग्दर्शनोपरान्त कतिपय अन्य क्षुद्र देव-वर्ग एवं देवों के साथी गन्धर्वादि एवं उनके विरोधी दानवादि पर भी कुछ संकेत अभीष्ट है।

अश्विनौ—इस युगल के यद्यपि प्रतिमा-शास्त्रों में लक्षण हैं परन्तु लक्ष्य (स्थापत्य) में इनका चित्रण अप्राप्य है। ये वैदिक जोड़ा है परन्तु ये कौन हैं—ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता। अभिधा से निरुक्तकार यास्क ने इनको सर्वव्यापक (व्यश्नुवाते) बताया है। अन्य टीका-कारों में से कुछ ने तो इनको द्यावा-पृथिवी (Heaven and Earth) का प्रतीक माना है और अन्यों ने रात और दिन का तथा किसी-किसी ने सूर्य और चन्द्रमा का। अस्तु, इनके सम्बन्ध में एक तथ्य सर्वमान्य है—ये सुर-वैद्य (physician gods) हैं। पुराणों में इनके रूपाख्यान भी एक से नहीं है। बराह-पुराण इनको सूर्य-संज्ञा (सूर्य अश्व के रूप में) का पुत्र माना है। समराङ्गण के इनके प्रतिमा-लक्षण में इन्हें शुक्लाम्बरधर, नानारत्नखचित-मुकुट-सुशोभित, स्वर्णालङ्कारालंकृत, सदृशौ (matching each other) चित्रित करना चाहिये।

अर्ध-देव (या क्षुद्र-देव) और दानव

राव ने अर्ध-देवों में निम्नलिखितों का उल्लेख किया है:—

क्षुद्र-देव

१. वसु-गण	४. असुर	८. पितृगण
२. नागदेव और नाग	५. अप्सरोगण	९. ऋषिगण
	६. पिशाच	१०. गन्धर्व
३. साध्य	७. वेताल	११. मरुद्गण

टि० १—इनमें ४, ६, ७ को क्षुद्र-देव कहना उचित नहीं वे तो सनातन से सुरद्रोही हैं। ऐतिसासिक एवं पौराणिक नाना उपाख्यान इसके साक्ष्य हैं। इनमें जहाँ तक अप्सराओं, गन्धर्वों तथा यक्षों एवं किन्नरो की कथा है उसमें कोई भी भारतीय वास्तु-कृति बिना इनके चित्रण अद्रष्टव्य है। वास्तु-शास्त्रों (विशेषकर समराङ्गण) में इनके चित्रण पर विपुल संकेत हैं।

टि० २—समराङ्गण में यद्यपि इनके लक्षण पूर्ण नहीं है तथापि इनकी आपेक्षिक-आकृति-रचना पर इसका संकेत बड़ा महत्वपूर्ण है। आकार की घटती के अनुरूप दैत्यों का आकार दानवों से छोटा, उनमे छोटा यक्षों का, फिर गन्धर्वों का, पुन: पन्नगों का और सबसे छोटा राक्षसों का। विद्याधर यक्षों से छोटे चित्र्य हैं। भू सङ्घ पिशाचों से सब प्रकार प्रवरतर मोटे भी ज्यादा और क्रूर भी अधिक प्रदर्श्य हैं।

इनकी प्रतिमा-प्रकल्पना में वेश-भूषा पर समराङ्गणीय लक्षण यह है कि भूत और पिशाच रोहितवर्ण, विकृतवदन, रक्तलोचन, बहुरूपी निर्देश्य है। केशों में नागों का प्रदर्शन उचित है। आभरण और अम्बर एक दूसरे से बेमेल (विरागाभरणाम्बरा:)। आकार वामन, नाना आयुधों से संपन्न। शरीर पर यज्ञोपवीत और चित्र विचित्र शाटिकायें भी प्रदर्श्य हैं।

टि० ३ उपर्युक्त तालिका में ऋषियों का भी संकेत है। मानसार में (दे० ५७ वां तथा ५६ वा अ०) मुनि-लक्षण और भक्त-लक्षण भी दिये गये हैं। समराङ्गण में धन्वन्तरि और भरद्वाज का संकेत है। अत: स्थापत्य में भी अगस्त्यादि ऋषियों की प्रतिमायें प्राप्त होती है। ऋषियों में व्यासादि महर्षि; भेलादि परमर्षि; कण्वादि देवर्षि, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि; सुश्रुतादि श्रुतर्षि; ऋतुपर्णादि राजर्षि और जैमिन्यादि काण्डर्षि—७ ऋषिवर्ग हैं। आगमों (दे० अंशु० तथा सुप्र०) में सप्तर्षियों की नामावली कुछ भिन्न ही हैं। मनु, अगस्त्य, वशिष्ठ, गौतम, अङ्गिरस, विश्वामित्र और भरद्वाज—अंशु० के सप्तर्षि। भृगु वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, काश्यप, कौशिक और अंगिरस—सुप्रभे० के ऋषि। पूर्वकर्णागम में अग० पुलस्त्य, विश्वा०, पराशर, जमदग्नि, वाल्मी० और सनत्कुमार का संकीर्तन है।

टि० ४ वसुओं की संख्या ८ है—धर, ध्रुव, सोम, अनिल, अनल प्रत्युष तथा प्रभास। नागों में वासुकि, तक्षक, कार्कोटक, पद्म, महापद्म, शंखपाल और कुलिक नाम के ७ महानागों का वर्णन मिलता है। नागों का स्थापत्य चित्रण (पाषाण) भी प्राप्त है—दे० हलेबिड्र। साध्यों की संख्या आदित्यो के समान १२ है—मान, मन्त, प्राण, नर, अपान, वीर्यवान, विनिर्भय, नय, दंश, नारायण, वृष तथा प्रभि। पितृगणों में सोमसद, अग्निष्वात्त, बर्हिषद, सोमप, हविर्भुज, आज्यप, शुक्लि उल्लेख्य हैं।

देवी-प्रतिमा-लक्षण

देवी-पूजा की शाक्त-परम्परा पर रूप पूर्व-पीठिका में विचार कर चुके है। यहाँ पर इतना ही कहना शेष है देव बिना देवी व्यर्थ है। एकाकी मानव दानव की शाला कहा गया है—Man left alone is a devil's workshop। उसी प्रकार 'देव' की शक्ति 'देवी' पर निर्भर है। त्रिपुर-सुन्दरी ललिता के रहस्य पर हम संकेत कर चुके हैं।

अस्तु प्रत्येक महादेव—त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु और शिव की तीन शक्तियों या देवियों के अनुरूप सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती, दुर्गा या काली—ये ही तीन प्रधान देवियाँ हैं। त्रिदेवों के बाद इन्द्रादि लोकपालों का नम्बर आता है अतः उनकी शक्तियों या देवियों के अनुरूप सात देवियाँ सप्तमातृकाओं या सप्तशक्तियों के रूप में विकल्पित हैं।

समराङ्गण के देवी-प्रतिमा-लक्षण में केवल लक्ष्मी और कौशिकी (दुर्गा) का ही लक्षण प्राप्त है। अतः अन्य देवियों का लक्षण अन्य स्रोतों से लेना होगा।

सरस्वती—ब्रह्मा और सरस्ववती के साहचर्य पर हम महाशक्ति - महालक्ष्मी के आविर्भूत देव-वृन्द एवं देवी-वृन्द में इंगित कर चुके हैं। अंशुमद्भेदागम के अनुसार सरस्वती चतुर्हस्ता, श्वेतपद्मासना, शुक्ल-वर्णा, सिताम्बरा, जटामुकुटसंयुक्ता, यज्ञोपवीतयुक्ता, रत्न-कुण्डल-मण्डिता निदर्श्य हैं। दायें दोनों हाथों में से एक में व्याख्यान-मुद्रा दूसरे में अक्ष-माला। बायें हाथो में से एक में पुस्तक दूसरे में पुण्डरीक (कमल) चित्र्य हैं। इस प्रकार मुनिगण-सेविता, ऋज्वागता (स्थानक-मुद्रा—दे० मुद्राध्याय) वरा वाग्देवी सरस्वती की प्रतिमा निर्माण्य है।

विष्णु-धर्मोत्तर के अनुसार तो सरस्वती पद्मस्थानका चित्र्य हैं और बायें हाथ में पुण्डरीक के स्थान पर कमण्डलु तथा दक्षिण की व्याख्यान मुद्रा के स्थान पर वीणा की संयोजना विहित है। उत्तर भारत के स्थापत्य चित्रण में सरस्वती के ये ही लाञ्छन विशेष प्रसिद्ध हैं।

सरस्वती विद्या ज्ञान और शास्त्रों की तथा कलाओं की भी अधिष्ठात्री हैं तथा इसी के उपलक्षण में उसके हाथ में पुस्तक (शास्त्र-प्रतीक) और वीणा (कला-संगीत-प्रतीक) चित्र्य हैं। मत्स्य-पुराण के इस समर्थन को पढ़िये:—

वेदः शास्त्राणि सर्वाणि नृत्यगीतादिकं च यत्।
न विहीनं त्वया देवि तथा मे सन्तु सिद्धयः॥

अथच सरस्वती की प्रतिमा में अक्ष-माला और कमण्डलु उस महा सत्य के प्रतीक हैं कि विद्याधिगमन, शास्त्रज्ञान एवं कला-विज्ञान विना साधना, तपश्चर्या एवं चिन्तन के सम्भाव्य नहीं।

लक्ष्मी

लक्ष्मी के समराङ्गणीय लक्षण (दे० परिशिष्ट स) में भगवती लक्ष्मी की प्रतिमा में शरीर धवल, मुख पूर्ण-चन्द्र-मनोरम, ओष्ठ विम्बफलसमत्विक् अर्थात् रक्त, सुन्दरहास्य-शोभित प्रदर्श्य है। श्वेत वस्त्र धारण किये हुये, दिव्यालंकारों से अलंकृत, वामहस्त को कमर पर रक्खे हुये, दक्षिण हस्त में कमल लिये हुए—इस प्रकार प्रथम यौवन में स्थिता भगवती लक्ष्मी को प्रसन्नवदना प्रकल्पित करना चाहिए।

समराङ्गणीय इस प्रवचन में प्रायः लक्ष्मी-प्रतिमा के सब लक्षण सन्निविष्ट हैं। तुलना के लिये अंशुमद्भेदागम (४९ वाँ पटल) का निम्न लक्ष्मी-लक्षण देखिये:—

लक्ष्मी पद्मासनासीना द्विभुजा काञ्चनप्रभा ।
हेमरत्नोज्ज्वलैर्मकुण्डलैः कर्णमविहता ॥
सुयौवना सुरम्याङ्गी कुञ्चितभ्रू समन्विता ।
रक्ताक्षी पीनगण्डा च कंचुकाच्छादितस्तनी ॥
शिरसो मण्डनं शङ्खचक्रसीमान्तपङ्कजम ।
अम्बुजं दक्षिणे हस्ते वामे श्रीफलमिष्यते ॥
सुमध्यमा विपुलश्रोणी शोभनाम्बरवेष्टिता ।
मेखला कटिसूत्रं च सर्वाभरणभूषिता ॥

अतः प्रकट है कि इस प्रवचन में तथा पूर्वोक्त समराङ्गणीय लक्षण में बहुत कुछ साम्य हैं। सर्वाभरणभूषिता दिव्यालङ्कारभूषिता से, सुयौवना प्रथमे यौवनस्थिता से साम्य रखते हैं। दोनों में दक्षिण हाथ में कमल बताया गया है। समराङ्गण बायें हाथ को कटिदेशनिविष्ट बतलाता है तथा अंशुमद् उसमें श्रीफल की योजना करता है।

लक्ष्मी की महा-लक्ष्मी प्रतिमा का सुन्दर निदर्शन कोल्हापुर, और श्री देवी के चित्रण इलौरा में विशेष प्रख्यात हैं।

लक्ष्मी के इस सामान्य लक्षण के अतिरिक्त यहाँ पर यह विशेष मीमांस्य है कि लक्ष्मी के दो रूप वर्णित है—एक का सम्बन्ध वैष्णव-लाञ्छनों से है—**वैष्णवी लक्ष्मी** (विष्णु की पत्नी ही हैं वे) तथा दूसरी है **सिंह-वाहिनी लक्ष्मी**। दुर्गा के सिंह-वाहन से सभी परिचित हैं। परन्तु सिंह-वाहिनी लक्ष्मी की उद्भावना विचित्र है। हेमाद्रि (दे० व्रतखण्ड—चतु० चि०) ने लक्ष्मी 'सिंहासना' 'सिंहासनस्था' के साथ-साथ उसके चारों हस्तो में कमल, केयूर, विल्व एवं शङ्ख का विधान बताया है। श्री बृन्दावन (cf I. I. p.37) ने जो लिखा है-'No image of this description has yet come down to us—वह ठीक नहीं। खजुराहो के मन्दिरों में लक्ष्मी की एक प्रतिमा सिंह-वाहिनी लक्ष्मी है। अतः हेमाद्रि का यह लक्षण लक्ष्य में समन्वित है।

लक्ष्मी का एक विशिष्ट प्रभेद **गज-लक्ष्मी** भी है जो 'श्री' के नाम से विशेष प्रसिद्ध है और ठीक भी है—श्री राज्यश्री की द्योतिका तथा गज उसका उपलक्षण (Symbol)। इसके लक्षण में श्रीफलहस्ता, पद्मासना, पद्म-हस्ता तथा दो गजों से स्नाप्यमाना विशेष है (दे० स० सू० ३४. २८-२६)।

लक्ष्मी की मूर्ति सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य दोनों की प्रतीक है। उसका कमल-लाञ्छन सौन्दर्य का सार है। गजलक्ष्मी का दो गजों के द्वारा स्नान उसकी जल-प्रियता (समुद्र-कन्या मन्थन-जयन्यं रत्नञ्च) का निदर्शक तो है ही महा वैभव एवं अप्रतिम राजत्व (Royalty) का दृश्य भी वह कम नहीं। लक्ष्मी स्वर्ग की लक्ष्मी तो है ही वह भूपर राजाओं की राज्य-लक्ष्मी और प्रत्येक घर की गृहिणी के रूप में गृह लक्ष्मी भी है।

विष्णु-पत्नी के रूप में लक्ष्मी की पूजा वैष्णव-धर्म का अनिवार्य अंग है। अन्य वैष्णवी देवियों में भू देवी, सीता देवी, राधिका और सत्य भामा (और सुभद्रा भी दे० जगन्नाथ-मन्दिर, पुरी) की भी प्रतिमायें चिन्त्य हैं।

दुर्गा

कौशिकी—समराङ्गण में आयुधों एवं वाहनों से कौशिकी-लक्षण दुर्गा-लक्षण प्रतीत होता है। कौशिकी-लक्षण अन्यत्र अप्राप्य है। राव महाशय के विपुल देवी-वृन्द में कौशिकी का निर्देश नहीं।

अस्तु, स० सू० (दे० परिशिष्ट स) में कौशिकी को शूल, परिघ, पट्टिश, ध्वजा, खेटक, लघु खड्ग, सौवर्णी घण्टा, आदि (शैव) आयुध हाथ में लिये हुए तथा घोररूपिणी परन्तु पीतकौशेयवसना (पीली रेशमी साड़ी पहने हुए) तथा सिंहवाहिनी कहा गया है। इन आयुधों एवं वाहनों से अष्टभुजी, सिंहवाहिनी दुर्गा या कात्यायनी या महिषासुर-मर्दिनी का स्वरूप प्रतीत होता है। परंतु यहाँ पर महिषा-सुर का संकीर्तन न होने के कारण सम्भवतः यह स्वरूप मंगला (या सर्व-मंगला अथवा अष्ट-मंगला) का संकेत करता है। हेमाद्रि का लक्षण एवं उत्तरापथीय निदर्शन इस आकूत का समर्थन करेंगे।

नवदुर्गा—नवदुर्गा के नाम से सभी परिचित हैं। परंतु नव-दुर्गा के कौन-कौन नाम हैं—इन में बड़ी विषमता है। आगमों एवं पुराणों में जिन नव-दुर्गाओं का उल्लेख है उनके साथ अपराजित-पृच्छा की निम्नतालिका द्रष्टव्य है:—

आगमिकी	पौराणिकी	आपराजिती
१. नीलकण्ठी	रुद्रचण्डा	महालक्ष्मी
२. क्षेमङ्करी	प्रचण्डा	नन्दा
३. हरसिद्धी	चण्डोग्रा	क्षेमकरी
४. रुद्रांश-दुर्गा	चण्डनायिका	शिवदूती
५. वन-दुर्गा	चण्डा	महारुण्डा
६. अग्नि-दुर्गा	चण्डवती	भ्रमरी
७. जय-दुर्गा	चण्डरूपा	सर्वमङ्गला
८. विन्ध्यवासिनी-दुर्गा	अतिचण्डिका	रेवती
९. रिपुमर्दिनी-दुर्गा	उग्रचण्डिका	हरसिद्धी

टि० १—इस तालिका से उपर्युक्त नवदुर्गा-संज्ञा-विषमता का आकूत प्रत्यक्ष है।

टि० २ **नव-दुर्गा**—एक प्रकार से शास्त्र में एक मूर्ति है। एक मध्यस्था प्रतिमा के दोनों ओर चार-चार दुर्गाओं का चित्रण विहित है। स्कंदयामल के आधार पर भविष्य-पुराण में प्रवचन है कि मध्यस्था अष्टादशभुजी तथा अन्य षोडशभुजी प्रकल्प्य हैं। अष्टादश हाथों के आयुधादि लाञ्छन हैं—मूर्धज, खेटक, घण्टा, आदर्श, तर्जनी, धनु, ध्वज, डमरू, पाश (९ बायें हाथों में) तथा शक्ति, मुद्गर, शूल, वज्र, शङ्ख, अंकुश, शलाका, मार्गण और चक्र (९ दक्षिण हाथों में)। अन्य पार्श्वस्था देवियों के षोडश भुजों में शलाका और मार्गण को छोड़ कर पूर्ववत् आयुध निर्देश्य हैं। इन के नाम ऊपर की पौराणिक तालिका के हैं। नव-दुर्गा की यह मूर्ति एक प्रकार की तांत्रिक उद्भावना है स्थापत्य में न तो बिम्ब हैं और न चित्रित। कमल-पुष्प पर इनका मानसिक एवं यांत्रिक साक्षर चित्रण विहित है।

प्रतिमा-शास्त्र एवं प्रतिमा-स्थापत्य में जैसा शैवी मूर्तियों का बाहुल्य है वैसा ही दुर्गा की नाना मूर्तियों का भी। इन नाना देवियों के अलग-अलग लक्षण न देकर इनकी निम्न-तालिका निर्देश्य है—कुल ५६ :

महिष मर्दनी	—	रति
कात्यायनी	ज्येष्ठा	श्वेता
नन्दा	रौद्री	भद्रा
भद्रकाली	काली	जया-विजया
महाकाली	कलविकर्णिका	काली
अम्बा	बलविकर्णिका	घण्ट-कर्णी
अम्बिका	बलप्रमाथिनी	जयन्ती
मंगला	सर्वभूत दमनी	दिति
सर्वमंगला	मानोन्मानिनी	अरुन्धती
कालरात्रि	वरुणि-चामुण्डा	अपराजिता
ललिता	रक्त-चामुण्डा	सुरभि
गौरी	शिव-दूती	कृष्णा
उमा	योगेश्वरी	इन्द्रा
पार्वती	भैरवी	अन्नपूर्णा
रम्भा	त्रिपुर-भैरवी	तुलसादेवी
तोटला	शिवा	अश्वरुढादेवी
त्रिपुरा	सिद्धी	भुवनेश्वरी
भूनमाता	ऋद्धी	बाला
योगनिद्रा	क्षमा	
वामा	दीप्ति	राजमातङ्गी

अस्तु, दुर्गा की मूर्ति शक्ति एवं क्रिया-शीलता (energy) की मूर्ति है। उसके नाना आयुध एवं लाञ्छन इसी रहस्य की उद्भावना करते हैं। दुर्गा की सप्तशती कथा में सभी वरेण्य देवों का अपने-अपने आयुधों का दान संकीर्तित है। अतः उसकी महाशक्ति का यह विकास बड़ा मार्मिक है। उसका सिंहवाहन भी उसके अप्रतिम सामर्थ्य एवं अनुपम बल का निदर्शक है। दैत्यों के साथ उसका सतत युद्ध—धर्म और अधर्म का युद्ध है जहां धर्म की अंत में विजय है।

त्रिदेवानुरूप इन त्रिदेवियों के इन संक्षिप्त समीक्षण के उपरान्त अब देवियों में सप्त-मातृकायें तथा ज्येष्ठा-देवी और रह जाती है।

सप्तमातृकायें—इन की सप्त संख्या से सभी परिचित हैं। विभिन्न देवों की शक्तियों के रूप में उनकी उद्भावना की गई है। वराह-पुराण में सप्त के स्थान पर अष्ट-मातृकाओं का उल्लेख है। वहां पर इनकी उद्भावना में इनके दुर्गुणाधिराज्य पर भी संकेत है। अतः निम्नतालिका में मातृका, देव (जिस की वह शक्ति है) तथा दुर्गुण—इन तीनों की गणना है :

	मातृका	देव	दुर्गण—अन्तः शत्रु
१	योगेश्वरी	शिव	काम
२	माहेश्वरी	महेश्वर	क्रोध
३	वैष्णवी	विष्णु	लोभ
४	ब्रह्माणी	ब्रह्मा	मद
५	कौमारी	कुमार	मोह
६	इन्द्राणी	इन्द्र	मात्सर्य
७	यमी (चामुण्डा)	यम	पैशुन्य
८	वाराही	वराह	असूया

टि० १ 'अपाजित-पृच्छा' में **गौरी** की द्वादशमूर्तियों में उमा, पार्वती, गौरी, ललिता, श्रियोत्तमा, कृष्णा, हेमवती, रम्भा, सावित्री, त्रिषण्डा, तोतला और त्रिपुरा का वर्णन है। इसमें **पञ्च-ललीया-मूर्तियों—ललीया, लोला, लीलाङ्गी, ललिता और लीलावती** की भी नवीन उद्भावना है।

टि० २ **मनसादेवी** का स्थापत्य एवं पूजा में विपुल विस्तार परन्तु लक्षण अप्राप्य हैं।

टि० ४ ६४ **योगिनियों** की भी मूर्तियां एवं मन्दिर प्राप्य हैं। **मयदीपिका** में इनके लक्षण भी लिखे हैं। इन्हें दुर्गा या काली का, शिव के भैरवों की भांति, परिवार (attendants) समझना चाहिये।

स्थापत्य-चित्रण

शैवी-मूर्तियों के समान देवी-मूर्तियों (शाम्भवी एवं वैष्णवी दोनों) के भी स्थापत्य-निदर्शन दक्षिण में ही प्रचुर संख्या में प्राप्त होते हैं।

सरस्वती की प्रतिमायें बागली और हलेविड्ड में विशेष सुन्दर हैं। वैष्णवी देवियों में श्री के महाबलिपुरम, इलौरा, मादेयूर, त्रिविन्द्रम (गजदन्तमयी) में तथा **महालक्ष्मी** की कोल्हापुर में सुन्दर निदर्शन हैं। दुर्गा के नाना रूपों में **दुर्गा** की मूर्ति महाबलिपुरम् (पाषाण चित्रण भी) तथा कञ्जीवरम् में; **कात्यायनी** (महिषासुर-मर्दिनी) मद्रा० संग्र०, गंगैकोण्डशोलपुरम्, इलौरा और महाबलि पुरम् में; **भद्रकाली** की ताम्रजा तिरूप्पालत्तुराई में, **महाकाली** की मादेयूर में, **पार्वती** की इलौरा में सुन्दर प्रतिमायें प्रेक्ष्य हैं। सप्तमातृकाओं के पुञ्ज (group) का पाषाण-चित्रण इलौर और वेलूर में अत्यन्त सुन्दर एवं प्रसिद्ध है, कुम्भकोणम् का भी यह सामूहिक-चित्रण प्रख्यात है। ज्येष्ठादेवी तो दक्षिणी ही देवी हैं। उत्तर भारत में इसकी पूजा की परम्परा नहीं पनपी। मयलपुर (मद्रास) मद्रा० सं० तथा कुम्भकोणम् की प्रतिमायें विशेष प्रसिद्ध हैं।

६

प्रतिमा-लक्षण

(बौद्ध)

बौद्ध-प्रतिमा—बौद्ध-प्रतिमा लक्षण के उपोद्घात में बौद्ध-प्रतीक-लक्षण एवं बौद्ध-स्थापत्य एवं कला-कृतियों पर थोड़ा सा संकेत आवश्यक है। हमने प्रतिमा-पूजा के सांस्कृतिक उपोद्घात में बार-बार यह निर्देश किया है कि मानव के अध्यात्मवाद ने अर्थात् उसकी धार्मिक तृष्णा ने किसी न किसी पूज्य प्रतीक का अवलम्बन अनिवार्य रूप से ग्रहण किया है। बौद्ध-धर्म इसका अपवाद कैसे रह सकता था ? जो बुद्ध अपने जीवन में ही असंख्य नर-नारियां (जिनमें बड़े-बड़े राजा महाराजा सामन्त और श्रेष्ठि सभी थे) की अपार श्रद्धा एवं महनीय भक्ति का भाजन था वह अपनी मृत्यु के बाद देववत् पूज्य हो गया—यह स्वाभाविक ही था। चूंकि महामानव बुद्ध ने अपने जीवन-काल में धर्म के इस अंग की ओर न तो प्रेरणा दी और न प्रोत्साहन अतएव कुछ समय तक तो स्थविर-वादियोंने बुद्ध की उन मौलिक शिक्षाओं की अनुपचरात्मक संभारशून्य पूज्य-पूजकोपचर्या-रहित धर्म की मध्यम-मार्गी ज्योति को जगाये रक्खा। परन्तु उस समय भी प्रतोकोपासना के शाश्वत नैसर्गिक एवं सार्वजनीन तथा सार्वधार्मिक प्रभाव अनायास उन में भो आगया। स्तूपों का निर्माण एवं स्तूप-पूजा बौद्ध-धर्म की प्रतोकोपासना है। बौद्ध-धर्म के तीन रत्न धर्म, बुद्ध, संघ की जो स्थापत्य में मानवाकृति प्रदान की गयी है वह भी प्रतीकोपासना है।

बोधगया, सांची, बरहुत एवं अमरावती के स्मारकों (ईशवीय-पूर्व-तृतीय-प्रथम-शतक कालीन) में रेलिंग्स का विन्यास इस तथ्य का साक्षी है कि भगवान् बुद्ध के पावन स्पर्श का प्रत्येक पदार्थ (object) पूज्य बन गया था। इसे भी प्रतीकोपासना में गतार्थ करना चाहिये। इसी प्रकार बोधि-वृक्ष, बुद्ध-धर्म-चक्र, बुद्ध का उष्णीष, बुद्ध-पाद-चिन्ह आदि भी बौद्ध-प्रतीकोपासना के निदर्शन हैं।

बौद्ध-धर्म के इतिहास में देव-प्रतीको के आविर्भाव के भी पूर्ण दर्शन होते हैं। परम्परा है जब प्रथम मागध गौतम सम्बोधि (Enlightenment) प्राप्त कर चुके और संसार-त्याग के लिये प्रस्तुत हुए तो ब्रह्मा और इन्द्र ने उन से मागधों के मोक्ष की अभ्यर्थना की। हिन्दुओं के इन दो देवों के अतिरिक्त धन-पति कुबेर की भी परिकल्पना प्रस्तुत हुई। इसी प्रकार वसुधारा की भी प्राचीन कल्पना है जो आगे चल कर बौद्धों के कुबेर जम्भाल की पत्नी परिकल्पित हुई। हिन्दुओं के इस देव-वाद के साथ बुद्ध-साहचर्य को देवोत्थान की उर्वरा भूमि का बीज समझना चाहिये।

बुद्ध-प्रतिमा—ऐतिहासिक बुद्ध की प्रतिमा का कब और किस के द्वारा उदय हुआ यह विषय अब भी विद्वानों के बीच का विवादपूर्ण विषय है। यह कहा जाता है बुद्ध की

प्रतिमा-निर्माण-परम्परा को प्रारम्भ करने का श्रेय भारतीयों को नहीं है। गान्धार के स्थापत्य में बुद्ध-प्रतिमा के प्रथम दर्शन होते हैं। गाँधार-कला पर विदेशी-यूनानी प्रभाव सभी को स्वीकार्य है। भारतीयों एवं यूनानियों के संसर्ग से प्रादुर्भूता हिन्दी-यूनानी अथवा बौद्धी-यूनानी कला को गाँधार-कला कहते हैं। गाँधार के स्थापत्य की मूल-प्रेरणा बुद्ध और बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं एवं कार्यों के साथ-साथ जातक कथाओं के बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाओं से भी ली गई। तक्षशिला, पेशावर, सहरीवलहाल आदि अखण्ड भारत के उत्तर-पश्चिम के अनेक स्थानों पर जो अगणित पाषाण पुञ्ज प्राप्त हुए हैं उन पर विभिन्न आसनों पर आसीन, विभिन्न मुद्राओं से मुद्रित बुद्ध की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। इन प्रतिमाओं में बुद्ध के अतिरिक्त, जम्भाल, मैत्रेय, हारीती आदि बोधिसत्व-प्रतिमायें भी उपलब्ध हुई हैं। गाँधार-कला का उदय-काल यूनानी शासक मेनेन्दर का राज्यकाल (ईशवीय पूर्व ६० वर्ष) निर्धारित किया गया है। अतः इस से प्राचीन बुद्ध-प्रतिमा अप्राप्य है अथवा अनिर्मित है।

बौद्ध-प्रतिमा के स्थापत्य-केन्द्र—बौद्ध-प्रतिमा-विकास के प्रथम पीठ **गान्धार** का ऊपर संकेत किया जा चुका है। गाँधार के अतिरिक्त **मथुरा, सारनाथ** तथा **ओदन्तपुरी, नालन्दा और विक्रमशिला** प्राचीन केन्द्रों में परिगणित किये जाते हैं। **अजन्ता, इलौरा, बंगाल** और कलिंग के साथ-साथ भारतीय बौद्ध-प्रतिमा-पीठों में **तिब्बत** का भी महत्वपूर्ण स्थान है। बृहत्तर भारत में जावा भी बौद्ध-प्रतिमा-पीठ का एक प्रख्यात केन्द्र है।

मथुरा में वज्रयान के देव-वृन्द का प्रथम स्थापत्य-निदर्शन प्राप्त होता है, जहां पर षडक्षरी लोकेश्वर, उच्छूष्म जम्भाल, मञ्जुश्री, तारा, वसुधारा, मारीची और पञ्च ध्यानी बुद्धों के प्रतिमा-निदर्शन उल्लेख्य हैं। यहां पर यह स्मरणीय रहे वज्रयान के सम्पुट-योग देव एवं देवी का समोहन-मिथुनीभाव—महाचीनी यब यूम का प्रदर्शन नहीं हुआ। वज्रयान के इस प्रभाव का सर्वप्रख्यात एवं समृद्ध पीठ तिब्बत है। मुसलमानों के आक्रमण से आक्रान्त वज्रयानी बौद्ध भिक्षुओं के लिये उस समय तिब्बत ही गिरि-दुर्ग के समान उनका परम शरण्य हुआ। अतएव तिब्बत के स्थानीय प्रभावों से प्रभावित होना वज्रयान के लिये स्वाभाविक ही था जहां पर एक प्रकार से निष्णात एवं विशुद्ध बौद्ध-कला महा भ्रष्टता को प्राप्त हुई। इस भ्रष्टता से जहां धर्म एवं दर्शन को आघात पहुँचा वहां कला का स्वरूप निखर उठा। महाचीनी प्रभावों से प्रभावित बौद्ध-प्रतिमा-कला भारतीय स्थापत्य की एक अनुपम निधि है। अस्तु। अब इस उपोद्घात के अनन्तर तालिका रूप में बौद्ध-देव-वृन्द के नाना रूपों के प्रतिमा-लक्षण प्रस्तुत करना है।

बौद्ध-प्रतिमायें—बौद्ध-प्रतिमाओं को निम्नलिखित द्वादश वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है:—

१. दिव्य-बुद्ध, बुद्ध-शक्तियाँ और बोधिसत्व,
२. मञ्जुश्री,
३. बोधिसत्व अवलोकितेश्वर,

४. अमिताभ से आविर्भूत देव,
५. अक्षोभ्य ,, ,, ,,
६. अक्षोभ्य ,, ,, देवियाँ
७. वैरोचन से आविर्भूत देव
८. अमोघसिद्धि ,, ,,
९. रत्न-सम्भव ,, ,,
१०. पञ्चध्यानीबुद्धों ,, ,, (अर्थात् समष्टि)
११. चतुर्ध्यानीबुद्धों ,, ,, ,, ,,
१२. अन्य स्वतंत्र देव एवं देवियाँ

१. दिव्य बुद्ध, बुद्ध-शक्तियां एवं बोधिसत्व

इस वर्ग का प्रमुख देव-वृन्द ध्यानी बुद्ध हैं जो छह हैं:—

१. वैरोचन	४. अमिताभ
२. अक्षोभ्य	५. अमोघसिद्धि
३. रत्नसम्भव	६. वज्रसत्व

ध्यानी बुद्ध—बौद्धों की परम्परा में बौद्ध-देव-वृन्द पंच ध्यानी-बुद्धों में से एक दूसरे से उदय हुआ है अथवा उनके चतुष्टय या उनके पञ्चक से प्रादुर्भूत हुआ है।

ध्यानी-बुद्धों से आविर्भूत देव अपने उत्पादक बुद्ध के लाञ्छन से लाञ्छित रहते हैं। यह लाञ्छन शिरोमुकुट अथवा आनन-मण्डल परिकल्पित है। ध्यानी बुद्धों की बौद्ध-परम्परा बड़ी अद्भुत एवं विलक्षण है। वे बुद्ध के समान शान्तिरूप, ध्यान-मग्न प्रदर्शित किये गये हैं। वे सृष्टिकर्ता नहीं हैं। सृष्टि बोधिसत्वों का कार्य है। ध्यानी-बुद्धों की संख्या पाँच है। छठे वज्रसत्व को भी उनमें परिसंख्यात किया जाता है जो प्राचीन परम्परा नहीं है। ध्यानी-बुद्धों का उदय कैसे हुआ यह असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। आर्यदेव (अष्टम शतक) 'चित्त-विशुद्धि-प्रकरण' के निम्न प्रवचन —

चक्षुर्वैरोचनो बुद्धो श्रवणो वज्रशून्यक: ।
घ्राणश्च परमाद्यैस्तु पद्मनर्तेश्वरो मुखम् ।
काय: श्रीहेरुको राजा वज्रसत्वश्च मानसम् ।

से ध्यानी बुद्धों का उदय शाश्वत इन्द्रिय-पञ्चक के प्रतीक पर आश्रित है। अद्वयराज (एकादश शतक) इनका उदय शाश्वत पंचस्कन्धों से परिकल्पित करते हैं।

इन ध्यानी-बुद्धों के प्रतिमा-परिकल्पन एवं स्थापत्य-निदर्शन में इनकी पारस्परिक मर्यादा की वैयक्तिकता इनके अपने अपने वर्ण, आसन, मुद्रा, वाहन आदि पर आश्रित है वही इनका पारस्परिक विभेद है। साधनमाला का दूसरा निम्न प्रतिमालक्षण पढ़िये एवं तालिका में उनके विवरणों का अवलोकन करिये:—

जिनो वैरोचनो ख्यातो रत्नसम्भव एव च ।
अमिताभामोघसिद्धिरक्षोभ्यश्च प्रकीर्तित: ॥

वर्णाः अमीषां सितः पीतो रक्तो हरितमेचकौ ।
बोध्यग्री-वरदो-ध्यानं मुद्रा अभय-भूस्पृशौ ॥

टि० प्रत्येक ध्यानी-बुद्ध के स्थापत्य-प्रदर्शन में प्रफुल्ल-कमल-द्वय-पीठ पर ध्यानासन, अर्धमुद्रित-नयन, भिक्षुवेष सामान्य लक्षण हैं। बुद्धों के विश्व—स्तूप के चारों दिशाओं की ओर इन ध्यानी बुद्धों का स्थान विहित है—वैरोचन अभ्यन्तर-देव हैं अतः वे प्रायः अप्रदर्श्य रहते हैं। कभी-कभी वे अक्षोभ्य एवं रत्नसंभव के बीच में दिखाये जाते हैं।

ध्यानी-बुद्ध	वर्ण	मुद्रा	वाहन	(चिन्ह)	निवास	आधि०	बोधिसत्व	स्तूपस्थान
१. अमि०	रक्त	समाधि	शिखियु०	प्र० कमल	सुखा०	भद्रकल्प	पद्मपाणि	पश्चिम
२. अक्षो०	नील	भूस्पर्श	गजयुगल	वज्र				पूर्व
३. वैरो०	श्वेत	धर्मचक्र	नागयुगल	चक्र				अन्तराल
४. अमोघ०	हरित	अभय	गरुड़युगल	विश्ववज्र तथा सप्तफणफणीश				उत्तर
५. रत्न०	पीत	वरद	सिंहयुगल	रत्नानि				दक्षिण
६. वज्र०		वज्र-घण्टा	वज्रासन					

टि० वज्र-सत्व वज्रयान का प्रमुख देव है। इसके अद्वैत एवं द्वैत दो प्रकार के स्थापत्य-प्रदर्शन प्राप्त होते हैं। अद्वैत-रूप में त्रिचीवर (तीन वस्त्र-खण्ड जो अन्य ध्यानी बुद्धों का सामान्य परिधान है) के स्थान पर राजसी वस्त्रों से अलंकृत एवं नग्न शिर के स्थान पर मुकुट-मण्डित दिखाये गये हैं उससे इनका ध्यानी-बुद्धत्व शंकनीय है। इनका अक्षोभ्य से आविर्भूत वज्रपाणि बोधिसत्व का दूसरा रूप विशेष संगत है।

दैविक बुद्ध-शक्तियाँ

इन बुद्धि-शक्तियों के ध्यानी बुद्ध साहचर्य के कारण, जिनके लाञ्छन इनके लाञ्छन होते हैं, स्तूप पर इनका स्थान मध्य-दिशा (Intermediate corner) में विहित है। उपर्युक्त षड् ध्यानी-बुद्धों के अनुरूप निम्न षड बुद्ध-शक्तियाँ अपने अपने ध्याना बुद्ध का वर्ण एवं वाहन वहन करती हैं। इनका सामान्य आसन ललितासन है, पीठ कमलद्वय, वस्त्र कञ्चुक एवं अधोवस्त्र (पेटीकोट), मुकुट-विभूषित शिर। अपने ध्यानी बुद्ध के चिह्न से ही इनकी पहचान की जाती है अन्यथा सभी सदृशरूपा प्रदर्शित हैं :—

१. वज्रधात्वीश्वरी   ६. मामकी   ५. आर्यतारा तथा
२. लोचना   ४. पाण्डरा   ६. वज्रसत्वात्मिका

बोधिसत्व

बौद्धो की प्राचीन परम्परा में 'बोधिसत्व' से तात्पर्य 'संघ' से था अतः प्रत्येक बौद्ध बोधिसत्व के संकीर्तन का अधिकारी था। गान्धारकला में असंख्य बोधिसत्व-निदर्शन इस तथ्य का साक्ष्य प्रदान करते हैं। ह्वेनसांग के समय में बौद्ध-संघ के महायानी प्रसिद्ध भिक्षु एवं आचार्य जैसे नागार्जुन, अश्वघोष, मैत्रेयनाथ, आर्यदेव आदि बोधिसत्वों के नाम से संकीर्तित किये जाते थे।

कालान्तर पाकर बोधिसत्वों की एक नवीन परम्परा पल्लवित हुई जिसके अनुसार बोधिसत्वों का महनीय गौरव एवं लोकोत्तर प्रभाव स्थापित किया गया। एक मानुष बुद्ध के प्रयाण पर जब तक दूसरे बुद्ध का उदय न हो जावे तब तक बोधिसत्वों को बुद्ध-कार्य सौंपा गया। इस प्रकार गौतम बुद्ध के महाप्रयाण के चार हजार वर्षों बाद मैत्रेय बुद्ध का जब तक अवतार न हो जावेगा तब तक पद्मपाणि अथवा अवलोकितेश्वर बोधिसत्व बुद्ध-कार्य सम्पादन कर रहे हैं।

ये बोधिसत्व भी अपने ध्यानी बुद्धों का सर्वविध सानुगत्य करते हैं और बुद्ध शक्तियों का भी उसी प्रकार साहचर्य प्राप्त करते हैं। इन दिव्य बोधिसत्वों की निम्न ६ सज्ञायें हैं !

१. सामन्तभद्र	३. रत्नपाणि	५. विश्वपाणि
२. वज्रपाणि	४. पद्मपाणि	६. घण्टापाणि

टि० स्थापत्य में इनका चित्र स्थानक (Standing) तथा आसन (Sitting) मुद्राओं (Postures) में दिखाया गया है। अन्य लाञ्छन समान है; हाँ हस्त में प्रतीक-चिन्ह की वृत्-टहनी विशेषोल्लेख्य है। निम्न तालिका से ध्यानी-बुद्ध उनकी शक्तियाँ और बोधिसत्व स्पष्ट हैं :—

ध्यानी बुद्ध	बुद्ध-शक्तियाँ	बोधिसत्व
वैरोचन	वज्रधात्वीश्वरी	सामन्तभद्र
अक्षोभ्य	लोचना	वज्रपाणि
रत्नसंभव	मामकी	रत्नपाणि
अमोघसिद्धि	आर्यतारा	विश्वपाणि
वज्रसत्व	वज्रसत्वात्मिका	घण्टापाणि

टि० स्थापत्य में बोधिसत्व-चित्रण शास्त्रीय-परम्परा से यत्र तत्र सर्वत्र वैमत्य रखता है जैसे नैपाली स्थापत्य-चित्रों को देखिये सामन्तभद्र और वज्रपाणि में क्रमशः धर्मचक्र-मुद्रा और वज्र तथा घण्टा का लाञ्छन दिखाया गया है जो वास्तव में सामन्द्रभद्र की प्रतिमा में कमल की टहनी में चक्र-चित्रण एवं वज्रपाणि की प्रतिमा में भी कमल की टहनी में वज्र-चित्रण होना चाहिये था।

मानुष बुद्ध

किसी भी धर्म को लीजिये पुराण-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र उसके अभिन्न अंग हैं। बिना पुराण के धम के वाह्य कलेवर का विकास सम्भव नहीं, आभ्यन्तर (आत्मा) दर्शन निर्माण करता है। अस्तु, इसी व्यापक तथ्य के अनुरूप हीनयान एवं महायान दोनों में ही एक ऐतिहासिक बुद्ध के स्थान पर अनेक मानुप बुद्धों की परिकल्पना है। ध्यानी-बुद्ध, उनके बोधिसत्व एवं शक्तियाँ—ये सभी दिव्यों में परिगणित हैं। मानुष बुद्ध के बत्तीस बड़े और अस्सी छोटे शुभ चिन्ह विहित है। इनके अतिरिक्त उसमें दसवल, अठारह आवेनिक धर्म अर्थात गुण और चार वैशारद्य। हीनयानियों के अनुसार प्राचीन बुद्धों की संख्या चौबीस है उनमें से अन्तिम सात तथागतों को महायानी मानुष बुद्धों के नाम से पुकारते हैं। ये हैं

विपश्यिन, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द कनकमुनि, कश्यप और शाक्यसिंह। इनमें अन्तिम को छोड़कर सभी पौराणिक हैं—इनकी ऐतिहासिकता का प्रामाण्य प्राप्त कैसे हो सकता है? कनमुनि और क्रकुच्छन्द यद्यपि ऐतिहासिक हैं परन्तु उनमें शाक्यसिंह का बुद्धत्व कहाँ?

स्थापत्य-निद्दर्शन में ये सातों बुद्ध एक सदृश दिखाये गये हैं—एक वर्ण, एक रूप और एक ही भूमि-स्पर्श मुद्रा। चित्रण (Painting) में इनको पीताभ अथवा स्वर्णाभ अंकित करते हैं। कभी-कभी ये सातों स्थानक-मुद्रा में बोधिवृक्ष के नीचे खड़े दिखाये गये हैं (दे० इन्डियन म्यूजियम न० बी० जी० ८३)

गौतम बुद्ध

बौद्ध-प्रतिमाओं में गौतम बुद्ध की प्रतिमायें एक स्वाधीन शाखा है। प्रस्तरकला एवं चित्रकला दोनों में ही सहस्रशः बुद्ध-प्रतिमा-स्मारक-निदर्शन प्राप्त हुए हैं, जिनकी परम्परा ईशवीयपूर्वशतक से ही प्रारम्भ हो चुकी थी (दे० गान्धार कला)। भारत में ही नहीं भारतेतर देशों में भी बुद्ध प्रतिमाओं का प्राचुर्य है।

साधनमाला के ध्यान-मंत्र के अनुसार गौतम की वज्रपर्यंक (वज्रासन) आसन-मुद्रा के साथ-साथ हस्त-मुद्रा भूमिस्पर्श विहित हैं। उनके दक्षिण में मैत्रेय बोधिसत्व की और वाम में लोकेश्वर की स्थिति विहित है। मैत्रेय श्वेताभ एवं जटामुकुटालंकृत प्रदर्श्य है और उनके दक्षिण हस्त में चामर रत्न एवं वाम हस्त में नागकेशर पुष्प दिखाना चहिए। लोकेश्वर का भी वर्ण श्वेत है और दक्षिण हस्त में चामर और वाम में कमल विहित है। इन दोनों को भगवान (बुद्ध) के मुखावलोकन-पर चित्रित करना चाहिये। गौतम की इस प्रतिमा के निदर्शन प्रायः सर्वत्र प्रतिमा-केन्द्रों में प्राप्त होते हैं।

मानुष बुद्ध-शक्तियाँ एवं मानुष बोधिसत्व—ध्यानी बुद्धों के ही समान मानुष बुद्धों की भी सात शक्तियों का उल्लेख है जो स्थापत्य में नहीं प्राप्त हुई हैं। मानुष बुद्धों एवं उनकी अपनी अपनी शक्तियों से सात बोधिसत्वों का आविर्भाव हुआ—ऐसी बौद्ध-परम्परा है। निम्न तालिका से सात बुद्धों, सात बुद्ध-शक्तियो एवं सात बोधिसत्वों का दर्शन कीजिये:—

७ मानुष बुद्ध	उनकी ७ बुद्ध-शक्तियाँ	उनके ७ बोधिसत्व
१. विपश्यिन	विपश्यन्ती	महामति
२. शिखी	शिखिमालिनो	रत्नधर
३. विश्वभू	विश्वधरा	आकाशगञ्ज
४. क्रकुच्छन्द	ककुद्वती	शकमंगल
५. कनकमुनि	कण्ठमालिनी	कनकराज
६. कश्यप	महीधरा	धमधर
७. शाक्यसिंह	यशोधरा	आनन्द

टि० इनमें गौतम की पत्नी यशोधरा तथा उनके परम शिष्य आनन्द की ऐतिहासिकता से हम परिचित ही हैं।

(२) मञ्जुश्री—मञ्जुश्री बोधिसत्व अश्वघोष, नागार्जुन आदि के समान मानुष एवं ऐतिहासिक बोधिसत्व है। बौद्ध-देववृन्द में इनका बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। महायान में मञ्जुश्री को सर्वश्रेष्ठ बोधिसत्वों में परिगणित किया जाता है। इनके नाना रूपों की उद्भावना है एवं पूजा-परम्परा भी। स्वयम्भू-पुराण के अनुसार मञ्जुश्री चीनी हैं और उनका इस देश में आगमन उस समय हुआ जब आदि बुद्ध ने ज्योतिरूप में नैपाल के काली-ह्रद में अवतार लिया. चीन में मञ्जुश्री की ख्याति एक बड़े सन्त की थी और उनके बहु-संख्यक शिष्य थे जिनमें चीनी राजा धर्माकर विशेष उल्लेख्य हैं। आदि बुद्ध के आविर्भाव का समाचार सुन अपने शिष्यों सहित मजुश्री नैपाल पधारे और आदि बुद्ध की इस दिव्य-ज्योति को सर्वसाधारण के लिये सुलभ करने के लिये उस ह्रद के दक्षिणवर्ती पर्वत-पाषाण-पुञ्ज को अपनी तलवार से काट दिया और तत्क्षण उस अन्तराल से जल बह निकला और वह जल-निमग्न स्थान आधुनिक नैपाल घाटी के उदय में सहायक हुआ। उसी अन्तराल से आज भी भागमती नदी का पानी बहता है और नैपाली भाषा में इसकी संज्ञा 'कोटवार' है जिसका अर्थ 'खड्ग-कर्तित' है। उसी मैदान में मंजुश्री ने आदि बुद्ध का मन्दिर स्थापित किया और वहीं एक पहाड़ी पर अपना निवास भी रचा और शिष्यों के लिये विहार भी, जो आज कल मंजुपत्तन के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार यह सब कार्य कर मंजुश्री चीन लौटे और नश्वर शरीर छोड़कर दिव्य बोधिसत्व के रूप में आविर्भूत हो गये।

मंजुश्री का कब उदय हुआ—यह प्रश्न बड़ा कठिन है। गान्धार और मथुरा के प्राचीन स्थापत्य-निदर्शनों में इनकी प्रतिमा नहीं मिलती। अश्वघोष, नागार्जुन आदि प्राचीन बौद्धाचार्यों ने मंजुश्री का उल्लेख नहीं किया है। सुखावती-व्यूह में सर्वप्रथम इनका संकीर्तन हुआ है। इस प्रकार इनका उदय चतुर्थ एवं पचम शतक का माना जाता है। चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त में इनका उल्लेख है। सारनाथ, मगध, बंगाल और नैपाल के स्थापत्य-केन्द्रों में इनकी प्रतिमा प्राप्त होती है। नैपाल के आदि बुद्ध-पीठ के समीप ही मंजुश्रीपर्वत को आजकल सरस्वती-स्थान के नाम से पुकारते हैं।

वज्रयान-परम्परा में बौद्ध-देव-वृन्द का प्रत्येक देव ध्यानी-बुद्धों से व्यष्टि अथवा समष्टि से आविर्भूत माना जाता हैं। मंजुश्री एक प्रकार से अपवाद हैं तथापि कुछ उसे अमिताभ का, दूसरे अक्षोभ्य का, तीसरे पंच ध्यानी-बुद्धों की समष्टि का आविर्भाव (Emanation) मानते हैं। साधन-माला में ३९वां साधन तथा ४०वां ध्यान केवल इन्हीं पर हैं। इनके १४ रूप हैं जो आगे की तालिका में साविर्भाव द्रष्टव्य हैं। मंजुश्री की प्रतिमा-प्रकल्पना में उसके दक्षिण हस्त में खड्ग और वाम में पुस्तक प्रदर्श्य है। किन्हीं किन्हीं में उसका यमारि अथवा अपनी शक्ति का साहचर्य भी प्रदर्शित किया गया है और कभी कभी सुधनकुमार और यमारि दोनों और कभी कभी जालिनीकुमार (सूर्यप्रभ) चन्द्रप्रभ, केशिनी और उपकेशिनी इन चार देवों का सानुगत्य प्रदर्शित है।

मञ्जुश्री के चतुर्दश रूप—

	रूप	मुद्रा	आसन/वाहन	वर्ण वसन आभूषण	विशेष चिन्ह
अमिताभ आविर्भाव	१ वाक् (अ)	समाधि	वज्रपर्यंक	दे० अमिताभ	एकमुख, द्विबाहु, (जिह्वा पर अमिताभ)
	२ धर्मधातु	धर्मचक्र	ललित	रत्न-भूषण दिव्याम्बर—	चतुर्मुख, अष्टबाहु, शर, धनुष, पाश, अंकुश, खड्ग, पुस्तक, घंटा और वज्र लिये हुए।
	—				
अक्षोभ्य से	३ मंजुघोष	व्याख्यान	सिंहवाहन	स्वर्णाभ, वस्त्राभूषणालंकृत	द्विबाहु-वामे कमल,
	४ सिद्धैकवीर (व)	वरद	—	श्वेत-पीत	नील कमल
	५ वज्रानंग (स)	—	प्रत्यालीढ	पीत	षड्हस्त, चतुर्हस्त वा दर्पण खडग पौष्प धनु कमल शर
पंचध्यानी बुद्धों से	६ नामसंगीति	—	वज्रपर्यंक	रक्ताभश्वेत	त्रिमुख, चतुर्हस्त—शर-धनुष-खड्ग पुस्तक लिए हुए
	—				
	७ वागीश्वर	—	अर्धपर्यंकासन सिंहवाहन	रक्त अथवा पीत	उत्पल
	८ मंजुवर	धर्मचक्र	सिंहवाहन अर्ध-पर्यंकासन,	पीत	कमलोपरिप्रज्ञापारमिता
	९ मंजुवज्र	—	कमलाधार-चन्द्रासन	रक्त	त्रिमुख, षडहस्त—प्रज्ञा पारमिता-उत्पल-धनुष (वामेषु) खड्ग, शर वरदमुद्रा—दक्षिणेषु
	१० मंजुकुमार	—	पशुवाहन		
	—				
स्वतंत्र	११ अरपचन (य)	वक्षोपरि पुस्तक	वज्रपर्यंक	श्वेत अथवा रक्त	केशिनी आदि चार देवताओं से अनुगत
	१२ स्थिरचक्र	वरद	कमलाधार-चन्द्रासन	श्वेत	खड्ग-शक्ति-सानुगस्य —शक्ति अर्थात् प्रज्ञा
	१३ वादिराट्	व्याख्यान	शार्दूल-वाहन अर्धपर्यंकाशन	भ्रमराङ्गभासुर चिरकवस्त्र विभूषित	षोडषवर्षीय युवारूप
	१४ मंजुनाथ	—	—	—	त्रिमुख, षड्हस्त—चक्र वज्र, रत्न, कमल, खड्ग लिये हुए

टि० (अ) वाक को धर्मशंखसमाधि, वज्रराग तथा अमिताभमंजुश्री के नाम से भी पुकारते हैं।

(ब) सिद्धैकवीर के आविर्भाव की दो परम्परायें हैं—अक्षोभ्य से एवं पंच ध्यानी-बुद्धों से, क्योंकि सा० मा० में उसे 'पंचवीरकशेखरः' कहा गया है। इसका एक दूसरे साधन में जालीनप्रभ, चन्द्रप्रभ, केशनी और उपकेशनी का भी साहचर्य प्रतिपादित है।

(स) तान्त्रिक उपचार में इसकी पूजा वशीकरण में विशेष विहित है; यह हिन्दुओं के कामदेव का भाई है। एक साधन देखिये :—

इषुणा तु कुचं भिद्यात् अशोकैस्ताडयेद् हृदि
खड्गेन भीषयेत् साध्यां दर्पणं दर्शयेत ततः।

अर्थात् वशीकरण में साधक साध्या सुन्दरी को ध्यान में देखेगा कि इसके कमल-कुड्मल से उसका वक्ष विदीर्ण हो रहा है। इस आघात से मूर्छिता मोहिनी को फिर वह इसके पाश से बंध गयी (पाश—धनुर्प्रत्यञ्चा) हुई ध्यायेगा। पुनः उद्दीपक अशोक के आघात एवं खड्ग-भय से भयभीत उस परम सुन्दरी के स्वार्पण में क्या विलम्ब लगेगा? दर्पण दिखाना भी इसी मर्म का उद्भावक है।

(द) अपरचन को सद्योनुभव अरपचन अथवा सद्योनुभव मंजुश्री के नामों से भी पुकारा जाता है। पशुवाहन पर उसे प्रज्ञाचक्र कहा जाता है। यह पूर्णचन्द्राभ, स्मितमुख, राजसी-वस्त्रालंकार-विभूषित, दक्षिण हाथ में खड्ग, प्रज्ञापारमिता पुस्तक को वक्षस्थल-वाम पर लिये हुए प्रदर्श्य है। जिन चार देवों का सानुगत्य विहित है उनमें जालिनी कुमार (सूर्यप्रभ) सम्मुख, चन्द्रप्रभ पीछे, केशिनी दायें और उपकेशिनी बायें प्रदर्श्य हैं।

(३) **बोधिसत्व अवलोकितेश्वर**—महायान में अवलोकितेश्वर को ध्यानी बुद्ध अमिताभ एवं उसकी शक्ति पाण्डरा से आविर्भूत माना जाता है। चूंकि वर्तमान कल्प भद्रकल्प के अधिष्ठातृ देव और देवी अमिताभ और उसकी शक्ति को माना गया है अतएव अवलोकितेश्वर को इस कल्प का अधिष्ठाता बोधिसत्व जिसका आधिराज्य मानुष बुद्ध शाक्यसिंह के महापरिनिर्वाण से प्रारम्भ होकर आगामी बुद्ध मैत्रेय तक रहेगा। गुणकारण्डव्यूह में इसके कार्यकलापों एवं शिक्षाओं के विवरण हैं। का० व्यू० के एक सन्दर्भ में उल्लेख है कि अवलोकितेश्वर की यह दृढ़ प्रतिज्ञा है जब तक सब सत्व सब दुःखों से परिमुक्त नहीं होते वह निर्वाण नहीं लेंगे। अतएव सभी देवों, मानुषों, पशुओं में ही वे नहीं समाये हुए हैं प्रत्येक माता पिता उन्हीं के रूप हैं। अवलोकितेश्वर का यह विराट रूप उनकी महनीय महत्ता का सूचक है। उन्हें 'संघ-रत्न' की उपाधि दी गयी है। ऐसा परोपकारी दूसरा बोधि-सत्व नहीं।

अवलोकितेश्वर के १०८ रूप हैं (दे० इस अ० परिशिष्ट) उनमें १५ रूप विशेष प्रख्यात हैं। साधन-माला में अवलोकितेश्वर के वर्णन में ३१ साधन हैं उन्हीं पर ये रूप आधारित हैं। इसके १०८ रूपों के कलात्मक निदर्शन काठमण्डू (नैपाल) के मच्छन्दर बहल नामक बौद्ध-विहार में विभिन्न रागों से रञ्जित चित्रजा प्रतिमाओं के रूप में प्राप्त हैं। वे अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं अतः उन सब की विशेष समीक्षा न कर केवल उपर्युक्त प्रधान पंचदश रूपों की तालिका दी जाती है जिनमें बहुत से रूपों पर हिन्दुओं के देववृन्द—शिव, नारायण, षडानन कार्तिकेय आदि का प्रभाव स्पष्ट है :—

रूप	वर्ण	मुद्रा एवं चिन्ह	आसन / वाहन	हस्त	सहायक
१ षडक्षरी लोकेश्वर	श्वेत	अञ्जलिमुद्रा, कमल-रुद्राक्ष चिन्ह	—	चतुर्हस्त	मणिधर, षडक्षरी महाविद्या
२ सिंहनाद	श्वेत	वामे कमलोपरि खड्ग द० ससर्पत्रिशूल	सिंहवाहन महाराजलीलासन	—	—
३ खसर्पण	श्वेत	वरदमुद्रा	ललित या अर्धपर्यङ्क	द्विबाहु, एकमुख	तारा, सुधनकुमार, भृकुटी तथा हयग्रीव
४ लोकनाथ	श्वेत	वरदमुद्रा कमलचिन्ह	ललित या पर्यंक या वज्रपर्यंक		तारा हयग्रीव
५ हालाहल	श्वेत	—	—	षडहस्त त्रिमुख	प्रज्ञा
६ पद्मनर्तेश्वर (अ) १	—	सर्व-हस्त-कमल	अर्धपर्यंक (नृत्यन)	अष्टादशभुज, एकमुख	—
२	रक्त				
३	रक्त	शूचीमुद्रा कमल चिह्न	पशुवाहन अर्धपयङ्क (नृत्यन)	अष्टभुज	(२) की अष्ट देवियाँ
७ हरिहरिवाहनोद्भव	श्वेत	—	षड्भुज, सिंह गरुड-विष्णु वाहन		
८ त्रैलोक्यवशंकर	रक्त	—	वज्र पर्यंकासन	—	—
९ रक्तलोकेश्वर दो रूप	रक्त	—	—	चतुर्हस्त	तारा भृकुटी
	,,	वामहस्ते कमल	—	द्विहस्त	
१० मायाजालाक्रम	नील	—	प्रत्यालीढासन	द्वादशहस्त (पञ्चानन)	
११ नीलकंठ	पीत	समाधि मु०	वज्रपर्यंकासन		दो सर्प
१२ सुगतिसन्दर्शन	श्वेत	—	—	षड्	—
१३ प्रेतसंतर्पित	श्वेत	—	—	षड्	—
१४ सुखावती-लोकेश्वर	श्वेत	—	ललितासन	षडहस्त त्रिमुख	शक्ति (तारा)
१५ वज्रधर्म-लोकेश्वर	रक्ताभश्वेत	—	शिखिवाहन	—	—

टि० (अ) पद्मनर्तेश्वर का यह द्वितीय रूप अष्टपत्र कमल पर चित्रित होता है जिसके प्रत्येक पत्र (petal) पर एक-एक देवी—पूर्वा श्वेता रक्तपद्मसनाथा विलोकिनी, दक्षिणा हरिता पलाशहस्ता तारा, पश्चिमा पीतवर्णा चक्रनीलोत्पलधरा भूरिणी, उत्तरा श्वेता सपीतकमला भृकुटी, उत्तरपूर्वा पीता समञ्जिष्ठकमला पद्मवासिनी, दक्षिणपूर्वा गगनवर्णा सश्वेत

कमला विश्वपद्मेश्वरी, दक्षिणपश्चिमा श्वेता सकृष्णकमला विश्वपद्मा, उत्तरपश्चिमा चित्रवर्णा सकृष्णकमला विश्ववज्रा ।

४ अमिताभ के आविर्भाव—देववृन्द—अवलोकितेश्वर और मंजुश्री के दो रूपों के अतिरिक्त जिन केवल दो देवों का आविर्भाव ध्यानी बुद्ध अमिताभ से साधनमाला में उल्लिखित है उनमें एक है महाबल और दूसरा हयग्रीव। इनके स्थापत्य-निदर्शन अप्राप्त हैं।

महाबल—आसन प्रत्यालीढ़, वर्ण रक्त, रूप उग्र।

सप्तशतिक-हयग्रीव—वर्ण रक्त, रूप उग्र, उपलक्षण (Symbols)—वज्र और दण्ड, विशेष चिन्ह यथानाम शिर के ऊपर घोड़े का शिर

देवीवृन्द—ध्यानी बुद्ध अमिताभ से आविर्भूत देवियों की संख्या ३ है जिनमें सर्व-प्रसिद्ध कुरुकुल्ला है जिसका तान्त्रिक-परम्परा में बड़ा महत्व है। निम्न तालिका में इन देवियों के दर्शन कीजिये :—

अमिताभीया देवियाँ

	रूप	वर्ण	वाहन आसन	उपलक्षण	हस्त मुद्रा
१	कुरुकुल्ला				
(i)	शुक्ला कु०	शुक्ला	पशुवाहना, वज्रपर्यंकासना	रुद्राक्षमाला, कमलपात्रा	द्विभुजा
(ii)	तारोद्भवाकु०	रक्ता	राहारूढ़कामदेवतत्पत्नी वाहना वज्रपर्यंकासना		चतुर्भुजा
(iii)	ओड्डियान कु०	रक्ता	शववाहनया-अर्धपर्यंकासना	समुंडमाला,	दीर्घदंता शार्दूल-चर्मावृता त्रिनेत्रा
(iv)	अष्टभुजा कु० (अ)	रक्तवर्णा त्रै०वि०मु०	वज्रपर्यंकासना		
२	भृकुटी	पीता			चतुर्भुजा
३	महासितवती	रक्ता	अर्धपर्यंकासना		चतुर्भुजा

टि० (अ) अष्टभुजा कुरकुल्ला के मण्डल में प्रसन्नतारा (पू०), निष्पन्नतारा (द०), जयतारा (प०) कर्णतारा (उ०), चुण्डा (उ० पू०), अपराजिता (द० पू०), प्रदीपतारा (द०प०), गौरीतारा (उ०पू०) इन आठ देवियों के साथ-साथ चार द्वाराध्यक्षा देवियाँ हैं—वज्र-वेताली (पू०), अपराजिता (द०) एकजटा (प०) तथा वज्रगान्धारा (उ०)—कुल १२देवियाँ।

अक्षोभ्य के आविर्भाव—देववृन्द

ध्यानी-बुद्धों में अक्षोभ्य के आविर्भाव अपेक्षाकृत अधिक हैं। अक्षोभ्य बौद्ध-देवों का सर्वप्राचीन तथागत है। इसका नीलवर्ण साधनमाला की तान्त्रिक उग्रार्चा से सम्बन्धित उग्रदेवों का परिचायक है। इससे आविर्भूत देव प्रायः सभी उग्ररूप एवं उग्रकर्मा हैं। जम्भाल को छोड़कर सभी उग्ररूप, विकृतवदन, दीर्घदन्त (बाहर निकले हुए), त्रिनेत्र,

लम्बजिह्व, मुण्डमालाविभूषित, शार्दूलचर्मावृत और सर्पालंकृत हैं। हिन्दुओं के एकादश रुद्रों एवं भैरवों का इन पर स्पष्ट प्रभाव है। सभी में प्रायः शक्ति-सानुगत्य (yabyum) सामान्य है। ऊपर मञ्जुश्री के जिन अक्षोभ्यीय रूपों का उल्लेख है उनके अतिरिक्त अक्षोभ्य के ६ आविर्भावों को निम्न तालिका में देखिये :—

रूप	वर्ण	आ० वा०	उपलक्षण	हस्त	मुख	सहचरी	विशेष लाञ्छन
१ चण्डरोषण (अ)	पीत		खड्गतर्जनीपाश		———		अवनिनिहितजानु
२ हेरुक द्विभुज (अद्वैत)	नील	नृ० अर्ध० शवासन	वज्र-कपाल	द्विभुज	—		चलत्पताकखट्वा०
द्विभुज (द्वैत)	”	”	”	”			दंष्ट्रोत्कट, मुण्डविभू०
चतुर्भुज	”	”	”				त्रिलोक्याक्षेपप्रशासनाथ नृमांसभक्ष्यमाण कृष्णवज्र-खड्ग-खट्वांग-रत्न
३ बुद्धकपाल (ब)		नृत्य अर्धप०		चतुर्भुज		चित्रसेना	हस्तेषु खट्वांग, कपाल, कर्तरी, डमरू
४ वज्रडाक							
(i) शम्बर	नील.	आलीढा० कालरात्रिवा०	वज्र-घंटा	द्विभुज,	एकमुख	वज्र वा.	
(ii) सम्बर (स)				षड्भु०	त्रिमुख		वज्र-घंटा-नृचर्म-कपाल-खट्वांग-त्रिशूल
(iii) महामाया (य)	त्रिवर्ण, नील-हरित पीत,				चतुर्मुख,	चतुर्हस्त,	बुद्ध डाकिनी
५ हयग्रीव	रक्त	नृ० अर्ध० ललितासन			त्रिमुख	अष्टभुज	
६ (i) यमारि (सामान्य)	अनेक-वर्ण	महिषवाहन प्रत्याली०	महिष-शीर्ष		———	प्रज्ञा	—शान्तिकविधि श्वेत; पौष्टिक में पीत; वश्यविधि, रक्त; आकर्षण-विधि नील।
(ii) रक्तयमारि	रक्त						
७ (iii) कृष्णयमारि (र)	नील		—	—	—		
(i) जम्भाल					त्रिमुख षड्भुज		
(ii) उच्छुष्म जम्भाल		मुक्तरत्नकुबेर-वाहन प्रत्यालीढासन	नग्न				उग्र रूप

टि० (अ) चण्डरोषण को महाचण्डरोषण, चण्डमहारोषण और अचल इन नामों से भी संकीर्तित किया गया है।

टि० (ब) बुद्धकपाल के मण्डल में २४ देवियों का उल्लेख है।

टि० (स) सम्बर के मण्डल में ६ देवियाँ हैं—हेरुकी, वज्रभैरवी घोरचण्डी, वज्रभास्करी, वज्ररौद्री और वज्रडाकिनी।

टि० (य) महामाया के मण्डल की चार सहचरियों में वज्रडाकिनी (पूर्व) रत्न-डाकिनी (द०) पद्मडाकिनी (प०) विश्वडाकिनी (उ०) में हैं।

टि० (र) कृष्णयमारि के ३ और अवान्तर-रूप हैं—प्रथम का आसन प्रत्यालीढ, मुद्रा वक्षोपरितर्जनीपाश, उपलक्षण वज्राङ्कितदण्ड; द्वितीय त्रिमुख, चतुर्भुज, प्रज्ञासहचर, भीषणरूप; तृतीय आलीढासन, त्रिमुखो षण्मुखो वा, षड्भुज।

अक्षोभ्य के आविर्भाव—देवी-वृन्द—अक्षोभ्य के आविर्भावों में एकादश देवियाँ उल्लेख्य हैं। उग्राओं के वर्ण नील हैं। शान्ताओं में प्रज्ञापारमिता, वसुधारा और महामंत्रानुसारिणी अपवाद हैं। निम्न तालिका देखिये:—

रूप	रूप भेद	वर्ण-मुद्रा	आसन-वाहन	मुख हस्त	उपलक्षण	विशेष चिन्ह	
१ महाचीनतारा	उग्रतारा	नेपाल	—	प्रत्या. शव.	चतुर्भुजा	—	—
२ जाङ्गुली	(i)	श्वेत	अभय	—	—	सर्प	हाथों में वीणा
	(ii)	हरित	,,	—	—	त्रिशूल-शिखि-सर्प	
	(iii)	—		सर्पवाहना	त्रिमु. षड्भु.	—	—
३ एकजटा	(i)	नील		प्रत्या०	द्विभुजा	कर्तरी-करोट दो हाथों में	
	(ii)	,,		,,	चतुर्भुजा	शरधनुषकपालखड्गहस्ता	
	(iii)	,,		,,	अष्टभुजा	खड्गशरवज्रकर्तरीदक्षिणा धनुउत्पलपरशुकपालवामा	
विद्युज्जालकराली	(iv)	,,		इं.ब्र.वि. शि. वाहना	द्वादश मुखा २४ भुजा *		
४ पर्णशवरी	—	पीता		प्रत्या० गणेशवा०	त्रिमुखषड्भुजा	दक्षिण—वज्र परशु शर-वाम-तर्जनीपाश-पर्णपत्रिका-धनुष	
५ प्रज्ञापारमित	(i) सिता प्र०	सिता		वज्रप०	—	कमल, पुस्तक	
	(ii) पीता प्र०	पीता		व्याख्यानमुद्रा		वामे कमलोपरि पुस्तकम्	
६ वज्रचर्चिका	—	रक्ता		नृत्य० अर्ध० शववाहना	षड्भुजा	दक्षिणेषु वज्र, खड्ग, चक्र, वामेषु कपाल, रत्न, कमल	
७ महामन्त्रानुसारिणी		नीला		वरदमुद्रा	चतुर्भुजा	वज्र, परशु, पाश	
८ महाप्रत्यङ्गिरा	—	नीला		दक्षिणवरदा	षड्भुजा	खड्ग-अंकुश-वरद-दक्षिणा तर्जनीपाश रक्तकमल-त्रिशूल-वामा	
९ ध्वजाग्रकेयूरा	(i)	नीला		प्रत्या.	त्रिमुखा चतुर्भुजा	खड्ग पाश-दक्षिणा खट्वांग-चक्र-वामा	
	(ii)	पीता		—	चतुराननाना चतुर्भुजा	खड्ग-चक्र-दक्षिणा तर्जनीपाश-मुसल-वामा	
१० वसुधारा	—	नीला		वरदमुद्रा	—	धानमञ्जरी	
११ नैरात्मा	—	नीला		नृ. अर्ध. शववा.	—	कर्तरी-कपाल-खट्वांग-हस्ता	

वैरोचन के आविर्भाव—साधन-माला के अनुसार वैरोचन के सभी आविर्भाव देव न होकर देवियां हैं। पंच ध्यानी-बुद्धों में वैरोचन बौद्ध-स्तूप का अन्तरालाधिष्ठातृ-देव है। अत एव इसकी ५ देवियां चैत्य के अन्तराल की देवियां हैं। इन पांच देवियों में मारीची सर्वप्रसिद्धा है जिस पर हिन्दुओं की उषादेवी का प्रभाव है।

---

* दक्षिणहस्तेषु—खड्ग, वज्र, चक्र, रत्न, अंकुश, शर, शक्ति, मुद्गर, मुसल, कर्तरी डमरू, अक्षमाला। वामेषु च—धनु-पाश-तर्जनी-पताका-गदा-त्रिशूल-चषक-उत्पल-घण्टा-परशु-ब्रह्मशिर-कापालाः।

वैरोचनाविर्भूता देवियां

रूप रूपभेद वर्ण मुद्रा आसन वाहन हस्त मुख उपलक्षण एवं सहायिकायें

१ मारीची (i) अशोककान्ता नीला स्थानका शूकरवा० द्वि-अष्ट-दश-द्वादशभुजा एक-त्रिपंच-षण्मुखी, वर्त्ताली, वदाली वराली, वराह मुखी

(ii) आर्यमारीची ,, ,, ,, ,, सूची सूत्र

(iii) मारीची पिचुवा — — त्रिमुखा अष्टभुजा

(iv) उभयवराहानना आलीढा * द्वादशभुजा त्रिमुखी * हरिहरहिरण्यगर्भवा०

(v) दशभुजा श्वेता शूकराकृष्ट-रथवाहना दशभुजा पंचमुखी चतुष्पादा तीनों देवियों से अनुगत

(vi) वज्रधात्वीश्वरी — आलीढा० द्वादशभुजा षडानना —

२ उष्णीषविजया श्वेता, वरदाभया त्रिमुखी अष्टभुजा दक्षिणहस्तेषु विश्ववज्र, कमलोपरिबुद्ध-शर-वरदमुद्रा, वामहस्तेषु तजनी-पाश-अभयमु०

३ सितातपत्रा अपराजिता — — ,, दक्षि० चक्र-अंकुश-कलश-धनु०
,, वाम० श्वेतवज्र शर-तर्जनीपाश

४ महासाहस्रप्रमर्दिनी श्वेता वरदा षड्भुजा दक्षि० खड्ग, शर, वरदमुद्रा
,, वाम० धनुष, पाश, परशु

५ वज्रवाराही (i) रक्तवर्णा प्रत्याली० द्विभुजा वज्रतर्जनीकपालखट्वां०
(ii) नृ० अर्ध० शववाहना कर्तरी-कपाल
(iii) आर्यवज्रवाराही — आलीढा० एकमुखा,त्रिनेत्रा दक्षि० वज्र-अंकुश
चतुर्भुजा वा० कपाल-तर्जनीपाश

अमोघ सिद्धि के आविर्भाव

वैरोचन के सदृश अमोघसिद्धि के भी सभी आविर्भाव देवियाँ हैं। सा० मा० के अनुसार सात देवियाँ अमोघसिद्धि का चिन्ह धारण करती है जो निम्न-तालिका से निभाल्य हैं

रूप वर्ण मुद्रा आसन वाहन हस्त मुख सहायिकायें और उपलक्षण

१ खदिरवनी तारा हरिता वरदा — — अशोककान्ता एकजटा उत्पल

२ वश्यतारा ,, भद्रासना — कमल

३ षड्भुजा सिततारा श्वेत वरदा अर्ध० षडभुजा त्रिमुखी वरदअक्षमालाशरदक्षिणा उत्पल-कमल-धनुषवामा

४ धनदतारा — — चतुर्भुजा दक्षि० वरदाक्षमाल वा० उत्पल पुस्तक

५ पर्णशवरी हरिता प्रत्या व्याधिवाहना षडभुजा, त्रिमुखी क्रुद्धहास्यम्

६ महामायूरी अर्धप० ,, ,, —

७ वज्रशृङ्खला ललितासना त्रिमूखी अ-भुजा उप० शृङ्खला

रत्नसंभव के आविर्भाव

रत्नसंभव ध्यानी बुद्धों में अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। सा० मा० में इससे दो देव और दो देवियाँ आविर्भूत बतायी गयी हैं। जम्भाल (बुद्धों के कुवेर) और उसकी पत्नी वसुधारा का उद्भव ध्यानी बुद्धों में रत्नसम्भव (रत्नों से उत्पन्न) को छोड़कर और किस से सम्बन्धित होता ? अक्षोभ्य-सम्प्रदायानुयायी इसे अक्षोभ्य का आविर्भाव मानते हैं।

रत्नसंभवोद्भूतदेवद्वय—जम्भाल और उच्छूष्मजम्भाल। **जम्भाल**—अद्वैत एवं द्वैत-दोनों रूपों में परिकल्पित है। अक्षोभ्योद्भूत जम्भाल का वर्णन ऊपर हो ही चुका है। इस आविर्भाव के विशेष लक्षण हैं—दक्षिणहस्ते नकुलः वामे च जम्बीरफलम्, रत्नालकार-भूषितः दिव्याम्बरः कमलासनः—कमलदलेषु अष्टयक्षाः—मणिभद्र, पूर्णभद्र, धनद, वैश्रवण, केलिमाली, चिविकुण्डली, सुखेन्द्र और चरेन्द्र। जिस प्रकार जम्भाल अपनी शक्ति से आलिङ्गित है उसी प्रकार यक्ष भी अपनी यक्षिणियों से—यक्षिणियाँ—चित्रकाली, दत्ता, सुदत्ता, आर्या, सुभद्रा, गुप्ता, देवी और सरस्वती।

उच्छूष्मजम्भाल—आसन प्रत्या०, उग्र रूप, उपलक्षण नग्नत्व, वाहन कुवेर, द्विभुज।

रत्नसंभवोद्भूतदेवियुगल—महाप्रतिसरा तथा वसुधारा।

महाप्रतिसरा—दो रूप १. त्रिमुखी दशभुजी; २. चतुर्मुखी अष्टभुजा।

वसुधारा—पीतवर्णा, उपलक्षण—दक्षिणहस्ते वरदमुद्रा, वामे च धानमञ्जरी पात्रंच।

पंचध्यानी बुद्धों के आविर्भाव—देववृन्द—समष्टि-रूप में पंच ध्यानी-बुद्धों के केवल दो देव हैं—जम्भाल और महाकाल। **जम्भाल**—द्विभुज, जम्बीरनकुलहस्त, आलीढासन में दो अधमानुषों (शंखमुण्ड और पद्ममुण्ड) को कुचलता हुआ।

महाकाल—पचबुद्धकिरीटी यह महाकाल नैपाल का अति प्रसिद्ध देव है जिसकी प्रतिमायें प्रचुर रूप में पायी जाती हैं। उग्ररूपः कृष्णावर्णः प्रत्यालीढासनः एकमुखः द्विभुजः चतुर्भुजः षड्भुजा वा; अष्टमुखश्च षोडषभुजः, त्रिनयनः, महाज्वालः, कर्तरीकपालधारी, दक्षिणवामभुजाभ्यां मुण्डमालालंकृतोर्ध्वपिङ्गलकेशोपरिपञ्चकपालधरः, दंष्ट्राभीमभयानकः भुजङ्गाभरणयज्ञोपवीतः......सा० मा०—निगद व्याख्यान।

स्थापत्य के निदर्शनों में इसके विभिन्न विलक्षण रूप है। सा० मा० के अनुसार षोडशभुजी प्रतिमा भी शक्त्यालिङ्गित है ही वह चतुष्पाद भी है। दूसरे सप्त देवियों से इसे परिवृत कहा गया है—पूर्व में महामाया (महेश्वरपत्नी), दक्षिण में यमदूती, पश्चिम में कालदूती, (उत्तर में स्वयं आप), ईशानादि चार कोणों में—कालिका (दक्षि० पू०), चर्चिका (द० प०) चण्डेश्वरी (उ० प०) कुलिशेश्वरी (उ० पू०)। इस प्रकार इन सप्तमातृकाओं से परिवृत महाकाल वज्रभैरव के शवासन पर आसीन है। महाकाल तान्त्रिक-साधना का मारकदेव है। कुपगी बौद्धों का यह शत्रु है—उनको चबा जाता है—ऐसी धारणा है।

पंचध्यानी-बुद्धों की आविर्भूता देवियां—देवीवृन्द—समष्टि पंचध्यानीबुद्धों की उद्भूता देवियां चार हैं, वज्रतारा, सिततारा, प्रज्ञापारमिता, कुरुकुल्ला। निम्न तालिका देखिए:—

	रूप	वर्ण	मुद्रा	आसन	वाहन	हस्त	मुख	उपलक्षण
१	वज्रतारा	पीता		वज्रपर्यंक		अष्टभुजा	चतुर्मुखी	वज्र-पाश-शंख-शर दक्षिणा-वज्रांकुशोत्पल-धनु-तर्जनीवामा

२ प्रज्ञापारमिता—वज्रपर्यंक धर्मचक्र दोनों तरफ पुस्तक
३ मायाजालक्रम षड्भुजा
कुरुकुल्ला रक्त वज्रपर्यंक —
—
४ सिततारा शुक्ला चतुर्भुजा उत्पल (दो में) वरद (तीसरे में)

टि० चतुर्ध्यानी-बुद्धों का केवल एक ही आविर्भाव—वह भी एक देवी—वज्रतारा। यहां पर भी वह अष्ट देवियों से अनुगता है। सा० मा० के अनुसार पंच-ध्यानी-बुद्धोद्भवा-वज्रतारा के दो रूप विशेषोल्लेख्य हैं जिनके स्थापत्य-निदर्शन (दे० उड़ीसा की मूर्ति प्रथम कोटि में) भी हैं। प्रथमे पंचबुद्धकिरीटिनी है और दस देवियों के मण्डल के स्थान पर केवल चार देवियों का सानुगत्य प्रदर्शित है— पुष्पतारा, धूपतारा, दीपतारा तथा गन्धतारा। दूसरी कोटि में शस्त्रास्त्र-लाञ्छन-विषमता ही प्रमुख है।

वज्रसत्व के आविर्भाव—ऊपर पंचध्यानी-बुद्धों के साथ वज्रसत्व का भी परिगणन किया गया है। इस वर्ग में इसका समावेश अति अर्वाचीन है। केवल दो ही देवता इसका किरीट वहन करते हैं जम्भाल और चुण्डा। **जम्भाल** द्वैत (शक्तिसमालिङ्गित) षड्भुज, त्रिमुख, वज्रपर्यंकासनासीन। **चुण्डा**—श्वेतवर्णा, चतुर्भुजा, दक्षिणहस्ते वरदमुद्रा वामेच कमलोपरिपुस्तकम्।

पञ्चाक्षरमण्डलीय देवता—इनको महापञ्चाक्षर देवताओं के नाम से पुकारा जाता है और उनकी संख्या पांच है—महाप्रतिसरा, महासाहस्रप्रमर्दनी, महामन्त्रानुसारिणी, महामायूरी और महासितवती। पञ्च ध्यानी-बुद्धों के साथ इनका सानुगत्य दिखाया ही जा चुका है (दे० देवी-वृन्द); परन्तु मण्डलाधिष्ठिता इनके रूपों में कुछ विभेद अवश्य है। महायान में इनकी पूजा का विशेष प्रचार है—इन पांचों की पूजा से आयुष्य, आधिराज्य, ग्राम, क्षेत्र प्राप्त होते हैं। इन में महासाहस्रप्रमर्दनी को छोड़कर सभी शान्त हैं। प्रत्येक का उपलक्षण बोधिवृक्षोपशोभिता है।

महाप्रतिसरा—इस मण्डल की मध्यस्था देवता महाप्रतिसरा है जो श्वेतवर्णा, षोडशी, चैत्यकिरीटिनी, चन्द्रासना, सूर्यमण्डलस्था, वज्रपर्यंकासना, त्रिनयना, अष्टभुजा, चलत्कुण्डलशोभिता, हारनूपुरभूषिता, कनककेयूरमण्डितमेखला, सर्वालङ्कारधारिणी, चतुर्मुखी—(प्रथ० गौरवर्ण, दक्षि० कृष्ण, पृ० पीत, वाम रक्त) है। दाहिने हाथों में—चक्र, वज्र, शर, खड्ग; बायें हाथों में—वज्रपाश, त्रिशूल, धनुष, परशु।

महासाहस्रप्रमर्दनी—महाप्र० के पूर्व में इसकी स्थिति है। वह कृष्णवर्णा, पिङ्गलोर्ध्वकेशा, नरकपालालंकृता, भ्रूभृकुटीदंष्ट्राकरालवदना, ललितासना, महाभूतों, महायक्षों को आक्रान्त करती हुई चतुर्मुखी चित्रणीय है। उसके दक्षिण हस्तों में प्रथमे वरदमुद्रा अन्यों में वज्र, अंकुश और खड्ग हैं; वामों में तर्जनीपाश, परशु, धनुष कमलोपरिषोडशरत्न हैं। उसका प्रधान मुख कृष्णवर्ण, दक्षि० श्वेत, वाम हरित, पृष्ठ पीत है तथा शिर पर बोधि-वृक्ष (वटवृक्षोपशोभिता) का निर्देश है।

महामायूरी (दक्षिणे)—पीतवर्णा, सूर्यमण्डलालीढा, सत्वपर्यंकिनी, त्रिमुखा, अष्टभुजा—दक्षिण हस्तों में वरदमुद्रा, रत्नघट, चक्र और खड्ग तथा वामों में पद्मोपरि

भिक्षु (अथवा फल, दे० भट्टाचार्य पृ० १३४), मयूरपिच्छ, घण्टोपरिविश्वराज और रत्न-ध्वज। उसका केन्द्र-मुख पीत, दक्षिण कृष्ण, वाम रक्त, शीर्ष अशोककोषोपशोभित।

महामन्त्रानुसारिणी (पश्चिमे) – शुक्लवर्णा, द्वादशभुजा, त्रिमुखी, स्फुरत्सूर्य-मण्डलालीढा, शिरीषवृक्षोपशोभिता। प्रथम दो भुजों में धर्म-चक्र-मुद्रा, दूसरे दो में समाधि-मुद्रा, अवशेष आठ में—दक्षि० वरद, अभय, वज्र, शर; वाम० तर्जनीपाश, धनुष, रत्न और घटोपरिकमल। केन्द्रमुख शुक्लवर्ण, दक्षि० कृष्ण, वाम रक्त।

महासितवती (उत्तरे)—हरितवर्णा, सूर्यमण्डलालीढा, त्रिमुखा, त्रिनेत्रा षड्भुजा। उसके दक्षिण भुजों में—अभय, वज्र, शर; वामों में पाश, तर्जनी और धनुष।

सात तारायें—तारा-देवियों के वर्गीकरण का आधार वर्ण है। इनकी संख्या सात है। सात साधारण और पांच असाधारण।

साधारण तारा-देवियां—१ हरिततारा—इस कोटि की ताराओं में (१) खदिर-वनी तथा (२) वश्यतारा का ऊपर संकीर्तन हो चुका है (दे० अमोघसिद्धि के आविर्भाव)। शेष तीन और हैं (३) आर्यतारा (४) महत्तरीतारा, (५) वरदतारा। प्रथम और दूसरी वज्रपर्यंकासनासीना हैं तीसरी की चार सहायिकाये हैं—अशोककान्ता मारीची, महामायूरी, एकजटा और जांगुली।

२ शुक्लतारा—इस कोटि में दो हैं—(६) अष्ट महाभयातारा और (७) मृत्युवञ्चना तारा (सिततारा वज्रतारा वा)। प्रथमा दशाक्षर-तारा-मंत्रोद्भवा देवियों से परिवृता विहित है और द्वितीया चक्रालङ्कृतवक्षा है।

टि० इन सभी साधारण ताराओं का सामान्य लक्षण है—वामहस्त में उत्पल और दक्षिण में वरदमुद्रा।

असाधारण तारा देवियों में

(३) **हरिततारा**—इसके चार आवान्तर रूप हैं—दुर्गोत्तारिणीतारा, धनदतारा, जाङ्गुली, पर्णशवरी।

(४) **शुक्लतारा**—के पांच रूप—चतुर्भुज-सिततारा, षड्भुज-सिततारा, विश्वमाता, कुरुकुल्ला और जांगुली हैं।

(५) **पीततारा**—के भी पांच रूप—वज्रतारा, जांगुली, पर्णशवरी, भृकुटी, प्रसन्नतारा।

(६) **कृष्णतारा**—के केवल दो रूप—एकजटा और महाचीनतारा।

(७) **रक्ततारा**—के अनेक रूप नहीं हैं।

स्वतन्त्र देवता—स्वतन्त्र देवताओं की परम्परा का क्या रहस्य है असिन्दग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। बौद्ध-परम्परा का सभी देव-वृन्द ध्यानी-बुद्धों से आविर्भूत हैं। परन्तु सा० मा० के ६ देवता ऐसे हैं जो स्वतन्त्र रूप से परिकल्पित है। सम्भवतः हिन्दुओं के सरस्वती और गणेश को कैसे आविर्भूत किया जा सकता था? अतएव इनकी स्वाधीन स्थिति विहित है। श्रीयुत भट्टाचार्य ने परमाश्व (जो हयग्रीव का दूसरा नाम है) और नाम संगीति इन दो को भी स्वाधीन माना है इस प्रकार इनकी संख्या आठ हुई।

स्वतन्त्र देववृन्द

रूप	वर्ण	मुद्रा	आसन	वाहन	हस्त मुख	उप०
१ गणेश	रक्त	नृ०	अर्ध०	मूषिकवा०	द्वादशभुज एकमुख	—
२ विघ्नान्तक	कृष्ण		प्रत्या०		—	तर्जनीपाश
३ वज्रहुंकार	वज्रहुँकार		प्रत्या०	शिववाहन	द्विभुज उग्ररूप	वज्र, घंटा
४ भूतडामर	अञ्जन	भूतडामरमुद्रा,			चतुर्भु० उग्ररूप	वज्रतर्जनी
५ वज्र-ज्वालानलार्क			आलीढ़०	सपत्नीक-विष्णुवाहन	अष्टभु० चतुर्मु०	* इन्द्र-इन्द्राणी-मधुकरश्री-जयकर-रति-वसन्त प्रीतिवाहन
६ त्रैलोक्यविजय	,,		प्रत्या०	गौरीशिववा०	,,	
७ परमाश्व	—		*	,, चतुष्पादोपि		दक्षिणे कमल-द्वयोपरि खड्ग वामे वज्रोपरि खट्वांग अभयद्वय-अञ्जलि-क्षेपण-समाधि-तर्पणमुद्रा
८ नामसंगीति	शुक्ल		वज्रप०		द्वादश भुजः	

स्वतन्त्र देवीवृन्द

रूप	रूप भेद	वर्ण	मुद्रा	आसन	वाहन	हस्त मुख	उप०
१ स	(i) महासरस्वती	शुक्ला	दक्षिणवरदा			द्विभुजा	वामे कमलम्
	(ii) वज्रवीणा,	शुक्ला	वरदा	सितकमलोपरि	चन्द्रासना		वीणा
र	(iii) वज्रशारदा		—	—			दक्षि० कमलम् वामे पुस्तकम्
स्व	(iv) आर्य सरस्वती		—	—			कमलोपरि प्रज्ञापा०
ती	(v) वज्रसरस्वती			प्रत्या०		षडभुजा त्रिमु०	—
२ अपराजिता	[गणेशाक्रान्ता, तर्जनीपाश-चपेटा-दान मुद्रा]						
३ वज्रगान्धारी				प्रत्या०		द्वादशभुजा षडानना	
४ वज्रयोगिनी	(रूपद्वय)	प्रथम में हिन्दुओं की छिन्नमस्ता का सादृश्य—अशीर्षा द्वितीये शीर्षसनाथा नैरात्मावज्रवाराहीसदृशा					
५ गृह्मातृका			धर्मचक्र मु०	वज्रपर्य०		षडभुजा त्रिखी	
६ गणपतिहृदया			अभया वरदा च	नृत्यन्ती		द्विभुजा	
७ वज्रविदारणी	[पंचानना दशभुजा—अंकुश-खड्ग-शर,वज्र-वरद-दक्षिणा, पाश-चर्म-धनु-ध्वज-अभय-वामा]						

उपसंहार—शून्यवादी, अदेववादी, अनीश्वरवादी बौद्धों में भी इस विपुल देव-वृन्द एवं देवी-वृन्द का विकास बड़ा ही रोचक विषय है। हिन्दुओं की पौराणिक कल्पना ने भी बौद्धों के लिये देव-वृन्द-कल्पना की ऊर्वरा भूमि प्रस्तुत कर दी। तन्त्रों ने तो जितना प्रभाव बौद्धों पर डाला उतना अन्यत्र अप्राप्य है। अथच बौद्ध-धर्म यतः एक प्रकार से ब्राह्मण धर्म का प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं कालान्तर पाकर प्रतिस्पर्धी एवं प्रतिद्वेषी भी हो गया अतः ब्राह्मणों के परमपूज्य महादेव (गणेश, ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि) बौद्धों की देवप्रतिमाओं के पैरों से कुचले हुए प्रदर्शित हैं—इससे बढ़कर विद्वेष और क्या हो सकता है?

परिशिष्ट

बौद्धदेव-वृन्द में **अवलोकितेश्वर** की सबसे अधिक प्रतिमायें शास्त्र में प्रतिपादित एवं स्थापत्य में निर्दिष्ट हैं। साम्प्रतिक कल्प (भद्रकल्प) के अधिराट् बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के आधिराज्य ने अनुषङ्गतः स्थापत्य को भी प्रभावित किया। अस्तु, ऊपर अवलोकितेश्वर की जिन १०८ प्रतिमा-रूपों का संकेत किया गया था उनके नाम निम्नरूप से निभालनीय हैं:—

हयग्रीवलोकेश्वर
मोजवाज्ज्वल
हालाहल
हरिहरिहरिवाहन
मायाजालक्रम
षडक्षरी
आनन्दादि
वश्याधिकार
पोतपाद
कमण्डलु
वरदायक
जटामुकुट
सुखावती
प्रेतसन्तर्पित
मायाजालक्रमक्रोध
सुगतिसन्दर्शन
नीलकण्ठ
लोकनाथरक्तार्य्य
त्रैलोक्यसन्दर्शन
सिंहनाथ
खसर्पण
मणिपद्म
वज्रधर्म
पूपल
उतनौति
कृष्णाचन
ब्रह्मदण्ड
अचाट
महावज्रसत्त्व
विश्वहन
शाक्यबुद्ध
शान्तामि
जमदण्ड
वज्रोष्णीष
वज्रहुन्तिक
ज्ञानधातु

कारण्डव्यूह
सर्वनिवरणविष्कम्भि
सर्वशोकतमोनिर्घात
प्रतिभानकुट
अमृतप्रभ
जालिनीप्रभ
चन्द्रप्रभ
अवलोकित
वज्रगर्भ
सागरमति
रत्नपाणि
गगनगञ्ज
आकाशगर्भ
क्षितिगर्भ
अक्षयमति
सृष्टिकान्त
सामन्तभद्र
महासहस्रभुज
महारत्नकीर्ति
महाशंखनाथ
महासहस्रसूर्य
महारत्नकुल
महापटल
महामञ्जुदत्त
महाचन्द्रविम्ब
महासूर्यविम्ब
महा-अभयफलद
महा-अभयकारी
महामञ्जुभूत
महाविश्वशुद्ध
महावज्रधातु
महावज्रधृक
महावज्रपाणि
महावज्रनाथ
अमोघपाश
देवदेवता

पिण्डपात्र
सार्थवाह
रत्नदल
विष्णुपाणि
कमलचन्द्र
वज्रखण्ड
अचलकेतु
शिरिषरा
धर्मचक्र
हरिवाहन
सरसिरि
हरिहर
सिंहनाद
विश्ववज्र
अमिताभ
वज्रसत्त्वधातु
विश्वभूत
धर्मधातु
वज्रधातु
शाक्यबुद्ध
चित्तधातु
चिन्तामणि
शान्तमणि
मञ्जुनाथ
विष्णुचक्र
कृताञ्जलि
विष्णुकान्ता
वज्रसृष्ट
शंखनाथ
विद्यापति
नित्यनाथ
पद्मपाणि
वज्रपाणि
महास्थामप्राप्त
वज्रनाथ
श्रीमदार्य्य

१०

प्रतिमा-लक्षण

जैन

जैन प्रतिमाओं का आविर्भाव—जैन-प्रतिमाओं का आविर्भाव जैनों के तीर्थङ्करों से हुआ। तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं का प्रयोजन जिज्ञासु जैनों में न केवल तीर्थङ्करों के पावन-जीवन, धर्म-प्रचार और कैवल्य-प्राप्ति की स्मृति ही दिलाना था, वरन् तीर्थङ्करों के द्वारा परिवर्तित पथ के पथिक बनने की प्रेरणा भी। जिन-पूजा में कल्याणक-पाठ (जिनों के कल्याणमय कार्य एवं काल की गाथाओं) का भी तो यही रहस्य है। तीर्थङ्करों के अतिरिक्त जैनों के जिन जिन देवों की कल्पना एवं प्रकल्पना परम्परित हुई उसका संकेत हम पीछे भी कर चुके हैं (दे० जैन-धर्म—जिन-पूजा) तथा कुछ चर्चा आगे भी होगी।

जैनियों की प्रतिमा-पूजा-परम्परा की प्राचीनता पर हम संकेत कर चुके हैं। इस परम्परा के पोषक साहित्यिक एवं स्थापत्यात्मक प्रमाणों में एक दो तथ्यों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। हाथीगुम्फा-अभिलेख से जैन-प्रतिमा-पूजा शिशुनाग और नन्द राजाओं के काल में विद्यमान थी—ऐसा प्रमाणित किया जाता है। श्रीयुत बृन्दावन भट्टाचार्य (See Jain Iconography p. 33.) ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निर्दिष्ट जयन्त, वैजयन्त, अपराजित आदि जिन देवों को जैन-देवता माना है वह ठीक नहीं। हाँ जैन-साहित्य की एक प्राचीन कृति—'अन्तगडदसाओ' में 'हरिनेगमेशि' का जो संकेत, उन्होंने उल्लिखित किया है, उससे जिन-पूजा-परम्परा ईशा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व तो प्रमाणित अवश्य होती है। मथुरा के पुरातत्त्वान्वेषणों से भी यही निष्कर्ष दृढ़ होता है। जैनों के ७वें तीर्थङ्कर की स्मृति में निर्मापित स्तूप की तिथि ऐतिहासिकों ने ईशवीयपूर्व सप्तम शताब्दी माना है जिससे प्रतीकोपासना एवं प्रतिमा-पूजा दोनों की प्राचीनता सिद्ध होती है।

जैन-प्रतिमाओं की विशेषतायें

(अ) **प्रतीक-लाञ्छन**—जैन-प्रतिमायें ही क्या अखिल भारतीय प्रतिमायें—प्रतीकवाद (Symbolism) से अनुप्राणित हैं। भारतीय स्थापत्य की प्रमुख विशेषता प्रतीकत्व है। इस प्रतीकत्व के नाना कलेवरों में धर्म एवं दर्शन की ज्योति ने प्राण संचार किया है। तीर्थङ्करों की प्रतिमोद्भावना में वराहमिहिर की बृहत्संहिता के निम्न प्रवचन में जैन-प्रतिमा के लाञ्छनों अर्थात् जैन-प्रतिमाओं की विशेषताओं का सुन्दर आभास मिलता है :—

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥

अर्थात् तीर्थङ्कर-विशेष की प्रतिमा-प्रकल्पन में लम्बे लटकते हुए हाथ (आजानु-लम्बबाहुः), श्रीवत्स-लाञ्छन, प्रशान्त मूर्ति, नग्न-शरीर, तरुणावस्था—ये पांच सामान्य विशेषतायें हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिण एवं वाम पार्श्व में क्रमशः एक यक्ष और एक यक्षिणी का भी प्रदर्शन आवश्यक है। तीसरे अशोक (अथवा आम्र वृक्ष जिसके नीचे बैठकर

जिन-विशेष ने ज्ञान प्राप्त किया) वृक्ष के साथ-साथ अष्ट-प्रातिहार्यों (दिव्यतरु, आसन, सिंहासन तथा आतपत्र, चामर, भामण्डल, दिव्य-दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि एवं दिव्यध्वनि) में से किसी एक का प्रदर्शन भी विहित है तीर्थङ्कर-विशेष की प्रतिमा में इन सभी प्रतीकों का प्रकल्पन अनिवार्य है। जिन प्रतिमा में शासन-देवताओं—यक्षों एवं यक्षिणियों का प्रदर्शन गौडरूप से ही अभिप्रेत है—हाँ उनकी निजी प्रतिमाओं में जिन-मूर्ति गौड़ हो जाती है और उसको, आविर्भूत बौद्ध-देव-वृन्द में आविर्भावक-देव की प्रतिमा के सदृश, शीर्ष पर अथवा अन्य किसी ऊर्ध्व-पद पर प्रतिष्ठापित किया जाता है।

(ब) जैन-देवों के विभिन्न वर्ग

'आचार-दिनकर' के अनुसार जनों के देव एवं देवियों की तीन श्रेणियां हैं १ प्रासाद-देवियां २ कुल-देवियां (तान्त्रिक देवियां) तथा ३ सम्प्रदाय-देवियां। यहां पर यह स्मरण रहे कि जैनों के दो प्रधान सम्प्रदायों—दिगम्बर एवं श्वेताम्बर—के देवों एवं देवियों की एक परम्परा नहीं हैं। तान्त्रिक-देवियां श्वेताम्बरों की विशेषता है। महायानी तथा वज्रयानी बौद्धों के सदृश श्वेताम्बरों ने भी नाना तान्त्रिक-देवों की परिकल्पना की।

जैनों के प्राचीन देववाद में चार प्रधान वर्ग हैं—१ ज्योतिषी, २ विमान-वासी, ३ भवन-पति तथा ४ व्यन्तर। ज्योतिषी में नवग्रहों का संकीर्तन है। विमान-वासी दो उपवर्गों में विभाजित हैं—उत्तर-कल्प तथा अनुत्तर-कल्प। प्रथम में सुधर्म, ईशान, सनत्कुमार ब्रह्मा आदि १२ देव परिगणित हैं तथा दूसरे में पांच स्थानों के अधिष्ठातृदेव—इन्द्र के पांच रूप—विजय, विजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। भवन-पतियों में असुर, नाग, विद्युत्, सुपर्ण आदि १० श्रेणियां हैं। व्यन्तरों में पिशाच, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व आदि आठ श्रेणियां हैं। इन चार देव-वर्गों के अतिरिक्त षोडश श्रुत अथवा विद्या देवियां और अष्ट-मातृकायें भी जैनियों में पूज्य हैं। जैनियों में वास्तु-देवों की भी परिकल्पना है। इस संक्षिप्त समीक्षा से यह निष्कर्ष निकालने में देर न लगेगी कि तीर्थङ्करों के अतिरिक्त जैनियों का देव-वृन्द ब्राह्मण-देव-वृन्द ही है।

(स) तीर्थङ्कर

जैन-धर्म में सभी तीर्थङ्करों की समान महिमा है। बौद्ध गौतम-बुद्ध को ही जिस प्रकार से सर्वातिशायी प्रतिष्ठित करते हैं वैसा जैनियों में नहीं। तीर्थङ्कर-प्रतिमा-निदर्शनों में इस तथ्य का पोषण पाया जाता है। जैन-प्रतिमाओं की दूसरी विशेषता यह है कि जिनों के चित्रण में तीर्थङ्करों का सर्वश्रेष्ठ पद प्रकल्पित होता है। ब्रह्मादिदेव भी गौड़-पद के ही अधिकारी हैं। इसी दृष्टि से हेमचन्द्र के 'अभिधान-चिन्तामणि' में जैन-देवों का 'देवादिदेव' और 'देव' इन दो श्रेणियां में जो विभाजन है, वह समझ में आसकता है। देवादिदेव तीर्थङ्कर तथा देव अन्य सहायक देव। श्रीबृन्दावन भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है—In Iconography also this idea of the relative superiority of the Jinas has manifested itself. In the earliest sculptures of Jainism, the Tirthankaras prominently occupy about the whole relief of the stone.

जैन-मन्दिरों की मूर्ति-प्रतिष्ठा में 'मूल-नायक' अर्थात प्रमुख-जिन प्रधान-पद का अधिकारी होता है और अन्य तीर्थङ्करों का अपेक्षाकृत गौड़ पद होता है। इस परम्परा में

स्थान-विशेष का महत्व अन्तर्हित है। तीर्थङ्कर-विशेष से सम्बन्धित स्थान के मन्दिर में उसी की प्रधानता देखी गयी है। उदाहरणार्थ सारनाथ के जैन-मन्दिर में जो तीर्थङ्कर मूलनायक के पद पर प्रतिष्ठित है वह (अर्थात् श्रेयांसनाथ) सारनाथ में उत्पन्न हुआ था – ऐसा माना जाता है।

तीर्थङ्कर रागद्वेष से रहित हैं। जन-तपस्विता के अनुरूप जिनों की मूर्तियां योगि-रूप में चित्रित की जाती हैं। प्रतिमा-निदर्शनों में प्राप्त जैन मूर्तियां इस तथ्य को निदर्शन हैं। पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा में नग्न जिन-मूर्तियां सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। तीर्थङ्करों की प्रतिमायें योगिराज दक्षिणा-मूर्ति शिव के समान विभाव्य हैं। शाक्य-मुनि गौतम-बुद्ध की प्रतिमाओं एवं जिन-मूर्तियों में इतना अत्यधिक सादृश्य है कि साधारण जनों के लिये कभी-कभी उनकी पारस्परिक अभिज्ञा दुष्कर हो जाती है। कतिपय लाञ्छनों—श्रीवत्स आदि से दोनों का पारस्परिक पार्थक्य प्रकट होता है। कुशान काल की जिन-मूर्तियों में प्रतीक-संयोजना के अतिरिक्त यक्ष-यक्षिणी-अनुगामित्व नहीं प्राप्त होता है। यह विशिष्टता गुप्तकाल से प्रारम्भ होती है, जब से तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं में यक्ष-यक्षिणियों का अनिवार्य साहचर्य बन गया।

जैन-प्रतिमा की तीसरी विशेषता गन्धर्व-साहचर्य है। यद्यपि प्राचीनतम प्रतिमाओं (मथुरा, गान्धार) में यक्षों का निवेश नही परन्तु गन्धर्वों के उनमें दर्शन अवश्य होते हैं। मथुरा की जैन-मूर्तियों की एक प्रमुख विशिष्टता उनकी नग्नता है। गुप्तकालीन जैन-प्रतिमायें एक नवीन-परम्परा की उन्नायिका हैं। यक्षों के अतिरिक्त शासन-देवताओं का भी उनमें समावेश किया गया। धर्म-चक्र-मुद्रा का भी यहीं से श्रीगणेश हुआ।

जैन-प्रतिमाओं के विकास में भी सर्वप्रथम प्रतीक-परम्परा का ही मूलाधार है। आयाग-पट्टों पर चित्रित जिन-प्रतिमा इसका प्रबल निदर्शन है। आयाग-पट्ट एक प्रकार के प्रशस्ति-प्रत्र अथवा गुणानुकीर्तन-पत्र (tablets of homage) हैं, इनमें जिन-प्रतिमायें लाञ्छन-शून्य हैं। कुशान-कालीन जैन प्रतिमायें प्राचीनतम निदर्शन हैं। इन के तीन वर्ग हैं—स्तूपादि-मध्य-प्रतिमा, पूज्य-प्रतिमा तथा आयागपट्टीय प्रतिमा। हिन्दू त्रिमूर्ति के सदृश 'चौमुखी' या सर्वतोभद्र-प्रतिमा में चारों कोणों पर चार 'जिन' चित्रित किये जाते हैं। प्रत्येक तीर्थङ्कर का पृथक्-पृथक् चिन्ह है जिससे तीर्थङ्कर विशेष की अभिज्ञा (पहिचान) सम्पन्न होती है। आपाततः जिन-प्रतिमा भी बौद्ध-प्रतिमा के सदृश ही प्रतीत होती है परन्तु जिन-प्रतिमा की पहिचान आभरणालङ्करण के वैशिष्ट्य से बुद्ध-प्रतिमा से पृथक् की जासकती है। इन आभरणालङ्करणों के प्रतीकों में स्वस्तिक, दर्पण, स्तूप, वेतसासन, दा मत्स्य, पुष्पमाला और पुस्तक विशेष उल्लेख्य हैं। सभी तीर्थङ्करों की समान मुद्रा नहीं। ऋषभ, नेमिनाथ और महावीर—इन तीनों की आसन-मुद्रा कमलासन है जो इनके इसी आसन-मुद्रा में कैवल्य-प्राप्ति की सूचक है अतः इन तीनों की प्रतिमा-अभिज्ञा में यह तथ्य सदैव स्मरणीय है। अन्य शेष तीर्थङ्करों की प्रतिमा का कायोत्सर्ग-मुद्रा में प्रदर्शन आवश्यक है क्योंकि उन्हें इसी मुद्रा में निर्वाण प्राप्त हुआ था।

अस्तु संक्षेप में निम्न तालिका तीर्थङ्करों के लाञ्छन एवं शासन-देव तथा शासन-देवियों का क्रम प्रस्तुत करती है:—

२४ तीर्थङ्कर		शासन-देवियां (अपराजित)	(यक्षिणियां) (वास्तुसार)	शासन-देव (यक्ष) (अप० तथा वास्तु०)
१ आदिनाथ (ऋषभ)	वृषभ	चक्रेश्वरी	च०	वृषवक्त्र
२ अजितनाथ	गज	रोहिणी	अजितबला	महायक्ष
३ सम्भवनाथ	अश्व	प्रज्ञावती	दुरितारि	त्रिमुख
४ अभिनन्दननाथ	वानर	वज्रशृङ्खला	काली	चतुरानन
५ सुमतिनाथ	क्रौञ्च	नरदत्ता	महाकाली	तुम्बुरु
६ पद्मप्रभ	पद्म	मनोवेगा	अच्युता (श्यामा)	कुसुम
७ सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	कालिका	शान्ता	मातङ्ग
८ चन्द्रप्रभ	चन्द्र	ज्वालामालिनी	ज्वाला (भृकुटी)	विजय
९ सुविधिनाथ	मकर	महाकाली	सुतारा	जय
१० शीतलनाथ	श्रीवत्स	मानवी	अशोका	ब्रह्मा
११ श्रेयांसनाथ	गण्डक	गौरी	मानवी (श्रीवत्सा)	यक्षेश
१२ वासुपूज्य	महिष	गान्धारी	प्रचण्डा (प्रवरा)	कुमार
१३ विमलनाथ	वराह	विराटा	विदिता (विजया)	षण्मुख
१४ अनन्तनाथ	श्येन	अनन्तमति	अंकुशा	पाताल
१५ धर्मनाथ	वज्र	मानसी	कन्दर्पा (पन्नगा)	किन्नर
१६ शान्तिनाथ	मृग	महामानसी	निर्वाणी	गरुड
१७ कुन्थनाथ	छाग	जया	बला	गन्धर्व
१८ अरनाथ	नन्द्यावर्त	विजया	धारिणी	यक्षेश
१९ मल्लिनाथ	कलश	अपराजिता	वैरोट्या	कुबेर
२० मुनिसुव्रत	कूर्म	बहुरूपा	नरदत्ता	वरुण
२१ नमिनाथ	नीलोत्पल	चामुण्डा	गान्धारी	भृकुटी
२२ नेमिनाथ	शंख	अम्बिका	अम्बिका	गोमेध
२३ पार्श्वनाथ	सर्प	पद्मावती	पद्मावती	पार्श्व
२४ महावीर (वर्धमान)	सिंह	सिद्धायिका	सिद्धायिका	मातङ्ग

टि० १ 'अपराजिता-पृच्छा' के अनुसार, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त (?) श्वेत-वर्ण; पद्मप्रभ, धर्मनाथ रक्तवर्ण; सुपार्श्व, पार्श्वनाथ हरिद्वर्ण और शेष सब काञ्चनवर्ण चित्र्य हैं।

टि० २ तीर्थङ्करों के अन्य लाञ्छनों के विवरण परिशिष्ट स में उद्धृत अपराजित-पृच्छा के अवतरणों में द्रष्टव्य हैं।

प्रतिमा-स्थापत्य में २४ तीर्थङ्करों के अतिरिक्त २४ यक्षों एवं यक्षिणियों के रूप, १६ श्रुत-देवियों (विद्या-देवियों), १० दिग्पालों, ९ ग्रहों तथा क्षेत्रपाल, सरस्वती, गणेश, श्री (लक्ष्मी) तथा शान्तीदेवी के भी रूप प्राप्त हैं। अतः संक्षेप में इनके लक्षणों की अवतारणा की जाती है।

यक्ष-यक्षिणियां—तीर्थङ्कर-तालिका में इनकी संज्ञा एवं संख्या सूचित है। अतः यहाँ पर इस तालिका में संख्यानुरूप इनके विशेष लांछन दिये गये हैं। आधार—वास्तुसार तथा अपराजितपृच्छा; विशेष विवरण परिशिष्ट में उद्धृत अपराजित के अवतरणों में द्रष्टव्य हैं।

	२४ यक्षों के वाहन-लाञ्छन		२४ यक्षिणियों के वाहन-लाञ्छन	
	अपराजित	वास्तुसार	अपराजित	वास्तुसार
१	वृष	गज	१ गरुण	गरुण
२	गज	गज	२ रथ	लोहासन (गो-वाहन)
३	मयूर	मयूर	३ ?	मेष
४	हंस	गज	४ हंस	पद्म
५	गरुण	गरुण	५ श्वेतहस्ति	,,
६	मृग	मृग	६ अश्व	नर
७	मेष	गज	७ महिष	गज
८	कपोत	हंस	८ वृष	हंस
९	कूर्म	कूर्म	९ कूर्म	वृष
१०	हंस	कमलासन	१० शूकर	पद्म
११	वृष	वृषभ	११ कृष्णहरिण	सिंह
१२	शिखि	हंस	१२ नक्र	अश्व
१३	?	शिखि	१३ विमान	पद्म
१४	?	मकर	१४ हंस	,,
१५	?	कूर्म	१५ व्याघ्र	मत्स्य
१६	शुक	वराह	१६ पक्षिराज	पद्म
१७	,,	हंस	१७ कृष्णशूकर	शिखि
१८	खर	शंख	१८ सिंह	पद्म
१९	सिंह	गज	१९ अष्टापद	,,
२०	?	वृष	२० सर्प	भद्रासन
२१	?	वृष	२१ मर्कट	हंस
२२	?	पुरुष	२२ सिंह	सिंह
२३	?	कूर्म	२३ कुक्कुट	सर्प
२४	हस्ति	गज	२४ भद्रासन	सिंह

दश-दिग्पाल—दिग्पालों की संख्या आठ ही है परन्तु जैनो ने दस दिग्पाल माने हैं—

१. इन्द्र—तप्तकाञ्चनवर्ण, पीताम्बर, एरावण-वाहन, वज्रहस्त, पूर्वदिगधीश।

२. अग्नि – कपिलवर्ण, छागवाहन, नीलाम्बर, धनुर्बाणहस्त, आग्नेयदिगधीश।

३. यम—कृष्णवर्ण, चर्मावरण, महिषवाहन, दण्डहस्त, दक्षिणदिगधीश।

४. निऋ्ति—धूम्रवर्ण, व्याघ्रचर्मावृत, मुद्गरहस्त, प्रेतवाहन, नैऋत्यदिगधीश।

५. वरुण—मेघवर्ण, पीताम्बर, पाशहस्त, मत्स्यवाहन, पश्चिमदिगधीश।

६. वायु—धूसरवर्ण, रक्ताम्बर, हरिणवाहन, ध्वजप्रहरण, वायव्यदिगधीश।

७. कुबेर—शक्रकोशाध्यक्ष, कनकवर्ण, श्वेताम्बर, नरवाहन, रत्नहस्त, उत्तरदिगधीश।

८. ईशान—श्वेतवर्ण, गजाजिनावृत, वृषभवाहन, पिनाकशूलधर ईशानदिगधीश।

९. नागदेव—कृष्णवर्ण, पद्मवाहन, उरगहस्त, पातालाधीश्वर।

१०. ब्रह्मदेव—कञ्चनवर्ण, चतुर्मुख, श्वेताम्बर, हंसवाहन, कमलासन, पुस्तक कमल-हस्त

ऊर्ध्वलोकाधीश।

नवग्रह

१. **सूर्य**—रक्तवस्त्र, कमलहस्त, सप्ताश्वरथवाहन ।

२. **चन्द्र**—श्वेत-वस्त्र, श्वेतदशवाजिवाहन, सुधाकुम्भहस्त ।

३. **मंगल**—विद्रुमवर्ण, रक्ताम्बर, भूमिस्थित, कुदालहस्त ।

४. **बुध**—हरितवस्त्र, कलहंसवाहन, पुस्तकहस्त ।

५. **बृहस्पति**—काञ्चनवर्ण, पीताम्बर, पुस्तकहस्त, हंसवाहन ।

६. **शुक्र**—स्फटिकोज्ज्वल, श्वेताम्बर, कुम्भहस्त, तुरगवाहन ।

७. **शनैश्चर**—नीलदेह, नीलाम्बर, परशुहस्त, कमठवाहन ।

८. **राहु**—कज्जलश्यामल, श्यामवस्त्र, परशुहस्त, सिंहवाहन ।

९. **केतु**—श्यामाङ्ग, श्यामवस्त्र, पन्नगवाहन, पन्नगहस्त ।

क्षेत्रपाल—एक प्रकार का भैरव है जो योगिनियों का अधिपति है। आचारदिनकर में क्षेत्रपाल का लक्षण है—कृष्णगौरकाञ्चनधूसरकपिलवर्ण, विंशतिभुजदण्ड, बर्बरकेश, जटाजूट-मण्डित, वासुकीकृतनिजोपवीत, तक्षककृतमेखल, शेषकृतहार, नानायुध-हस्त, सिंहचर्मावृत, प्रेतासन, कुक्कुर-वाहन, त्रिलोचन ।

श्रुत-देवियां—विद्या देवियाँ

१. रोहिणी	५. अप्रतिचक्रा	९. गौरी	१३. वैरोट्या
२. प्रज्ञप्ति	६. पुरुषदत्ता	१०. गान्धारी	१४. अच्छुप्ता
३. वज्रशृंखला	७. कालीदेवी	११. महाज्वाला	१५. मानसी
४. वज्रांकुशी	८. महाकाली	१२. मानवी	१६. महामानसी

टि० १ इनके लक्षण यक्षिणियों से मिलते जुलते हैं।

टि० २ श्री (लक्ष्मी), सरस्वती और गणेश का भी जैनियों में प्रचार है। आचार-दिनकर में इनके लक्षण ब्राह्मण-प्रतिमा-लक्षण से मिलते जुलते हैं। शान्ति-देवी के नाम से भी श्वेताम्बरों के ग्रन्थों में एक देवी है जो जैनियों की एक नवीन उद्भावना कही जा सकती है।

टि० ३ **योगिनियां**—जैनों की ६४ योगिनियों में ब्राह्मणों से वैलक्षण्य है। अहिंसक एवं परम वैष्णव जैनियों में योगिनियों का आविर्भाव उन पर तान्त्रिक आचार एवं तान्त्रिकी पूजा का प्रभाव है। जैनों की शाक्तचर्या पर हम पीछे संकेत कर चुके हैं।

स्थापत्य-निदर्शनों में—महेत (गोंडा) की ऋषभनाथ-मूर्ति; देवगढ़ की अजित-नाथ-मूर्ति और चन्द्र-प्रभा-प्रतिमा; फैजाबाद संग्रहालय की शान्तिनाथ-मूर्ति; ग्वालियर-राज्य की नेमिनाथ-मूर्ति, जोगिन का मठ (रोहतक) में प्राप्त पार्श्वनाथीय मूर्ति—जिन-मूर्तियों में उल्लेख्य हैं। महावीर की मूर्ति भारतीय संग्रहालयों में प्रायः सर्वत्र द्रष्टव्य हैं। ग्वालियर राज्य में प्राप्त कुबेर, चक्रेश्वरी और गोमुख की प्रतिमायें दर्शनीय हैं। देवगढ़ की चक्रेश्वरी-मूर्ति बड़ी सुन्दर है। उसी राज्य (गंडवल) में प्राप्त क्षेत्रपाल, देवगढ़ की महामानसी अम्बिका और श्रुत-देवी; झाँसी की रोहिणी, लखनऊ संग्रहालय की सरस्वती, बीकानेर की श्रुत-देवी आदि प्रतिमायें भी उल्लेखनीय हैं।

११

उपसंहार

प्रतिमा-शास्त्र के उपर्युक्त प्रमुख सिद्धान्तों (canons) की अतिसंक्षेप में समीक्षा के साथ-साथ भारतीय प्रतिमाओं—ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन—के तीनों वर्गों की अवतारणा के उपरान्त अब अन्त में दो अत्यन्त महनीय एवं गहनीय विषयों पर कुछ ध्यान देना है—१ प्रतिमा-कला में रसदृष्टि तथा २ प्रतिमा और प्रासाद।

प्रतिमा में रस दृष्टि—प्रतिमा-शास्त्र विज्ञान भी है और कला भी। शास्त्रीय मानादि-योजना के सम्यक् परिपालन से ही सुरम्या प्रतिमा की परिकल्पना मानी गयी है—शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि'—यह एक प्रकार से आज कल के युग में शास्त्र वादियों—रूढ़ि-वादियों की परम्परा पुकारी जावेगी। अथच प्रतिमा के कलात्मक सौष्ठव एवं परिपाक की दृष्टि से उसमें काव्य एवं संगीत की भाँति आह्लादकता या चमत्कृतित्व अथवा रस की अनुभूति भी तो आवश्यक है। सम्भवतः इसी दृष्टि से समराङ्गण-सूत्रधार में प्रतिमा-शास्त्र के विभिन्न विषयों के वर्णन के साथ-साथ 'रसदृष्टि-लक्षण' नामक ८२ वें अध्याय में ११ रसों एवं १८ रस-दृष्टियों का भी वर्णन किया गया है। यद्यपि यह वर्णन चित्र से सम्बन्धित है जैसा ग्रन्थकार स्वयं कहता है—

> **'रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनामिह लक्षणम्।**
> **तदायत्तायतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ॥'**

परन्तु चित्र से तात्पर्य (दे० प्रतिमा-वर्ग) न केवल चित्रजा प्रतिमाओं (paintings) से ही है (सत्य तो यह है कि चित्र शब्द का यह एक संकुचित अर्थ है), वरन् वे सभी प्रतिमायें, जिन की निर्मिति में पूर्णाङ्ग-चित्रण (Sculptures fully in the round) हुआ है, गतार्थ हैं। अतः समराङ्गण के अनुसार प्रतिमा की विरचना में भाव-व्यक्ति मूर्ति-निर्माता का परम कौशल है। जहां प्रतिमा में हस्तपादादिकों में मुद्रा-विनियोग से मूर्तिनिर्माता प्रतिमा के मौन व्याख्यान की सृष्टि करता है वहां वह उसमें रसों एवं रसदृष्टियों के उन्मेष से उसके अस्पष्ट, अव्यक्त एवं संकेतित भावों की अभिव्यक्ति कर सकता है। रसोन्मेष से प्रतिमा प्रतिमा नहीं रहती वह सजीव बन जाती है। रसोन्मेष से देवी-देव और स्त्री-पुरुष के चित्र ही सजीव नहीं उठ खड़े होते हैं वरन् तथाकथित भाव-शून्य पशु और पक्षी भी हमारे सुख-दुख के साथी बन जाते हैं। एक शब्द में रसोन्मेष से पशु और पक्षी ऊपर उठ जाते हैं और मानव तो देवों की क्रोड में किलोलें करने लगता है—ब्रह्मानन्द-सहोदर रसास्वाद की यह महनीय महिमा है एवं लोकोत्तर गरिमा।

अतः मूर्ति-निर्माता स्थपति को मूर्ति में रसोन्मेष के द्वारा भाव-व्यक्ति के लिये अवश्य प्रयत्नशील रहना चाहिये। स्थापत्य-शास्त्र के प्राप्त ग्रन्थों में समराङ्गण के लेखक, विद्या और कला, साहित्य एवं संगीत के परम प्रसिद्ध उन्नायक एवं स्वयं विधायक भी (दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम 'विषय-प्रवेश') धाराधिप भोज को ही श्रेय है जिन्हों ने काव्य-कला की भांति प्रतिमा-कला में भी रसोन्मेष की इस परिपाटी का प्रथम पल्लवन किया।

इन विभिन्न रसों एवं रसदृष्टियों के लक्षण-पुरस्सर लक्ष्य में समन्वय की समीक्षा का अवसर इस अनुसन्धान के अन्तिम ग्रन्थ—'यन्त्र एवं चित्र' में होगा अतः यहां संकेतमात्र आवश्यक था—विशेष विस्तार अभीष्ट नहीं।

प्रतिमा एवं प्रासाद

प्रतिमा-विरचना के प्रायः सभी नियमों पर निर्देश हो चुका—प्रतिमा के प्रत्येक अवयव की निर्मिति भी हो चुकी वह सजीव भी हो उठी। उसकी प्रतिष्ठा भी तो कहीं होनी चाहिये। भारत का स्थापत्य विशेषकर प्रतिमा-कला (Imagemaking—Iconography) अदेवहेतुक नहीं रहा। प्रतिमा की प्रकल्पना का एकमात्र प्रयोजन प्रासाद में प्रतिष्ठा है। यहां प्रासाद से तात्पर्य महल नहीं है। प्रासाद शब्द का पारिभाषिक अर्थ देव-मन्दिर है। इस पर हमने सविस्तृत समीक्षा अपने इस अनुसन्धान के तृतीय ग्रन्थ—**प्रासाद-वास्तु**—Temple-Architecture (शीघ्रही प्रकाश्य) में की है।

प्रासाद एवं प्रतिमा के निर्मापण की परम्परा में पौराणिक 'अपूर्त' पर हम पूर्व ही संकेत कर चुके हैं। अतः हिन्दुओं के इस देव-कार्य में 'प्रासादमूर्ति' अदृश्य 'देव' की प्रत्यक्षा मूर्ति है। प्रासाद वास्तु की उद्भावना में मूर्ति मानव-कलेवर) के ही सदृश नाना रचनाओं के दर्शन होते हैं। अतः जिस प्रकार शरीर और प्राण का सम्बन्ध है उसी प्रकार प्रासाद और प्रतिमा का। प्रासाद-वास्तु की नाना ऊपरी भूषाओं, विच्छित्तियों एवं रचनाओं को एक मात्र प्रासाद-मन्दिर के वाह्य-कलेवर तक ही सीमित रखना और गर्भ-गृह को बिलकुल इन से शून्य रखना—इन दोनों का यही मर्म है। 'स्कन्दोपनिषद' का प्रवचन है: "देहो देवालयो प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः"। इसी प्रकार हयशीर्ष-पञ्चरात्र, अग्निपुराण, ईशान-शिव-गुरु-देव-पद्धति, शिल्परत्न आदि ग्रन्थों में प्रासाद एवं प्रतिमा की इसी मौलिक भावना पर निर्देश है। इन सबकी विस्तृत-रूप से समीक्षा पूर्वोक्त 'प्रासाद-वास्तु' में द्रष्टव्य है।

अथ च प्रासाद में प्रतिमा की प्रतिष्ठा, प्रासाद (गर्भगृह) और प्रतिष्ठाप्या प्रतिमा की पारस्परिक निवेश एवं निर्माण की प्रक्रिया आदि के साथ-साथ प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास, उसके नाना भेद एवं प्रभेद, उसकी प्रमुख शैलियों एवं उसके अनिवार्य अङ्गों—मण्डप, जगती आदि-आदि विषयों की भी सविस्तर समीक्षा वहीं द्रष्टव्य है। विस्तारभय से इस अति महनीय विषय का एक मात्र यहां संकेत ही अभीष्ट था। इति दिक्।

परिशिष्ट

अ. रेखा-चित्र—यन्त्र-त्रिक

ब. प्रतिमा-वास्तु-कोष

स. ग्रन्थ-अवतरण (समराङ्गण एवं अपराजित)

परिशिष्ट अ

रेखा-चित्र—यन्त्र-त्रिक

टि० शाक्तार्चा में बिना प्रतिमा के भी पूर्णार्चा या विशिष्टार्चा सम्पन्न हो सकती है। अतः द्रव्याभाव से प्रतिमा-चित्रों एवं अन्य नाना चित्रों की नियोजना के बिना भी निम्न शंक-यंत्र-त्रिक से ही पाठक काम चला लेवें।
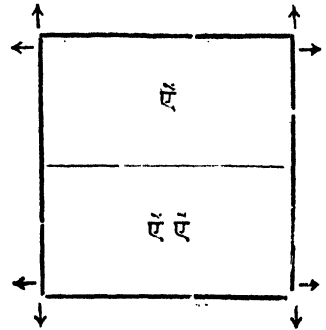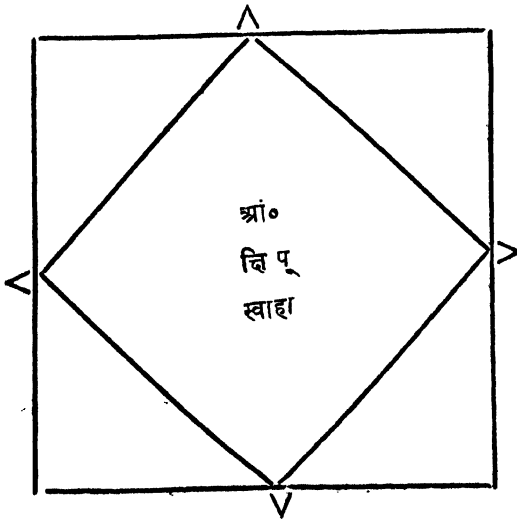
परिशिष्ट ब

प्रतिमा-वास्तु-कोष

टि० १ यह ग्रन्थ पूर्व-निर्धारित कलेवर से कहीं अधिक बढ़ गया, अतएव प्रतिमा-सम्बन्धी वास्तु-कोष चित्र-सम्बन्धी वास्तु-कोष के साथ दिया जायेगा—यंत्र एवं चित्र—ग्रन्थ पंचम। यहाँ पर ग्रन्थ में सूचित कतिपय पारिभाषिक शब्दों का दिग्दर्शनमात्र अभीष्ट है।

टि. २ मान की विभिन्न तालिकायें (दे.पृ०२२३, परिशिष्ट(ब) अ) नहीं है) भी संकोच्य हैं।

(i) देहांगुल की लम्बाई की नाप की विभिन्न संज्ञायें। (दे० पृ० २२१)

अंगुल-अवकाश Distance		संज्ञा
१	,,	मूर्ति, इन्दु, विश्वम्भरा, मोक्ष तथा उक्त;
२	,,	कला, गोलक, अश्विनी, युग्म, ब्राह्मण, विहग, अक्षि तथा पक्ष;
३	,,	ऋण, अग्नि, रूद्राक्ष, गुण, काल, शूल, राम, वर्ग तथा मध्या;
४	,,	वेद, प्रतिष्ठा, जाति, वर्ण, कर्ण (करण), अब्जानन, युग, तुर्य तथा तुरीय;
५	,,	विषय, इन्द्रिय, भूत, इषु, सुप्रतिष्ठा तथा पृथ्वी;
६	,,	कर्म, अङ्ग, रस, समय, गायत्री, कृत्तिका, कुमारानन, कौशिक तथा ऋतु;
७	,,	पाताल, मुनि, धातु, लोक, उष्णिक्, रोहिणी, द्वीप, अङ्ग, अम्बोनिधि;
८	,,	लोकपाल, नाग, उरग, वसु, अनुष्टुप तथा गण;
९	,,	बृहती, ग्रह, रन्ध्र, नन्द, सूत्र;
१०	,,	दिक्, प्रातुर्भावा, नाडि तथा पंक्ति;
११	,,	रूद्र, तथा त्रिष्टुप;
१२	,,	वितस्ति, मुख, ताल, यम, अर्क, राशि तथा जगती;
१३	,,	अतिजगती;
१४	,,	मनु तथा शक्करी;
१५	,,	अतिशक्करी तथा तिथि;
१६	,,	क्रया, अष्टि, इन्दु-कला;
१७	,,	अत्यष्टि;
१८	,,	स्मृति तथा धृति;
१९	,,	अतिधृति;
२०	,,	कृति,
२१	,,	प्रकृति,
२२	,,	अकृति,
२३	,,	विकृति,
२४	,,	संस्कृति,
२५	,,	अतिकृति,
२६	,,	उत्कृति,
२७	,,	नक्षत्र।

(ii) मान—प्रमाण—उन्मान—परिमाण—उपमान—लम्बमान की विभिन्न संज्ञायें—

मान—आयाम, आयत दीर्घ; (दे० पृ०२२१)

प्रमाण—विस्तार, तार, स्तृति, विस्तृति, विस्तृतम्, व्यास, विसारित, विपुल, तत, विष्कम्भ तथा विशाल;

उन्मान—बहल, घन, मिति, उच्छ्राय, तुङ्ग, उन्नत, उदय, उत्सेध, उच्च, निष्क्रम, निष्कृति, निर्गम, निर्गति तथा उद्गम;

परिमाण—मार्ग, प्रवेश, परिणाह, नाह, वृति, आवृति तथा नत,

उपमान—नीव्र, विवर तथा अन्तर; **लम्बमान**—सूत्र, लम्बन, उन्मित

परिशिष्ट (स)

संक्षिप्त-समराङ्गण

(अवतरण)

प्रतिमा-विज्ञानम्

(अ) प्रतिमा-द्रव्याणि तत्प्रयुक्ताश्च फलद्भेदाः

सुवर्णरूप्यताम्राश्मदारुलेप्यानि शक्तितः ॥ १ ॥
चित्रं चेति विनिर्दिष्टं द्रव्यमर्चासु सप्तधा ।
सुवर्णं पुष्टिकृद् विद्याद् रजतं कीर्तिवर्धनम् ॥ २ ॥
प्रजाविवृद्धि (जं?दं) ताम्रं शैलेयं भूजयावहम् ।
आयुष्यं दा(वरच?रवं) द्रव्यं लेप्यचित्रे धनावहे ॥ ३ ॥ ७६.१-३.

(ब) प्रतिमानिर्माणोपक्रमविधिः

प्रारभेद विधिना प्राज्ञो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
हविष्यनियताहारो जपहोमपरायणः ॥ ४ ॥
शयानो धरणीपृष्ठे (कुशास्तरणे तदन्तरं ?) । ७६.४-५½.

(स) मानगणनम्

क्रमोऽथ मानगणनम् परमाण्वादि तद् भवेत् ॥
परमाणू रजो रोम लिक्षा यूका यवो-ऽङ्गुलम् ।
क्रमशोऽष्टगुणा वृद्धिरे (वा?वं) मानाङ्गुलं भवेत् ॥
द्व्यङ्गुलो गोलको ज्ञेयः कलां वा तां प्रचक्षते ।
द्वे कले गोलकौ वा द्वौ भागो मानेन तेन तु ॥ (७५-१-३)

(य) प्रतिमानिर्माणे मानाधाराणां पञ्च-पुरुष-स्त्रीणां लक्षणम्

पञ्चानां हंसमुख्यानां देहबन्धादिकं नृणाम् ।
चित्रिणीप्रमुखानां च स्त्रीणां तद् ब्रूमहे पृथक् ॥
हंसः शशोऽथ रुचको भद्रो माल (व्य) एव च ।
(पञ्चैते) पुरुषास्तेषु मानं हंसस्य कथ्यते ॥
अष्टाशीत्यङ्गुलो हंसस्यायामः परिकीर्तितः ।
विज्ञेया वृद्धिरन्येषां चतुर्णां द्व्यङ्गुलक्रमात् ॥ ८१.१-३

(र) प्रतिमा-दोषाः

अथ वर्ज्यानि रूपाणि ब्रूमहेऽर्चादिकर्मसु ।
यथोक्तं शास्त्रतत्त्वज्ञगोब्राह्मणहितार्थिभिः ॥
अशास्त्रज्ञेन घटि (ता?तं) शिल्पिना दोषसंयुतम् ।
अपि माधुर्यसम्पन्नं (न) ग्राह्यं शास्त्रवेदिभिः ॥
अश्लिष्टस (न्धे?न्धि) विभ्रान्तां वक्रां चावनतां तथा ।
अस्थितामुन्नतां चैव काकजङ्घां तथैव च ॥
प्रत्यंगहीनां विकटां मध्ये ग्रन्थिनतां तथा ।

ईदशीं देवतां प्रा (ज्ञैर्हि?ज्ञो हि) तार्थं नैव कारयेत् ॥
अश्लिष्टसन्धया मरणं भ्रान्तया स्थानविभ्रमम् ।
वक्रया कलहं विद्यान्नतया वयसः क्षयम् ॥
नित्यमस्थितया पुंसामर्थस्य क्षयमादिशेत् ।
भयमुन्नतया विद्या दृहृद्रोगं च न संशयः ॥
देशनान्तरेषु गमनं सततं का (र?क) जङ्घया ।
प्रत्यङ्गहीनया नित्यं भेतुः स्यादनपत्यता ॥
विकटाकारया ज्ञेयं भयं दारुणम (र्ध?र्च) या ।
अधोमुख्या शिरोरोगं (तथानयापि च ?) ॥
एतैरूपेता दोषैर्या वर्जयेत् तां प्रयत्नतः ॥ ७८.१-६.

(ल) प्रतिमा-मुद्राः -(i) पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्तमुद्राः

२४ असंयुत-हस्ताः पताकस्त्रिपताकश्च तृतीयः कर्तरीमुखः ।
अर्धचन्द्रस्तथारालः शुकतुण्डस्तथापरः ॥
मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः खटकामुखः ।
सूच्या (स्या?स्यः) पद्मकोशाहि (शि) रसो मृगशीर्षकः ॥
काङ्गूलकालपद्मश्च चतुरो भ्रमरस्तथा ।
हंसास्यो हंसपक्षश्च सन्दंशमुकुला (वपि) ॥
ऊर्णनाभस्ताम्रचूड इत्येषा चतुरन्विता ।
हस्तानां विंशतिस्तेषां लक्षणं कर्म चोच्यते ॥ ८१.२-५

१३ संयुतहस्ताः अथोदशाथ कथ्यन्ते संयुता नामलक्षणैः ।
अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥
खट (का ? का) वर्धमानश्चा (प्यस?प्युत्स) ङ्गनिषधादपि ।
डोलः पुष्पपुटस्तद्वन्मकरो गजदन्तकः ॥
.(वरित्थादश कथ्यन्ते सयता नामलक्षणैः ।
अवहित्थाभिधानश्च वर्धमानस्तथा परः ।
अञ्जलिश्च कपोतस्य कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ?) ॥
अयोदशैते कथिता हस्ताः संयुक्तसंज्ञिताः । ८२.११२-११५½

२६ (?) नृत्त-हस्ताः लक्षणं नृत्तहस्तानामिदानीमभिधीयते ।
चतुरस्रौ तथोद्वृत्तौ स्वस्तिकौ विप्रकी (र्णौ?र्ण्कौ) ॥
(पद्मकोशाभिधानौ) चाप्यरालखटकामुखौ ।
(अ?आ) विद्धवक्त्रकौ सूचीमुखरेचित? संज्ञकौ ॥
अर्धरेचितसंज्ञौ तु तथैवोत्तानवञ्चितौ ।
पल्लवा (चो?ख्यो) करौ चाथ केशबन्धौ लताकरौ ॥
करिहस्तौ तथा पक्षवञ्चिता (चौ?ख्यौ) ततः परम्) ।
(पक्षप्रद्योतकौ चैव तथा गरुडपक्षकौ ॥
ततश्च दण्डपक्षाख्यावूर्ध्वमण्डलिनौ ततः ।

पार्श्वमण्डलिनौ तद्वदुरोमण्डलिनावपि ॥
अनन्तरं करौ ज्ञेयावुरःपार्श्वार्धमण्डलौ ।
मुष्टिकस्वस्तिकाख्यौ च नलिनीपद्मकोशकौ ॥
तथश्च कथितौ हस्तावलपल्लवकोल्वणौ ।
ललितौ वलि (तप?ता) ख्याविल्येकान्नत्रिंशदीरिता ॥ ८३.२२१-२२७

(ii) पाद-मुद्राः—वैष्णवादिषड्स्थानकमुद्राः—

अथान्यान्यभिधीयन्ते चेष्टास्थानान्यनेकशः ।
यानि ज्ञात्वा न मुह्यन्ति चित्रविचक्षणाः ॥
वैष्णवं समपादं च वैशाखं मंडलं तथा ।
प्रत्यालीढमथालीढं स्थानान्येतानि लक्षयेत्? ॥
(अश्वक्रामत्तमथायामविहितनाकत्रयं स्त्रीणाम्)
द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ॥
तयोः समन्वितस्त्वेकस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ।
किञ्चिदञ्चितजङ्घं च (शगात्रभोज्यचसंयुतम्?) ॥
वैष्णवस्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम् ।
समपादे समौ पादौ तालमात्रान्तरस्थितौ ॥
स्वभावसौष्ठवोपेतौ ब्रह्मा चात्राधिदैवतम् ।
तालास्त्रयोऽर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ॥
अश्रमेकं द्वितीयं च पादं पक्षस्थितं लिखेत् ।
(मैषमोरु?) भवत्येवं स्थानं वैसाखसंज्ञितम् ॥
विशाखो भगवानस्य स्थानकस्याधिदैवतम् ।
(ऐन्द्र?न्द्रं) स्थान्मण्डलं पादौ चतु(र्मू?स्ता)लान्तरस्थितौ ॥
त्र्य(स्थ?श्र) पक्षस्थि (त?ति)श्चैव कटिर्जानुसमा तथा ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं पञ्चतालान्तरस्थितम् ॥
आलीढं स्थानकं कुर्याद् रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ।
कुञ्चितं दक्षिणं कृत्वा वामपादं प्रसारयेत् ॥
आलीढं परिव (तं?र्ते) न प्रत्यालीढमिति स्मृतम् ।
दक्षिणस्तत्र समः (?) पादस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ॥
समुन्नतकटिर्वामश्चावहित्थं तदुच्यते ।
एकः समस्थितः पादो द्वितीयोग्रतलान्वितः ॥
(शूद्धमविद्धं वात?) श्वक्रान्त उच्यते ।
स्थानत्रयमिदं स्त्रीणां नृणामपि (भवेत्) क्वचित् ॥ ८०. १-११

(iii) शरीर-मुद्राः (चेष्टाः)

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि (नेवि?) स्थानविधिक्रमम् ।
(संपात्स्याख्यायां?) हि जायन्ते नव वृत्तयः ॥
पूर्वमृज्वागतं तेषां ततोऽर्धर्ज्वागतं भवेत् ।

ततः साचीकृतं विद्यादध्यर्धाक्षमनन्तरम् ॥
चत्वायू र्ध्वागतादीनि परावृत्तानि तानि च ।
ऋज्वागतपरावृ (त?त्तं) ततोऽर्धर्ज्वागतादिकम् ॥
साचीकृतपरावृत्तं ततोऽध्यर्धाक्षपूर्वकम् ।
पा(श्व?र्श्वा) गतं च नवमं स्थानं भित्तिकविग्रहम् ॥
ऋज्वर्धऋजुनोर्मध्ये चत्वारि व्यन्तराणि च ।
अर्धर्जु साचीकृतयोर्मध्ये च व्यन्तरत्रयम् ॥
द्व्यर्धार्ज्वा ?) साचीकृतयोर्मध्ये द्वे व्यन्तरे परे ।
परोद्व्यर्धक्षपार्श्वं?) व्यन्तरं चैकमन्तरे ॥
ऋज्वागतपरावृत्तपार्श्वा (र्ग्या?ग्या) गतयोर्दश ।
अन्तरे व्यन्तराणि स्युः स्थानकान्यपराण्यपि ॥ ७६, १-७

प्रतिमा-लक्षणम्

ब्रह्मादीनां रूपप्रहरणसंयोगलक्षणम्— ७७वां अ०

ब्रह्मा ब्रह्मानलार्चिःप्रतिमः कर्तव्यः सुमहाद्युतिः ॥
स्थूलाङ्गः श्वेतपुष्पश्च श्वेतवेष्टनवेष्टितः ।
कृष्णाजिनोत्तरीयश्च श्वेतवासाश्चतुर्मुखः ॥
दण्डः कमण्डलुश्चास्य कर्तव्यौ वामहस्तयोः ।
अक्षसूत्रधरस्त (द्वा ?द्द्) मौञ्ज्या मेखलया वृतः ॥
का (र्या?र्यो) वर्धयमानस्तु जगद् दक्षिणपाणिना ।
एवं कृते तु लोके (शे) क्षेमं भवति सर्वतः ॥
ब्राह्मणा (र्थे?) वर्धन्ते सर्वकामैर्न संशयः ।
यदा विरूपा दीना वा कृशा रौद्रा कृशोदरी ॥
ब्राह्मणैर्वा? भवेद् वर्णा (?) सा नेष्टा भयदायिनी ।
निहन्ति कारकं रौद्रा दीनरूपा च शिल्पिनम् ॥
कृशा व्या (धि?धिं) विनाशं च कुर्यात् कारयितुःसदा ।
कृशोदरी तु दुर्भिक्षं विरूपा चानपत्यताम् ॥
एतान् दोषान् परित्यज्य कर्तव्या सा सुशोभना ।
ब्रह्मणो (वा? र्चा) विधानज्ञैः प्रथ (मो?मे) यौवने स्थिता ॥ २-१

विष्णुः विष्णुर्वैदूर्यसंकाशः पीतवासाः श्रिया (कृ?वृ) तः ।
वराहो वामनश्च स्यान्नरसिंहो भयानकः ॥
कार्यो (वा ?) दाशरथी रामो जामदग्न्यश्च वीर्यवान् ।
द्विभुजोऽष्टभुजो वापि चतुर्बाहुररिन्दमः ॥
शंखचक्रगदापाणिरोजस्वी कान्तिसंयुतः
नानारूपस्तु कर्तव्यो ज्ञात्वा कार्यान्तरं विभुः ॥
इत्येष विष्णुः कथितः सुरासुरनमस्कृतः । ३६-४२

बलभद्रः बलस्तु सुभुजः श्रीमांस्तालकेतुर्महाद्युतिः ।

वनमालाकुलोरस्को निशाकरसमप्रभः ॥
गृहीत (सारो ? सीर) मुसलः कार्यो दिव्यमदोत्कटः ।
चतुर्भुजः सौम्यवक्त्रो नीलाम्बरसमावृतः ॥
(कु?मु) कुटालंकृतशिरोरोहो रागविभूषितः ।
रेवतीसहितः कार्यो (बन?बल) देवः प्रतापवान् ॥ १६-१८

शिवः चन्द्राङ्कितजटः श्रीमान् नीलकण्ठः सुसंय (ते?तः) ।
विचित्रमुकुटः शम्भुर्निशाकरसमप्रभः ॥
दोर्भ्यां द्वाभ्यां चतुर्भिर्वा (वधा?) युक्तो वा दोर्भिरष्टभिः ।
प(टि?ट्टि) शव्यग्रहस्तश्च पन्नगाजिनसंयुतः ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णो नेत्रत्रितयभूषणः ।
एवंविधगुणैर्युक्तो यत्र लोकेश्वरो हरः ॥
परा तत्र भवेद् वृद्धिर्देशस्य च नृपस्य च ।
यदारण्ये (श्मशाने) वा विधीयेत महेश्वरः ॥
एं रूपस्तदा कार्यः कारकस्य शुभावहः ।
अष्टादशभु (लो ? जो) दोष्णां विंशत्या वा समन्वितः ॥
शतबाहुः कदाचिद्वा सहस्रभुज एव च ।
रौद्ररूपो गणावृतः सिंहचर्मोत्तरीयकः ॥
तीक्ष्णदंष्ट्राग्रदशनः शिरोमालाविभूषितः ।
चन्द्राङ्कितशिराः श्रीमान् पीनोरस्कोग्रदर्शनः ॥
भद्रमूर्तिस्तु कर्तव्यः श्मशानस्थो महेश्वरः ।
द्विभुजो राजधान्यां तु पत्तने स्याच्चतुर्भुजः ॥
कर्तव्यो विंशतिभुजः श्मशानारण्यमध्यगः ।
एकोऽपि भगवान् भद्रः स्थानभेदविकल्पितः ॥
रौद्रसौम्यस्वभावश्च क्रियमाणो भवेद् बुधैः ।
उद्यन् यथा भवेद् भानुर्भगवान् सौम्यदर्शनः ॥
स एव तीक्ष्णतामेति मध्यन्दिनगतः पुनः ।
तथारण्यस्थितो नित्यं रौद्रो भवति शंकरः ॥
स एव सौम्यो भवति स्थाने सौम्ये व्यवस्थितः ।
स्थानान्येतानि सर्वाणि ज्ञात्वा किंपुरुषादिभिः ॥
प्रमथैः सहितः कार्यः शंकरो लोकशंकरः ।
एतद् यथावत् कथितं संस्थानं त्रिपुरद्रुहः ॥ १०-२२

कार्तिकेयः कार्तिकेयस्य संस्थानमिदानीमभिधीयते ।
तरुणार्कनिभो रक्तवासाः पावकसप्रभः ॥
ईषद्बालाकृतिः कान्तो मङ्गल्यः प्रियदर्शनः ।
प्रसन्नवदनः श्रीमानोजस्तेजोन्वितः शुभः ॥
विशेषान्मुकुटैश्चित्रैः मुक्तामणि (वि) भूषितः ।

षण्मुखो वैकवक्त्रो वा शक्तिं रोचिष्मतीं दधत् ॥
नगरे द्वादशभुजः खेटके षड्भुजो भवेत् ।
ग्रामे भुजद्वयोपेतः कर्तव्यः शुभमिच्छता ॥
शक्तिः शरस्तथा खड्गो मुसृण्ठी मुद्गरोपिऽच ।
हस्तेषु दक्षिणेष्वेतान्यायुधान्यस्य दर्शयेत् ।
एकः प्रासरितश्चान्यः षष्ठो हस्तः प्रकीर्तितः ।
धनुः पताका घण्टा च खेटः कुक्कुट (क) स्तथा ॥
वामहस्तेषु षष्ठस्तु तत्र संवर्धनः करः ।
एवमायुधसम्पन्नः संग्रामस्थो विधीयते ॥
अन्यदा तु विधातव्यः क्रीडालीलान्वितश्च सः ।
छागकुक्कुटसंयुक्तः शिखियुक्तो मनोरमः ॥
नगरेषु सदा कार्यः स्कन्दः परजयैषिभिः ।
खेटके तु विधातव्यः षण्मुखो ज्वलनप्रभः ॥
तथा तीक्ष्णायुधोपेतः स्रग्दामभिरलंकृतः ।
ग्रामेऽपि द्विभुजः कार्यः कान्तिद्युतिसमन्वितः ॥
दक्षिणे च भवेच्छक्तिर्वामे हस्ते तु कुक्कटः ।
विचित्रपक्षः (स ? सु) महान् कर्तव्योऽतिमनोहरः ॥
एवं पुरे खेटके च ग्रामे (वामिलं ?) शुभम् ।
कार्तिकेयं कुर्यादाचार्यः शास्त्रकोविदः ॥
अविरुद्धेषु कार्येषु खेटे (या ? ग्रा) मे पुरोत्तमे ।
कार्त्तिकेयस्य संस्थानमेतद् यत्नेत् कारयेत् ॥ २१-३१

लोकपालाः (प्रजापतयश्च)
त्रिदशेषः सहस्रा (क्षो?क्षो) वज्रभृत् सुभुजो बली ॥
किरीटी सगदः श्रीमान् श्वेताम्बरधरस्तथा ।
श्रोणिसूत्रेण म (हा ? हता) दिव्याभरणभूषितः ॥
कार्यो राजश्रिया युक्तः पुरोहितसहायवान् ।
वैवस्वतस्तु विज्ञेयः (कालेः वेसं?) परायणः ॥
तेजसा सूर्यसंकाशो जाम्बूनदविभूषितः ।
सम्पूर्णचन्द्रवदनः पीतवासा (स्तु ? श्च) मेखलाः ॥
विचित्रमुकुटः कार्यो वराङ्गदविभूषितः ।
तेजसा सूर्यसंकाशः कर्तव्यो बलवाञ्छुभः ॥
धन्वन्तरिर्भरद्वाजः (प्रजानीयतयस्तथा ।
दक्षार्थाः सदृशाः कार्या कार्यो रूपाणि रपि ?) ॥
अर्चिष्मान् (वा?) ज्वलनः कार्यः (यत्कण्ठाश्च?) समीरणः । ४२-४७

अश्विनौ
सदृशावश्विनौ कार्यौ लोकस्य शुभदायकौ ॥
शुक्लमाल्याम्बरधरौ जाम्बूनदविभूषितौ ॥ ४८-४६

श्रीदेवी
पूर्णचन्द्रमुखा शुभ्रा बिम्बोष्ठी चारुहासिनी ।

श्वेतवस्त्रधरा कान्ता दिव्यालङ्कारभूषिता ॥
कटिदेशनिविष्टेन वामहस्तेन शोभना ।
सपद्मेन (वान्तेन?) दक्षिणेन शुचिस्मिता ॥
कर्तव्या श्रीः प्रसन्नास्या प्रथमे यौवने स्थिता । १०-१२

कौशिकी (दुर्गा) गृहीतशूलपरिघ (पाट्टिका) पट्टिशध्वजा ॥
बिभ्राणा खेटकोपेतलघुखड्गं च पाणिना ।
घण्टामेकां च सौवर्णीं दधती घोररूपिणी ॥
कौशिकी पीतकौशेयवसना सिंहवा (ह) ना ।
(सेचोष्टौ?) विधातव्याः शुक्लाम्बरधराः ॥
शोभमानाश्च मुकुटैर्नानारत्नविभूषितैः । १२-१५

लिङ्ग-लक्षणम्

(i) लिङ्ग-द्रव्य-प्रभेदाः

अथ प्रमाणं लिंगानां लक्षणं चाभिधीयते ।
(लौहं हस्तत्रिभागेन कनीयसम् ?) ॥
(द्व्यंशवृद्धानवैवं स्युराहस्तत्रितयाविधे?) ।
द्व्यंशवृद्धानवैवं स्युरा हस्त—द्वित्रितयावधेः ॥
लिंगनाममिः प्रासादस्यानुसारतः) ।
अतश्च द्विगुणानि स्युदारुजानि प्रमाणतः ॥
त्रिगुणान्यश्मजातानि मृत्तिकाप्रभवानि च ।
स्वस्य स्वस्य कनिष्ठस्य पदेन परिवर्तनात् ॥ (७०.१-४)

(ii) लिङ्गाकृतिः चतुर्मुखं मवेल्लिंगमर्चितं सर्वकामदम् ॥ (७०.१७)

(iii) लिङ्गभेदाः पुण्डरीकं विशालाख्यं श्रीवत्सं शत्रुमर्दनम् ॥ (७० ४०)

(iv) लोकपाल-लिङ्गा

लिंगमिन्द्रार्चितं शस्तमैन्द्रदिग्विजयार्थिना (म्?) ।
प्रतिष्ठाप्यमिदं शत्रोर्यद्वा स्तम्भनमिच्छता ॥ (७०.४५)
इदमग्न्यर्चितं लिंगं कृत्वाग्नेर्योजयेद् दिशम् ।
चिकीर्षुणारिसन्तापं प्रतिष्ठाप्यमिदं सदा ॥ (७०.५०)
लिङ्गमेतत् प्रतिष्ठाप्य वरुणः स्वदिगीशताम् ।
योगं तथाप्तवानैशं किन्त्वेतच्छान्तिपुष्टिकृत् ॥ (७०.५१)

(v) लिङ्ग-निर्माणे द्रव्य-भेदेन फलभेदाः

इदं पक्वमपक्वं वा (लोहत्?) भयगर्भितम् ।
अप (क्वं?के) वज्रलेपाद्यं कर्तव्यं सिद्धि (सास्तु?) भिः॥
भूतये लौहजं लिङ्गं सीसकत्रपुवर्जितम् ।
कान्चनप्रभवं शत्रुच्छेद (कार्यार्चितम्?) ॥
(यास्य लिङ्गोक्तलक्ष्मैतत् आपुंसांनागाकुन्मचार्यादि?)।
लोहोद्भवं वा यन्मात्—गुह्यकसिद्धिकृत्? ॥
भि(क्ष?क्षु)णां बलमेत् स्यान्मु(मुक्त)?भूक्षुणां च वेश्मसु ।
श्रेष्ठं समस्त (राष्ट्राद्यं?) व (उजज्जं?अजं) तदरिच्छिदे ॥

पद्मरागं महाभूत्यै सौभाग्याय तु मौक्तिकम् ।
पुष्परागं (हा) नीलौ—यातीरसमुद्भवम् ॥
यशसे कुलसन्तत्यै तेजसे सूर्यकान्त (र?क) म् ।
ता—च्छं स्फाटिकं सर्वकामदं शूलारत्नो ॥
मणिजं श (क?त्रु) क्षयाय (पुलका?) तथा ।
सस्यकं सस्यनिष्पत्त्यै (भोजगं) दिव्यसिद्धिदम् ॥
श्रेष्ठं (सारक्त?) लिङ्गमारोग्याहितचेतसाम् ।
वैक्र (त ?न्त) कमहावर्तराकायस्कान्तजं हितम् ॥
(क्षुद्र सिस्त्रिपु) तन्मन्त्र जातिसंस्कृतम् ।
फलं सम्यग् गुणादूह्यमन्यासु मणिजातिषु ॥

राक्षस पिशाच भूत-नाग-यक्ष-गन्धर्व-किन्नर-दैत्यादयः—

.... रुद्रशरीरिणः ।
रक्तवस्त्रधराः कृष्णा नानाभरणभूषिताः ।
कर्तव्या राक्षसाः सर्वे बहुप्रहरणभूषिताः ॥ ४८-४९
त्रिपञ्चदशपूतिरस्येदं भृंगवन्मेचकप्रभाम् ॥
वैदूर्यशकंसङ्काशा ?) हरितश्मश्रवोऽपि च ।
रोहिता विकृता रक्तलोचना बहुरूपिणः ॥
नागैः शिरोरुहालीनैर्विरागाभरणाम्बराः ।
कार्याः पिशाचा भूताश्च परुषासत्यवादिनः ॥
(बहुप्रकारमन्दहा विरूपा विकृताननाः ।
घोररूपा विधातव्या ह्रस्वा नाना (सु?यु) धाश्च ते ॥
सुभीमविक्रमा भीमाः संघा यज्ञोपवीतिनः ।
चर्मभिः शाटिकाचित्रैर्भूताः कार्याः सदा बुधैः ॥
येऽपि नोक्ता विधातव्यास्तेऽपि कार्यानुरूपतः ।
यस्य यस्य च यल्लिङ्गमसुरस्य सुरस्य च ॥
यक्षराक्षसयोर्वापि ना (ना?ग) गन्धर्वयोरपि ।
तेन लिंगेन कार्यः स यथा सा (शु?धु) विजान (जा?ता) ।
प्रायेण (वा? वीर्यवन्तो हि दानवाः क्रूरकर्मिणः ।
किरीटिनश्च कर्तव्या विविधायुधपाणयः ॥
तेभ्योऽपीषत् कनीयांसो दैत्याः कार्या गुणैरपि ।
दैत्येभ्यः परिहीणास्तु यक्षाः कार्या मदोत्कटाः ॥
हीनास्तेभ्योऽपि गन्धर्वा गन्धर्वेभ्योऽपि पन्नगा ।
नागेभ्यो राक्षसा हीनाः क्रूर (विक्रिमतसूषिणः ?) ॥
विद्याधराश्च यक्षेभ्यो हीनदेह (त?ध) राः स्मृताः ।
चित्रमाल्याम्बरधराश्चित्रचर्मासिपाणयः ॥
नानावेषधरा घोरा भूतसंघा भयानकाः ।

पिशाचेभ्योऽधिकाः स्थूलास्तेजसा परुषास्तथा ॥
अन्यूनाधिकरूपांश्च कुर्वीत प्रायशः शुभान् । .५६-६७

बौद्ध-प्रतिमा-लक्षणम्—(विस्तारभयात् पृथुलत्वाच्च न दीयते)

जैन-प्रतिमा-लक्षणम्—अपराजितपृच्छातः सू० २२१

अ चतुर्विंशति-तीर्थङ्कर-नाम-वर्ण-लाञ्छनानि

ऋषभश्चाजितश्चैव संभवश्चाभिनन्दनः ।
सुमतिः पद्मप्रभश्च सुपार्श्वः सप्रभोत्तमो मतः ॥ २ ॥
चन्द्रप्रभश्च सुविधिः शीतलो दशमो मतः ।
श्रेयांश्चसो वासुपूज्यश्च विमलोऽनन्तसंज्ञकः ॥ ३ ॥
धर्मः शान्तिः कुन्थुररो मल्लिनाथस्तथैव च ।
मुनिस्तथा सुव्रतश्च नमिश्चारिष्टनेमिकः ।
पार्श्वनाथो वर्धमानश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ॥ ४ ॥
चन्द्रप्रभः पुष्पदन्तः श्वेतौ वै क्रौञ्चसम्भवौ ? ।
पद्मप्रभो धर्मनाथो रक्तोत्पलनिभौ मतौ ॥ ५ ॥
सुपार्श्वः पार्श्वनाथश्च हरिद्वर्णौ प्रकीर्तितौ ।
नेमिश्च श्यामवर्णः स्यान्नीलो मल्लिः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥
शेषाः षोडश सम्प्रोक्तास्तप्तकाञ्चनसमप्रभाः ।
वर्णानि कथितान्यग्रे लाञ्छनानि ततः शृणु ॥ ७ ॥
वृषो गजाश्वकपयः क्रौञ्चपद्मकस्वस्तिकाः ।
चन्द्रो मकरश्रीवत्सौ गयडको महिषस्तथा ॥ ८ ॥
शूकरः शशादनश्च वज्रश्च मृग आजकः ।
नन्द्यावर्तश्च कलशः कूर्मो नीलाब्ज-शङ्खकौ ॥ ९ ॥
सर्पः सिंहश्चर्षभादेर्लाञ्छनानीरितानि च ।

ब चतुर्विंशतिशासनदेविकानामानि

चतुर्विंशतिरुच्यन्ते क्रमाच्छासनदेविकाः ॥ १० ॥
चक्रेश्वरी रोहिणी च प्रज्ञा वै वज्रशृङ्खला ।
नरदत्ता मनोवेगा कालिका ज्वालमालिका ॥ ११ ॥
महाकाली मानवी च गौरी गान्धारिका तथा ।
विराटा तारिका चैवानन्तागतिश्च मानसी ॥ १२ ॥
महामानसी च जया विजया चापराजिता ।
बहुरूपा च चामुण्डाऽम्बिका पद्मावती तथा ॥ १३ ॥
सिद्धायिनेति देव्यस्तु चतुर्विंशतिरर्हताम् ।

१ चक्रेश्वरी

षटपादा द्वादशभुजा चक्राण्यष्टौ द्विवज्रकम् ।
मातुलिङ्गाभये चैव तथा पद्मासनाऽपि च ॥ १४ ॥
गरुडोपरिसंस्था च चक्रेशी हेमवर्णिका ।

२ रोहिणी	चतुर्भुजा श्वेतवर्णा शङ्खचक्राभयवरा । लोहासना च कर्तव्या रथारूढा च रोहिणी ॥ २ ॥
३ प्रज्ञावती	प्रज्ञावती श्वेतवर्णा षड्भुजा चैव संश्रुता । अभयवरदफल-चन्द्राः परशुरुत्पलम् ॥ १७ ॥
४ वज्रशृङ्खला	नागपाशाक्षफलकं वरदं हंसवाहिनी । चतुर्भुजा तथैवोक्ता विख्याता वज्रशृङ्खला ॥ १८ ॥
५ नरदत्ता	चतुर्भुजा चक्रवज्र फलानि वरदं तथा । श्वेतहस्तिसमारूढा कर्तव्या नरदत्तिका ॥ १९ ॥
६ मनोवेगा	चतुर्वर्णा स्वर्णवर्णाऽशनि चक्रफलं वरम् । अश्ववाहनसंस्था च मनोवेगा तु कामदा ॥ २० ॥
७ कालिका	कृष्णाऽष्टबाहुस्त्रिशूलपाशाङ्कुशधानुशःराः । चक्राभयवरदाश्च महिषस्था च कालिका ॥ २१ ॥
८ ज्वालामालिनी	कृष्णा चतुर्भुजा घण्टा त्रिशूलं च फलं वरम् । पद्मासना वृषारूढा कामदा ज्वालमालिनी ॥ २२ ॥
९ महाकाली	चतुर्भुजा कृष्णवर्णा वज्रगदावराभयाः । कूर्मस्था च महाकाली सर्वशान्तिप्रदायिनी ॥ २३ ॥
१० मानवी	चतुर्भुजा श्यामवर्णा पाशाङ्कुशफलं वरम् । सूकरोपरिसंस्था च मानवी चार्थदायिनी ॥ २४ ॥
११ गौरी	पाशाङ्कुशाब्जवरदाः कनकाभा चतुर्भुजा । सा कृष्णहरिणारूढा कार्या गौरी च शान्तिदा ॥ २५ ॥
१२ गान्धारी	करद्वये पद्मफले नक्रारूढा तथैव च । श्यामवर्णा प्रकर्तव्या गान्धारी नामिका भवेत् ॥ २६ ॥
१३ विराटा	श्यामवर्णा षड्भुजा द्वौ वरदौ खड्गखेटकौ । धनुर्बाणौ विराटाख्या व्योमयानगता तथा ॥ २७ ॥
१४ अनन्तमतिः	चतुर्भुजा स्वर्णवर्णा धनुर्बाणौ फलं वरम् । हंसासनाऽनन्तमतिः कर्तव्या शान्तिदायिनी ॥ २८ ॥
१५ मानसी	षड्भुजा रक्तवर्णा च त्रिशूलं पाशचक्रके । डमरुवैं फलवरे मानसी व्याघ्रवाहना ॥ २९ ॥
१६ महामानसी	चतुर्भुजा सुवर्णाभा शरः शार्ङ्गं च वज्रकम् । चक्रं महामानसी स्यात् पक्षिराजोपरिस्थिता ॥ ३० ॥
१७ जया	वज्रचक्रे पाशाङ्कुशौ फलं च वरदो जया । कनकाभा षड्भुजा च कृष्णशूकरसंस्थिता ॥ ३१ ॥
१८ विजया	सिंहासना चतुर्बाहुर्वज्रचक्रफलोरगाः । तेजोवती स्वर्णवर्णा नाम्ना सा विजया मता ॥ ३२ ॥
१९ अपराजिता	खड्गखेटौ फलवरौ श्यामवर्णा चतुर्भुजा । शान्तिदाऽष्टापदस्था च विख्याता अपराजिता ॥ ३३ ॥

२० बहुरूपा — द्विभुजा स्वर्णवर्णा च खड्गखेटकधारिणी ।
सर्पासना च कर्तव्या बहुरूपा सुखावहा ॥ ३४ ॥

२१ चामुण्डा — रक्ताभाष्टभुजा शूल-खड्गौ मुद्गरपाशकौ ।
वज्रचक्रे डमरुंचौ चामुण्डा मर्कटासना ॥ ३५ ॥

२२ अम्बिका — हरिद्वर्णा सिंहसंस्था द्विभुजा च फलं वरम् ।
पुत्रेणोपास्यमाना च सुतोत्सङ्गा तथाऽम्बिका ॥ ३६ ॥

२३ पद्मावती — पाशाङ्कुशौ पद्मवरे रक्तवर्णा चतुर्भुजा ।
पद्मासना कुक्कुटस्था ख्याता पद्मावतीति च ॥ ३७ ॥

२४ सिद्धायिका — द्विभुजा कनकाभा च पुस्तकं चाभयं तथा ।
सिद्धायिका तु कर्तव्या भद्रासनसमन्विता ॥ ३८ ॥

स ऋषभादेर्यथाक्रमं चतुर्विंशतियक्षनामानि

वृषवक्त्रो महायक्षस्त्रिमुखश्चतुराननः ।
तुम्बुरुः कुसुमाख्यश्च मातङ्गो विजयस्तथा ॥ ३९ ॥
जयो ब्रह्मा किन्नरेशः कुमारश्च तथैव च ।
षण्मुखः पातालयक्षः किन्नरो गरुडस्तथा ॥ ४० ॥
गन्धर्वश्चैव यक्षेशः कुबेरो वरुणस्तथा ।
भृकुटिश्चैव गोमेधः पार्श्वो मातङ्ग एव च ॥ ४१ ॥
यक्षाश्चतुर्विंशतिकाः ऋषभादेर्यथाक्रमम् ।
भेदांश्च भुजशस्त्राणां कथयामि समासतः ॥ ४२ ॥

१ वृषवक्त्रः — वराक्षसूत्रे पाशश्च मातुलिङ्गं चतुर्भुजः ।
श्वेतवर्णो वृषमुखो वृषभासनसंस्थितः ॥ ४३ ॥

२ महायक्षः — श्यामोऽष्टबाहुर्हस्तिस्थो वरदाभयमुद्गराः ।
अक्षपाशाङ्कुशाः शक्तिर्मातुलिङ्गं तथैव च ॥ ४४ ॥

३ त्रिमुखः — मयूरस्थस्त्रिनेत्रश्च त्रिवक्त्रः श्यामवर्णकः ।
परश्वक्षगदाचक्रशङ्खावरश्च षड्भुजः ॥ ४५ ॥

४-५ चतुरानन-तुम्बुरू — नागपाशवज्राङ्कुशाहंसस्थश्चतुराननः ।
द्वौ सर्पौ फलवरदौ तुम्बुरुर्गरुडासनः ॥ ४६ ॥

६-७ कुसुम-मातङ्गौ — कुसुमाख्यो गदाक्षौ च द्विभुजो मृगसंस्थितः ।
मातङ्गः स्याद् गदापाशौ द्विभुजो मेषवाहनः ॥ ४७ ॥

८-९ विजय-जयौ — पद्मं पाशाभयवराः कपोते विजयः स्थितः ।
शक्त्यक्षफलवरदा जयः कूर्मासनस्थितः ॥ ४८ ॥

१०-११ ब्रह्म-यक्षेशौ — पाशाङ्कुशाभयवरा ब्रह्मा स्याद्धंसवाहनः ।
त्रिशूलाक्षफलवरा यक्षेट्श्वेतो वृषस्थितः ॥ ४९ ॥

१२-१३ कुमार-षण्मुखौ — धनुर्बाणफलवराः कुमारः शिखिवाहनः ।
षण्मुखः षड्भुजो वज्रो धनुर्बाणौ फलं वरः ॥ ५० ॥

१४-१५ किन्नर-पातालौ — किन्नरेशः पाशाङ्कुशौ धनुर्बाणौ फलं वरः ।

पातालश्च वज्राङ्कुशौ धनुर्बाणौ फलं वरः ॥ ५१ ॥

१६-१७ गरुड-गन्धर्वौ — पाशाङ्कुशफलवरा गरुडःस्याच्छुकासनः ।
पद्माभयफलवरा गन्धर्वः स्याच्छुकासनः ॥ ५२ ॥

१८-१९ यक्षेश-कुबेरौ — यक्षेट् खरस्थो वज्रारि धनुर्बाणाः फलं वरः ।
पाशाङ्कुशफलवरा धनेट् सिंहे चतुर्मुखः ॥ ५३ ॥

२०-२१ वरुण-भृकुटी — पाशाङ्कुश धनुर्बाण सर्पवज्रा ह्यपांपति ।
शूलशक्तिवज्रखेटा ? डमरुं भृकुटिस्तथा ॥ ५४ ॥

२२ पार्श्व — पार्श्वो धनुर्बाण भृशुण्ड मुद्गरश्च फलं वरः ।
सर्परूपः श्यामवर्णः कर्तव्यः शान्तिमिच्छता ॥ ५५ ॥

२३ मातङ्गः — फलं वरोऽथ द्विभुजो मातङ्गो हरित संस्थितः ।

२४ गामधः — — लुप्तः — लक्षणं न दृश्यते ।

अपराजित पृच्छातः (सू० २३५)

देवादीनां रूप-प्रहरण संयोगे षट्त्रिंशदायुधषोडशाभूषणलक्षणानि

(अ) षट्त्रिंशद्-आयुधनामानि — आयुधानामतो वक्ष्ये नामसंख्यावलिं क्रमात् ।
त्रिशूलच्छुरिकाखड्गखेटाः खट्वाङ्गकं धनुः ॥
बाणपाशांकुशा घण्टारिष्टिदर्पणदण्डकाः ।
शङ्खश्चक्रं गदावज्रशक्तिमुद्गरभृशुण्डयः ॥
मुशलः परशुश्चैव कर्त्तिका च कपालकम् ।
शिरः सर्पश्च शृङ्गं च हलः कुन्तस्तथैव च ॥
पुस्तकाक्षकमण्डलुश्चयः पद्मपत्रके ।
योगमुद्रा तथा चैव षट्त्रिंशच्छस्त्रकाणि च ॥ १०—१३

१. त्रिशूलः — षोडशाख्यं पदं कृत्वा पदेन नाभिवृत्तकम् ।
तदूर्ध्वे चोभयपक्षौ भीषणाग्रौ प्रकीर्तितौ ॥
पट्टाख्यांशशक्तिपिण्डवलयं कण्टकावृतम् ।
उभयोः कटकोपेतो मध्ये शलयंश उन्नतः ॥
दशभागर्भवेद् दण्डं पृथुत्वं चैकभागिकम् ॥ १४—१६½

२. छुरिका — छुरिकालक्षणं वक्ष्ये यदुक्तं परमेश्वरैः ।
कौमारी चैव लक्ष्मीश्च शङ्खिनी तुन्दका तथा ॥
पापिनी शुभगा ला (ल) क्षा षडङ्गुलादिकोद्भवाः ।
द्वादशान्तिमांगुलान्यंगुलमानं प्रशस्यते ॥
आदिहीना मतिभ्रंशं मध्यहीना धनक्षयम् ।
हन्याद्वंशं वंशहीना शूलाग्रे मृत्युसंभवः ॥
चतुरंगुला भवेन्मुष्टिरूर्ध्वे द्व्यंगुलताडिता ।
मुष्टिकाधो यवाकारो जडनार्थे च कीलकम् ॥ १६-२०

३. खड्गः — शस्त्रं शतार्धांगुलं स्यान्मध्यमं तुह्रिहीनतः ।
... म कनिष्ठं स्यात् त्रिविधः खड्ग उच्यते ॥

	...... द्भवामूर्ध्वे तानिकोभयपक्षत: ।	
	पार्श्विकोर्ध्वे यवं कुर्यात्ताडकाधस्तु ग्राहकम् ।।	
	जडिद्वयं ग्राहके च जवक: खड्ग उच्यते ।	२१-२२
४. खेटकम्	खड्गमानोद्भवो व्यासो द्व्यंगुलाभ्यां तथाधिक: ।	
	तद्वदग्रे पुनस्त्वेवं ज्येष्ठमध्यकनिष्ठकम् ।।	
	उभयपक्षे चाऽन्तरं तु चतुर्दशांगुलैर्भवेत् ।	
	हस्ताधारद्वयं कुर्यात् वृत्ताकारं तु वा.....म् ।।	२३-२४
५. खट्वाङ्ग	....	
	.... धनिमाँसं निनेअङ्गारवार्वं...म् ?।	
	श्वेतास्यं सुगन्ध ....? हेमदण्डविभूषित: ।।	२५-२६
६-७. धनुर्बाणौ	द्विमुष्ट्य ?ध्यंगुलं मध्यं मध्योर्ध्वं च द्विहस्तत: ।	
	निम्नं चोभयत: कुर्याद् गुणाधारे तु कर्णिके ।।	
	—गुलं मध्यदेशे चवमौमैर्गुणैर्मतम् ।	
	सप्ताष्टनवमुष्टिश्च बाणं पुष्प अदूगयो?युत: ।।	
	कुम्भके कुम्भयेद् बाणं पूरकेण तु पूरयेत् ।	
	रेचके रेचयेद् बाणं त्रिविधं शरलक्षणम् ।।	२७-२८
८-९ पाशांकुशौ	मकरद्वित्रिकं वापि पाशो ग्रन्थिसमाकुलम् ।	
	अंकुशं चाङ्कुशाकारं तालमानसमावृत ।।	२९-३०
९-१३ घण्टा-रिष्टि दर्पण-दण्डम्	घण्टां घण्टाकृतिकुर्याच्चतुर्धारा च रिष्टिका ।	
	दर्पणं दर्शनार्थं च दण्डं स्यात्खड्गमानत: ।।	३१
१४-१६ शङ्ख-चक्र-गदा	शङ्खश्च दक्षिणावर्तश्चक्रं चारयुतं तथा ।	
	गदा च खड्गमाना स्यात् पृथुतालं अंकदायोद्वयम् ।।	३२
१७-१८ वज्र-शक्ति:	वज्रं शूलद्वयं दीर्घमेकविंशतिशूलत: ।	
	अर्धेन्दुनिभधाराग्राशक्ति: स्याद् द्वादशांगुला ।।	३३
१९-२० मुद्गर-भृशुण्डी	हस्तप्राग्रश्चोर्ध्वतश्च मुद्गर षोडशांगुलि: ।	
	भृशुण्डी युग्मदोराख्या द्विहस्तान्ताग्रवाहका ।।	३४
२१-२२ मुशल-परशू	विंशत्यंगुलं मुशलं चतुरंगुलवृत्तकम् ।	
	अर्धचन्द्रोपम: परशुस्तद्दण्ड: स मध्यत: ।।	३५
२३-२४ कर्तिका-कपाल-शीर्षकम्	कर्तिका छुरिकामाना चक्रे च त्रिसमाकृति: ।	
	शिरोऽस्थिकं कपालं स्माच्छिरश्च रिपुशीर्षकम् ।।	३६
२६-२९ सर्प-शृङ्ग-हल-कुन्तकम्	सर्पो भुजङ्गस्त्रिफणी शृङ्गं स्याद्गवादिजम् ।	
	हलं हलाकृति: कुर्यात् कुन्तं वै पञ्चहस्तकम् ।।	३७
३०-३३ पुस्तक-अक्षमाला कमण्डलु-श्रुचि	पुस्तकं युग्मतालं स्यात् जाप्या मालाऽक्षसूत्रकम् ।	
	कमण्डलुश्च पादोन: स्रुचै षट्त्रिंशदंगुला ।।	३८
३४-३६ पद्म-पत्र-योगमुद्रा	पद्मं च पद्मसंकाशं पत्रं मुक्तं च तालकम् ।	
	पद्मासनार्धयुग्महस्ता योगमुद्रा तथोच्यते ।।	३९

(ब) षोडशाभरणानां लक्षणानि सू० २३६

१ हारः

मेखलोर्ध्वे कटिसूत्रं (तथा कट्यां) हारोवक्षः स्थलालयः ।
मुक्ताफलानि सर्वाणि शुद्धाकर भवानी च ।
पाण्ड्यमातङ्गसौराष्ट्रे हैमसौपारकौशले ॥
वेणवातटे कलिङ्गे च वज्राकरसमुद्भवः ।
एभ्यो (एषु) मुक्ता समानानि शुद्धरत्नानि यानि च ॥
अथवा चाहि मातङ्गवाराहमत्स्यनक्रजाः ।
शङ्खजा वेणुजाश्चैव मुक्तानां (मध्य योनता ?) योनय इमाः ॥
निश्चलत्वमन्यूनत्वं निर्वाणत्वं सुगन्धिता ।
सुवेध्यं च मणिं वीक्ष्य कण्ठे धार्यं·········॥
व्यङ्गितानि यदा तानि त्यजेदेतानि·········।
पुराणि (रत्नानि) सौम्यरूपाणि·········हार उत्तम ॥ १-८

२ पदकम्

पदकं संप्रवक्ष्यामि सर्वरत्नैरलंकृतम् ।
धूलो ? मरकतं चाद्यं तथा चैवं सपत्रकम् ॥
कीटपक्षोऽपरः प्रोक्तो गरुडागार एव च ।
चत्वारो मणयः प्रोक्ताः सर्वे दुःखप्रणाशनाः ॥
पञ्चधा भाजिते क्षेत्रे पुनस्त्वेव च पञ्चभिः ॥
तन्मध्ये महादिव्यं मरक्तं सुरवल्लभम् ॥
माणिक्यं पूर्वतो देशे दाडिमीवीजसप्रभम् ।
उदितार्कसमच्छायं प्रभामण्डलमण्डितम् ॥
दृश्यते तत्तु माणिक्यं दक्षिणं दिशमाश्रितम् ।
पद्मरागनिभं स्वच्छं दीपकांशु स्वभावकम् ॥
अपरं च महादिव्यं माणिक्यं ब्रह्मवल्लभम् ।
सुस्निग्धं दुग्धवत्स्वच्छं दाडिमीकुसुमप्रभम् ॥
तन्माणिक्यं तु कौबर्यां शाश्वतं शक्तिपूजने ।
दक्षिणोत्तर प्राचीषु नीलं वै वज्रवत् क्रमात् ॥
तन्मध्ये विदिशायां च वज्रं शक्रस्य वल्लभम् ।
पद्माकारं धृतं दक्षात्परिधौ नालरूपकम् ॥
विचित्रकण्टकैर्युक्तं पत्रशाखाविभूषितम् ।
दण्डश्च स्वरूपं च खचितं चित्ररत्नकैः ॥
लशुनं मध्यभूमौ स्याद् हृदयानन्दकारकम् । १-१७½

३ श्रीवत्सम्

श्रीवत्सं संप्रवक्ष्यामि सदा विष्णोश्च वल्लभम् ॥
चतुरस्रं समं कृत्वा रसभागविभाजितम् ।
चतुष्पदं च मध्यस्थं रमणं ? कलिकोद्भवम् ॥
बाह्यपङ्क्तौ दिशायां च चतुर्भागैश्चतुर्दिशम् ।
कोणे पदानि चत्वारि दिशायां मूर्ध्नि पत्रकम् ॥

क्षिपेत्समस्तगर्तेषु शुचीर्वीराङ्कर्णिकाः ।
तन्मध्ये च महारत्नं सर्वलक्षणसंयुतम् ॥
तस्याधः पङ्कजं दिव्यमष्टपत्रं सकेसरम् ।
मृणालग्रन्थिवल्लीकं कन्दं कलिविभूषितम् ॥
वर्तना कथिता सा तु कथ्यते तेऽधुना पुनः ।
क्षेपगर्त्तकमध्यस्थं मध्ये चोपाश्रयं क्षिपेत् ॥
सोमकान्तिं तस्योपरि सुधाधौतं सदासितम् ? ।
वर्णानुक्रमपरिधौ धूल्याद्यं गरुडान्तगम् ॥
तदुपरि वज्रवल्ली पुष्परागचतुष्टयम् ।
कोणस्थानेषु वैडूर्यचतुष्कं विघ्ननाशनम् ॥
चक्रकोणेषु सर्वेषु निक्षिपेत् परिधौ क्रमात् ।
पौंड्र मातङ्गसौराष्ट्रहेमखापरिकोशला: ॥
वेणवानरं कलिङ्गश्च वज्रस्याष्टौ तथा कराः ।
वर्णानुक्रमकं वक्ष्ये विप्रशूद्रान्तजातिषु ॥ १८-२७

(इतः परं भ्रष्टो ग्रन्थः)

४ कौस्तुभः .... ।
तदधस्तान्मृणालं च कण्टककलिभूषितम् ॥
मध्यभूमौ समस्तायां पत्रपङ्क्तिविराजितम् ।
दिक्स्थानेषु स्थितं बाह्ये पद्मरागचतुष्टयम् ॥
महारत्नेन्द्रनीलाश्च चत्वारश्च चतुर्दिशम् ।
अष्टौ च कोणपत्रेषु पुष्परागास्तथोदिताः ॥
तन्मध्यतो वै शिरीषशाखापत्रविराजितम् ।
समस्तं हीरकैर्बद्धं मुक्ताभिर्मणिभिस्तथा ॥
विचित्रपत्रसंयुक्तमूर्ध्वं कुर्यात् सुरूकपम ।
दण्डस्तुभागविस्तीर्णो द्विभागश्चोर्ध्वतो भवेत् ॥
उपान्तं गर्तसम्पन्नं हीरकैः खचितं तथा ।
अन्तरे तस्य माणिक्यमुदितार्कसमप्रभम् ॥
उपाश्रयं च संक्षिप्य न्युप्तं वाराभिवर्जितम् ? ।
दृढत्वं च मृदुत्वं च मृणालकमलोपमम् ॥
ईदृशं च महालिङ्गमपांपतिसमुद्भवम् ।
हृत्पद्मोपरि स्थाप्यः सौम्यकान्तिश्चिन्तामणिः ॥
दुर्लभः कौस्तुभश्चापं सुरासुरनरोरगैः ।
सौम्यकान्तिं विना विष्णुं नापि देवैरवाप्यते ॥ ३१-४७

५ पत्राभरणम् प्रथमं शिशुपत्रं च सकलं च द्वितीयकम् ।
स्वस्तिकं तु तृतीयं च वर्द्धमानं चतुर्थकम् ॥
तथान्यत्सर्वतोभद्रं पद्मपत्रमिति स्मृतम् ।

क्षीरार्णवसमुत्पन्नं मुद्रारूपं तथोत्तमम् ॥
हेममयानि सर्वाणि चितानि मणिरत्नतः ।
हृदि कण्ठे तथा मूर्ध्नि सदा धार्याणि.............॥ ४८-५०

शेखरादित्रयं मुकुटं — मुकुटं संप्रवक्ष्यामि ज्येष्ठमध्यकनिष्ठकम् ।
शेखरं प्रथमं नाम किरीटं च द्वितीयकम् ॥
तृतीयं (च) आमलसारं मूले मुकुटमण्डनम् । ५०-५१

६ शेखरम् — शेखरं शिखराकारमङ्गत्रयविभूषितम् ॥
तन्मध्ये च महारत्नं वज्रं वै रुद्ररूपकम् ।
मरकतं वामदेशे च साक्षाद्वै विष्णुदैवतम् ॥
दक्षिणे पद्मरागं च पुरुषाख्यवपुः कृतम् ।
त्रिभिः शृङ्गै रत्नमयं मूलदेशे प्रपूजितम् ।
सदाशिवो मध्यपट्टे श्रेणीयुक्तश्च मण्डितः ।
पद्मरागैश्च मणिभिरिन्द्रनीलादिभिस्तथा ॥
पूरिताहीरककणैः समस्ता खचिता मही ।
पत्रवल्ली त्रिभङ्गी च कर्णिका कलिकैर्युतम् ॥ ५२-५६

७ किरीटमुकुटः — अतोवक्ष्यामि मुकुटं तथा सुरगणार्चितम् ।
पट्टं शशिप्रभाभं च शृङ्गपञ्चकसंयुतम् ॥
शृङ्गाण्युपरि चत्वारि त्रीणि चैव तदूर्ध्वतः ।
शृङ्गद्वयं तत्परं तदुपर्येकं च शृङ्गकम् ॥
शृङ्गाणि चैव कार्याणि मणिभिर्भूषितानि च ।
हीरकेण समायोज्य पत्रवल्लीसमन्वितम् ॥
तत्र मध्ये महादिव्यं सोमकान्तिमणिं तथा ।
धृतं शिरसि सम्पूज्यं मुकुटं च किरीटकम ॥ ५७-६१

८ आमलसार — वक्षेऽथामलसारं च मुकुटं दैवदुर्लभम् ।
अर्धेन्द्राकृतिपट्टं मुक्ताषोडशकावृतम ॥
पञ्चाण्डकमयं दिव्यं सर्वरत्नविराजितम ।
खचितं हीरकैः सर्वं वैडूर्यमणिमध्यगैः ॥
खचितं हीरकैः सर्वं वैडूर्यमणिमध्यगैः ॥
मुक्ताफलमयी श्रेणिरण्डकैरावृता सदा ।
वज्रवैडूर्यगोमेदपुष्परागेन्द्रनीलकाः ॥
मुक्ताफलमयी श्रेणिरण्डकैरावृता सदा ।
एते पञ्चमहापुण्या उपर्युपरितश्रिताः ॥
पञ्चरत्नमिदं दिव्यं स्वयमेव सदाशिवः ॥
समस्तेषु च कोणेषु कर्केतं लशुनं तथा ।
चार्वन्तरे समस्ते च पत्रवल्लीविराजिता ॥
विद्रुमस्य महानीलं कोणगं खचितं सदा ।

महातेजः सूर्यकान्तिं मौलिमध्ये च पुष्पकम् ॥
परीक्ष्येमानि रत्नानि यानि शुद्धानि तानि च ।
ग्राह्याणि सूत्रधारेण मुकुटार्थं सुरस्य च ॥
मुकुटं दिव्यरूपं च शिरस्युपरि धार्यते ।
सुरभूमिपतीनां च ह्यन्येषां मुकुटं न हि ॥ ६१-६९

९ कण्ठः कण्ठाभरणकं ज्ञेयं मुक्ताफलमयं शुभम् ।
तन्मध्ये पद्मरागं च सूर्यतेजःसमप्रभम् ॥ ७०

१० बाहुवल : ततो बाहुवलं वक्ष्ये सर्वं सौभाग्य दायकम् ।
मध्येदेशे मरकतः परिधौ सर्वरत्नकम् ॥
हीरकैः खचितं सर्वं शिशुपत्रविराजितम् ।
क्षिपेत्समस्तगर्तेषु माणिक्यमणिकादिकम् ॥
उपाश्रयस्य चोत्तङ्गे ? पद्मरागमधःस्थितम् ।
कोमलं ललितं नालं हीरकैः खचितं तथा ॥ ७१-७३

११ कुण्डली कुण्डले मुकुटं चैतच्छृङ्गारार्थं त्रिकं सदा ।
मुक्ताफलमयी वल्ली चामीकरं तस्यान्तरे ॥
एषां गर्तेषु सर्वेषु हीरकं क्षेपयेत्सदा ।
पद्मरागं तस्य मध्ये दिव्यकान्ति सुतेजसम् ॥ ७४-७६

१२ नवग्रहकङ्कणम् योज्यं च कङ्कणं बाह्वोर्नवरत्न मयंशुभम् ॥
हीरकं पद्मरागं च महानीलं च मौक्तिकम् ।
मरकं विद्रुमं पुष्पं गोमेदं लशुनं तथा ॥
एतेभ्यश्च महादिव्या ग्रहाश्चैव यथा प्रभाः ॥
यद्हस्ते कङ्कणं दिव्यं शुद्धरत्नैः समावृतम् ।
तस्य गेहे महापीडा न भवन्ति कदाचन ॥
गाङ्गेयं निनषे शुद्धं दिव्यं...... ग्रन्थितम् ।
महारत्नं तस्य मध्ये माणिक्यं वामदक्षिणे ॥
परिधौ हीरकं चैव तीक्ष्णधाराविवर्जितम् ।
हस्तकंडं शशांभाव तं च पुरविश्वेकनिर्मितम् ? ॥
तन्मध्ये पद्मरागं मरकं वामदक्षिणे ।
मुक्ताश्च वामदेशे तु शुद्धश्रृङ्खलमेव च ॥
हारकङ्कणनिबद्धं मध्यदण्डसकंवलम् ? ॥
करपद्मं च तन्नाम करालङ्कार उत्तमः ॥ ७७-८३

१३ रामचन्द्रखड्गम् रामचन्द्रं प्रवक्ष्यामि हस्तकाब्जस्थितं सदा ।
तन्मध्ये च महादिव्यं माणिक्यं सूर्यसन्निभम् ॥
अष्टपत्रं क्षिपेत् गर्भे संकीर्णं हीरकैस्तथा ।
कणांश्च पूरयेत् सर्वे ? पत्रपत्रेष्वर्थं विधिः ॥
कलितं कलिकाभिश्च चामीकरं करं तथा ।
इदं खड्गं महादिव्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ८४-८६

12.5868

१४. अङ्गुलिका:

(i) अङ्गुलिकम् मस्तके मध्यतः कुर्यादुभयोः हीरकं तथा।
शुगालदयदसदृशं कार्यं दैवाङ्गुलीयकम्॥ ८७

(ii) युगलाङ्गुलिकम् मरक्तं पद्मरागं च हीरकं च दक्षिणोत्तरे।
हरिब्रह्मात्मकं नाम युगलं वा तदुच्यते॥ ८८

(iii) टीकात्रिपुरुषम् सोमकान्तिर्यदा मध्ये मरक्तं दक्षिणे स्थितम्।
माणिक्यमुत्तरे देशे वर्कं त्रिपुरुषं वा तत्॥ ८९

(iv) अङ्गुष्ठम् मरक्तं पुष्परागश्च माणिक्यं मौक्तिकं तथा।
हीरकं च यदा मध्ये आङ्गुष्ठं तत्सदाशिवः॥ ९०

(v) अर्धाङ्गुलिकम् कनिष्ठां मुक्ताफलं चक्रसद्य इति प्रभा।
मृणालदण्डसदृशं तदर्धाङ्गुलिकं कृतम्॥ ९१

(vi) वज्रधारा अन्योन्यतः स्थिते वज्रे तद्धारा प्राङ्मुखी तथा।
सा विज्ञेया वज्रधारा इन्द्रकान्तद्युतिप्रभाः॥ ९२

(vii) अङ्गुलिका शुद्धस्यान्ते मणी सर्वे निर्दोषा हेमसंयुताः।
तस्य तुष्यन्ति देवा वै येन चाङ्गुलिका धृता॥ ९३

१५. कुण्डलम् सर्वरत्नमयं दिव्यं पूरितं हैरकैः कर्णौः।
कुण्डलं तदिति प्राज्ञैर्वासुदेवे उदाहृतम्॥ ९४

१६. पादमुद्रिका पादाङ्गुलीषु सर्वासु मुद्रिका रत्नवर्जिता।
यः कुर्यादन्यथा मूढस्तत्पादौ छेदयेन्नृपः॥ ९५

टि० १. रत्नानां पादयोरप्रयोज्यत्वम्
पादेन स्पर्शयेद्रत्नं यो नरो देवनिर्मितम्।
स पतेन्नरके घोरे राजवध्यस्तथा भवेत्॥ १०१-१०२

टि० २. आभरणायोज्याः
वनेचरा जलचरा कृमिकीटपतङ्गकाः।
कुर्यादाभरणं मेषु यदिच्छेद्जीवितं चिरम्॥ १०३

ग्रन्थ-प्राप्ति-स्थान:—

प्रधान केन्द्र. १—शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस, नजीराबाद, लखनऊ।
२—c/o प्रो० डी० यन० शुक्ल, फैजाबाद रोड, लखनऊ।

टि०—उत्तर-प्रदेश-राज्य की सहायता के कारण इस अनुसन्धान-ग्रन्थ का मूल्य कम रक्खा गया है।